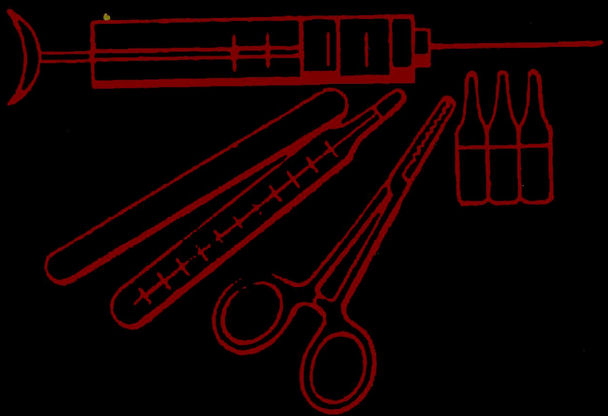
उपचारिका प्रशिक्षण



मीर

УЧЕБНИК ДЛЯ ПОДГОТОВКИ МЕДИЦИНСКИХ СЕСТЕР

Нервные и психические болезни, кожные и венерические болезни, болезни уха, горла и носа, глазные болезни

Под редакцией
доктора медицинских наук
Г. В. Архангельского

Медицина Москва

उपचारिका प्रशिक्षण पाठ्य-पुस्तक

संपादक: गि. व्ला. अर्खांगेल्स्की, डी. एस-सी. (चिकित्सा)

तंत्रिका और मानसिक रोग; त्वचा
और रतिज रोग; नाक, कान और
गले के रोग; आँख के रोग

"मीर" प्रकाशन, मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

MANUAL FOR NURSES

Edited by G. V. Arkhangelsky,
D. Sc. (Med)

На языке хинди

विषय-सूची

1

तंत्रिका तथा मानसिक रोग

ता० आ० नेवजोरोवा, प्रो० डी० एस-सी०

2

त्वचीय और रतिज रोग

मि० व्ला० मिलिछ, प्रो०, पी० एच–डी० (चिकित्सा)

3

नाक, कान और गले के रोग

आ० गा० लीखचोव, प्रो०, डी० एस-सी०, वा० सा० पगोसव, पी० एच-डी०

4

नेत्र रोग

मा० मि० जोलोतारेवा प्रो०, डी० एस-सी०, व्ला० इ० मरोजव, पी० एच-डी०

प्रस्तावना

चिकित्सा विद्यालयों का प्रमुख कर्तव्य औषधि और चिकित्सा सज्जा के सम्यक ज्ञान से विशेषज्ञों को लैस करना, तथा नैतिक मानदण्डों के उच्च स्तर में उन्हें दीक्षित करना है। इस उद्देश्य की सफलता की पूर्ति निश्चय ही शिक्षकों के सामान्य दृष्टिकोण तथा विषय की विशेष जानकारी, कक्षा में कराये जाने वाले कार्य के लिये सांगोपांग तैयारी, साथ ही शिक्षक के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है। किसी रोग के उपचार तथा प्रत्येक रोगी को जिस तरह की देखरेख की जरूरत होती है, उस का वर्णन करते समय शिक्षक को रोगी की मनोदशा तथा उसके मानसिक उपचार के महत्व को भी बताना चाहिये, प्रत्येक दिन के अपने कार्य में उपचारिका से अपेक्षित नैतिकता के बारे में चर्चा करनी चाहिये और उपचारिका के व्यावसायिक कौशल, आम सांस्कृतिक स्तर और बोलचाल की आदतों को निरंतर उन्नत करने की आवश्यकता पर बल देना चाहिये। शिक्षक को पाठ्यपुस्तकों एवं चिकित्सकों की सहायता करने वालों के लिये विशेष रूप से प्रकाशित शिक्षण सहायक सामग्री के द्वारा भावी उपचारिकाओं को स्वतंत्र रूप से काम करने के लिये तैयार करना चाहिये। छात्रों को दिये जाने वाले व्याख्यानों में रोगोपचार प्रक्रिया तथा आबादी की स्वास्थ्य शिक्षा में उपचारिका की भूमिका साफ-साफ निरूपित की जानी चाहिये। व्यवहारिक कार्य का एक क्रम पूरा हो चुकने के बाद छात्रों और निदानगृह के कार्य में भाग लेने वाली उपचारिकाओं के साथ "उपचारिका की नैतिकता" विषय पर विचार-विमर्श आयोजित करना उपयोगी होगा। इसके साथ, अपने दैनिक सेवाकार्य में उपचारिकाओं से होने वाली गलतियों और साथ ही विभाग के कार्य के संगठन में प्रकट त्रुटियों से निबटने का अनूठा अवसर उपलब्ध होता है।

इस पुस्तक के लेखकों ने एक ऐसी पाठ्यपुस्तक लिखने का लक्ष्य सामने रखा है जो अपने को केवल चिकित्सा-विज्ञान के विवरण तक ही सीमित न रखे, वरन् चिकित्सा में नैतिकता तथा उपचारिकाओं के लिये उनके व्यावसायिक आचरण की मार्ग-दर्शिका भी बन सके।

पुस्तक का मूल रूसी संस्करण निकले कई वर्ष बीत चुके हैं, अतः हिंदी अनुवाद के लिये उसे यथावत संसाधित और संशोधित किया गया है, पुरानी दवाओं और उपचार-विधियों की जगह चिकित्सा विज्ञान की आधुनिक उपलब्धियों को दर्शाया गया है।

गि० व्ला० अर्खांगेल्स्की,
डी० एस-सी०
(चिकित्सक)

भूमिका

(उपचारिका के लिये आचार-शास्त्र: एक संक्षिप्त विवेचन)

उपचारिका का व्यवसाय श्रमसाध्य और सम्माननीय व्यवसाय है।

चिकित्सा-केंद्रों में स्वस्थ वातावरण बनाये रखने में उपचारिकाओं की भूमिका सब से अधिक महत्व रखती है। अस्पतालों, बहिरंग रोगी विभागों और चिकित्सा-केंद्रों में चिकित्सक के दैनिक कार्य में उपचारिका ही उसकी प्रथम सहायिका होती है। उपचारिका चिकित्सा केंद्रों में रोगी की देखभाल करती है, स्कूल के बच्चों तथा अन्य लोगों को प्राथमिक चिकित्सा प्रदान करती है, रोगी कक्ष में रोगियों का ध्यान रखती है तथा चिकित्सक को उनकी दशा से अवगत कराये रखती है। दवाई देना, चिकित्सक के औषधि-निर्देशों को पूरा करना, इस या उस चिकित्सा प्रणाली (दवाइयों द्वारा अंतः शिरा निषेचन, भौतिक चिकित्सा) से रोगी पर हुई प्रतिक्रिया से रोगी को अवगत कराना उपचारिका के कर्तव्य हैं। उपचारिका का काम सिर्फ चिकित्सा में सहायता और रोगी की देखभाल ही नहीं है, बल्कि स्वास्थ्य सम्बन्धी सामान्य ज्ञान का प्रचार करना भी है, जिसका असर रोग की रोक-थाम पर होता है। जनपद उपचारिका घर में उपचार लेने वाले रोगियों को देखने जाती है, चिकित्सक के औषधि निर्देशों को पूरा करती है, रोगियों को देखने के लिये चिकित्सक के कार्यालय को तैयार करती है तथा स्थानीय आबादी के बीच जन स्वास्थ्य कर्मियों के समूहों का संगठन तथा आस-पड़ोस में स्वास्थ्य शिक्षा बैठकों का आयोजन करती है और रोग-निरोधक कार्यकलाप चलाती है। उच्च रूप से दक्ष चिकित्सा कर्मी बनने के लिये उपचारिका को विभिन्न रोगों की मूल जानकारी का अच्छा ज्ञान होना चाहिये तथा चिकित्सक द्वारा निर्देशित किसी भी औषधि के प्रयोजन तथा प्रभाव के विषय में ठीक समझ भी होनी चाहिये, न कि उसे स्वचालित ढंग से दवाई दे देनी भर चाहिये। अतः उपचारिका को नैदानिक विधाओं तथा चिकित्सा उपकरणों का, बहुधा प्रयोग में आने वाली औषधियों के प्रभाव तथा संभावित इतर प्रभावों का ज्ञान होना चाहिये ; उसे अति मूर्छावस्था वाले रोगियों की देखभाल कर सकने में कार्यकुशल होना चाहिये।

वैज्ञानिक व तकनीकी विकास के साथ-साथ उपचारिकाओं का कार्य और भी जटिल होता जा रहा है–उन्हें नये-नये उपकरणों का ज्ञान हासिल करना पड़ता है ताकि

वे उनका सही उपयोग कर सकें। योग्य चिकित्सक की अनुपस्थिति में उपचारिका को कभी-कभी आपात्कालीन चिकित्सा सहायता भी करनी पड़ सकती है (जैसे अपस्मारी दौरा या मूर्छित होने में, भावनात्मक रूप से उत्तेजित रोगी को सांत्वना देने में, निरंतर अत्यधिक नकसीर फूटने को रोकने में, इत्यादि) आपत्कालीन चिकित्सा सहायता का व्यावहारिक ज्ञान रखने वाली उपचारिका को अधिक योग्य समझा जाता है तथा वह किसी भी बहिरंग रोगी विभाग या चिकित्सालय के लिये एक मूल्यवान कर्मी होती है।

उपचारिका के कार्य में रोगियों की देख-भाल में तनिक भी त्रुटि तथा लापरवाही निषिद्ध है। अपनी जिम्मेदारियों के विशिष्ट गुणों को निभाने के लिये चिकित्सा के कुशल संपादन में उपचारिका को अनवरत अध्ययन तथा कार्य सम्पादन में उत्कृष्टता की आवश्यकता होती है। उपचारिका के लिये विशेष रूप से प्रकाशित पत्रिकाओं, चिकित्सा संबंधी पुस्तकों, और यहाँ तक कि चिकित्सकों, उनके सहायकों, उपचारिकाओं के कार्यकलापों तथा जीवन संबंधी कथा-साहित्य का भी, अध्ययन उपचारिकाओं को करना चाहिये, जिससे कि वे अपने व्यक्तित्व तथा शील-स्वभाव का सदुपयोग रोगियों की देखभाल करने तथा उन्हें प्रभावित करने में कर सकें। यही कारण है कि भावी उपचारिका को रोगी व्यक्ति की भावनाओं तथा उसके व्यक्तित्व के मनोविज्ञान में रुचि लेनी चाहिये।

चिकित्सा कर्मचारियों के श्रम को कलात्मक होना चाहिये, जिससे सौंदर्य का भान हो। इससे रोगियों की मनोदशा पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति आस्था और प्रेम दिखानेवाली पुस्तकों को चुनना और रोगी को पढ़ने के लिये देना भी रोगी की देखभाल करने वाले कर्मचारियों का कर्त्तव्य है।

उपचारिका को सदैव साफ-सुथरा रहना चाहिये तथा सीधी-सादी वेश-भूषा व वर्दी, संवरी हुई टोपी पहननी चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रायः रोगी चटकीली-भड़कीली वेशभूषा पहनने वाली उपचारिका का आदर नहीं करते।

जिस कमरे में रोगी का परीक्षण किया जाता है, उपचारिका को उसे यथासंभव आरामदेह बनाना चाहिये। रोगी के व्यक्तित्व-वृत्त, औषधि निर्देशों के फार्म तथा अन्य चिकित्सा सम्बन्धी कागजों को करीने से डेस्क पर लगा देना चाहिये। उपचारिका को सावधान रहना चाहिये कि ऐसा कुछ न हो जो रोगी के मन में नकारात्मक सौंदर्यरसात्मक संवेग पैदा करे (जैसे रक्तरंजित रूई के फाहे या गाज, या यहाँ तक कि जरा-सी भी गंदगी)।

चिकित्सा शीलाचार के अंतर्गत व्यवहार के वैज्ञानिक सिद्धांत केवल चिकित्सक के ही लिये नहीं, बल्कि चिकित्सा सहायकों के लिये भी होते हैं। इन सिद्धांतों में पारंगत हो जाने पर चिकित्सालय या अन्य चिकित्सा संस्थानों तथा उपचारगृहों में रोगियों के उपचार में दक्षता बढ़ जाती है। हर कोई व्यक्ति उपचारिका या चिकित्सा सहायक नहीं बन सकता। यह व्यवसाय केवल ऐसे लोगों के लिये है जो अनुक्रियाशील हों,

जो ऐसे काम में रुचि रखते हों तथा रोगी ग्रौर पीड़ितों के सहायता कार्य में कठिन परिस्थितियों के ग्रनुकूल ग्रपने को ढाल सकते हों।

विश्व चिकित्सा के स्वर्णिम इतिहास में ऐसे ग्रनेक चिकित्सकों ग्रौर उपचारिकाग्रों के नाम हैं, जिन्हों ने ग्रपना बलिदान दे कर दूसरों का जीवन बचाया।

दूसरे महायुद्ध के दौरान रूसी चिकित्सकों ग्रौर उपचारिकाग्रों ने कर्त्तव्यपालन करते हुए साहसिक कार्य किये। शल्य चिकित्सकों ने बमवर्षा के बीच चिकित्सा की ग्रौर उपचारिकाएं सदैव उनके पास थीं। उपचारिकाग्रों ने युद्ध में घायल हुए लोगों की मरहम-पट्टी की ग्रौर उन्हें युद्ध-स्थल से सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया। पेत्रोवा, निचिपो-चुरकोवा (तीन शौर्य पदकों से सम्मानित) ग्रौर पानफिलोवा, जिन्हों ने ग्रपनी जान का खतरा मोल ले कर युद्ध-स्थल में घायल सैनिकों की, जीवन-रक्षा की, के नाम सोवियत जनता की कृतज्ञतापूर्ण स्मृति में सदैव के लिये ग्रंकित हो चुके हैं। ग्रन्ना तरन-दिमित्रिएन्को, जो कई घायलों को मौत के मुँह से खींच लायीं, के कारनामे युवा उपचारिकाग्रों के लिये जाज्वल्यमान् उदाहरण हैं।

ग्रंग्रेज उपचारिका फ्लोरेंस नाइटिंगेल (1820–1910) का नाम विश्व प्रसिद्ध है। रेड क्रास सोसाइटी द्वारा उन के नाम से एक ग्रंतर्राष्ट्रीय पदक की स्थापना की गयी है। इस पदक से, जैसा कि इस पदक के साथ मिलने वाले डिप्लोमा में उल्लिखित है, उनके विशेष मानव प्रेम ग्रौर ग्रात्मोत्सर्ग के लिये सर्वोत्तम उपचारिकाग्रों को विभूषित किया जाता है। 40 वर्षों तक उपचारिका का काम करने के बाद शिशु बहुनिदानशाला न० 4, ताशकन्द की उपचारिका मतल्यूबा इशान्खोद्जायेवा को यह पदक प्राप्त हुग्रा था। उन्हों ने बहुत से शिशुग्रों को स्वास्थ्य लाभ कराने व स्वास्थ्य-सुधार में सहायता की। उनकी सहृदयता, देखभाल, सहायता ग्रौर परामर्श के लिये इन शिशुग्रों की माताएं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते नहीं ग्रघातीं। कई बार ग्रापात्कालीन स्थिति में मतलूयबा इशान्खोजायेवा ने रक्त दान किया ग्रौर इसलिये उन्हें, उचित ही सम्माननीय रक्तदाता (ग्रानरेरी डोनर) की उपाधि से सम्मानित किया गया। इसीलिये डिप्लोमा में लिखे हुए शब्दों का विशिष्ट ग्रर्थ है: इस ग्रति कर्मठ, मृदु स्वभाव की उपचारिका के कारनामों को विश्व भर में सार्वजनिक मान्यता।

दयालुता, ग्रनुक्रियाशीलता, स्वार्थहीनता ग्रौर ग्रपने कार्यों के प्रति निस्वार्थ समर्पण भाव्–ये ऐसे गुण हैं जिनसे सब उपचारिकाग्रों व चिकित्साकर्मियों को युक्त होना चाहिये। चिकित्सा-कर्मियों के बीच तालमेल तथा कर्त्तव्यपालन में उनकी पटुता, चिकित्सालय, वार्ड, क्लीनिक तथा सेनिटोरियम में दिखायी देती है।

उपचारिका कर्तव्यनिष्ठता से कार्य करती है, क्योंकि वह रोगी व्यक्ति ग्रौर उसकी दशा के सम्बंध में ग्रपने व्यवहार के नैतिक उत्तरदायित्व के प्रति सचेत होती है।

मानवीयता, ईमानदारी ग्रौर कर्तव्यनिष्ठता उपचारिका के व्यवहार के मूलाधार हैं, जो पाखंड ग्रौर घमंड से उसे बचाते हैं।

प्रत्येक रोगी यह समझता है कि उपचारिका का कार्य यह देखना है कि बिना किसी

रुकावट के चिकित्सक के सभी निर्देशों का पालन हो, तथा रोगी की भली-भांति देखभाल की जाय। यदि उपचारिका चिकित्सक के निर्देशों का पालन पूरी तरह नहीं करती और रोगी के सम्मुख भावनाशून्य औपचारिकता से और रुखे ढंग से पेश आती है, तो इस बात पर सभी सहमत होंगे कि, वह ताड़ना की अधिकारी है। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिये कि मृदुलता, संयम, धैर्य और नम्रता, रोगी के प्रति उपचारिका के दृष्टिकोण की आधारभूत अभिव्यक्तियां हैं।

रोगी व्यक्ति सहज ही भांप लेते हैं कि उपचारिका की सहानुभूति बनावटी है या वास्तविक। उपचारिकाओं तथा चिकित्सा-कर्मियों द्वारा रोगी के प्रति दिखलाये गये स्नेहपूर्ण व्यवहार और भावनात्मक रुचि का रोगी हृदय से आदर करते हैं। अपने कष्टों और आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिये जाने पर रोगी के मन में उपचारिका के प्रति विश्वास हो जाता है और उसके ठीक होने की इच्छा बलवती होती है। ऐसे रोगी के लिये, जिन से मुलाकात करने के लिये कोई न आता हो, उपचारिका की सहृदयतापूर्ण देखभाल एक प्रकार का वरदान है। उपचारिका की मधुर मुस्कराहट और उसके प्रेरणा देने वाले शव्द रोगी को जल्दी ठीक होने में बहुत मदद करते हैं।

रोगी के प्रति उपचारिका का दृष्टिकोण मानवतावादी होना चाहिये। ध्यानपूर्वक देखभाल रोगी की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिये आवश्यक है। स्नेह, नम्रता के अतिरिक्त धैर्य का प्रदर्शन भी जरूरी है। उपचारिका को रोगी की किसी बात का बुरा नहीं मानना चाहिये। रोगी अपने रोग के कारण चिड़चिड़ा हो जा सकता है, उस में कामेच्छा तीव्र हो जा सकती है, आदि, आदि। अतः उपचारिका को आत्म-नियंत्रण से काम लेना चाहिये। उसे रोगी से मनोवैज्ञानिकतः दूर होने के लिये उपयुक्त क्षण का ज्ञान होना चाहिये। उपचारिका-रोगी का मनोवैज्ञानिक सपर्क उम्र, सांस्कृतिक विकास आदि पर निर्भर कर सकता है। उपचारिका को याद रखना चाहिये कि पीड़ा और वेदना की दुनिया में रहते-रहते वह इनके प्रति उदासीन हो जा सकती है। इसे एक प्रकार से चिकित्साकर्मियों का व्यवसायपरक रोग कह सकते हैं। इससे बचने के लिये ललित साहित्य का अध्ययन करते रहना चाहिये।

"सिस्टर... क्या ही मर्मस्पर्शी नाम दिया गया है इस पेशे को," सुप्रसिद्ध बोल्शेविक, प्रो० सेमाश्को ने एक बार कहा था, "सिस्टर चिकित्साकर्मी मात्र नहीं होती, वह अत्यंत अंतरंग व्यक्ति होती है, अपनी ही संगी सम्बंधी" *

यद्यपि चिकित्सक-सहायक तथा उपचारिकाएं रोगी का सीधे तौर पर उपचार नहीं करतीं, लेकिन रोगी की मनश्चिकित्सा में वे भूमिका निभाती हैं। जैसे ही रोगी क्लीनिक में कदम रखता है और चिकित्सक के कार्यालय में प्रविष्ट होता है, वैसे ही तत्काल वह उपचारिकाओं और चिकित्सक के सहायकों के मनश्चिकित्सापरक प्रभाव

---

* एन० ए० सेमाश्को। पत्रिका "मेदीसीस्काया सेस्त्रा", 1942, 1-2, पृ० 3। रूसी में नर्स को सेस्त्रा (सिस्टर) कहते हैं।

को महसूस करता है। जब वह चिकित्सा संस्थान को साफ-सुथरा और सुव्यवस्थित पाता है, जब वह सब के ध्यान का केन्द्र बन जाता है और उससे उसके स्वास्थ्य के लिये दयालुतापूर्ण सरोकार प्रकट किया जाता है, तो वह चिकित्सक की दक्षता में उच्च स्तर का उपचार मिलने के सम्बंध में विश्वस्त हो जाता है।

मनश्चिकित्सा का अर्थ है रोगी के साथ सहानुभूतिपूर्वक बातचीत करने, रोगी को सांत्वना प्रदान करने और रोगी को उसके स्वास्थ्य लाभ का तथा इस बात का विश्वास दिलाने की उपचारिका की योग्यता है कि उसे ठीक-ठाक उपचार प्राप्त होगा। उपचारिका के मुँह से दुर्भाग्य से अगर कभी कोई उलटी-सीधी बात निकल जाय तो वह रोगी के लिये खतरे का और स्नायविक रोगी के लिये तो गंभीर मानसिक पीड़ा का कारण भी बन सकती है। उपचारिका द्वारा कहे गये शब्दों का न केवल ठोस अर्थ होता है, बल्कि साथ ही उन शब्दों का एक भावनात्मक लहजा भी होता है। एक ही शब्द को विभिन्न तरीकों से कहा जा सकता है और उसके अलग अर्थ हो सकते हैं तथा रोगी इस बात को बहुत शीघ्रता से ग्रहण करता है कि उसकी देखभाल कैसे की जा रही है। सहृदयतापूर्ण लहजा और सतर्क विनम्रता रोगी और उपचारिका के पारस्परिक सम्बन्धों के आधारभूत अंग होने चाहिये। प्रत्येक उपचारिका को अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्टता विकसित करनी चाहिये, उसे अपनी बात को अवश्य ही अधिक सटीकता, स्पष्टता, और विश्वसनीयता के साथ-साथ ही अधिक सपाट रूप में अभिव्यक्त करना चाहिये। शब्द ज्ञान को विकसित करने के उद्देश्य से लेव तोलस्तोय, एंटोन चेखोव, इवान बूनिन, कोंस्तांतिन पौस्तोव्स्की जैसे महान रूसी लेखकों का क्लासिकी साहित्य, गल्प-साहित्य, उपन्यास, कहानियाँ और कविताएं और मिखाइल लेर्मंतोव, फ्योदोर त्यूत्चेव, एलेक्जेंडर ब्लाक, सेर्गेय येसेनिन, व्लादिमिर मायकोव्स्की, एलेक्जेंडर त्वार्दोव्स्की आदि रूसी कवियों को तथा अन्य लेखकों को पढ़ना चाहिये।

जहाँ तक काम का प्रश्न है, उपचारिका को रोगी के उपचार और देखभाल से संबन्धित कर्तव्य का पूरी निष्ठा के साथ पालन करना चाहिये और उस समय उसके मन में दूसरे विचारों के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिये। रोगी की उपस्थिति में उपचारिका को अपने साथियों के साथ रात को देखी गयी फिल्म तथा किसी चीज की खरीदारी इत्यादि के बारे में बातचीत करने की इजाज़त नहीं दी जा सकती।

व्यवहार में सरलता और सादगी उपचारिका का एक बहुमूल्य गुण है। उपचारिका की निरर्थक बातचीत तथा अकर्मण्यता से रोगी को निराशा होती है तथा विभाग भर के मान की प्रतिष्ठा को, और विशेष रूप से चिकित्सक की निकटतम सहायिका होने के नाते उपचारिका की प्रतिष्ठा को चोट पहुँचती है।

अपने दैनिक कार्य में उपचारिकाओं का सम्पर्क वृद्ध जनों से होता है। वृद्ध लोग उपचारिका द्वारा बरते गये जरा-से उपेक्षा भाव के प्रति भी विशेष रूप से भावुकता-प्रवण और अत्यंत संवेदनशील होते हैं, यह एक ऐसा मनोभाव होता है जिससे वे बहुत गहराई से पीड़ित रहते हैं। ऐसे रोगियों के प्रति एक अत्यंत समझदारीपूर्ण रवैया

अपनाने की, और उन पर सावधानीपूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता होती है। यह हमेशा ध्यान में रखा जाना चाहिये कि वृद्ध लोगों ने अपनी अधिकाधिक शक्ति तथा यौवन को हमारे देश के कल्याण के लिये लगा दिया है तथा सोवियत जनगण की समृद्धि और संस्कृति में महान योगदान किया है। किसी को कभी भी यह नहीं भूल जाना चाहिये कि वृद्ध लोगों के प्रति उपेक्षा भाव सोवियत जन स्वास्थ्य की आचार संहिता के सिद्धांतों के प्रतिकूल है।

उपचारिकाओं और आम तौर पर सभी चिकित्सा कर्मचारियों के आचार-व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण अंग चिकित्सा संबंधी भेद को अपने तक सीमित रखने की योग्यता है। किसी को भी अपने परिचितों और सहकर्मियों को रोगी के रोग के स्वरूप के बारे में सूचनाएं उद्घाटित करने का अधिकार नहीं है। रोगी के संबंधियों को, जो उसकी दशा और उपचार के पूर्वानुमान के बारे में जानना चाहते हैं, प्रभारी चिकित्सक से मिलने की सलाह दी जानी चाहिये।

बहुधा उपचारिकाएं अपने काम में होने वाली त्रुटियों के लिये कोई बहाना बता देती हैं। ऐसा करने के बजाय उन्हें गलती मान लेनी चाहिये तथा उसके कारणों की छान-बीन करनी चाहिये।

उपचारिका को अपने सहकर्मियों के साथ उचित और संयत बर्ताव करना चाहिये और अपने प्रति आलोचनात्मक होना चाहिये। अनुशासनबद्ध और कार्य में दक्ष उपचारिका किसी भी चिकित्सा स्टाफ के लिये बहुमूल्य होती है।

उपचारिका में घमंड, अपने ज्ञान पर जरूरत से ज्यादा भरोसा और झूठा आत्म-विश्वास नहीं होना चाहिये।

सोवियत नैतिकता के अनुसार किसी को भी अपनी या अपने सहकर्मियों की किसी गलती को छिपाना नहीं चाहिये। इसके विपरीत, उसकी चर्चा करनी चाहिये, ताकि ऐसी गलती फिर से न हो। सौहार्दतापूर्वक मूर्त्त आलोचना अच्छे कार्य की गारंटी होती है। कलहजनित आलोचना को कोई स्थान नहीं देना चाहिये।

उपचारिकाओं की आवर्ती सभाएं उनकी दक्षता और आम शिक्षा के विकास का साधन हैं। यहां ज्ञान, सांस्कृतिक स्तर उठाने के लिये आवश्यक प्रश्न उठाये जाते हैं, जिससे रोगी की देख-भाल और रोगी के साथ चिकित्सा-कर्मचारियों के संबंध के स्तर उन्नत होते हैं।

सभाओं के आयोजन के लिये उपचारिका परिषद उत्तरदायी होता है। परिषद को अपनी कार्यसूची में ऐसे ठोस प्रश्न भी शामिल करने चाहिये जिन का संबंध रोगियों की सेवा करने वाले चिकित्सा कर्मियों की आचारनीति से तथा प्रबंधन में मनश्चिकित्सा से हो। ये सभाएं उपचारिकाओं को अपने कार्य में संचित हुए अनुभव का आदान-प्रदान करने का अवसर प्रदान करती हैं।

वरिष्ठ उपचारिका, जो विभाग के प्रभारी चिकित्सक की प्रथम सहायिका होती है, युवा उपचारिकाओं को निर्देश देने के लिये उत्तरदायी होती है। रोगियों की सही

देखभाल का संगठन करना, यह देखना कि रोगियों को अच्छा भोजन उपलब्ध हो और भोजन ठीक समय पर दिया जाय, हर वार्ड को औषधालय से निर्धारित औषधियाँ पहुँचें तथा सहकर्मियों में परस्पर अच्छे संबंध उन्नत हों, आदि वरिष्ट उपचारिका के कर्त्तव्य होते हैं। वरिष्ठ उपचारिका तथा उस के मातहत उपचारिकाओं के स्टाफ पर किसी विभाग की सफाई की ही जिम्मेदारी नहीं होती, वरन वे रोगियों और स्टाफ के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध बनाये रखने के लिये भी उत्तरदायी होती हैं। जब कभी वरिष्ठ उपचारिका स्टाफ को संभालने तथा विभाग की व्यवस्था करने का कार्य कौशल से करती है, तब उपचार पाने वाले रोगी संतुष्ट रहते हैं, तथा कोई शिकायत सुनने को नहीं मिलती।

उपचारिकाओं को उन कार्यों को करने वाले सहायकों के साथ एकाग्रता और धैर्य से पेश आना चाहिये, जिन कार्यों के लिये चिकित्सीय कौशल की जरूरत नहीं होती। इससे उन पर यह प्रभाव पड़ेगा कि जब भी रोगी व्यक्ति अपने भिन्न-भिन्न रोगों के कारण चिड़चिड़ा हो जाय या यहाँ तक कि कठोरता से व्यवहार करे तो वे धैर्यपूर्ण और शांत बनी रहें।

चिकित्सा सहायक को उपचारिका के सभी कार्यों में उसकी सहायता करनी चाहिये तथा रोगियों की देखभाल में आनेवाली कठिनाइयों में उसका हाथ बंटाना चाहिये। उपचारिका को, सहायकों आदि को विभाग की सफाई-स्वास्थ्य पथ्यापथ्य नियमों को बनाये रखने पर विशेष ध्यान देने की जरूरत को स्पष्ट करना चाहिये।

उपचारिका का कार्य उससे समस्त मानसिक और शारीरिक शक्ति को लगाने की अपेक्षा करता है। उपचारिका को अवश्य ही रोगी के प्रति, तथा सभी लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन में वस्तुतः सचेत रहना चाहिये।

1

तंत्रिका तथा मानसिक रोग

I सामान्य तंत्रिका विकृति विज्ञान

तंत्रिका तंत्र के रोगों का अध्ययन करने वाले विज्ञान को दो भागों में बांटा गया है—तंत्रिका विकृति विज्ञान तथा मनोविकार चिकित्सा।

मुख्य रूप से प्रेरक तथा संवेदी विकारों द्वारा तंत्रिका केन्द्र तथा संवाहन पथों की क्षति से संवेदी अंगों की क्रिया तथा विविध आंतरिक अंगों के कार्यों में होने वाली गड़बड़ियों द्वारा प्रकट होने वाले रोगों को तंत्रिका तंत्र के रोग कहते हैं और इसका संबंध तंत्रिका विकृति विज्ञान से होता है।

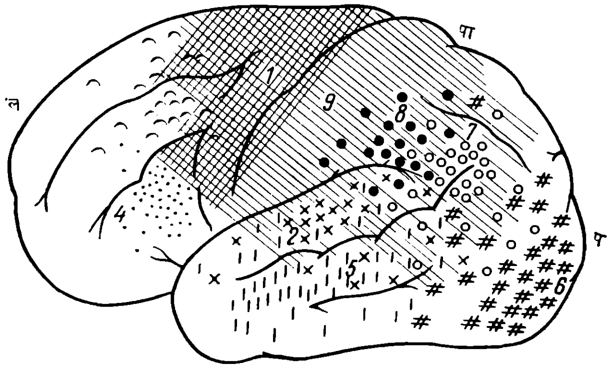
अपनी बाह्य परिस्थितिओं को समझने की कमजोरी, या विवेक बुद्धि की कमी तथा असंगत व्यवहार का कारण तंत्रिकीय क्रिया की गड़बड़ियाँ होती हैं। इन गड़बड़ियों से विकसित होने वाले रोगों को मानसिक रोग कहते हैं और इनका संबंध मनोविकार चिकित्सा से होता है। यद्यपि मानसिक तथा तंत्रिका तंत्र रोगों के बीच कोई विशेष सीमा निर्धारित नहीं की गयी है क्योंकि तंत्रिका रोगियो में मानसिक रोग के लक्षण भी मिलते हैं और मानसिक रोगो के पीछे विभिन्न प्रकार के तंत्रिका विग्रह भी हो सकते हैं।

सोवियत संघ की मन-तंत्रिका में बहिरंग तथा अंतरंग देखभाल के विभाग हैं। नगर, जनपद या ग्रामीण बहिरंग अस्पताल में सेवा करने वाले तंत्रिका विकृति वाले रोगी की प्रकृति तथा तंत्रिका रोग की गंभीरता की जाँच करते हैं और तदनुसार रोगी को अस्पताल में बिना भरती किये उपचार देते हैं या उसे अंतरंग अस्तपाल के तंत्रिका रोग विभाग में भेज देते हैं। ऐसी ही व्यवस्था मनोविकार चिकित्सा अस्पताल के बहिरंग रोगियों के लिये मनोचिकित्सक भी करते हैं। महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के उपरान्त सोवियत संघ में मनोतांत्रिक संस्थाओं का व्यापक ताना-बाना खड़ा किया गया। मनश्चिकित्सकों के स्टाफ़ वाले विशेष मानसिक रोग के बहिरंग चिकित्सालय तथा बाल सामान्य चिकित्सा वाले बहिरंग अस्पतालों में तंत्रिका कार्यालयों का गठन किया गया है। बच्चों या बड़ों के तंत्रिका या मानसिक रोग के बहिरंग अस्पतालों में मुख्यतः उपचारिका ही चिकित्सक की प्रथम सहायिका होती है, उपचर्या-स्टाफ तथा चिकित्सा सहायकों के काम का पर्यवेक्षण करना, उनके लिये कार्य-सूची बनाना, गंभीर मानसिक दशा वाले रोगियों की विशेष रूप से देखभाल की व्यवस्था

करना, मुख्य उपचारिका के कर्तव्य होते हैं। उपचार के एक प्रभावशाली संगठन के द्वारा निःसहाय तंत्रिका या मानसिक रोगियों की, तथा ऐसे रोगियों को भी जो उत्तेजित हैं, अपने तथा दूसरों के लिये खतरनाक हैं, उपचर्या, देखभाल तथा पर्यवेक्षण उपचारिकाओं और चिकित्सा सहायकों को उचित स्थान पर तैनात करके किये जा सकते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर मुख्य उपचारिका द्वारा उन्हें किसी अन्य स्थान पर लगाया जा सकता है। विभाग में ड्यूटी पर काम कर रही उपचारिका के कार्य तथा चिकित्साचार के बारे में मनः तंत्रिका रोगों से पीड़ित रोगियों के उपचार तथा देखभाल संबंधी अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है।

तंत्रिका तंत्र की संक्षिप्त शारीर-रचनात्मक तथा शारीरवृत्तिक सूचनाएं

प्राणी जीव जितना ही जटिल होगा, उसकी सक्रियता का समन्वय करने वाले तंत्र उतना ही अधिक परिपूर्ण होंगे तथा उसके विभिन्न अंगों का क्रियात्मक समन्वय भी उतना ही परिपूर्ण होगा। ऐसा संवहन तंत्र रक्तधर तंत्र है, जिसमें कि रक्त अपने साथ विभिन्न प्रकार के हारमोन लेकर चलता है, जो प्राणी-जीव की बहुत सी क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। साथ ही तंत्रिका तंत्र है जो प्राणी-जीव की जीवन सक्रियता को सभी स्तरों पर समन्वित करता है। तंत्रिका तंत्र क्रियात्मक अंगों से प्राप्त होने वाले आवेगों का विश्लेषण करता है और इस प्रकार से उनकी निर्देश-सक्रियता होती रहती है।

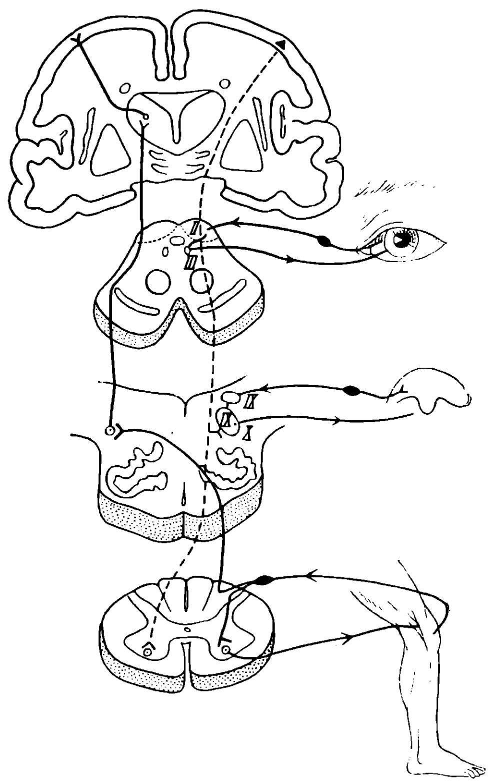


चित्र 1. प्रांतस्था विश्लेषक। केन्द्रीय परिखा का अभ्युदर:
(1) मोटर विश्लेषक; (2) मुखवाक विश्लेषक; (4) मोटरवाक विश्लेषक; (5) ध्वनि विश्लेषक; (6) प्रकाश विश्लेषक; (7) लिखितवाक विश्लेषक (पठन केन्द्र); (8) क्रिया निष्पादन (क्रियाकलाप); (9) त्वचा विश्लेषक; ल. ललाट खण्ड; म. मध्य परिखा; पा. शंखखण्ड; प. पश्चकपालखण्ड; क. कनपटी की ओर पार्श्व का खण्ड; स. सिल्वीपरिखा।

नोट: घ्राण विश्लेषक का प्रान्तस्था भाग आन्तरिक सतह पर स्थित होता है।

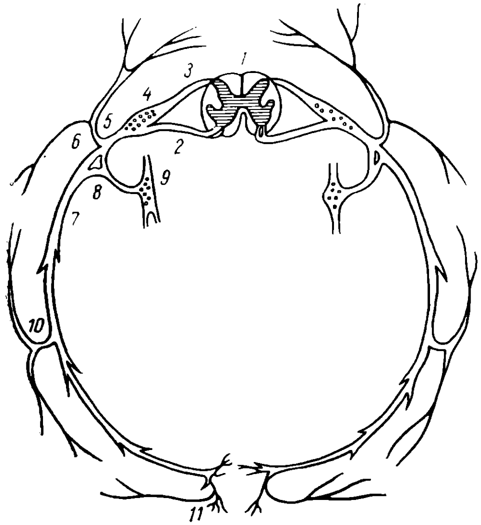
बाह्य वातावरण से आने वाले तथा शारीरिक ऊतकों से प्राप्त होने वाले उद्दीपकों का बोध विश्लेषकों के द्वारा होता है। विश्लेषक में तंत्रिका अंतग्राहक, चालन भाग तथा प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में स्थित विश्लेषक का प्रान्तस्थ केन्द्रक सम्मिलित होता है। ग्राहक को उद्दीप्त करने पर जीव वैद्युत आवेग उठते हैं और चालकों के साथ फ़ैल जाते हैं। विश्लेषकों के प्रान्तस्था भागों तक पहुँचने वाले "विद्युत" आवेग संकेत पढ़े जाते हैं तथा वे एक या दूसरी अनुभूति (प्रकाश, ध्वनि, घ्राण, स्वाद, वेदना, ताप, स्पर्श, गति) में रूपान्तरित हो जाते हैं (चित्र 1) प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था में स्थित प्रेरक विश्लेषक से गुजरने वाले आवेग सुषुम्ना तक पहुँचते हैं तथा कपाल प्रेरक तंत्रिका के केंद्रक तक पहुँचते हैं। उनके द्वारा ऐच्छिक उद्देश्यपूर्ण गति होती है, जिसमें हम जीवन भर प्रशिक्षित होते रहते हैं। ये इवान पावलोव के अनुसार प्रतिबंधित प्रतिवर्त होते हैं।

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के ऐसे भाग जो कि दूरस्थ प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था में स्थित हैं, जैसे अवप्रान्तस्था केन्द्रक, मस्तिष्क स्तम्भ के केन्द्रक तथा सुषुम्ना के केन्द्रक, ऐसे स्थान होते हैं जहाँ जटिल अनिर्धारित प्रतिवर्त (दौड़ना, खांसना, वमन) या सरल अनिर्धारित प्रतिवर्त (जानु प्रतिक्षेप व ग्रसनी प्रतिवर्त, प्रकाश उद्दीपन से नेत्र-पुतली की प्रतिक्रिया) आदि केंद्रित हो जाते हैं (चित्र 2)।

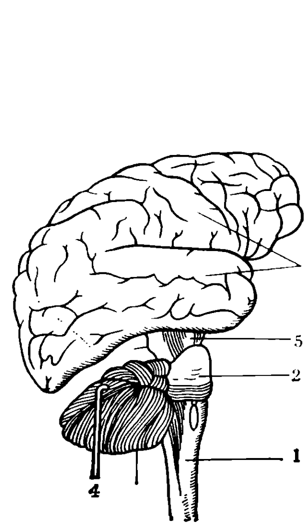

चित्र 2. परिसर से संयोजन। जानुप्रतिवर्त, ग्रसनी और तारा प्रतिवर्त, आरोही और अवरोही संचरण पथ, का कार्य प्रदर्शी चित्रण।

मस्तिष्क स्तम्भ का धूसर द्रव्य (सुषुम्ना शीर्ष, पोंस प्रमस्तिष्क वृंतक, चित्र 3 और 4) और सुषुम्ना जहाँ अनिर्धारित प्रतिवर्त के चाप द्वारा निश्चित क्षेत्र से जुड़े होते हैं, इन्हें सुषुम्ना तथा मस्तिष्क स्तंभ का खंडीय प्रतिवर्त कहते हैं।

मूलत: मस्तिष्क स्तंभ से 12 युगल कपाल तंत्रिकायें निकलती हैं (चित्र5): प्रथम — घ्राण तंत्रिका, जो ललाट खण्ड के आधार पर स्थित होती हैं; ...तंत्रिका, जिसके तंतु पर्यणिका के सामने क्रासित होते हैं; तीसरी — नेत्र प्रेरक तंत्रिका ...ना प्रमस्तिष्क वृंतकों के बीच प्रकट होती है — चौथी — चक्रक तंत्रिका, जो प्रमस्तिष्क

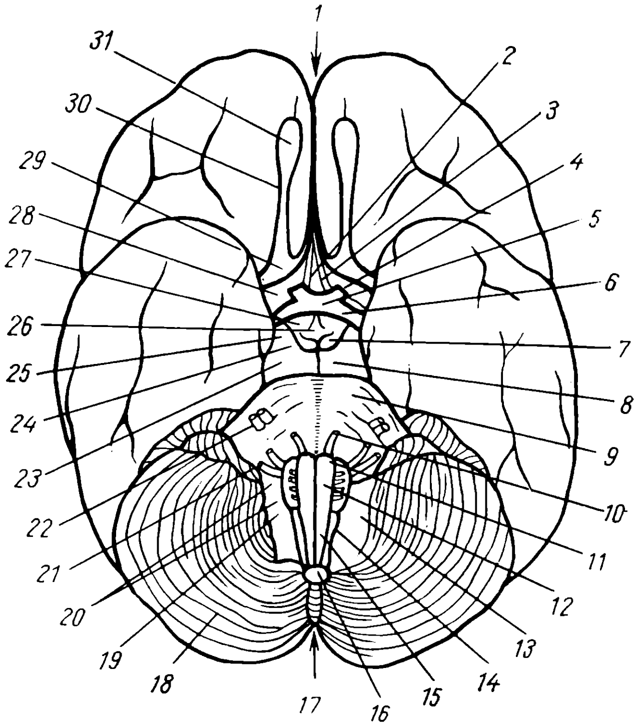


चित्र 3. सुषुम्ना की खण्डीय संरचना 1. सुषुम्ना ; 2. अग्रमोटरमूल ; 3. पश्चसंवेदीयमूल ; 4. अन्तर कशेरुका गण्डिका ; 5. मेरुदण्ड तंत्रिका ; 6. पश्च मेरुदण्ड प्रशाखा ; 7. परिसरीय तंत्रिका की अग्र प्रशाखा ; 8. अनुकम्पीय गण्डिका की संयोजी शाखा ; 9. अनुकम्पीय गण्डिका ; 10. और 11 — त्वक शाखाएँ।



चित्र 4. मस्तिष्क का कार्य प्रदर्शी चित्रण 1. सुषुम्नाशीर्ष, 2. पोन्स वैरोली, 3. अनुमस्तिष्क, 4. प्रमस्तिष्क वृंतक ; 5. प्रमस्तिष्क गोलार्ध (पोन्स और अनुमस्तिष्क मिलकर अनुमध्य मस्तिष्क बनाते हैं।

वृंतक से निकलती हैं ; पाँचवीं — त्रिधारा तंत्रिका जो पोन्स (Pons) के मध्य भाग से निकलती है ; छठी — अपवर्तनी तंत्रिका जो पोन्स के निचले भाग और मज्जा से निकलती हैं ; सातवीं — आनन तंत्रिका, और आठवीं — श्रवण-कर्णावर्त तंत्रिका जो पोन्स, मज्जा और अनुमस्तिष्क के अनुमस्तिष्क सेतु कोण कहलाने वाले भाग में स्थित होती है ; ग्यारहवीं — सहायक तंत्रिका जो मज्जा के निचले भाग के मूल और मेरुदण्ड के ग्रैव भाग में होती है ; दसवीं — वेगस तंत्रिका ; नौवीं — जिह्वा-ग्रसनी तंत्रिका ; बारहवीं — अधोजिह्वा तंत्रिका जो मज्जा के कंद भाग में होती है और कंद तंत्रिका कहलाती है। प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था में स्थित विश्लेषक बाह्य वातावरण, अंगों और तंतुओं से मस्तिष्क स्तंभ और सुषुम्ना के खंडीय प्रतिवर्त के द्वारा जुड़े होते हैं, अर्थात् परीसरीय और केन्द्रीय तंत्रिका कोशिका की कड़ी के द्वारा। तंत्रिका कोशिका तंत्रिका तंत्र की संरचनात्मक इकाई होती है, जिन्हें अक्षतन्तु और पार्श्वतन्तु कहते हैं। अक्षतन्तु संवाहक हैं और पार्श्वतन्तु तंत्रिका कोशिका से संबंध स्थापित करते हैं (चित्र 6)। केन्द्रीय तंत्रिका-कोशिका के तन्तु मज्जा और मस्तिष्क के चालन के पथ पर ऊपर

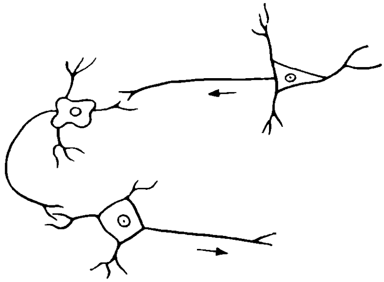


चित्र 5. मस्तिष्क की आधार तंत्रिकाएं

1. अनुदैर्ध्य प्रमस्तिष्क विदर (प्रमस्तिष्क गोलार्ध के बीच में); 2 और 3, अन्त-पटट; 4, 5 व 6, द्वितीय कपाल तंत्रिका, अशि और इसकी व्यत्यासिका; 7. चुचुक पिण्ड; 8 अन्तरावृन्त अवकाश, 9 पोन्स; 10 चौथी कपाल तंत्रिका अपवर्तक (नेत्रगोलक के अपवर्तक); 11 व 12 पिरामिदीय पथ का प्रसार स्थान; 13 बारहवीं कपाल तंत्रिका, जिह्वापाश; 14 व 15 सुषुम्नाशीर्ष के विदर; 16 सुषुम्ना-भाग, 17 प्रमस्तिष्क गोलार्धों के बीच में विदर; 18 अनुमस्तिष्क; 19 ग्यार-हवीं कपालतंत्रिका, अतिरिक्त; 20 दसवीं और नौवीं कपाल तंत्रिकाएं, वेगस और जिह्वाग्रसनी; 21 आठवीं और सातवीं कपाल तंत्रिकाएं, प्रधाणकर्णावर्त और आनन तंत्रिका; 22 पांचवीं कपालतंत्रिका, त्रिधारा; 23 चौथी आनन तंत्रिका, चक्रक; 24 तीसरी आनन तंत्रिका, नेत्रप्रेरक; 25 प्रमस्तिष्क वृन्तक; 26 व 27 प्रमस्तिष्क हाइपोफिसिस का प्रारम्भिक भाग; 28 अग्र सछिद्र अवकाश; 29, 30 व 31 प्रथम कपाल तंत्रिका, घ्राण।

या नीचे की ओर बढ़ते हैं। परिसरीय तंत्रिका-कोशिका मज्जा की अग्र तथा पश्च भाग या कपाल तंत्रिका के केन्द्रक का मूल बनाती हैं।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष बोध तभी तक संभव है जब तक कि परिसरीय ग्राहक और प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था के बीच अनवरत संयोजन हो, जबकि


चित्र 6. तंत्रिका कोशिकाओं की श्रृंखला।

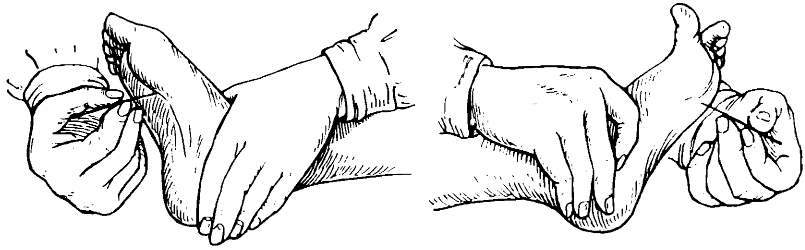
गतियाँ तभी तक हो सकती हैं जब कि तंत्रिका केन्द्र और मांसपेशी के बीच अनवरत संयोजन हो। यदि इस श्रृंखला की कोई भी कड़ी क्षतिग्रस्त हो गई हो तो ऐच्छिक गति अवरुद्ध हो सकती है या समाप्त हो सकती है। स्थल निदान का उद्देश्य इस क्षति के स्थान तथा इसके परिमाण (आकार) का पता लगाना है।

अनुमस्तिष्क, जो मस्तिष्क स्तंभ, गोलार्धों तथा सुषुम्ना से संयोजित रहता है, ऐच्छिक गतियों की परिशुद्धता और समानुपातिकता के लिये उत्तरदायी होता है। आवेग अग्र श्रृंग की कोशिकाओं तक प्रान्तस्था के पिरामिडी पथ से ही नहीं, वरन अनुमस्तिष्क से भी पहुँचते हैं, जबकि संवेदी उद्दीपन परिसर से अनुमस्तिष्क तक मेरुदण्ड के आरोही चालन पथों द्वारा संप्रेषित होते हैं।

तंत्रिका-कार्य की विकारी शारीर क्रिया. वाक विकार

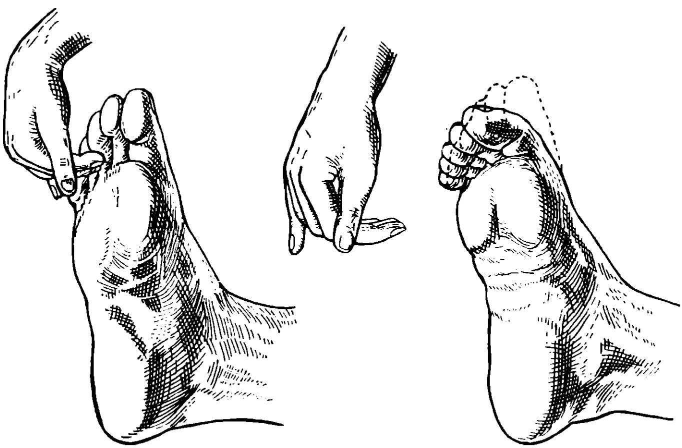
गतियों को प्राप्त करना तंत्रिका तंत्र की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रिया है। तंत्रिका तंत्र के प्रेरक भागों के रोगग्रस्त होने पर अंगघात (गतिहीनता) या आंशिक घात (गति की अवरुद्धता) होता है। प्रेरक क्रिया के दुर्बल होने के रोग-लक्षण क्षति स्थल से निर्धारित किये जाते है: पक्षाघात या आंशिक पक्षाघात (हाथ या पैर की दुर्बल गति) गोलार्ध की विक्षति से होता है; पैरों का अंगघात या आंशिक घात (अर्धांग-घात, अर्ध आंशिक घात)—वक्ष के क्षतिभाग या सुषुम्ना के कटि प्रदेश से; चारों अंगों का अंगघात (चतुरंगघात, चतुरंग आंशिक पक्षाघात)—ग्रीवा के क्षतिभाग या परिसरीय तंत्रिका से; संवेदनशीलता की हानि या चेहरे पर गतिहीनता—कपाल तंत्रिका के तदनुरूप तंतुओं की विक्षति से।

अवप्रांतस्था क्षेत्र के कार्य में विकार, जो रेखित पिंड (पांडुर पिंड) की गतियों से संबंधित होते हैं, अनैच्छिक व अस्वाभाविक गतियों, उनकी अस्पष्टता व धीमेपन का कारण होते हैं। ऐसी गतियों का प्रभाव केवल हाथों, पैरों में ही नहीं, वरन आनन की पेशियों और जिह्वा पर भी होता है। प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था के अनुरूप केंन्द्रों की विक्षति के साथ नाना प्रकार के वाक् विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुषुम्ना के अग्रश्रृंग और परिसरीय तंत्रिकाओं के स्तर की विक्षति अंगघाती पेशी की क्षीणता व प्रतिवर्त की हानि तथा घटी हुई पेशी तानों से पता लगती है। इससे शिथिल या शोषकर अंगघात का चित्र उभरता है। प्रान्तस्था सुषुम्ना की केन्द्रीय प्रेरक तंत्रिका कोशिका की विक्षति से जो अंगघात होता है उसके साथ अंगघातीय पेशी का तान भी बढ़ जाता है। ऐसे अंगघात को संस्तम्भी कहते हैं। इसमें कंडरा प्रतिवर्त एकदम बढ़ जाते



A B

चित्र 7. पादतल प्रतिवर्त और बाबिन्सकी प्रतिवर्त



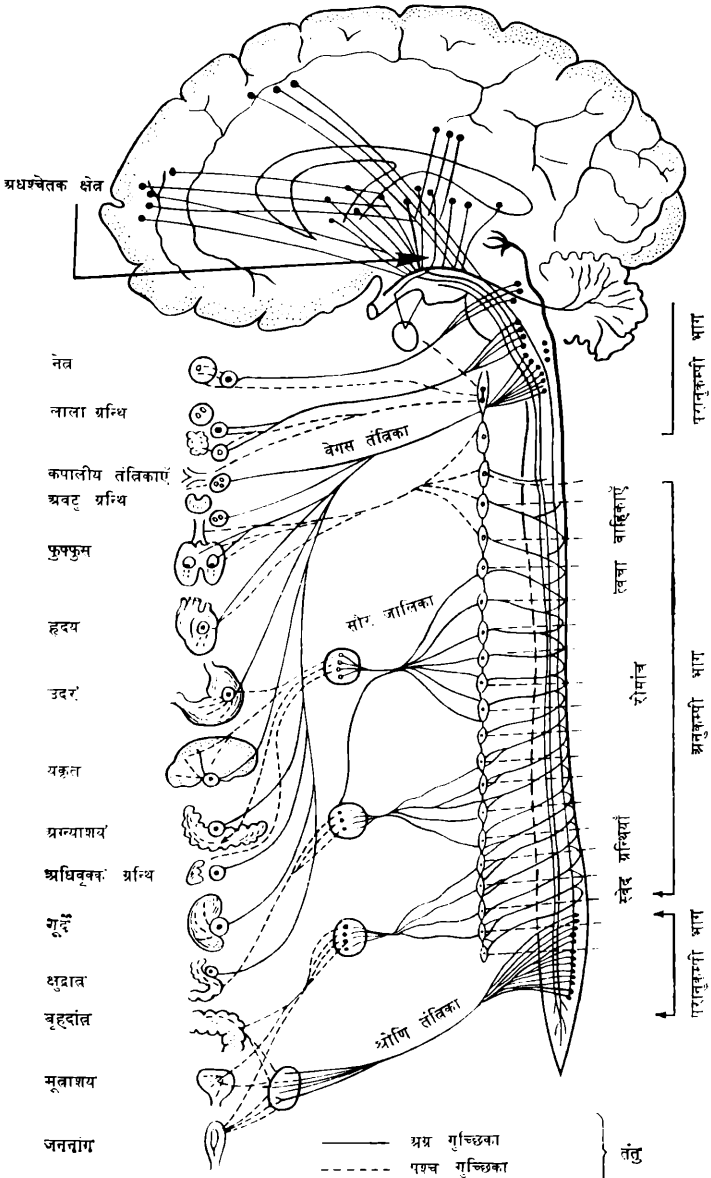
चित्र 8. रोजोलिमो प्रतिवर्त

हैं और वैकृत प्रतिवर्त या पिरामिडी चिन्ह प्रकट होने लगते हैं (बाबीन्स्की और रोजोलिमो प्रतिवर्त) (चित्र 7 व 8)।

संवेदी चालन पथ पर ग्राहकों के अतिपूर्ण उद्दीपन से अप्रिय संवेदन होता है जो कि पीड़ा में परिवर्तित हो जाता है। सुषुम्ना के पश्चमूलों में वैकृत प्रेरणा स्थान की उपस्थिति में मूल पीड़ा होती है। चेतक पीड़ा चैतक की विक्षति से जुड़ी होती है, जिसमें परिसर से सुषुम्ना तक के सभी संचालन पथ ह्रासित होते हैं। इन संरचनाओं के नाश से पीड़ा और ताप के उद्दीपकों की संवेद्यता की हानि हो सकती है। रोगी को चुभन, ठंडी या गर्म वस्तु के स्पर्श का पता नहीं लगता है। ऐसा शरीर के उस भाग में होता है जिसका कि विश्लेषक के प्रांतस्था भाग से सम्बन्ध टूट जाता है।

अनुमस्तिष्क के रोगी होने पर (चित्र 2) संतुलन व गति का सामंजस्य कमजोर हो जाते हैं। रोगी अपनी नाक के सिरे को अपनी तर्जनी से स्पर्श करने से चूक जाता है और अपने एक पैर के घुतने से दूसरे पैर की एड़ी को नहीं छू पाता है।

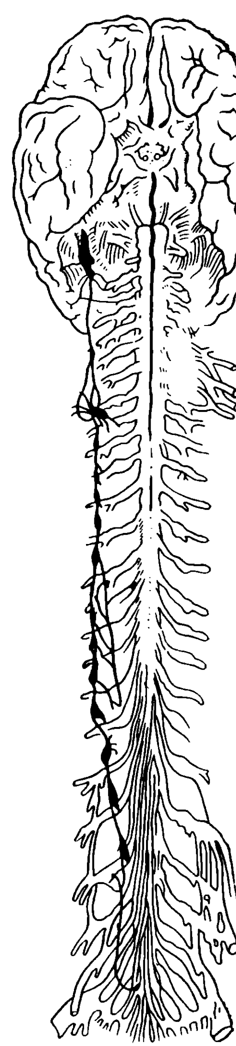
आंतरिक अंगो का केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र से संयोजन और अंगों और तन्तुओं की



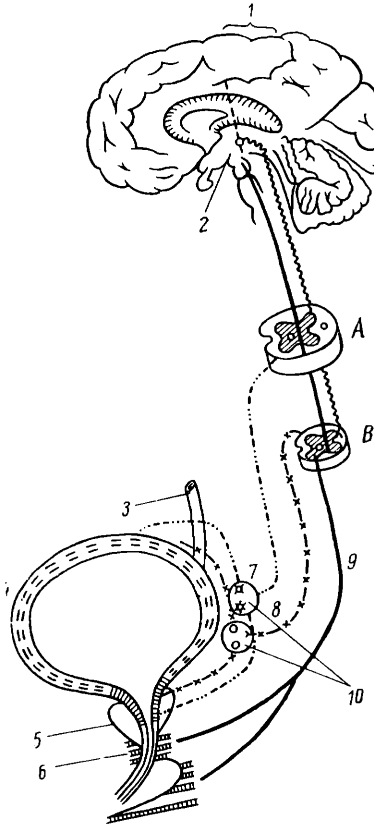
चित्र 9. वर्धीय तंत्रिका तंत्र की संरचना का कार्यप्रदर्शी चित्रण

चयापचयी क्रियाओं का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र के वर्धी या स्वचालित (अनुकंपी और परानुकंपी) भागों के द्वारा होता है। वेगस तंत्रिका (चित्र 9) परानुकंपी भाग का एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटक है। यह तंत्रिका कंटक (रीढ़) (चित्र 10) के दोनों ओर फैलने वाली अनुकंपी कंडरा-पुटी की एक महत्वपूर्ण कड़ी भी है। यह दैहिक तंत्रिका तंत्र से विलग होती है, जिसमें कि सुषुम्ना के अग्र शृंग की कोशिकाओं वाले अक्षतन्तु पेशी तक बिना किसी व्यवधान के पहुँचते हैं। सुषुम्ना के पार्श्व-शृंग के अनुकंपी तन्तु कंडरा पुटी स्कन्ध और परिसर में पाये जाने वाले कंडरा पुटी (आंतरिक अंगों के छोटे वर्धी कंडरा पुटी या और तंत्रिका-जालिका) में बदल जाते हैं।

प्रतिवर्त के द्वारा ही तंत्रिका तंत्र के वर्धी भाग में क्रिया होती है। पश्च मूलों के द्वारा उद्दीपक आंतरिक अंगों से पार्श्व-शृंग की कोशिकाओं को प्रेषित होते हैं, जिसके द्वारा अनुक्रिया भेजी जाती है। दैहिक और वर्धी क्रियाओं के नियंत्रण में, विशेष रूप से इसकी केन्द्रीय कड़ी में, निकट संबंध है। मूत्रण तंत्र की सक्रियता, जिसकी क्षति तंत्रिका तंत्र के रोगग्रस्त होने का एक लक्षण है, वर्धी तंत्रिका तंत्र द्वारा निष्पादित नियमन के जटिल स्वरूप को दर्शाती है। आइए, इस अवस्था की चर्चा करें। मूत्राशय की श्लेष्मल कला से उद्दीपक संवेदी तंत्रिका तन्तु के साथ सुषुम्ना के त्रिकटि भागों के पश्चमूलों से होकर जाते हैं। वहाँ से अनुक्रिया आवेग परानुकंपी और अनुकंपी तन्तुओं के साथ मूत्राशय की चिकनी पेशियों मूत्रनिस्सारिका (ऐसी पेशी जो मूत्र को मूत्राशय से बाहर धकेलती है) तक भेजे जाते हैं। को मूत्राशय और मूत्र पथ संवरणी मूत्राशय के सिरे को दबाती है। निस्सारिका के संकोचन और संवरणी के शिथिल होने पर मूत्र विमोचन होता है।



चित्र 10. केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का सामान्य (सामने का) दृश्य। केवल दाहिना अनुकम्पीय स्कन्ध (बाईं ओर दिखता है) और बायें ग्रैव और कटि-सेक्रमी कटित्रिक जालिकाएं (दाहिनी ओर दिखाई देती हैं) दर्शाई गयी हैं।



चित्र 11. मूत्राशय तंत्रिका वितरण का कार्य-प्रदर्शी चित्रण।

1. ऐच्छिक मूत्रण का मोटर विश्लेषक, 2. मस्तिष्क में वर्द्धिमूत्रण केन्द्र, 3. गविनी, 4. निस्सारिका (मूत्राशय का संकुचन करने वाली पेशी), 5. मूत्राशय संवरणी, 6. मूत्रपथ संवरणी, 7. अनुकम्पीय तंत्र, 8. परानुकम्पी-तंत्र, 9. गुह्य तंत्रिका, 10. वर्द्धिगण्डिका जालक, A) सुषुम्ना को मोटा करने वाले कटि प्रदेश का ऊर्ध्व भाग, B) सुषुम्ना के सेक्रमी भाग का निम्न भाग।

इसके अतिरिक्त, प्रथम सवंरणी से एक दूरी पर मूत्र पथ संवरणी होती है। यह एक रेखित पेशी है जो गुह्य तंत्रिका से प्रेरित होती है। यह तंत्रिका सुषुम्ना के सेक्रमी भाग के अग्र शृंग वाली कोशिकाओं से आती है। पिरामिडी पथ वाले तंतुओं के द्वारा ये कोशिकाएँ प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था से जुड़ी रहती हैं। इसलिए मूत्रपथ संवरणी भी प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था के नियंत्रण में होती है। इसलिए मूत्रण एक ऐच्छिक क्रिया है। मूत्र पथ संवरणी (रेखित पेशी) तथा मूत्राशय की चिकनी पेशियों की सक्रियता का उमन्वय तंत्रिका तंत्र के द्वारा होता है। इसी से मूत्राशय की क्रिया सही ढंग से होती है (चित्र 11)।

मूत्रण से संबंधित मूलों या मेरुदण्ड खंडों की विक्षति से मूत्र विकार हो जाते हैं, जैसे कि मूत्र का असंयति होना, जिसमें कि मूत्रपात लगातार होता रहता है। यदि इस दशा में मूत्राशय की ग्रीवा अब भी पलटी रहे और कुछ अवरोध पैदा करती हो तो विरोधाभासी इस्चुरिया पैदा हो जाती है — यानी कि मूत्राशय में जब अधिक मूत्र एकत्र हो जाता है तो वह बूंद-बूंद करके गिरता रहता है। कुछ तंत्रिका तंत्र रोगों में, जब प्रान्तस्था और सुषुम्ना मूत्रण केन्द्रों के बीच के संबंध आंशिक रूप से कमजोर हो जाते हैं तो मूत्रण की इच्छा तेज होने पर और इसे पूरा न करने पर मूत्रण अनैच्छिक रूप से स्वयं हो जाता है। प्रांतस्था और सुषुम्ना मूत्रण केंद्रों के बीच संबंध पूर्णतया टूटने पर मूत्रण अनजाने में होता है। चूँकि प्रांतस्था से सुषुम्ना केंद्रों तक जाने

वाले तंतु सुषुम्ना की पूरी लंबाई तक पिरामिडी पथ पर फैले रहते हैं, इसलिए कटि प्रदेश के निकट सुषुम्ना के किसी खण्ड की विक्षति से मूत्र रुक जाता है और कैथीटर प्रवेशन (नालशलाका प्रवेशन) की आवश्यकता पड़ती है। यही सिद्धांत गुदा के तंत्रिका प्रेरण का, मलविसर्जन का है। अन्तर केवल इतना है कि मल-विसर्जन की क्रिया में उदरस्थ दीवालें और डायफ्राम भाग लेते हैं।

बोलना मस्तिष्क की समाकल क्रिया है, पर इस क्रिया को पूरा करने के लिए श्रवण, मोटर और दृष्टि के विश्लेषकों और उनके बीच के संबंधों का बहुत महत्व है।

बायें गोलार्ध के प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था की कायिक विक्षति से (दायें हाथ से काम करने वाले व्यक्ति में) वाक् विकार या वाचाघात पैदा हो जाता है। बायें हाथ खण्ड के प्रान्तस्था के निश्चित क्षेत्र में क्षति से संवेदी वाचाघात होता है, अर्थात बोले गये शब्दों के अर्थ समझने तथा भाषा के विश्लेषण में असमर्थता पैदा हो जाती है। बायें शंख कपाल क्षेत्र के प्रान्तस्था के निर्दिष्ट क्षेत्र में क्षति होने से स्मृति वाचाघात होता है। इस रोग में रोगी उन वस्तुओं के नाम भी नहीं ले पाता है, जिनसे वह भली भांति परिचित होता है और जिनका उद्देश्य भी उसे पता होता है तथा वह उनका वर्णन भी कर सकता है। उदाहरण के लिए, जब उसे पेन्सिल दिखायी जाती है तो वह इसका नाम तो नहीं बता सकता है पर कहता है कि "यह लिखने के काम आती है"। प्रान्तस्था के बाएं ललाट क्षेत्र की क्षति से मोटर वाचाघात हो जाता है जिस में जीवन भर में संचित वाक् परावर्त (संबंध) समाप्त हो जाते हैं और रोगी या तो एक भी शब्द नहीं बोल पाता है या बहुत ही थोड़े शब्दों से अपना काम चलाता है।

केंद्रीय पक्षाघात में उच्चारण दोष और अस्पष्ट उच्चारण जैसे वाक विकार हो जाते हैं। इन रोगों में ऐसे पेशी उपकरणों की सक्रियता कमजोर हो जाती है जिनसे कि ध्वनि बनती है। ये केन्द्र सुषुम्ना शीर्ष में स्थित होते हैं।

तंत्रिका रोगों वाले रोगियों के उपचार तथा देखभाल की मुख्य विधियां

चिकित्सा क्षेत्र में जाने वाले व्यक्तियों से बहुत कुछ आशाएँ की जाती हैं। चाहे वे चिकित्सक हों या उनके सहायक, उन्हें उत्तरदायित्व की भावना और उच्च नैतिकता से युक्त होना चाहिए। रोगी की देखभाल करने के लिए ये अपेक्षाएँ अपरिहार्य शर्त हैं। उद्यमशीलता, मानवीयता, संयम, धैर्य, रोगी की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए रोगी से व्यवहार करना, आत्मोत्सर्ग तथा चिकित्सक के सभी आदेशों का सही रूप से पालन करना—ये ऐसे गुण हैं, जो उपचारिका या मध्यम चिकित्साकर्मियों के लिए जरूरी होते हैं। दैहिक और मानसिक रोगों वाले रोगियों के उपचार करने

में मध्यम चिकित्साकर्मियों व सहायकों की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है, रूसी ग्रौषधि शास्त्र का समृद्ध इतिहास, विशेष कर अक्तूबर क्रांति के बाद का इतिहास, इसे दर्शाता है।

उपचारिका को रोगी की देखभाल करते समय एक बहुत ही महत्वपूर्ण नियम ध्यान में रखना चाहिए: उसे बीमार व्यक्ति से कभी भी उसके रोग की चर्चा नहीं करनी चाहिये तथा उसकी शिकायतों के प्रति संवेदनशीलता तथा सादानी का भाव वधर्शाना चाहिए। उपचारिका को, भले ही रोगी उसे ग्रपमानित ही कर दे, शांत ग्रौर संयमित रहना चाहिए, क्योंकि हो सकता है रोगी ऐसा व्यवहार ग्रपनी विचार शक्ति की विक्षति या मस्तिष्क की प्रलाप स्थिति, या विभ्रम के कारण, ग्रथवा ग्रपने स्वास्थ्य के भय से कर रहा हो। इन परिस्थितियों में उपचारिका को चाहिए कि वह रोगी को सांत्वना दे ग्रौर चिकित्सक को उसके सभी व्यपदेशों को सूचित करने का ग्राश्वासन प्रदान करे। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि प्रवेश विभाग से लेकर सभी ग्रौषध निर्देश चिकित्सक द्वारा ही दिये जायें। गर्म पानी की थैली या तापन पैड तक तंत्रिका रोगी विभाग में रोगी के मांगने पर चिकित्सक की ग्रनुमति मिलने के वाद ही मिलने चाहिए, क्योंकि ताप का ग्रौर पीड़ा का कम होना तंत्रिका तंत्र के दैहिक रोग के नैदानिक लक्षणों में से हैं। ऐसे गर्मतापन पैड से भी रोगी जल जा सकता है जो बहुत ग्रधिक गर्म न हो।

ग्रक्सर ही कपाल-मस्तिष्क के रोगी को ग्राक्सीजन उपचार की ग्रावश्यकता पड़ती है। ग्राक्सीजन का ग्रंतश्वंसन कराने के पहले रोगी के श्वास-मार्ग को गले में स्रावित श्लेष्मा व वमन-द्रव्य ग्रादि से मुक्त कर देना चाहिये। यह काम हाथ से टैंपन लगी विद्युत–पंप का प्रयोग बेहतर होता है। इसके बाद ग्रार्द्रित ग्राक्सीजन का ग्रंतश्वंसन कराया जाता है।

तंत्रिका-रोग से पीड़ित रोगी का खान-पान उसकी सामान्य हालत, उसकी चेतना ग्रौर उसके निगलने की क्रिया में विकार की उपस्थिति (या ग्रनुपस्थिति) पर निर्भर करता है। गहरी मूर्च्छा (गंभीर ग्रचेतन ग्रवस्था, हृदय व श्वसन क्रियाग्रों में गड़बड़ी) या तंद्रा (श्वसन में बिना किसी गंभीर विकार के मध्यम गंभीरता वाली ग्रचेतन ग्रवस्था) में स्थित रोगी को रोग-विकास के प्रथम दिन कोई खाना नहीं दिया जाता। यदि वह निगलने में समर्थ हो, तो उसे घूँट-घूँट कर मीठा चाय, फलों का रस ग्रादि देते हैं।

यदि निगलने की क्रिया में गड़बड़ी हो, तो पेय को पतली नली द्वारा पेट में उतारा जाता है, या फिर पोषक मिश्रण की एनीमा दी जाती है। इसका लाभ यह है कि पेय के श्वसनी में जाने का डर नहीं रहता। श्वसनी में पेय या खाद्य-पदार्थ के जाने से न्युमोनिया ग्रौर यहां तक कि श्वासावरोध का भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। यदि खाना रोगी के गले में ग्रक्सर फँसता है, तो उसे दही, सूजी की खीर, नर्म गूदेदार फल (ग्ररबूज, केले) ग्रादि खिलाने चाहिये।

चेतना में विकार (बेहोशी, आदि) होने पर रोगी को सावधानीपूर्वक बिस्तर पर लिटा देना चाहिये और कहीं वह लुघड़ कर गिर न जाये, इसका इंतजाम कर देना चाहिये। यह हमेशा याद रखना चाहिये कि गहरी मूर्च्छा या तंद्रा में स्थित रोगी को अक्सर लोग सोता हुआ समझने की भूल कर बैठते हैं। ऐसे रोगी के पास बैठने वाले को उसकी साँस और नाड़ी की गति का ध्यान रखना चाहिये, रक्तदाब नापना चाहिये। इनमें थोड़ा भी परिवर्तन होने पर चिकित्सक को सूचित करना चाहिये।

मिरगी का दौरा पड़ने पर रोगी में जिह्वापातन को रोकने का इंतजाम करना चाहिये (जीभ अपने स्वयं के भार से लटक कर गले गिरती है और इससे दम घुटने का डर रहता है; उंगलियों पर गाज कपड़ा लपेट कर (या किसी अन्य विशेष उपकरण द्वारा) जीभ को पकड़ कर रखा जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि गिरने से रोगी के सर वगैरह में चोट न आ जाये। हर रोगी में मिरगी के दौरे की अपनी विशेषताएं होती हैं, अतः इस हालत में रोगी का ध्यानपूर्वक प्रेक्षण करना चाहिये और सभी विशेषताओं को याद रखने और बाद में लिख लेने की कोशिश करनी चाहिये।

बायोक्युनोल (8 प्रतिशत आयोडोबिस्मयेट का उदासीन किये गये परसिका तेल में निलंबन) इंजेक्शन कुछ विचित्र परिणाम देते हैं। सुई एक दिन छोड़ कर 2.0 – 2.5 मि० लि० की मात्रा में 15 से 20 की गिनती में लगाते हैं। इंजेक्शन के पहले बायोक्युनोल के फ्लास्क को गर्म पानी में रख कर उसे गर्म करते हैं; फिर इसे अच्छी तरह हिलाया जाता है, तत्पश्चात इन्जेक्शन नितंब के पार्श्व चरण में उस स्थान पर लगाया जाता है, जहां खाल पहले ही अल्कोहल से साफ कर ली गयी होती है। फिर उस पर आयोडीन टिंचर लगा दिया जाता है, तत्पश्चात सुई लगायी जाती है। सुई को पिचकारी में लागने से पहले ही नितंब में चुभाया जाता है। यदि एक-दो मिनट तक रक्त नहीं निकलता है तब दवाई का इन्जेक्शन दिया जाता है। अघुलनशील पदार्थ का शरीर में वेधन से भयंकर परिणाम हो सकते हैं। इन्जेक्शन लगवाने के बाद रोगी को चंद मिनट तक पेट के बल लेटे रखना चाहिए तथा इन्जेक्शन लगने वाले स्थान को कालोडियन वाली रूई के फाहे से ढक देना च चाहिए। उपचार के समय रोगी के मूत्र की परीक्षा बहुधा करते रहनी चाहिए और यह बात निश्चय ही जान लेनी चाहिए कि रोजी ने टिंक्चर आयोडीन वाले जल (एक गिलास पानी में 10 बूंद) से भोजन के बाद मुंह धोया हो, जिससे कि दन्तमास शोथ न हो सके।

हम यहाँ एक अन्य हस्तोपचार पर भी विचार करेंगे – चिकित्सक द्वारा रोगी के प्रमस्तिष्क-मेरुतरल का चूषण करने की तकनीक और उसके उपरान्त रोगी का उपचार।

प्रमस्तिष्क मेरु तरल का चूषण नैदानिक तथा चिकित्सीय दोनों उद्देश्यों से किया जाता है। वेधन के लिए प्रचलित 5–6 सें० मी० लम्बी सुई (सूची) प्रयोग में लायी

जा सकती है। परन्तु मैन्ड्रिन वाली बीरव सूची अधिक पसन्द की जाती है। बालचिकित्सा में केवल साधारण सूचियाँ ही प्रयोग में लायी जाती हैं। उचित होगा यदि रोगी शैय्या के एक किनारे पर दायीं या बायीं करवट लेटे। पैर पेट की ओर जंघाओं तक झुके हों और जंघाएँ पेट तक सटी हुई हों, जबकि सिर को छाती से लगाया गया हो जिससे कि पीठ धनुषाकार बन जाये और कंटक प्रक्रम एक दूसरे से दूर हट जायें। दोनों श्रोणि अस्थियों की शिखाओं को जोड़ने वाली एक रेखा खींची जाती है, जो कि तीसरे और चौथे कटि-पृष्ठ वंशी के बीच की जगह के समतल पर होती है। बहुधा यह रेखा टिंचर आयोडीन से खींची जाती है। सूची को यहां प्रविष्ट किया जाता है; इसे एक पृष्ठ-वंशी आगे या पीछे भी प्रविष्ट किया जा सकता है। चुने हुए स्थान को ध्यानपूर्वक टिंचर आयोडीन से विसंक्रमित किये जाने के बाद खाल में 0.25 प्रतिशत वाला 1.0 मि० ली० प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल का इन्जेक्शन लगाया जाता है। या खाल पर ईथर में भिगोई हुई रूई के फाहे से लगभग 30 बार थपकी दी जाती है, जिससे कि संज्ञाहरण होता है। हाथों को अच्छी तरह साफ करने के बाद चिकित्सक तीसरी कटि पृष्ठवंशी कंटक प्रक्रम के उभरे भाग को उंगलियों से टटोलता है और सूची को प्रविष्ट करता है, ताकि सुई पृष्ठवंश के किनारे के साथ सरके और बीच की रेखा में बनी रहे और थोड़ी ऊपर की ओर हो। अंतरांकटिका और पीले स्नायु के वेधन के पश्चात सूची सरलता से दृढ़ तानिका तक आगे बढ़ती है और जिसके वेधने के बाद किंचित-सी, किन्तु स्पष्ट, रुकावट बहुधा महसूस होती है। जब ऐसा लगे कि मानो गुहा में वेधन हो रहा है, तब सूची को और अधिक प्रविष्ट नहीं करना चाहिए। मैंड्रिन को तब इस पर से हटा लिया जाता है और तरल सूची से बाहर निकलने लगता है।

नैदानिक उद्देश्य से 4 से 6 मि० ली० तरल ले लेना पर्याप्त है। और जिस दाब पर यह तरल प्रवाहित होता है, उसे निश्चित रूप से नाप लेना चाहिए। तरल के रंग तथा शुद्धता को लिख लेना चाहिए। सामान्य स्थितियों में, प्रमस्तिष्क मेरु तरल का स्वरूप आसुत जल-सा होता है और इसका प्रवाह लगभग 60 बूंद प्रति मिनट है। अधिक दाब होने पर बूंदें संयोजित हो जाती है और तरल लंब या समातल चापित धारा के रूप में निकलने लगता है।

कुछ रोगों में यह तरल पीलापन (जैन्थाक्रोमियां) ले लेता है। तानिकाओं के सपूय शोथ की दशा में यह तरल अस्पष्ट (धुंधला) होता है। सूची को निकालने के बाद वेधन के स्थान को रूई और कलौडियम से ढक देते हैं। वेधन के बाद दो-तीन घंटे तक रोगी को बिना तकिये के पेट के बल लिटाये रखना चाहिए। 24 घंटे के लिए पूर्ण रूप से शय्या विश्राम निर्धारित किया जाता है। इन सब सावधानियों के ध्यानपूर्वक बरतने पर भी कई रोगियों में कुछ घंटों के बाद तानिकाओं के उद्दीप्त होने के चिन्ह दिखायी देने लगते हैं: जैसे कि सामान्य निर्बलता, शिरोवेदना, पीठ में दर्द, मितली और कभी-कभी उल्टी और मूत्र-अवधारण हो जाता है। ऐसे रोगियों को 40 प्रतिशत

हेक्सामेथीलीन टेट्रामीन (यूरोट्रोपीन) के 5.0 मि० ली० घोल के अन्तः शिरा आधान और मुख से वेदनाहर (ऐमिडापाइरीन, ऐसीडोफेनेडिटीस, ऐन्टीपाइरिन) का औषधि-निर्देश दिया जाता है।

सुषुम्ना की विक्षति से होने वाले अधःशाखा (अधः या उर्ध्व अंगों) के अंगघात वाले रोगी को विशेष देखभाल की जरूरत होती है, क्योंकि ऐसे रोगियों को शय्याव्रण हो सकता है और उनका मूत्रण क्षति ग्रस्त हो जाता है। शरीर के ऐसे भागों का, जिन पर अधिक समय तक दाब रहता हो, अर्थात ऐसे भाग जहाँ की खाल अस्थि के ऊपर अधिक होती है; अत्यधिक कष्ट होने की संभावना रहती है, शय्याव्रण अधिकतर संक्रमी भाग में अथवा घुटनों और गुल्फ के जोड़ों की मध्यवर्ती सतह पर, श्रेणिअस्थि शिखाओं के उभरे भागों के ऊपर होता है। इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि रोगी सूखी और साफ चादर पर लेटे, जिसमें कि सलवटें न हों। यदि रोगी अपनी पीठ के बल लेटता है, तो उसे अक्सर करवट बदलनी चाहिए। त्रिकास्थि के नीचे रबर की वायु-वलय रखनी चाहिए, खाल पर कपूर, स्प्रिट मलनी चाहिए या इसे साबुन और कमरे के तापक्रम वाले जल से धोकर फिर सुखा लेना चाहिए। यदि इस सब के बावजूद भी शय्याव्रण हो जाये, तन्तुओं में सूजन आ जाये उसके बाद भी आक्लेदन हो और कोययुक्त पपड़ी बन जाये तो इसका उपचार उसी तरह करना चाहिए, जैसे घाव का: सल्फापाइरिडीन इमल्शन से, या विश्नेवस्की मलहम (तीन भाग टार, तीन भाग बिस्मथ ट्राइब्रोमोफेनेट, 94 भाग रेड़ी का तेल), जिन्क मलहम से। इस भाग से फाइब्रिन फिल्म लगाने से भी अच्छा असर होता है। सभी परिगलित भागों को निकाल दिया जाता है और जो घाव रह जाता है उस पर गाज लगायी जाती है। गाज को 1 प्रतिशत पोटैशियम परमैंगनेट में भिगो लिया जाता है। ड्रैसिंग को दिन में दो बार बदलना चाहिए और हर बार पट्टी को वैक्स पेपर से ढकना चाहिए।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शय्याव्रण एक गंभीर पेचीदगी है, क्योंकि इसके द्वारा शरीर में संक्रमण प्रवेश कर जा सकता है। इसके द्वारा पूतिता हो सकती है और रोगी के जीवन के लिए खतरा पैदा हो सकता है।

मूत्र असंयति की दशा में, पुरुष रोगियों को मूत्र पात्र तथा महिला रोगियों को रबर का शय्या पात्र दिया जाता है। मूत्रावधारण की स्थिति में जब मूत्राशय पर लगाने वाली गर्म पानी की थैली प्रभावहीन सिद्ध हो जाती है तो कैथीटर प्रवेशन करना पड़ता है। अपूति के सभी नियमों को ध्यान में रखते हुए कैथीटर प्रवेश किया जाता है, नहीं तो मूत्राशय के संक्रमित होने का भय रहता है। ऐसे रोगियों को मूत्राशय शोथ हो सकता है, जिसके बाद गोणिका शोथ, वृक्कशोथ हो जाते हैं, जो यूरोसेप्सिस (मूत्र पूतिता) से और बढ़ जाते हैं। यदि कैथीटर प्रवेशन कई बार करना पड़े तो मूत्राशय की जबतब 2 प्रतिशत बोरिक ऐसिड घोल से धुलाई करनी चाहिए। इस घोल की जगह 1:200 सिल्वर नाइट्रेट घोल का भी प्रयोग किया जा सकता

है। कैथीटर प्रवेशन अधिकतर दिन में दो बार किया जाता है। एक बार सवेरे और दूसरी बार सोते समय। जिन रोगियों में संवेदनशीलता का विकार हो, उन्हें अधिकतर मूत्रण की इच्छा ही नहीं होती और उन्हें यह भी शिकायत नहीं होती कि मूत्राशय एकत्रित मूत्र से फूल गया है। उपचारिका को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे रोगियों का मूत्राशय समय-समय पर खाली किया जाता रहे।

II विशिष्ट तंत्रिका विकृति विज्ञान

परिसरीय तंत्रिका-तंत्र के रोग

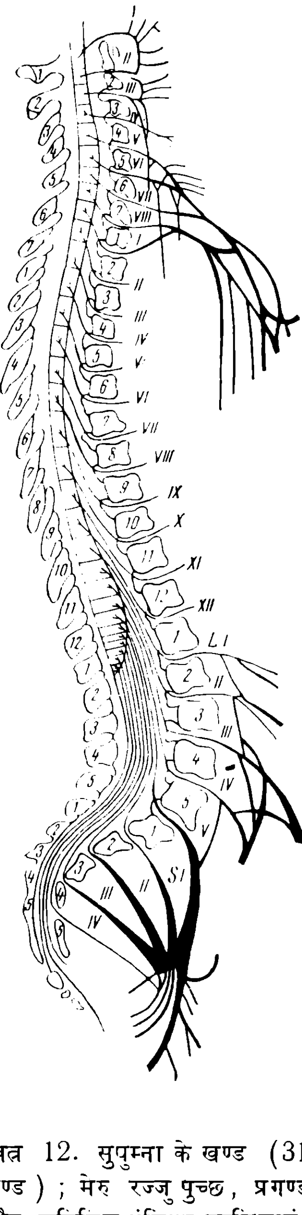
परिसरीय तंत्रिका तंत्र के रोगों की संकल्पना में तंत्रिका कार्ति तथा तंत्रिका शोथ शामिल हैं। इन रोगों में पीड़ा उस क्षेत्र में होती है जो उस संवेदित तंत्रिका द्वारा प्रेरित होता है, जो उद्दीपन की स्थिति में होती है (उदाहरणार्थ त्रिधारा या आनन तंत्रिका कार्ति)। इसके अतिरिक्त, पैरक और संवेदी क्रियाओं की हानि भी हो सकती है, जो क्षतिग्रस्त (शोथीय) तंत्रिका के कारण होती है (उदाहरण के लिए आनन तंत्रिका की कार्ति अथवा हाथ या पैर को जाने वाली तंत्रिका की कार्ति)।

त्रिधारा तंत्रिका चूंकि संवेद्यता को आनन और श्लेष्मा को श्लेष्मल कला तथा त्वचा से संचरित करती है, इसलिए आनन और श्लेष्मा की तंत्रिका कार्ति में, आनन के आधे भाग में या ऐसे क्षेत्र में पीड़ा होती है, जहाँ इसकी शाखा स्थित हो। कभी-कभी त्रिधारा तंत्रिका कार्ति का कारण स्पष्ट नहीं होता है, पीड़ा के दौरे चलते हैं जिनके दौरान रोगी पीड़ा से चालहीन स्थिति में आ जाता है और चेहरा पीड़ा से ऐंठ जाता है। इसके साथ ही, होंठों और जिह्वा की चटकारे जैसी गति होती है, अथवा अश्रुस्रवण या मुँह में धातु जैसा स्वाद हो जाता है। सेंक, तंत्रिका-कार्ति की प्रतिरोधी औषधि, तथा बर्नार्ड धारा से रोग के दौरे में आराम मिलता है। रोग की दीर्घ स्थाई स्थिति में तंत्रिका स्कन्ध में एल्कोहल या गर्म पानी के आधान से तंत्रिका को नष्ट कर दिया जाता है।

आनन तंत्रिका शोथ से आधे आनन के अंगघात का चित्र सामने आता है: रोगी अपनी भौहें नहीं उठा सकता है, ललाट पर सलवटें पड़ जाती हैं, आँखें बन्द-सी हो जाती है, दांत दिखने लगते हैं और होठ खुल जाते हैं। आनन तंत्रिका शोथ के कारणों में से एक आंतरिक कान का विक्षति होना भी है, क्योंकि आनन तंत्रिका कान के इस भाग के ऊपर स्थित फैलोपी नलिका में से गुजरती है। मस्तिष्क स्तंभ से आने वाली तंत्रिका के मूल में शोथ या क्षति हो सकती है। कठिन काल के गुजरने और रोग का उपचार करने के बाद, भौतिक चिकित्सा (मालिश, बेरगोनी अर्ध मास्क) का निर्देश दिया जाता है।

बहिर्प्रकोष्ठिका, अंतःप्रकोष्ठिका और मध्यम तंत्रिकाओं के शोथ अपने मूल में अधिकतर अभिघातज होते हैं। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि बहिर्प्रकोष्ठिका

तंत्रिका शोथ में हाथ लटक जाते हैं (मणिबंध पात हो जाता है) और रोगी अपनी कलाई सीधा नहीं कर पाता है, जबकि अंत:प्रकोष्ठिका का तंत्रिका शोथ नखर हस्त से लक्षित होता है (इसमें उंगलियाँ अंगुलास्थि जोड़ों पर ज्यादा फैल जाती हैं तथा अंतर अंगुलास्थि जोड़ों पर मुड़ जाती हैं) या बन्दर जैसा हाथ हो जाता है, जिसमें कि अंगूठा चारों उंगलियों के सामने नहीं आ पाता है। ग्रैव सुषुम्ना मूलों में तंत्रिका कार्ति होने पर ऊपरी अंगों में जो पीड़ा होती है उसका कारण अत्यधिक बारम्बारता होने वाला ग्रैव अस्थि-उपास्थि विकृति है, अर्थात अस्थि उद्वर्ध के बनने के साथ अंतराकशेरुका उपास्थियों का नष्ट हो जाना है। अस्थि उद्वर्ध के बनने से सुषुम्ना के संवेदन मूलों में संकोचन और उद्दीपन होता है। ऐसे रोगों में मुख्य उपचार शारीरित व्यायाम, कालरक्षेत्र की मालिश तथा उच्च कालर से प्रसार द्वारा किया जाता है।



चित्र 12. सुषुम्ना के खण्ड (31 खण्ड) ; मेरु रज्जु पुच्छ, प्रगण्ड और कटित्रिक तंत्रिका जालिकाएं, पृष्ठवंशी ; अरबी अंक। सुषुम्ना खण्ड के मूल ; रोमन अंक।

कटि-सेक्रमी तंत्रिका-मूल का शोथ

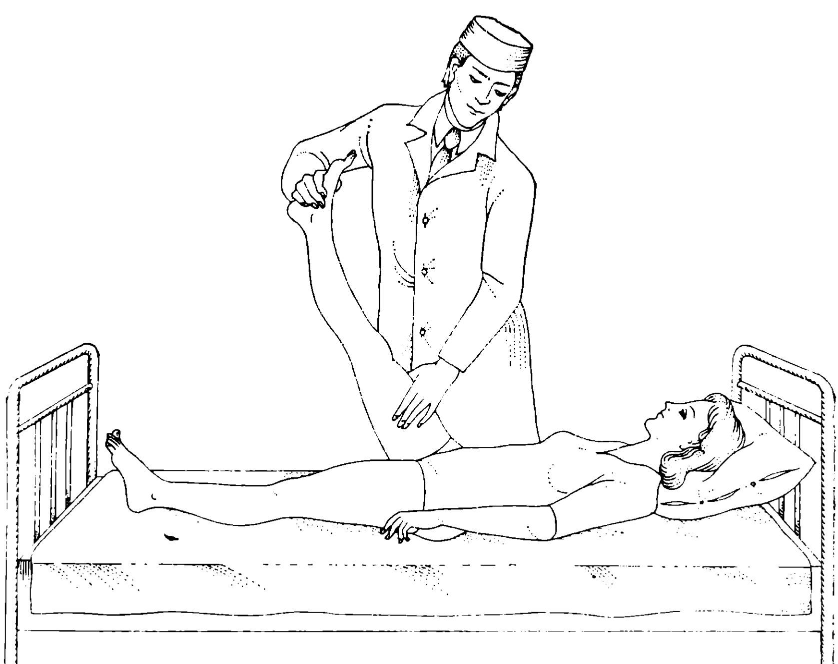
परिसरीय तंत्रिका तंत्र के कटि-सेक्रमी भागों की विक्षति अत्यधिक प्रचलित तंत्रिका रोगों में से है। बहुत आसानी से क्षत हो जाने वाली निम्नकटि और उच्च सेक्रमी मूलों से आसन तंत्रिका क्रियाशील होती है (चित्र 12)। तंत्रिका मूल शोथ और आसन तंत्रिका के रोग मेरुदण्ड की असमान्यता (अस्थि-उपास्थि विकृति) से संबंधित समझे जाते हैं। कम बारंबारता से होने वाली कटि पीड़ा का कारण त्रिक श्रोणि फलक या नितम्ब के रोग होते हैं। अन्यथा यह पीड़ा श्रोणि के अंगों के रोगी होने के कारण होती है। बहुत से संक्रमणों और विषजन्य रोगों से तंत्रिका तंत्र का संबंध भी हो सकता है।

अधिक पेशी आयास के बाद एकाएक तेज कटि पीड़ा का कारण अंतरा कशेरुकउपास्थि के बहि:सरण में मूल का बंधीकरण होना हो सकता है। अंतरा सन्धायक कंडराओं और पीठ की लम्बी पेशियों की चोट से होने वाले रोग ऐसे रोगों में शामिल नहीं हैं।

कटित्रिक तंत्रिका मूल शोथ वाले रोगी को निरंतर पीड़ा होती रहती है या कभी-कभी पीड़ा का दौरा-सा पड़ता है। और यह पीड़ा चूतड़ों और जांघों के पश्च भाग या टांगों के पश्च या पार्श्व भाग तक बढ़ जाती है। बहुधा यह पीड़ा पीठ के थोड़े-से भाग में पहले महसूस होती है। पीड़ा इतनी ज्यादा हो सकती है कि रोगी को शय्या लेनी पड़े। थोड़े से पेशी आयास, खांसने, छींकने या थोड़ा-सा हिलने-डुलने से यह पीड़ा तीव्र हो जाती है। बड़ी ट्रोकेन्टर और आसनास्थि गंडक की मध्य रेखा को दबाने से स्पर्श सह्य वैलेक्स बिन्दु जाना जा सकता है। यह गंडक जानु पृष्ठ खात और पार्श्व अंतरजंघिका के स्थूलक में होता है।

चूँकि पेशी के तनाव से पीड़ा बढ़ती है, इसलिए रोगी अपने प्रभावित पैर की पेशी को कुर्सी पर बैठते ही ढीला छोड़ देता है।

तनाव के लक्षणों, खासकर लैसेग लक्षण का नैदानिक महत्व बहुत है। लैसेग लक्षण निम्नलिखित है: रोगी को पीठ के बल लिटाया जाता है तथा प्रभावित अंग को सीधा उठाया जाता है (सीधे पैर को उठाने वाली जांच)। इसके परिणामस्वरूप आसन तंत्रिका खिंचती है और पूरे अंग में तीव्र पीड़ा का अनुभव होता है, जो अंग को खिंचने



चित्र 13. लासेग चिन्ह (जांच की विधि)

नहीं देता। लेकिन जब अंग को घुटने पर से मोड़ा जाता है, तो पीड़ा बन्द हो जाती है, क्योंकि तंत्रिका कम खिंचती है (चित्र 13)

कटि सेक्रमी तंत्रिका मूल शोथ में स्वस्थ या रोगी अंग की ओर पार्श्वकुब्जता हो जाती है।

उपचार. रोगी को समतल तथा कठोर शय्या पर लिटा दिया जाता है। सेंक से, गर्म पानी की थैली से, हीटर से अथवा गर्म रेत की बोरी से सेंक करने से रोगी को पीड़ा से आराम मिलता है। रेत ठंडी होने पर बदल दी जाती है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बोरी रेत से बहुत भरी हुई न हो। सख्त होने पर यह अंग से भली भांति स्पर्श नहीं करेगी। कटि-प्रदेश में या नितंब के नीचे जांघों पर सरसों का प्लास्टर किया जाता है। ऐमिडोपाइरीन, अनाल्जिन (डाइपाइरीन), या रियो-पाइरीन (जैसे फिनाइल ब्यूटाजीन और एमिडोपाइरिन की गोलियां), आदि वेदनाहर औषधि के रूप में दिये जाते हैं। पर स्फूर्त विद्युत धारा, गेल्वनी धारा, या ऐन्टीपाइरीन या प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड द्वारा कटि प्रदेश या नीचे के अंगों में आयन टोफोरोसिस और क्वार्टज मरकरी चाप लैम्प द्वारा किरणन के माध्यम से भौतिक चिकित्सा की जाती है। अंग की पश्च सहत पर अंतस्त्वक प्रोकेन ब्लाक (0.25 प्रतिशत घोल) लगाया जाता है।

कटि सेक्रमी तंत्रिका मूल शोथ का आम कारण कंटक मूलों का बंधीकरण होता है, इसलिए प्रसार (खिंचाई) के द्वारा उपचार किया जाता है। इसमें रोगी को उत्तान स्थिति में ऐसी शय्या पर लिटाया जाता है, जिसका तल थोड़ा झुका हुआ हो। रोगी के कंधों पर से घुसाते हुए, ग्लिसन स्लिंग को शय्या के सिरहाने से बांध देते हैं और टांगों पर भार लटका दिये जाते हैं। प्रसार (खिंचाई) 30 मिनट तक दिन में एक या दो बाद किया जाता है। यदि कटि पीड़ा कई महीनों तक चलती रहे तो सुषुम्ना या कशेरुक दंड के अर्बुद को निकाल देना आवश्यक है। या मेरु रज्जु-पुच्छ भाग की तानिकाओं के शोथ और वास्तविक श्रोणि में शोथज प्रक्रिया को दूर करना चाहिए।

नितंब तंत्रिका या उसकी किसी शाखा में शोथ होने पर पैर की अभिपृष्ठ आकुंचक पेशियों को तंत्रिका प्रेरित करने वाली बहिर्जंघिका तंत्रिका का या पैर का आंशिक घात मालूम होता है। इस दशा में चलने पर पैर की उंगलियां जमीन पर घिसटती हैं, रोगी रक्षात्मक क्रिया का सहारा लेता है, जिसमें कि वह हर कदम पर पैर को जमीन से ऊपर उठाता है, जिसके लिए उसे घुटने या कूल्हे के जोड़ पर अंग को बहुत आकुंचित करना पड़ता है। इसके कारण जमीन पर चलने में या सीढ़ियों पर चढ़ने में उसकी चाल कुछ विलक्षण सी हो जाती है। इस रोग से पीड़ित रोगी अपनी ऐड़ियों के बल नहीं चल सकता है। पैर की पश्च सतह की पार्श्व सीमा में पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता या तो घट जाती है या बिल्कुल खत्म हो जाती है।

बहुतंत्रिका शोथ

बहुत सी तंत्रिकाओं का एक साथ गुत्थी बन जाना, बहुतंत्रिका शोथ कहलाता है। हाथ और पैर के शोथ अंगघात से इसका पता चलता है। इसमें हाथ और पैर की पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता में विकार आ जाता है तथा अंगों के तंत्रिका प्रकान्डों में स्पर्शसह्यता भी अनियमित हो जाती है। बहुतंत्रिका शोथ विभिन्न मूलों (एल्कोहल, लैड, मैंगनीज, आरसेनिक, पारा इत्यादि) की मादकता और संक्रमण (खसरा, इन्फ्लूएन्जा, डिप्थीरिया, टाइफस, इत्यादि जो कि विभिन्न कारणात्मक कारकों द्वारा प्रेरित होते हैं) के कारण हो सकता है। हेतुकी चिकित्सा के अतिरिक्त विटामिन बी काम्प्लेक्स और प्रेडनीसोलोन भी औषधि के रूप में निर्देशित किये जाते हैं। विभिन्न प्रकार को भौतिक चिकित्सा प्रक्रियाओं द्वारा भी बहुत लाभ होता है। पुनरुत्थान काल में मालिश, उपचारिक शारीरिक अभ्यास और स्नान आदि का निर्देश दिया जाता है।

परिसरीय तंत्रिका तंत्र की दीर्घकालिक विक्षति की दशा में गंधकीय हाइड्रोजन स्नान (मात्सेस्ता) वाला स्पा उपचार, रैडन स्नान और मिट्टी का प्रयोग किया जाता है।

तंत्रिका तंत्र के संक्रामक रोग

तानिका शोथ, मस्तिष्क शोथ और मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ

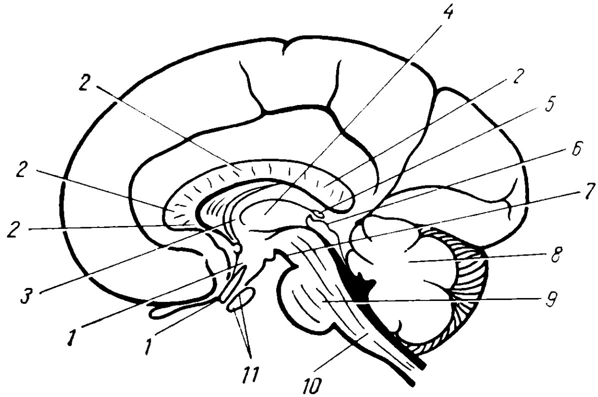
तंत्रिका तंत्र संक्रामक रोग अधिकतर तानिकाओं के शोथ (तानिका शोथ) या मस्तिष्क शोथ के रूप में विकसित होते हैं। मस्तिष्क शोथ के साथ-साथ सुषुम्ना में भी शोथ विकसित हो सकता है, अर्थात् मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ हो सकता है।

मस्तिष्क तीन कलाओं (तानिकाओं) से ढका हुआ है: एक सख्त कला–ड्यूरा मैटर–सबसे ऊपर का भाग है तथा मस्तिष्क और सुषुम्ना को ढके हुए रहता है। जाल तानिका और पाया मैटर मस्तिष्क की सतह पर दो परतों की तरह हैं, जिनके बीच अवजाल तानिका अवकाश होता है।

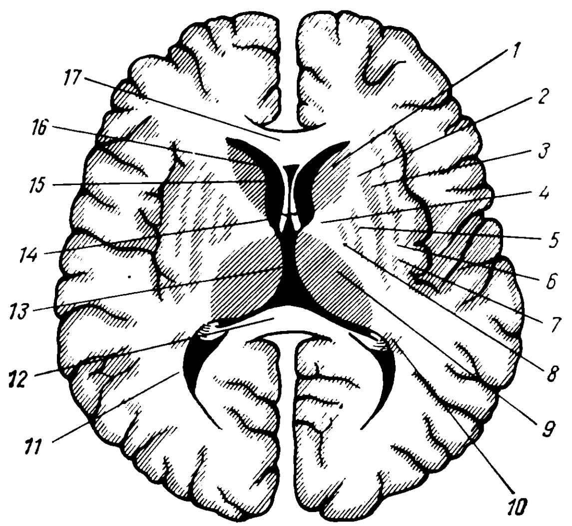
मस्तिष्क के अंदर गुहिकाएँ या निलय होते हैं: दो पार्श्विक निलय (अग्र, पश्च और निम्न शृंग या भाग सहित) जो कि तीसरे निलय से जुड़े होते हैं। यह निलय (तीसरा) चैतकों के बीच में होता है। तीसरा निलय एक सँकरी नलिका से लगा हुआ होता है। प्रमस्तिष्क कुल्या चतुष्टय फलक के नीचे स्थित होती है। पोन्स और सुषुम्नाशीर्ष के तल पर प्रमस्तिष्क कुल्या फैलती है और चौथा निलय बन जाता है। यह (चौथा निलय) सँकरा होता जाता है और सुषुम्ना की केंद्रीय नलिका से जुड़ जाता है (चित्र 14 और 15)।

हेतुकी के अनुसार, निम्न प्रकार के तानिका शोथ होते हैं: मैनिंगोकोकिक (जानपदिक), यक्ष्मज, अनुषंगी सपूय तथा अन्य। ये रोग अधिकतर बच्चों को होते हैं।

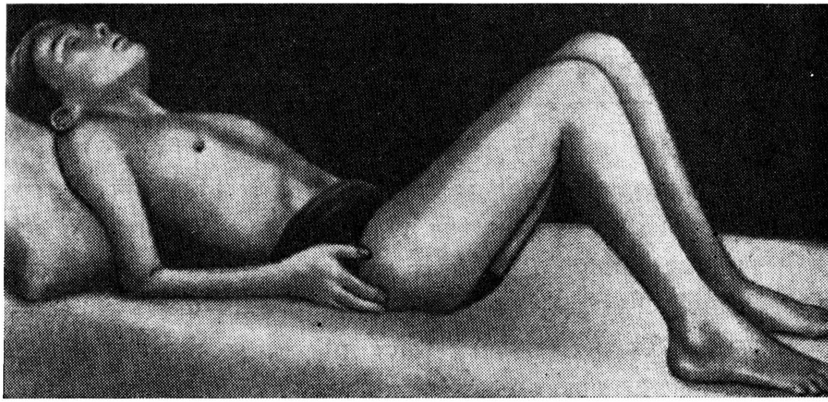
तानिका शोथ के नैदानिक चित्र में तानिका लक्षण होते हैं जो इस प्रकार हैं:



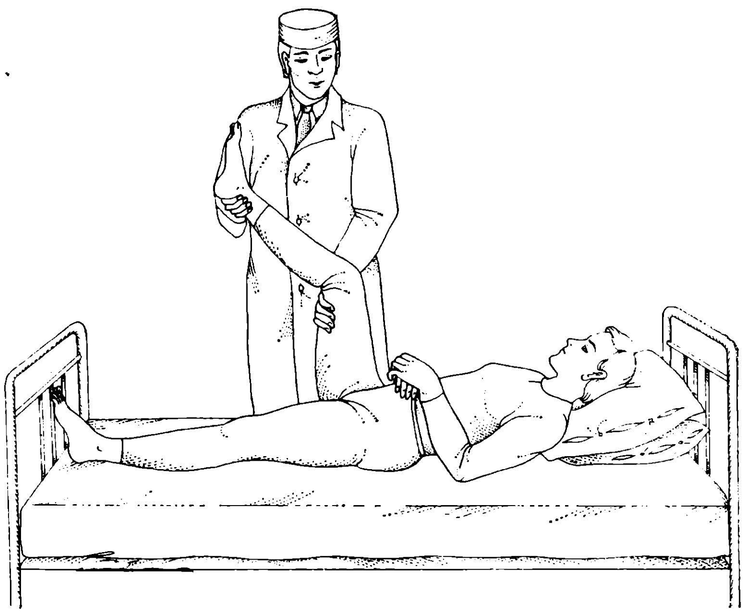
चित्र 14. मस्तिष्क का मध्यरेखीय खण्ड।
1. दृष्टि तंत्रिका, 2. प्रमस्तिष्क मैग्नासंयोजिका, 3. मुंह जिसके द्वारा पार्श्व निलय तृतीय निलय से जुड़ा हुआ है, 4. चैतक, 5. पिनिअल पिण्ड, 6. चतुष्टय फलक, 7. प्रमस्तिष्क वृन्तक, 8. अनुमस्तिष्क, 9. पोन्स वैरोली, 10. मेरुरज्जुशीर्ष, 11. हाइपोफिसिस सेरिब्राई।



चित्र 15. मस्तिष्क का क्षैतिज भाग 1 और 10, पुच्छक केन्द्रक; 2, 4 और 8 सम्पुट; 3. पुटेमेन (कवच); 5, माण्डुपिड; 6 और 7. रोधपट; 9. चैतक; 11 और 15, पार्श्वनिलय; 12 व 17 संयोजिका; 13, तृतीय निलय; 14. तोरणिका का क्रम, 16. स्वच्छपट।



चित्र 16. तानिकाशोथ वाले रोगी की स्थिति
मन्या की कठोरता, निचले अंगों की नम्यता, पेट अन्दर की ओर धंसा हुआ।



चित्र 17. केर्निग चिन्ह की जांच।

(1) मितली के साथ सिर दर्द और कभी-कभी उल्टियां भी, जबकि कुछ भी खाया-पिया न हो, (2) मन्या या मत्था-पेशियों (गुद्दी) की कठोरता, (3) केर्निग या नेरी लक्षण, (4) नाड़ी का मन्दन, (5) प्रमस्तिष्क मेरु तरल में असामान्य अभिज्ञान, (6) शरीर का बढ़ा हुआ ताप और संज्ञा हानि।

तानिका शोथ के तीव्र काल में रोगी का सिर पीछे लटक जाता है और गंभीर दशा में रोगी का सिर तकिये में धंसा-सा लगता है और गर्दन को मोड़ना तथा चिबुक को छाती से लगाना कठिन होता है। रोगी करवट से या पीठ के बल लेटता है और उसकी टांगें मुड़ जाती हैं तथा जांघें पेट की ओर खिंच जाती हैं (चित्र 16)। टांगों का घुटनों के जोड़ से आकुंचन टांगों की आकोचनी पेशियों में अधिक तान के कारण होता है। इसे केर्निग चिन्ह कहते हैं (चित्र 17)। इसमें मन्या की कठोरता भी होती है। गर्दन को मोड़ने के प्रयास में और चिबुक को छाती से लगाने के प्रयास में घुटनों में आकुंचन होता है (इसे नेरी चिन्ह कहते हैं)। यह शोथज प्रक्रिया इस या उस कपाल तंत्रिका तक फैल जाती है और प्रमस्तिष्क तानिकाओं में प्रवेश कर जाती है।

तानिका शोथ में नेत्र प्रेरक और अपवर्तनी तानिकाएं सर्वाधिक प्रभावित होती हैं, जिसके फलस्वरूप वर्त्मपात और द्विदृष्टिता के रोग विकसित हो जाते हैं। जिह्वा ग्रसनी तंत्रिका और वैगस तंत्रिका के शोथ से मेरु शीर्षघात के लक्षण नजर आते हैं, क्योंकि इनके प्रेरक तंतु स्वर यंत्र और ग्रसनी पेशियों तक होते हैं। इसलिए इनके प्रभावित होने से ये पेशियाँ निर्बल हो जाती हैं और निगलने में कठिनाई होती है (इस रोग को निगरण कष्ट कहते हैं) और स्वर उच्चारण कमजोर हो जाता है (जिसे उच्चारण दोष कहते हैं)। तरल भोजन नाक में पहुँच जाता है और सख्त भोजन से रोगी का गला रुंध जाता है। ऐसे रोगी को बैठा कर सावधानीपूर्वक आंशिक-द्रव भोजन दिया जाता है। ऐसे रोगी जो बिलकुल निगल नहीं सकते, उन्हें तरल भोजन कृत्रिम विधि से दिया जाता है। इस विधि में नाक में उत्तम नालशलाका के द्वारा या पोषक एनिमा के द्वारा रोगी को तरल भोजन पहुंचाया जाता है।

सुषुम्ना शीर्ष केन्द्रकों की शोथज प्रक्रिया में श्वास क्रिया कमजोर हो जाती है, जो मृत्यु का कारण बन सकती है। ऐसे रोगियों को मशीन द्वारा कृत्रिम श्वसन कराया जाता है।

निदान और उपचार के लिए तानिका शोथ वाले रोगियों का बार-बार कटिवेधन किया जाता है। मस्तिष्क मेरु तरल बढ़े हुए दबाव के अंतर्गत धारा के रूप में या बूंद-बूंद करके जल्दी-जल्दी निकलता है। इसमें प्रोटीन बहुत होता है और तानिका शोथ के लक्षणों के आधार पर रक्त के तत्व, लस कोशिका या न्यूट्रोफील बनते हैं। कभी-कभी रक्त के द्वारा कारणात्मक कारक (तानिका गोलाणु, माइक्रो बैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस, स्ट्रेप्टोगोलाणु) का पता लगाना संभव हो सकता है।

तानिका शोथ के उपचार के लिए अनेक प्रतिजीवियों (पेन्सिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन, मोनोमाइसीन, ऐंपीसिलीन इत्यादि) का इस्तेमाल किया जाता है।

तानिका शोथ के ठीक हो जाने के बाद कुछ रोगियों में कुछ अवशिष्ट प्रभाव, जैसे उभयकर्णी बधिरता, जलशीर्ष (मस्तिष्क का जलशोथ), अपस्मारी दौरे और क्षीण बुद्धिता आदि रोगों के लक्षण हो जाते हैं। शिशुओं और वृद्धों में तानिका शोथ का तेज प्रभाव होता है।

प्रतिजीवी उपचार के अतिरिक्त लाक्षणिक उपाय भी किये जाते हैं, जैसे शीत अनुप्रयोग, हृदयोद्दीपक, पीठ पर शीशे से चबकन, आदि। कोष्ठबद्धता होने पर विरेचक दिया जाता है और मूत्रावधारण को नालशाला के प्रवेशन द्वारा दूर किया जाता है।

संरक्षित व्यक्ति को हवा देना जरूरी है। शय्यात्रण की रोकथाम भी बहुत महत्वपूर्ण है। मुख की देखभाल भी जरूरी है, प्रतिदिन मुख की श्लेष्मलकला और दांतों की भीगी हुई रूई से सफाई करना आवश्यक है। आहार में तरल भोजन ही अधिक होना चाहिए।



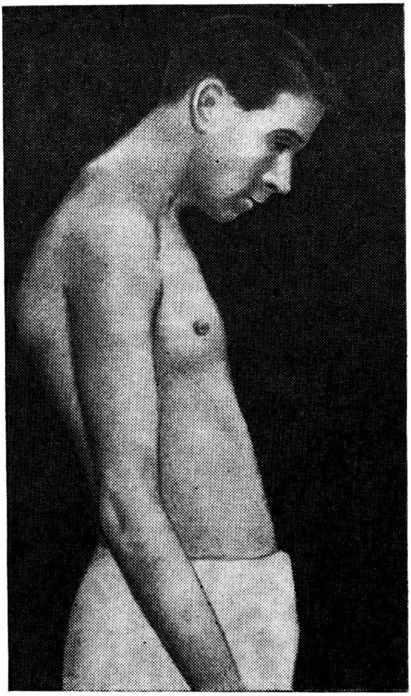
चित्र 18. पारकिन्सनता में पेशियों की सामान्य कठोरता।

हेतुकी और मस्तिष्क के इस या उस भाग में वैकृत प्रक्रम के स्थानसंश्रय के अनुसार, जिससे कि रोगलक्षण का चित्र सामने आता है, **मस्तिष्क शोथ** के रूप को पहचाना जाता है। बाल रोगों में रोमान्तिका मस्तिष्क शोथ भी हो जाता है और यहाँ तक कि आंशिक घात और अंगघात के साथ भी मेनिगों मस्तिष्क शोथ हो जाता है।

उदाहरण के लिए, जानपदिक तानिका शोथ को ले लीजिए। इसमें शोथज प्रक्रम अवप्रान्तस्था संरचना (रेखित पिंड, पांडुर पिंड, काला द्रव्य) में स्थित होता है और चिरकारी अवस्था में बढ़ती हुई पेशी-कठोरता से इनका पता चलता है। ऐसे रोगी धीरे-धीरे चलते हैं और उनकी बाहें पैरों के संगामी रूप में नहीं चलतीं। चेहरे पर स्थिर भाव रहते हैं। उनका उच्चारण नीरस होता है और अनेक ध्वनियां मरी-मरी-सी निकलती हैं। इस लाक्षणिक संलक्षण को पारकिन्सनता कहते हैं (चित्र 18)। पेशी समूह में गंभीर अकड़ाव आ जाने पर रोगी को चलने में मदद करनी पड़ती है। दृष्टिपात का आकर्ष होता है। आंखें एकाएक नेत्र गुहा में चली जाती हैं और यह स्थिति कई मिनटों से लेकर कई घंटों तक रह सकती है।

हाथों का लगातार तालबद्ध कंपन (कभी-कभी सर का भी) इस रोग के नैदानिक संकेत हैं।

इसका उपचार पारकिन्सनता औषधियों (ट्रोपैसिन, ट्रोपाइन डाइफिनाइल एसीटेट, साइक्लोडालसिन, ट्राइहेक्सा फेमेडिल या आरटेन, एलडोपासिन, डोपालानिन या लेवोडोपा) द्वारा होता है। पांडुर पिंड या अभ्युदर पार्श्व चेतन केन्द्रक को नष्ट करने के लिए शल्य चिकित्सा के परिणाम अच्छे होते हैं।



चित्र 19. ग्रैव पेशियों के शोथ में सिर का लटकना और बसन्त, ग्रीष्म ऋतु के मस्तिष्क शोथ में ऊपरी अंगों का अंगघात।

वसंत-ग्रीष्म किलनी से वाहित मस्तिष्क शोथ में शोथज प्रक्रम अधिकतर मुख्यतया सुषुम्ना शीर्ष के मोटर-केन्द्रक और सुषुम्ना के ग्रैवभाग में स्थित होता है। इसमें शरीर का तापमान एकाएक बढ़ जाता है और विषाणु संक्रमित किलनी द्वारा काटे जाने के दो सप्ताह बाद व्यक्ति के गले और स्कन्ध मेखला की पेशियों में शोथ अंगघात हो जाता है। सिर सीने की ओर कुछ झुक जाता है और बाहें ढीली हो कर लटक जाती हैं (चित्र 19)।

ऐसे रोगियों को अपस्मार (कोझेव्नीकोव द्वारा प्रतिपादित रोग) हो जाता है। इस अपस्मार का नाम रूसी तंत्रिका विकृति विज्ञान के संस्थापक अलेक्सेई याकोव्लेविच कोझेव्नीकोव के नाम पर पड़ा है। इन्होंने इसका वर्णन 1894 में किया था। पेशियों के निश्चित समूह के अवमोटनी अकर्ष के लगातार मौजूद रहने ता धीरे-धीरे अपस्मारी दौरा पड़ने लगता है।

उपचार. रोग के तीव्र काल में इस रोग वाले रोगी के 5 से 10 मि० ली० रक्त सीरम का अंत: पेशी या अंत: कटि इंजेक्शन प्रतिदिन लगाया जाता है। यदि अंगघात होता है, तो नीओस्टिगमाइन मेथाइल सल्फेट (0.05 प्रतिशत घोल वाला 1.0 मि० ली० घोल 2/दिन) और विटामिन बी काम्प्लेक्स का इन्जेक्शन लगाया जाता है। रोग की रोकथाम के लिए किलनी और जंगली (चूहे) कृतक प्राणी का दमन करना चाहिए, क्योंकि ये ही तानिकाशोथ विषाणु के वाहक हैं।

आमवात मूल के तानिका शोथ में वैकृत प्रक्रम अधिकतर अवप्रान्तस्था संरचनाओं में स्थित होता है। रोग का नैदानिक चित्र एक विचित्र प्रकार की प्रगतिकला के द्वारा लक्षित होता है, जिसे **लघु लास्य** कहते हैं। यह रोग अधिकतर स्कूल के बच्चों को होता है। इस रोग में धीरे-धीरे अनैच्छिक गतियां होने लगती हैं। पहले मुखविकृति होती है, फिर ऊपरी अंगों में तेज गति होने लगती है और इसके बाद धड़ की पेशियों और नीचे के अंगों में गतियां होने लगती हैं। ऐसे व्यक्ति मुश्किल से खड़े हो सकते या चल सकते हैं। जिह्वा और स्वर यंत्र की पेशियों और निगरण की पेशियों की

अतिगति कला के कारण निगलने और बोलने की शक्ति की क्षति हो जाती है। रोगी कभी-कभी बिस्तर मे नीचे गिर जाता है। मानसिक विघ्न होने लगते हैं : स्मृति और ध्यान की क्षति हो जाती है, रोगी अनायास ही भयभीत और उदासीन हो जाता है तथा अकारण हीं हँसता या रोता रहता है। बहुत से रोगियों को आमवात विरोधी चिकित्सा से लाभ होता है और कभी-कभी यह रोग दुबारा हो जाता है।

उपचार. रोग के तीव्र काल में रोगी को पूर्ण रूप से शैय्या विश्राम करना चाहिए तथा 10 प्रतिशत **मैग्नीशियम** सल्फेट घोल का 3.C से 5.0 मि० ली० का अन्त: शिरा इन्जेक्शन लगाना चाहिए। खिलाने वाली औषधियों में ब्रोमाइड, सोडियम सैलीसिलेट, एसीटाइल सैलसिलिक अम्ल, एमीडोपाइरीन, फेनोबारबीटल और हैलो-पेरिडोल (हैल्डोल या सेरेनीज का सूत्र युग्मन) तथा स्वरक्त चिकित्सा द्वारा इलाज किया जाता है। उत्तेजना की स्थिति वाले रोगी को क्लोरल हाइड्रेट का एनीमा दिया जाता है या डाइजेपाम (मिथाइल डाइजेपिनान सूत्र युग्मन) के 0.5 प्रतिशत घोल का 1.0 मि० ली० का इंजेक्शन दिया जाता है। लास्य के साथ-साथ बहुधा आमवात (कमेटी) अंतर्हृदशोथ हो जाता है। रोग के कम होने पर भी बालक को बिस्तर से तभी उठने दिया जाता है, जबकि असामान्य हृदलक्षण विलकुल ही लुप्त हो जाते हैं।

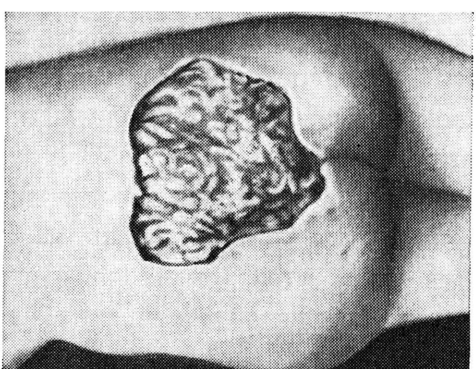
प्रसृत (बहुसृत) काठिन्य

बहुसृत काठिन्य रोग मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ का अधिक प्रचलित रूप है और यह रोग अधिकतर युवकों को होता है। विक्षति मस्तिष्क के विभिन्न भागों में सुषुम्ना में होती है, जिसके कारण नैदानिक चित्र विविधतापूर्ण होता है। पिरामिडी पथ और सुषुम्ना तथा सुषुम्नाशीर्ष को अनुमस्तिष्क से जोड़ने वाले तन्तुओं की सर्वाधिक हानि होती है। यह रोग संस्तंभी आंशिक घात या अंगघात के रूप में, कभी-कभी श्रोणि अंगों की क्रियाओं में खराबी (मूत्रावधारण) तथा गतियों के समन्वय में गड़बड़ियों के साथ, जो ऊपरी और निचले अंगों की शक्तियों के बेढंगेपन के रूप में सामने आती हैं, प्रकट होता है। प्रसृत काठिन्य के शास्त्रीय लक्षण निम्नलिखित हैं : संस्तम्भी और अनुमस्तिष्कीय चाल, हाथों की उद्देश्यपूर्ण गति में भद्दापन, रुक-रुक कर उच्चारण और अक्षिदोलन (नेत्र गोलक की अनैच्छिक तीव्र गति)। हालत में अक्सर सुधार होता है और लक्षणों के गायब होने के साथ शिथिलता, चाहे थोड़ी देर के लिए ही हो, बहुधा होती है।

रोगी के हाथों की गति का समन्वय चूंकि बहुत कमजोर हो जाता है, इसलिए चिकित्साकर्मी को रोगी को चम्मच से खिलाना पड़ता है; अनुमस्तिष्कीय चाल वाले रोगी को कमरे में चलने में अवश्य ही सहायता देनी होती है। मूत्रण विक्षोभ वाले रोगी की देखभाल का वर्णन मन: तंत्रिका रोगी की देखभाल वाले खंड में किया गया है।

मज्जाशोथ सुषुम्ना का शोथ है, जो अधिकतर वक्षस्थल में विकसित होता है। इसमें पूरा व्यास या रज्जु के विभिन्न क्षेत्र प्रभावित होते हैं। रोग निम्नलिखित लक्षणों से पहचाना जाता है: बढ़े हुए तान के साथ अधः शाखा की पेशी की कमजोरी का बढ़ना, अति प्रतिवर्त और वैकृत प्रतिवर्त; प्रभावित खंड के स्तर से संवेदन की हानि, मेखला की पीड़ा जो कि रोगी खंड के मूल के अनुरूप होती है, मूत्रावधारण व मलावधारण, ऊतक पोषणज विक्षोभ के कारण थोड़े समय में शैय्या व्रण का हो जाना (चित्र 20)। शोथज विकार स्थान सुषुम्ना के ग्रैवभाग में स्थित होने से चारों अंगों का अंगघात होता है। कटि सेक्रमी भाग में मज्जाशोथ का पता निचले अंगों में आंशिकघात और मूत्र असंयति से चलता है। सुषुम्ना के कटि सेक्रमी भाग में स्थित अग्र शृंग की कोशिकाओं के रोगी होने से ये अपसामान्यताएँ होती हैं; ये कोशिकाएँ निचले अंगों की परिसरीय मोटर तंत्रिका कोशिकाओं को जन्म देती हैं। मूत्र असंयति का कारण मूत्राशय और सुषुम्ना के बीच बाधित सम्पर्कों का होना है।

विषाणु मूल वाला मज्जाशोथ आम तौर पर तेजी से बढ़ता है। सिफिलिस वाले मज्जाशोथ में सुषुम्ना की वाहिकाओं में शोथ के साथ-साथ अंतरधमनी शोथ होता है—इसमें शोथ हो जाता है और वाहिकाओं की अंदरूनी दीवार मोटी हो जाती है। इसलिए वाहिकाएँ संकरी हो जाती हैं।



चित्र 20. क्रेमी भाग में प्रसारित और हगन शय्याव्रण

संक्रामक मज्जाशोथ का उपचार 40% यूरोट्रोपीन घोल के अंतरशिरा आधान और पेन्सिलीन तथा अन्य प्रतिजीवी के अंतरपेशीय इंजेक्शन द्वारा किया जाता है।

जब रोग की तीव्रता कम होती है, तो मालिश, शारीरिक अभ्यास व स्नान के निर्देश दिये जाते हैं। शैय्याव्रण को रोकने के लिए विशेष उपाय (जो कि पहले बताये जा चुके हैं) किये जाते हैं। मन्द गति से विकसित होने वाले अंगघात मज्जाशोथ को सुषुम्ना के अर्बुद से भिन्न समझा जाता है। अर्बुद का निदान तब किया जाता है जब कि प्रमस्तिष्क मेरु तरल में प्रोटीन वियोजित होने लगता है: प्रोटीन की मात्रा बढ़ जाती है, परन्तु बने हुए अवयवों का अंश सामान्य रहता है।

सुषुम्ना धीरे-धीरे यक्ष्मज कशेरूक सन्धि शोथ के रूप में सम्पीड़ित हो जा सकती है और इसका निदान मेरु दण्ड का एक्सरे लेने पर आसान हो जाता है।

सुषुम्ना की क्षति होने पर, चोट से उसके किसी एक भाग में रक्त स्राव होने पर भी, नैदानिक रूप से कुछ सीमा तक मज्जा शोथ जैसे लक्षण मिलते हैं। संवेदन की हानि और मूत्र असंयति या मूत्रावधारण के साथ सक्थि के अभिलक्षण सुषुम्ना के तीव्र अभिघातज शोथ में विकसित हो जाते हैं। मूत्राशय में दीर्घावधि गड़बड़ियों की स्थिति में 'अति जघन नालव्रण बनाने की सलाह दी जाती है, जिससे विविध किस्म की जटिलताएँ रुक सकती हैं।

पोलियो (मस्तिष्क स्तम्भ रूप)

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में विषाणु संक्रमण को **पोलियो** कहते हैं। इसमें सुषुम्ना का धूसर पदार्थ प्रमुख रूप से प्रभावित होता है। शोथ बहुधा अग्र शृंगों की कोशिकाओं में पृथक सीमित क्षेत्रों में विकसित होता है।

यह अधिकतर किशोर बच्चों को होता है, इसलिए पोलियो को शिशु अंगघात भी कहा जाता है। इसके आक्रमण के लक्षण हैं: ज्वर, कुछ दशाओं में वमन और अतिसार द्वारा तथा कुछ दशाओं में कब्ज द्वारा अस्वस्थ्यता। तापमान कुछ घंटों के लिए 39 या 40°C तक पहुँच सकता है और फिर गिर कर सामान्य स्तर पर आ जा सकता है; कभी-कभी अगले 24 घंटों में तापमान फिर बढ़ जाता है, लेकिन उस स्तर तक नहीं जिस स्तर पर पहले था। कई मामलों में रोग की तीव्रता की अवधि में अत्यधिक कमजोरी आ जाती है, प्रस्वेदन होता है, स्कारलेट ज्वर जैसा चित्र फूटता है, बार-बार तेज सिर दर्द होता है, तंद्रा आती है, और कभी-कभी अपस्मारी दौरे पड़ते हैं।

रोग की पूर्व अंगघात अवस्था में ज्वर कई घंटों से लेकर कई दिनों तक रहता है जिसके दौरान प्रमस्तिष्क मेरु तरल में शोथीय परिवर्तन दिखने लगते हैं।

रोग की अंगघात अवस्था का पता हाथ-पैर के अंगघात से चलता है, इसके साथ पीड़ा भी हो सकती है; कभी-कभी संवेदनशीलता कमजोर हो जाती है। इस रोग में पेशी तंतुओं के अपक्षय के साथ अग्र शृंग की कोशिकाओं में शोथीय परिवर्तन होते हैं। श्वसन विकार और हृदय क्रियाओं में विकार के साथ सुषुम्ना शीर्ष की कोशिकाओं का प्रभावित होना विशेष रूप से खतरनाक होता है। तीव्र शोथ कुछ दिनों में ठीक हो जाता है और इसके बाद पुनर्स्थापन काल आता है। कुछ पेशियों का अंगघात धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और कुछ दूसरी पेशियों में अंगघात रहता है।

तंत्रिका उपकरण की विक्षति होने पर उन पेशियों का ऐच्छिक संकुचन और शोष (अपोषण) समाप्त हो जाता है जो तंत्रिका उपकरण की विक्षति को उत्प्रेरित करता है। पेशी शोथ वाले शिशु की हड्डियों का विकास धीमा हो जाता है। यही कारण

है कि पोलियो का शिकार होने वाले बच्चों के हाथ, जंघाएं, कलाई या पूरा अंग जिसकी पेशियां शोषित (अपोषित) हो जाती हैं, छोटे रहते हैं।

तनूकृत जीवित विषाणु वैक्सीन से शिशुओं का आम निरोधक प्रतिरक्षीकरण होने के कारण सोवियत संघ में पोलियो बहुत ही कम होता है।

सुषुम्ना और मस्तिष्क का अर्बुद

मस्तिष्क के अर्बुद प्राथमिक या विक्षेपी हो सकते हैं। इस दशा में अर्बुद कोशिकाएँ रक्त या लसवाहिकाओं के द्वारा स्थानांतरित होती हैं। अर्बुद के अत्यधिक स्थान संश्रय के होने पर नैदानिक चित्र भिन्न होता है। मस्तिष्क के अर्बुद स्थाई और क्रमिक गति से लक्षित होते हैं। लगभग ऐसे सभी रोगियों में सामान्य प्रमस्तिष्क लक्षण बढ़े हुए अंतः कपाल-दाब और शिरा रक्त स्थैतिकता के कारण होते हैं; सिरदर्द, वमन, नेत्रबुदन में रक्ताधिक्य होना, और जड़िमा इसके लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क के निश्चित क्षेत्र के प्रभावित होने पर कुछ लक्षण पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए, ललाट खंड के अर्बुद वाले रोगियों को सुखाभास होता है, ये रोगी विनोदशील होते हैं और बेतुके काम करते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे रोगी अपने बिस्तर के साथ या वार्ड में ही मूत्र त्याग कर देते हैं। किसी भी स्थान पर और विशेष रूप से शंख खंड में अर्बुद के स्थित होने पर अस्मारी दौरा पड़ सकता है।

इसके उपचार की एकमात्र मूल पद्धति अर्बुद को निकाल देना है। लाक्षणिक चिकित्सा में विकिरण चिकित्सा और रसायन चिकित्सा शामिल हैं।

सुषुम्ना शीर्ष में अर्बुद होने पर इसके नाभीय लक्षण प्रकट होते हैं। मूल वेदना भी हो सकती है। प्रमस्तिष्क मेरु तरल के परीक्षण के परिणामों तथा बढ़ते हुए संवेदन और मोटर विकारों से अर्बुद का निदान करने में सहायता मिलती है। यदि संदेह हो कि रोगी के मस्तिष्क में अर्बुद है तो रोगी को अवश्य ही तंत्रिका तंत्र रोग विभाग में परीक्षण के लिए भर्ती कर देना चाहिए।

पेशी शोषी (अपोषण जनित) पार्श्व पथ काठिन्य

पेशी शोषी पार्श्व (पार्श्व पथ) काठिन्य के मूल कारकों से केन्द्रीय और परिसरीय प्रेरक-तंत्रिका कोशिकाओं का धीरे-धीरे नाश होने लगता है। रोग के नाम से विक्षति के स्थान संश्रय का और विकसित होने वाले विकार लक्षणों का पता चलता है। पिरामिडीय, या प्रांतस्था सुषुम्ना पथ सुषुम्ना के पार्श्व फ्युनिकुलस से होकर गुजरता है, इसलिए इसे पार्श्व कहते हैं। अग्रश्रृंग कोशिकाओं का नाश होने से पेशियों का शोष होने लगता है इसलिए इसे "पेशी शोषी" कहते हैं। अग्रश्रृंग और पिरामिडीय तंतुओं की नष्ट हुई कोशिकाओं का स्थान ग्लीया और संयोजी ऊतक ले लेते हैं, यानी कि काठिन्य रोग होने लगता है। यह क्रिया सुषुम्ना के आधे ग्रैव भाग में सर्वा-

धिक बारंबारता से शुरू होती है। ऐसी दशाओं में शोषकर आंशिकघात या ऊपरी अंगों का अंगघात और निचले अंगों के संस्तम्भी आंशिक घात का नैदानिक चित्र सामने आता है। आठवां ग्रैव और प्रथम वक्ष खंडांश हाथ की पेशियों को तंत्रिका-प्रेरित करते हैं, यही कारण है कि ऐसे रोगियों के हाथों में पेशीय शोष विकसित होता है।

इस प्रक्रिया के नौवीं, दसवीं और बारहवीं कपाल तंत्रिका के केन्द्रकों तक बढ़ जाने पर मेरु शीर्षघात के लक्षण नजर आते हैं। ऐसे रोगियों में खाते वक्त भोजन नाक या श्वास नली में पहुँच जाता है और अनुनासिक वाक् तथा उच्चारण दोष हो जाता है या कभी-कभी तो बोलना एकदम असंभव हो जाता है।

ऐसे विकारों वाला रोगी अपने आपको नहीं संभाल सकता है। वह अपने निर्बल हाथों से चम्मच तक नहीं पकड़ सकता है और उसे बिठाकर धीरे-धीरे खिलाना पड़ता है। उसे भोजन करते समय बोलने नहीं देना चाहिए। जब वह कई बार भोजन निगल चुका हो तो थोड़ी देर के लिए उसे खिलाना रोक देना चाहिए ताकि निगलने से संबंधित पेशी को विश्राम मिल जाये।

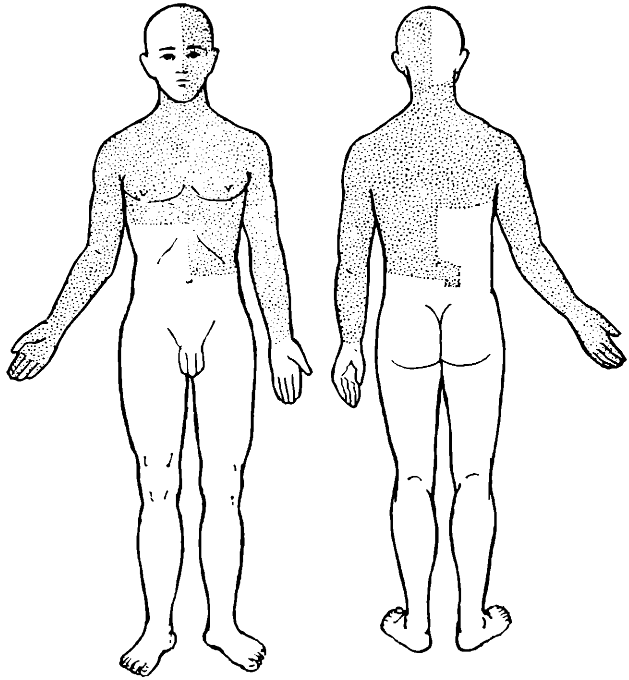
पेशी शोषी पार्श्व पथ काठिन्य एक अत्यन्त दुःसाध्य रोग है। भविष्यवाणी बुरी होती है। मृत्यु अधिकतर मेरु शीर्षघात के अनुगम से होती है। इस रोग का कारण अभी तक पता नहीं लगा है। इसका उपचार भी लाक्षणिक है।

सिरिंगोमाइलिया

सिरिंगोमाइलिया सुषुम्ना का रोग है। इसका मुख्य लक्षण संवेदना का विकार है। यह रोग दसियों बरस तक चलता है। और रोगी में कार्य करने की क्षमता बहुत समय तक रहती है। सिरिंगोमाइलिया नाम यूनानी शब्द सिरिंक्स (पाइप या ट्यूब) और माइलस (मज्जा) से बना है। इस रोग में ग्लीया वृद्धि और प्रमस्तिष्क मेरु नलिका की अंतःकला में वियोजन होने के कारण सुषुम्ना में गुहिकाएं बन जाती हैं। आध्मानी (फूली हुई) केन्द्रीय मेरु दण्ड नलिका के कारण पीड़ा और ताप अनुभव करने वाले चालक (संवाहक) नष्ट हो जाते हैं। ये चालक सुषुम्ना के प्रतिपक्षी से होते हुए विभाजित होते हैं।

अग्र शृंग तक फैलने वाली गुहिकाएं आम तौर पर सुषुम्ना के निम्न ग्रैव और वक्ष भाग में बनती हैं। ऊपरी अंगों की पेशियों के शोष तथा जैकेट या अर्द्ध जैकेट में पीड़ा और ताप का संवेदन लुप्त होने से इस स्थिति का पता लगता है (चित्र 21)। स्पर्श संवेदन लुप्त नहीं होता है। रोगी व्यक्ति को ऊपरी अंगों, वक्षस्थल और पीठ में से किसी एक या दोनों पर ही चुभन, ठंडे और गर्म उद्दीपन का अनुभव नहीं होता है।

ताप और पीड़ा संवेदन में विकार इतना अधिक हो सकता है कि रोगी को गंभीर दग्ध होने पर भी पीड़ा का तनिक अनुभव नहीं होता। क्षतिग्रस्त ऊतक पोषण



चित्र 21. चेहरे पर पीड़ा और ताप सम्बन्धी संवेद के विकार

के कारण विक्षति बहुत ही धीरे-धीरे तिरोहित होती है। रोगी की सेवा करते समय (वैद्युत उपकरण, हीटर आदि का उपयोग, या स्नान कराते समय) इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

ऊपरी अंगों के दूरस्थ भागों की हड्डियों में परिवर्तन तथा जोड़ों में पोषणज परिवर्तन रोग के लक्षणों को सामने लाते हैं। रज्जू के धूसर द्रव्य में स्थित वर्धी कोशिकाओं का उलझाव भी इससे संबंधित होता है। कभी-कभी सुषुम्ना की गुहिकाएँ कपाल तंत्रिका के केन्द्रकों तक फैल जाती हैं, जिससे कन्दी विकार हो जाते हैं।

इसका उपचार लाक्षणिक होता है; सुषुम्ना के प्रभावित भाग का एक्सरे किरणन द्वारा उपचार करने से लाभ होता है।

तंत्रिका पेशी तंत्र के अनुवंशिक व्यपजनित रोग

अधिकतर अनुवंशिक रोगों में पेशियों के प्रगामी उच्छिष्ट लक्षण पाये जाते हैं। अधिकतर होने वाले रोगों में 'प्रगामी पेशी शोष' प्रचलित है। यह रोग बाल्यावस्था में होता है और इसमें पेशियों का लगातार उच्छिष्ट बढ़ता रहता है। प्रभावित पेशियों में श्रोणि और स्कन्ध मेखला विशेष हैं। इसके फलस्वरूप चाल डगमगाती हुई होती

है और स्कंधास्थि पीठ की ओर पंखों जैसी स्थिति में हो जाती हैं। कटि अग्र कुब्जता हो जाती है और कुछ रोगियों में उपरिस्थ पिंडिका पेशी की कूट अतिवृद्धि हो जाती है अर्थात वसीय ऊतकों की वृद्धि से पेशियां बढ़ जाती हैं। अधिक पुराने रोगी कुर्सी या फर्श से अपने आप तब तक उठ नहीं सकते जब तक कि कोई सहारा न दिया जाये। या फिर बहुत प्रयास करने के बाद ही रोगी उठ पाता है। उदाहरण के लिए, उत्तान स्थिति से उठने के लिए रोगी पहले अपने पेट को घुमाता है और फिर अपने हाथों पर बोझ डाल कर अपने आपको उठाता है और फिर घुटने के जोड़ों पर से अपने पैर सीधे करता है और धीरे-धीरे अपने धड़ को अपने हाथों और पैरों की सहायता से सीधा करता है।

सामान्य शक्ति प्रदायक औषधियों के प्रयोग और हल्के शारीरिक व्यायाम द्वारा इस रोग का उपचार किया जाता है।

प्रमस्तिष्क रक्तपरिसंचरण के अतिपाती विकार (आघात)

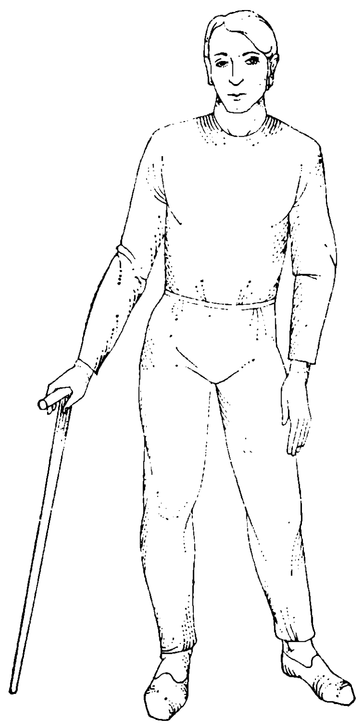
मस्तिष्क ऊतकों के किसी क्षेत्र में अपूर्ण रक्त संचरण होने के कारण मस्तिष्क का अतिपाती परिसंचरण विक्षोभ या प्रमस्तिष्क आघात अथवा रक्ताघात होता है। यह आघात अधिकतर अतिरिक्त-दाब रोग या प्रमस्तिष्क ऐथिरो काठिन्य रोग से पीड़ित वयोवृद्ध रोगियों को होता है। यह रोग बहुधा पेशी या अत्यधिक मानसिक थकान के बाद होता है।

आघात से पूर्व, कुछ रोगियों को सिर में भारीपन महसूस होता है, चक्कर आते हैं और उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। रक्तस्रावी आघात और अरक्तता जन्य आघात में अंतर पहचाना जाता है।

मस्तिष्क में रक्तस्राव होने से रोगी का संज्ञालोप हो जाता है। बहुत से रोगियों का चेहरा श्याव हो जाता है। श्वास खर्राटेदार हो जाती है तथा नाड़ी – मन्द और उत्तेजित। शरीर का तापमान या तो बढ़ जाता है या सामान्य रहता है। नेत्र तारे पर प्रकाश का असर नहीं होता और अंग की पेशियों की तान घट जाती है। आघात वाले अंग के प्रतिपक्षी दिशा में रोगी का सिर और आंखें बहुधा घूम जाती हैं और प्रत्येक निःश्वसन के साथ गाल फूल जाते हैं।

हालत संतोषजनक होने पर कुछ घंटों या दिनों में स्वापक स्थिति हो जाती है और रोगी पर बाह्य उद्दीपकों का पता लगता है। विकार स्थानिक लक्षणों से रक्तस्राव की जगह का पता लगता है। यह अधिकतर आंतरिक सम्पुट में होता है, जहाँ कि पिरामिडीय पथ के तन्तु होते हैं। मुख्य मोटर संवहन इस पथ से होता है। पक्षाघात और उसी ओर की आनन पेशी का आंशिकघात इस प्रकार के रक्तस्राव के लक्षण हैं। घात अंगों की पेशी तान बढ़ जाती है। कंडरा प्रतिवर्त अतिशयित हो जाते हैं तथा विकृति जन्य प्रतिवर्त होते हैं।

दाहिने गोलार्ध में रक्तस्राव होने पर पक्षाघात बायीं ओर होता है क्योंकि प्रमस्तिष्क गोलार्ध को सुषुम्ना के अग्र शृंग से जोड़ने वाले पिरामिडीय पथ सुषुम्ना शीर्ष के निम्न भागों तक क्रासित होते हैं। दाहिने ओर का पक्षाघात होने पर दाहिने हाथ से काम करने वाले व्यक्ति की वाक शक्ति कमजोर हो जाती है और इसमें वाक सक्रियता का संबंध प्रान्तस्था तंत्र से है। इसमें संवेदी या प्रेरक वाचाघात मालूम होता है। प्रेरक वाचाघात होने पर रोगी वह सब कुछ समझता है जो कि उसे कहा जाये, पर साथ में संवेदी वाचाघात होने पर रोगी न तो स्वयं बोल पाता है और न ही दूसरे की बात समझता है। संवेदी पक्षाघात होने पर रोगी बोल तो सकता है, पर वाणी के अर्थ को समझ नहीं पाता। आत्मनियंत्रण न होने के कारण उसका उच्चारण बहुधा ठीक नहीं होता; यह समझना असंभव होता है कि वह क्या कह रहा है।



चित्र 22. बाएं भाग का अंगघात। पक्षाघाती चाल। संकोचन के कारण पक्षाघाती अंग की विशेष स्थिति.

घाती पेशियों में तान का बढ़ाव अनियमित होता है। ऊपरी अंगों में आकुंचनी की तान बहुधा बढ़ जाती है। कोहनी के पास का अंग आकुंचित हो जाता है तथा कलाई और उंगलियाँ मुट्ठी में बंध जाती हैं। निचले अंगों में पेशी तन जाती है और इसलिए

स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा इनके पैर लंबे लगते हैं। चलते समय पैर का पंजा फर्श से न छुए और अपने पैर को उठाने की शक्ति न होने के कारण वह अपने पैर को बढ़ाते हुए गोलार्ध में घुमाता है (चित्र 22)। इसे पक्षाघातिक चाल कहते हैं। पक्षाघाती स्कंध की तरफ ताप और पीड़ा संवेदन में गड़बड़ी हो जाती है। ऐसा त्वचा विश्लेषक तंतुओं के प्रभावित होने के कारण होता है जो कि आंतरिक सम्पुट से होकर गुजरता है।

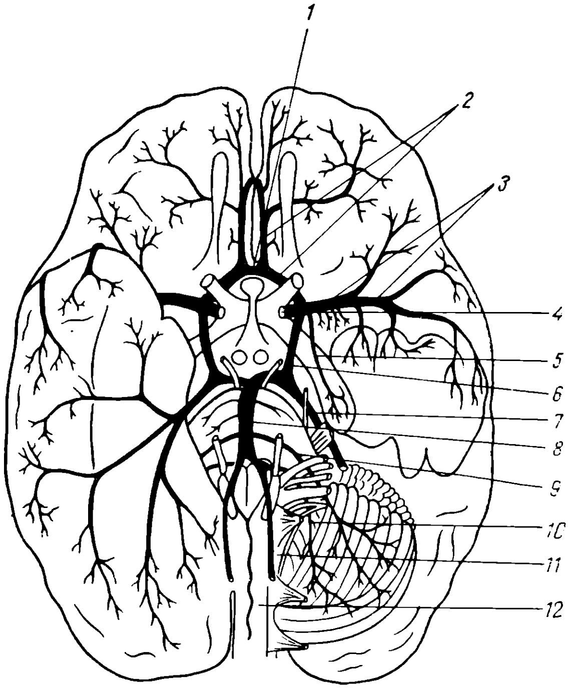
24 घंटे रहने वाली अचेतनता, हृदय सक्रियता और श्वसन में विकार होना, शरीर ताप का एकाएक बढ़ जाना, आक्षेप होना और साथ में न्यूमोनिया होना यह दर्शाता है कि रोगी की हालत गंभीर है।

जब रोग की तेजी कम होती है तो चेतना लौट आती है और पक्षाघातिक अंग धीरे-धीरे गतिशील होने लगते हैं। दो सप्ताह में रोगी को बिस्तर में बैठने दिया जा सकता है और तीन-चार सप्ताह में वह बिस्तर से बाहर आ सकता है। ऊपरी अंगों में गति आ जाती है और निर्बल वाकशक्ति धीरे-धीरे ठीक होने लगती है।

उपचार. मस्तिष्क-घात से ग्रस्त रोगी को सर्वप्रथम पूर्ण विश्राम देना चाहिये; पीठ के बल लिटाना चाहिये, सिर को यथासंभव बिना हिलाये-डुलाये उसके तंग कपड़ों को बदल देना चाहिये। गंभीर घात होने पर वस्त्रों को काट कर अलग करते हैं, ताकि रोगी के आराम में खलल न पड़े।

उपचार आघात की जीवविज्ञानी तंत्र के अध्ययन की उपलब्धियों पर आधारित है और वह दो प्रकार का होता है: भेदयुक्त (विशेष आघात, जैसे रक्तस्रावी, के लिये विशेष उपचार) और भेदहीन (रक्तस्रावी व अस्रावी दोनों ही प्रकार के आघातों के लिये समान उपचार)। किसी कारणवश चिकित्सक के अनुपस्थित रहने पर उपचारिका को मस्तिष्काघात के प्राथमिक उपचार का भार अपने ऊपर लेना पड़ता है, जो मूलतः भेदहीन होता है।

हृदय के क्षीण होने पर 0.06% कोरग्लीकोन घोल, या 0.05% स्ट्रोफैंटाइन घोल का 0.25 – 1 मि० लि० प्रति इंजेक्शन के हिसाब से अंतर्शिराधान कराते हैं। इन्हें ग्लुकोज के साथ ही देना चाहिये। ग्लुकोज के मधुमेह से ग्रस्त रोगी को सोडियम क्लोराइड का आइसोतोनिक घोल ग्लुकोज की जगह पर देते हैं। कभी-कभी पेशी में कार्डियामीन (2 मि० लि०) या चर्म के नीचे 20% कैंफर भी देते हैं। रोगी की खाट का सिर वाला भाग कुछ ऊँचा होना चाहिये। फेफड़े के सूजन को रोकने के लिये अंतर्पेशी सुई लेज़िक्स या नोवुराइट (एक बार में 1 मि० लि०), अवचर्म सुई डेमीड्रोल, सुप्रैस्टाइन, पिपोल्फेन (एक बार में 1 मि० लि०) निर्दिष्ट करते हैं। सुव्यक्त ट्राखीकार्डिया की अनुपस्थिति में एट्रोपीन देते हैं (0.1% घोल का 1 मि० लि०)। ऊपरी श्वसन पथ से द्रव-स्राव को दूर करना आवश्यक होता है; उसे अक्सर विशेष चोषक उपकरणों की सहायता से निकालते हैं। हृद्गति के एकाएक रुकने पर



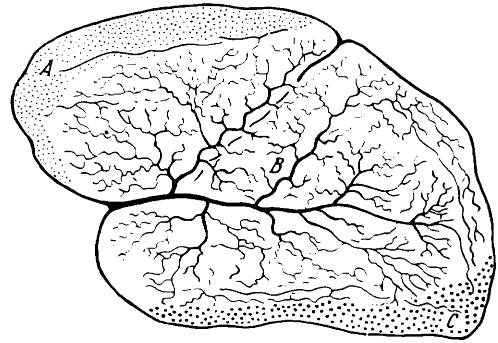
चित्र 23. मस्तिष्क की आधार धमनियां।
1. अग्रमस्तिष्क धमनी, 2. अग्र संयोजी धमनी, 3. मध्य मस्तिष्क धमनी, 4. अवप्रान्तस्था धमनियां, 5. वाहिका में जालक की आपूर्ति करने वाली धमनियां, 6. पश्च संयोजी धमनी, 7. पश्च मस्तिष्क धमनी, 8. आधार (मस्तिष्क) धमनी, 9. अग्र-निम्न अनुमस्तिष्क धमनी, 10. पश्चनिम्न अनुमस्तिष्क धमनी, 11. कशेरूकी धमनी, 12. अग्र सुषुम्ना धमनी, (बाईं ओर अनुमस्तिष्क को निकाल दिया गया है)।

हृद पेशी में 1 : 100 एड्रेनेलीन-घोल का 1 मि० लि० देते हैं। इस स्थिति में चिकित्सक की देख-रेख में हृदय की अप्रत्यक्ष मालिश भी कर सकते हैं।

इशेमिक घात होने पर मस्तिष्क में मुलायम क्षेत्र बनने लगते हैं। एथेरोस्क्लेरोटिक प्रक्रिया इसी परिस्थिति में चलती है। इशेमिक घात अधिकतर बुजुर्ग-उम्र में होता है। घनास्रता (अवरोध) से अक्सर मध्य प्रमस्तिष्क-धमनी (आंतरिक ग्रैव-धमनी की एक शाखा, देखो चित्र 23 और 24) या स्वयं ग्रैव-धमनी प्रभावित होती है। शल्य-कर्म द्वारा धमनी से घनास्रता दूर की जा सकने की आशाएं हैं।

धमनी-दाब तेजी से कम होने पर अंतर्पेशी रूप से मेजाटोन का 1% घोल (2 मि० लि०) या अंतर्शिरा रूप से कौफेइन या वाजोप्रेसर, हृद-संकोची साधन देते हैं। दाब अधिक होने पर बेंडाजोल हाइड्रोक्लोराइड (4 – 10 मि० लि० 0.5% या 2 – 5 मि०

लि० 1% घोल देते हैं। एमीनाजीन या इसके साथ अन्य न्युरोट्रोपिक औषधियों का मिश्रण रोग-निदान होने पर देना चाहिये, सामान्य उपचार के रूप में नहीं; और इनका निर्देशकर्ता सिर्फ चिकित्सक हो सकता है। इन्हें रक्तस्रावी घात (हेमोरेजिक इंसल्ट) में प्रयुक्त करते हैं। ज्ञात है कि मस्तिष्क घात 90 प्रतिशत स्थितियों में श्वसन-विकार के साथ होता है। मस्तिष्क घात की गंभीर स्थिति में श्वसन-पथ में हवा के लिये रोध उत्पन्न हो जाता है।



चित्र 24. मध्यमस्तिष्क धमनी का प्रशाखन (मस्तिष्क की सतह पर) (A), अग्रमस्तिष्क धमनी का भाग, (B) मध्य मस्तिष्क धमनी का भाग, (C) पश्च मस्तिष्क धमनी का भाग।

इस विकार का कारण चेतना का लोप होना है, जिसके साथ-साथ जीभ का गिरना, प्रतिवर्तों का लोप होना (जो गले, मुँह व नाक में श्लेष्मा झिल्लियों के साथ उत्पन्न होते हैं) आदि घटनाएं प्रेक्षित होती हैं। इसके कारण घोंटने की क्रिया रुक जाती है, खाँसी के प्रतिवर्त गायब हो जाते हैं। श्वसन पथ के ऊपरी भाग में उल्टी होने से श्लेष्मा और लाला जमा हो जाती है, जिससे श्वसन-पथ का अवरोध हो जाता है; भोजन का अंश भी श्वसन-पथ में फँस जा सकता है।

श्वसन-पथ के अवरोध की रोक-थाम के लिये निम्न कदम उठाये जाने चाहिये:

a) मुँह और गले से समय-समय पर श्लेष्मा का निष्कासन होना चाहिये। इसके लिये विशेष प्रकार के सिरे वाली नली (रबड़ या असक्रिय प्लास्टिक से बनी नली) की सहायता लेते हैं। नली को कान के निचले बिंदु से नाक की बगल वाली दीवार तक की दूरी तक नीचे उतारा जाता है। श्लेष्मा को विशेष विद्युत-पंप द्वारा खींचा जाता है। इन सारे उपकरणों को फुरासिलिन (नाइट्रोफ्युरल) या डायोसीड जैसे विसंक्रामकों के घोल में रखना चाहिये।

b) मुँह में वायु-संचारक प्रविष्ट कराना चाहिये, जो जीभ को गले में गिरने से रोकता है, साँस लेना आसान कर देता है और श्लेष्मा के पंपन को सरलतापूर्वक संपन्न होने देता है (यह प्रक्रिया चिकित्सक की देख रेख में उपचारिका ही करती है)।

c) उदर में नाक से हो कर पतली नली उतारते हैं, जिससे उदर में स्थित पदार्थ का निपंपन किया जा सके। इससे दस्त की रोक-थाम होती है, अन्यथा उल्टी होते वक्त उदरीय पदार्थ श्वसन-पथ में फँस जा सकता है। ऐसी नली के सहारे पोषक पदार्थ भी भेजा जा सकता है (आवश्यकता पड़ने पर)।

d) दँतिया लगने (संकोचन के कारण जबड़ों के बंद होने) पर शंक्वाकार उपकरण द्वारा मुंह को खोले रखते हैं।

e) रोगी की स्थिति (करवट) हर दो घंटे में बदलनी चाहिये।

बेहोश रोगी में जलीय विद्युवैश्लेषिक संतुलन और अम्ल-क्षार अवस्था कायम रखने के लिये चिकित्सक की देख-रेख चाहिये। विद्युविश्लेषक वाले घोल (सोडियम क्लोराइड का आइसोटोनिक घोल, रिंगर-लौक का घोल) या प्लाज्मा के बदले में उसका काम करने वाले घोल (पोलीग्लुकीन, रेओ-पोलीग्लुकीन आदि) आंत्रेतर विधियों से प्रविष्ट कराये जाते हैं। इन घोलों की प्रविष्टि अम्ल-क्षार अवस्था या प्लाज्मा के विद्युविश्लेषक-अवयशों के निर्देशांकों के सतत प्रेक्षण के आधार पर होनी चाहिये।

साथ ही मस्तिष्क का सूजन दूर करना चाहिये। अंतर्शिरा रूप से एउफिलिन (एमिनोफालिनुम; 10 मि० लि०, 24 प्रमिशत घोल), फुरोसेमिड (पेशी या शिरा में) तथा न्युरोट्रौपिक औषधियों के विभिन्न मिश्रण दिये जाते हैं। पानी या फल-रस के साथ 1 ग्राम प्रति किलोग्राम के हिसाब से ग्लिसिरिन भी मुख या नली द्वारा पहुँचाया जा सकता है।

अतिताप रोकने के लिये एमिडोपीरीन के 4 प्रतिशत घोल का 10 मि० लि० या एनाल्गीन के 50 प्रतिशत घोल का 3 मि० लि० पेशी में दिया जाता है। आघात के प्रथम क्षणों से ही ध्यान रखा जाता है कि कहीं दूसरी जटिलताएं न उत्पन्न हो जायें। न्युमोनिया को रोकने के लिये वैसलिन मले छाती पर काँच के कप्पे (उसमें लौ दिखा कर भीतर की हवा गर्म कर के) लगाते हैं। न्युमोनिया होने की आशंका पर प्रतिजीवी उपचार करते हैं। मूत्र नहीं होने पर दिन में दो बार नली द्वारा मूत्राशय खाली कराते हैं। कब्ज होने पर हाइपरटोनिक एनिमा देते हैं: मैग्नेशियम सल्फेट के 20% घोल का 200 मि० लि० और इतने ही पानी का मिश्रण। शय्या-व्रण न हो, इसके लिये चादर वगैरह नित्य बदलना चाहिये, कैंफर स्प्रिट से मालिश करनी चाहिये, चमड़ी सिकुड़ने वाले स्थानों पर फिटकिरी पाउडर छिड़कना चाहिये। निश्चल रोगी को रबड़ के चक्के पर रखते हैं। तालू और कमर पर रूई की पट्टी रखते हैं। पेशियों का संकोच्य (कंट्रैक्चर) रोकने के लिये लकवाग्रस्त हाथ को तकिये पर इस प्रकार रखते हैं कि कंधे का जोड़ और हाथ क्षैतिज रूप से समान ऊँचाई पर रहें, हाथ को बगल की ओर दूर और सीधा रखते हैं, कलाई इस प्रकार मुड़ी हो कि हथेली ऊपर की ओर रहे और उंगलियां सीधी रहें। लकवाग्रस्त पैर के घुटनों के चोड़ के नीचे रूई का बेलन सा बना देते हैं, टखने (ऐंकल) को 90° पर मोड़ कर रखते हैं (लकड़ी के डब्बे या रबड़ की डोरी के सहारे)। स्वस्थ्य पक्ष नीचे रख कर करवट की स्थिति में लकवाग्रस्त हाथ या तो धड़ के अनुतीर रखना चाहिये, या समकोण बनाते हुए, तकिये के सहारे। इस स्थिति में पैर कमर व घुटनों पर मोड़ कर रखना चाहिये; उसके नीचे तकिया होना चाहिये। रोगी की स्थिति (चित या करवट के बल) हर तीन-चार घंटे पर बदलनी चाहिये।

प्रमस्तिष्क कपाल और सुषुम्ना की क्षति

त्वचा की क्षति तथा कपाल अस्थि के व्यतिक्रम या प्रभाव के साथ होने वाले प्रमस्तिष्क के खुले अभिघात, तथा संकीर्ण प्रमस्तिष्क कपाल अभिघातों (जिनका विभाजन रोग की गंभीरता के आधार पर संघट्टन, नील मस्तिष्क का सम्पीडन और अंतर प्रमस्तिष्क रक्तस्राव में किया जाता है) के बीच भेद किया जाता है।

अंतर प्रमस्तिष्क रक्तस्राव के रोगी को, जबकि उसे अधोदृढ़तानिका रक्त गुल्म हो, आपदकालीन तंत्रिका शल्य सहायता मिलनी चाहिए।

मस्तिष्क में नील पड़ने की स्थिति में जो लक्षण सामने आते हैं, वे उस स्थान पर मस्तिष्क ऊतकों के विनष्ट होने से निर्धारित होते हैं, जिस स्थान पर आघात किया जाता है या जो स्थान दूरस्थ या प्रतमाघात क्षेत्र में होता है।

मस्तिष्क में संघट्टन होने पर रोगी को चोट लगते ही वह अचेत हो जाता है और यह अवस्था दो या तीन मिनट से लेकर कुछ घंटों तक रह सकती है। रोगी को सिर दर्द, चक्कर आना, मतली और उल्टी की शिकायत हो जाती है। संघट्टन के लक्षण के अतिरिक्त रोगी को बार-बार उल्टी, धीमी नाड़ी (48 प्रति मिनट), केर्निंग लक्षण और मन्या दृढ़ता हो जाती है।

चेतना आने पर रोगी बहुधा चोट से पहले घटी हुई घटनाओं को याद नहीं कर पाता। उसे इस बात का पता नहीं होता कि वह चिकित्सालय क्यों और कैसे आया और कभी-कभी तो उसे अपना नाम, कुलनाम, अपना पता, अपने कार्य करने का स्थान आदि भी याद नहीं आता। इसे **रेट्रोगेटिन ऐम्नोजिया** कहते हैं। हल्की या मध्यम गंभीरता वाला मस्तिष्क संघट्टन अक्सर पूर्णतया ठीक हो जाता है।

मस्तिष्क में नील करने के बाद काफी समय तक सिर दर्द या चक्कर आने के लक्षण रह जा सकते हैं। घ्राणिकी तो बहुत समय के लिए लुप्त हो सकती है यदि यह गंभीर मस्तिष्क अभिघात के समय कमजोर हो गई हो।

कुछ रोगियों में मस्तिष्क अभिघात से गंभीर मनोविक्षिप्ति हो सकती है। पूर्ण अचेतनावस्था के दौरे (कुछ घंटे से लेकर दो या तीन दिन तक) के बाद रोगी, विशेषकर वह रोगी जो अत्यधिक मदिरा पान करता हो, दृष्टि और श्रवण विभ्रम मे ग्रस्त हो कर प्रलापी बन जाता है। वह असंगत उन्मादपूर्ण भ्रमों से, जो आम तौर पर डरावने किस्म के होते हैं, ग्रस्त हो जाता है; उसकी आवाज कठोर बन जाती है और प्रेरक उत्तेजना होती है। गंभीर प्रमस्तिष्क कपाल क्षति होने पर मस्तिष्क के अत्यंत महत्वपूर्ण भागों के नष्ट हो जाने से रोगी चेतनावस्था में लौटे बिना ही मर जाता है।

अभिघात के क्षीण होने के बाद की अवधियों में शेष प्रक्रिया दुर्बलता के रूप में घटित हो सकती है। यह पेशी सम्बंधी या मानसिक दबाव में, सहज ही बढ़ी हुई मानसिक थकावट द्वारा, क्लांति, सामान्य कमजोरी, भावनात्मक अस्थिरता, अकारण

रुलाई आने, अत्यधिक रोष के दौरे पड़ने की हद तक क्रोधावेश की मनोदशा द्वारा प्रकट होती है। ऐसे रोगियों में संवहनीय अस्थिरता रहती है, अत्यधिक पसीना आता है तथा कंडरा प्रतिवर्त होता है।

प्रमस्तिष्क कपाल क्षति होने पर स्वभाव भी बदल जाता है जिसका पता रोगी के अहंकेन्द्रित, अनियंत्रित भावों, असामान्य संकेत ग्राह्यता से ग्रस्त होने और कमजोर इच्छा शक्ति से चलता है।

उपचार. तीव्र काल में पूर्ण शैय्या विश्राम तथा सिर पर शीत अनुप्रयोग की सिफारिश की जाती है। उत्तेजना और अनिद्रा होने पर मुख द्वारा डाइजेपाम (0.005 ग्राम की खुराक) या अंतरपेशीय इंजेक्शन (0.5% डाइजेपाम घोल का 1.00 से 2.00 मि० ली०) दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ब्रोमीन योग और फेनाबारबिटल 0.05 से 0.1 ग्राम तक दिया जाता है। दुर्बल क्रिया को कार्डीआमीन, कैम्फर, कैफीन का इन्जेक्शन देकर संरचित किया जाता है। अंतर कपाल दाब बढ़ने पर कटिवेधन करके प्रमस्तिष्क मेरु तरल का चूषण किया जाता है और डिहाड्रेटी प्रसाधन (मैनितोल, ग्लीसीरीन आदि) निर्दिष्ट किये जाते हैं।

पश्च अभिघातज जटिलताओं को रोकने के लिए, खास कर दीर्घ स्थायी सिर दर्द से बचने के लिए, दीर्घकालिक शैय्या विश्राम (तीन से चार सप्ताह का) धीरे-धीरे जीवन को दैनिक चर्या पर लाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

ऐसे रोगियों का उपचार करने के लिए उन्हें किसी काम में लगाना भी बहुत महत्वपूर्ण है, दूसरा अहम कदम है उन्हें मनश्चिकित्सा प्रदान करना। इससे रोगी को यह आश्वासन मिलता है कि वह पूरी तरह स्वस्थ हो जायेगा और दुर्घटना होने से पूर्व जैसा जीवन यापन कर सकेगा।

बचपन में होने वाला प्रमस्तिष्क कपाल अभिघातज, अपेक्षाकृत कुछ सरल विधि से ठीक किया जा सकता है, क्योंकि बचपन में अवजाल तानिका अवकाश अधिक होता है। इनमें (अवजाल-तानिकाओं में) भरा हुआ प्रमस्तिष्क मेरु तरल, मस्तिष्क को क्षति से बचाने वाले उभयरोधी का काम करता है। भले ही शिशु की हालत बहुत ही संतोषजनक प्रतीत होती हो, फिर भी उसे चिकित्सक की निगरानी में 10 से 14 दिन का शैय्या विश्राम देना चाहिए।

सुषुम्ना की क्षति के साथ-साथ अधिकतर मेरुदंड की भी क्षति होती है और शरीर में या कशेरुका चापों में अस्थि भंग होता है। ऊपरी या निचले अंगों या केवल निचले अंगों (शाखाओं) का अंगघात इस बात पर निर्भर करता है कि क्षति किस स्थान पर हुई है। इनके संबंध, साथ ही तंत्रिकीय नैदानिक चित्र, लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि मज्जा शोथ में। तंत्रिकीय शल्य चिकित्सा सेवा आवश्यकता पड़ने पर दी जाती है।

वर्धी तंत्रिका तंत्र की विक्षति

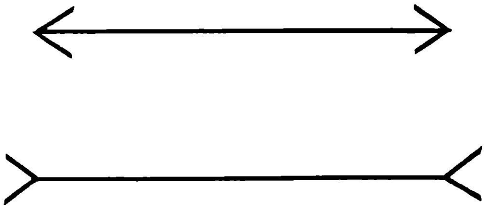
मस्तिष्क और सुषुम्ना के कुछ रोगों में वर्धी क्रियाओं में विकार (असामान्य पसीना आना, पारकिन्मनता में अत्यधिक लाला स्रवण होना, सिरिंगोमाइलिया में सन्धि विकृति होना, टेबीज डार्सेलिस और सुषुम्ना में विक्षति होना, आदि) हो जाता है। इसके अतिरिक्त, वर्धी तंत्रिका तंत्र की विकृत अवस्था एक स्वतंत्र रोग हो सकता है। पित्ती जैसी एलर्जी प्रतिक्रिया, क्युन्के के नाम से जाना जाने वाला, या वाहिका-विक्षिप्ति, शोफ, स्थानीय शोफ, आदि इसके उदाहरण हैं। इस रोग में एकाएक सूजन आ जाती है और उसका पता पोलापन आ जाने और गर्तमयता के अभाव (उंगली से दबाने पर कोई दाब नहीं पड़ता) से चलता है। कभी-कभी शोफ पेट की श्लेष्मल कला, स्वरयंत्र और ग्रसनी में भी हो जाता है। रेनाड रोग उंगलियों तक जाने वाली धमनियों का आकर्ष रोग है। यदि शिराओं में भी आंशिकघात है, तो त्वचा पांडुता के बाद श्यावता होती है। इन हालात के साथ-साथ अपसंवेदन (खुजली होना, पिपीलिका-मरणानुभूति, और जलन का अनुभव) होता है। इसका उपचार बहुधा लाक्षणिक होता है। इसमें औषधि के रूप में पैखीकारपिन (0.1 या 0.15 ग्राम प्रतिदिन के हिसाब से एक महीने या अधिक समय तक) पापावेरिन (0.02 ग्राम की खुराक), त्वग्रक्तिमा मात्रा में पराबैंगनी किरणन तथा गर्म हमाम आदि दिया जाता है।

वर्धी तंत्रिका विक्षति का एक विशेष रूप माइग्रेन है। इसमें चेहरे पर सूजन आने, श्लेष्मल कला, मितली और कभी-कभी उलटी होने के साथ सिर के एक ओर दर्द होता है।

किन्हीं मामलों में रोगी के सिर पर शीतन प्रयोग से आराम आता है और इसके विपरीत कुछ रोगियों को यह आराम गर्मी देने से मिलता है। इसी प्रकार कुछ रोगियों की पीड़ा एड्रेनेलिन से ठीक होती है तो दूसरों की एट्रोपीन से।

जबतब होने वाली विक्षति अधःचेतक भाग में होती है। यह भाग तृतीय निलय की भित्ति और फर्श है जिसमें जल, वसन और खनिज चयापचय, तापमान, धमनी दाब स्तर और सोने के बाद जगने, आदि की क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले वर्धी केन्द्रक होते हैं। मस्तिष्क स्तंभ में जाल रचना का संबंध क्रियात्मक रूप से अधश्चेतक से होता है। इन क्रियाओं का प्रवेगी या चिरकारी विकार अधश्चेतना का नैदानिक चित्र प्रस्तुत करता है। इन रोगियों का उपचार रोग के हेतु विवेचन द्वारा किया जाता है। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति का पता अनुकम्पी या परानुकम्पी तंत्र के प्रतिकार्य से लगता है। इस स्थिति में बहुत डर लगता है। इस संकटपूर्ण स्थिति में उपचारिका को रोगी के साथ होना चाहिए, जो कि इस स्थिति को विभिन्न उपायों से संभाल सके। अधश्चेतना की संकटपूर्ण स्थिति शिशुओं में भी आ सकती है, और इसका पता बहुधा असामान्य प्यास, पैटूपन और मोटापे से लगता है।

मूर्च्छा अशक्तता का आकस्मिक रूप है जिसमें विकर्णक्ष्वेण (कानों में संख होना),

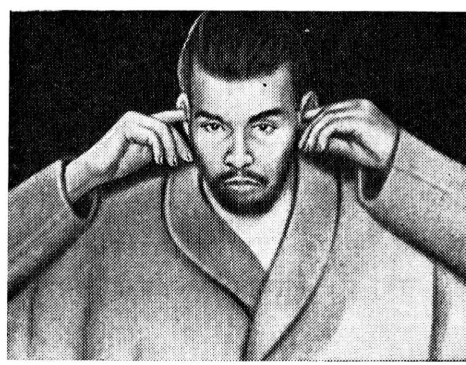


चित्र 25. शारीरिक (दृष्टि) भ्रम का चित्रण। नीचे वाली रेखा लम्बी मालूम होती है।

दैत्य। श्रवण भ्रम होने पर, मसलन, किसी के बोले हुए शब्द को रोगी अपना नाम समझ लेता है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति को भी उस दशा में भ्रम हो सकता है, जब वह बहुत थका हुआ हो। उदाहरण के लिए, यदि व्यक्ति कब्रिस्तान के बीच से गुजर रहा हो या सुनसान अंधेरी गली में चल रहा हो तो उसे अपने कदमों की आवाज भी कुछ अजीब-सी लगती है। विषालुता और संक्रामक रोगों में, विशेष रूप से मद्यप प्रलाप में, टाइफस और आंत्र ज्वर में, यक्ष्मा में तथा हृदय क्षतिआपूर्ति, कार्सीनोमा की बढ़ी हुई अवस्था में, भ्रम रोग प्रकट होते हैं। साधारणतया, भ्रम गंभीर मनोविक्षति का परिचायक होता है।

विभ्रम किसी निर्दिष्ट क्षण में साधारण या जटिल उद्दीपक के बिना ही हो जाने वाला संवेद बोध है। उदाहरणार्थ, रोगी को पूर्ण निस्तब्धता में भी आवाजें सुनाई देती हैं, साफ दीवार पर विविध प्रकार के बिंब दिखाई देते हैं और बिना किसी उद्दीपक के अरुचिकर गंध का अनुभव होता है।

दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श और शरीर के विभ्रमों को अलग-अलग पहचाना जाता है। श्रवण विभ्रम होने पर रोगी को आवाजें सुनाई देती हैं और ऐसा लगता है कि कोई धमकी भरे या आदेश भरे शब्दों में उसे बुला रहा है (चित्र 26)। दृष्टि विभ्रम होने पर उसे लोगों की, जानवरों की भीड़ दिखाई देती है और विभिन्न बदलते हुए दृश्य उसके सामने आते हैं। घ्राण विभ्रम होने पर उसे अरुचिकर या कम रुचिकर गंध आती है।



चित्र 26. श्रवण विभ्रम

विभ्रम प्रतिबिंब बहुधा असली और इन्द्रियग्राह्य प्रकृति के होते हैं। उदाहरण के लिए, रोगी को आवाज ऐसे स्वर विन्यास में सुनाई देती है जिससे कि वह विश्वास के साथ यह कह सकता है कि यह आवाज स्त्री की है या पुरुष की है, किसी परिचित की है या अपरिचित की।

दृष्टि विभ्रम खंडित और विलग अवस्था में हो सकता है और इसके विपरीत अपनी

अंतर्वस्तु में बहुविध और जटिल भी हो सकता है। ऐसे विभ्रम मद्यप प्रलाप में, तीव्र संक्रमण, आंतरिक अंगों के तीव्र और दीर्घकालिक रोगों में होते हैं। यह विशेष रूप से मद्यप मादकता में होता है।

श्रवण विभ्रम साधारण ध्वनियों या पुकारों के सुनायी देने या किसी काल्पनिक साथी के साथ लंबे वार्तालाप के रूप में घटित हो सकते हैं, उदाहरण के लिए मद्यप श्रवण विभ्रम में ऐसा होता है। श्रवण और घ्राण विभ्रम विखंडित मनस्कता में हो सकते हैं। श्रवण और दृष्टि विभ्रम बहुधा एक ही समय में ऐसे रोगी द्वारा अनुभव किया जा सकता है जो तीव्र संक्रमण (टाइफस) या मद्यप मादकता से ग्रस्त हो।

इन विभ्रमों से अलग वे विभ्रम होते हैं, जिन्हें असली विभ्रम कहा जाता है, और जिनमें किसी वास्तव में मौजूद वस्तु के वास्तविक गुणधर्म दिखाई देते हैं। ये कूट विभ्रम हैं, जिनका वर्णन रूसी वैज्ञानिक वी० कन्दिन्स्की ने किया है। ऐसे रोगों में रोगियों को यह पक्का विश्वास हो जाता है कि आवाजें, बिम्ब, और गंधें उनके सिर में ही पैदा हो रही हैं। वे यह दावा करते हैं कि कूट विभ्रम उनके दिमाग में किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा "बनाये" "घुसाये" या "डाल दिये" गये हैं। इसी तरह, एक महिला रोगी को यह विश्वास था कि जो आवाजें उसने सुनीं, वे डाक्टर द्वारा उसके भीतर भरी गयी हैं, एक पुरुष रोगी का दावा था कि उसके बहुत अर्सा पहले मर चुके सम्बधियों ने उसकी जुबान के माध्यम से बातचीत की। कूट विभ्रम अधिकतर खंडित मनस्कता की स्थिति में होते हैं, लेकिन संक्रामक और मस्तिष्क के संवहन रोगों में भी हो सकते हैं।

विभ्रम रोगी बहुधा यह समझने में अक्षम होते हैं कि उनकी दशा असामान्य है, नकि न केवल उनकी बोध शक्ति, बल्कि उनकी सोचने की शक्ति भी कमजोर हो जाती है, और परिणामतः अपने व्यक्तिगत अनुभव की उनकी समालोचन शक्ति भी कमजोर हो जाती है। ऐसे रोगियों की देखभाल करते समय उनके व्यवहार का सावधानीपूर्वक वर्णन करना महत्वपूर्ण होता है।

बोध ज्ञान विकारों में मनःसंवेदी विक्षोभ भी शामिल हैं। जैसे रूपान्तराभास, जिसमें वस्तु अपने आकार और आकृति में विरूपित दीखती है – छोटी (सूक्ष्म दृष्टिता), बड़ी (दीर्घ-दृष्टिता) या विरूपित, और शरीर की रूपरेखा के विषय में क्षतिग्रस्त अनुभूति होती है जिसमें हाथ, पैर, शिर और धड़ असामान्य रूप से छोटा या बड़ा लगता है। ऐसे विक्षोभ मस्तिष्क के संक्रामक और अभिघातज विज्ञति की स्थिति में होते हैं।

स्मृति विकार

किसी विचार को दिमाग में बैठाने, प्रतिधारण करने और स्मरण रखने की क्षमता स्मृति के विभिन्न पहलू हैं। यह एक मानसिक क्रिया है जिसके द्वारा आसपास की घटना दिमाग में रखी जाती और पूर्व अनुभव को उपयोग में लाया जाता है। अब तक

दो प्रकार की स्मृतियों को पहचाया गया है: चलिष्णु स्मृति, अर्थात थोड़े समय तक रहने वाली स्मृति और दीर्घकालिक स्मृति जो कि दीर्घ काल तक और जीवनपर्यन्त भी ठहर सकती है। यह दीर्घकालिक स्मृति ही ज्ञान का स्रोत तथा अनुभव और प्रकृति का स्रोत है।

निम्न दो प्रकार के स्मृति विकार ही व्यवहार में अधिकतर पाये जाते हैं अधिक प्रचलित हैं (1) स्मरण करने की क्षमता का कमजोर होना (2) स्मरण नहीं आना। स्मरण करने की क्षमता के कमजोर होने का अर्थ है कि नई (प्रचलित) घटनाओं, अनुभावों और तथ्यों में दक्षता प्राप्त करने की शक्ति की हानि होना (इसे स्थिरीकरण स्मृति लोप कहते हैं)।

याददाश्त कमजोर होने पर समय-समय पर घटी घटनाओं को याद करना संभव नहीं होता। रुग्ण अवस्था (सिर की चोट, कारबन मोनोआक्साइड द्वारा विष आदि) से पूर्व की घटनाओं की स्मृति का लोप हो जाने को **घटनापूर्व स्मृतिलोप** कहते हैं। और रुग्णावस्था के उपरान्त घटने वाली घटनाओं के स्मृतिलोप को **घटनोत्तर स्मृतिलोप** कहते हैं।

याद रखने की क्षमता की आंशिक हानि के अतिरिक्त, स्मृति की कमजोरी हो जाती है। इसे प्रमस्तिष्क एथिरोकाठिन्य कहते हैं। इसमें रोगी अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को न तो याद कर पाता है और न ही अपने रोग के इतिहास का वर्णन ही सही ढंग से कर पाता है। वह तारीख, महीना और वर्ष याद नहीं रख सकता है। उसे यह भी याद नहीं आती है कि पिछले कुछ दिनों में वह क्या कर रहा था और उसने दिन में क्या खाया है। एक दूसरे प्रकार का स्मृति विकार है, **अपस्मृति** या **स्मृति का विपर्यास** जिसमें **मिथ्या स्मृति** और **गल्पन** भी सम्मिलित है। मिथ्या स्मृति में रोगी पहले घटी हुई घटनाओं को समझता है कि यह घटना वर्तमान समय में या अभी ही घटित हुई है। गल्पन में स्मृति के अंतराल में काल्पनिक लक्षणों वाली मिथ्या स्मृति होती है। उदाहरण के लिए, यदि रोगी से पूछा जाये कि "तुम आज क्या कर रहे थे" तो वह उत्तर देता है "कि मैं दुकान पर काम कर रहा था"। तो यह रोग मिथ्या स्मृति का है, क्योंकि वह दुकान पर तो काम वास्तव में चिकित्सालय में भर्ती होने से पहले कर रहा था। गल्पन रोग में रोगी इसी प्रश्न के उत्तर में अपने ऐसे रिश्तेदारों से मिलने का वर्णन करता है जो बहुत पहले मर चुके होते हैं; वह किसी प्रसिद्ध लेखक से मिलने का वर्णन करता है, या अपने अविश्वसनीय अनुभव को बताता है।

मिथ्या स्मृति की तरह के स्मृति विकार उच्च रक्तचाप वाले रोग में, या फिर मस्तिष्क क्षति के बाद होते हैं। मुख्यतः, युद्ध हताहतों के मामले में ऐसा होता है। मस्तिष्क की गंभीर कायिक विक्षति होने पर गल्पन रोग होता है। यह रोग मस्तिष्क के जराजन्य शोष, वर्धमान घात, गंभीर प्रमस्तिष्क एथिरोकाठिन्य होने पर भी होता है।

ध्यान संबंधी विकार

ध्यान संबंधी विकार की अभिव्यक्ति ध्यानान्तरण द्वारा, किसी विषय पर ध्यान केंद्रित कर पाने में असमर्थता द्वारा, होती है। मानसिक अभिघात के बाद, आंतरिक अंगों के तीव्र और चिरकारी रोग के फलस्वरूप हुई अवस में, सामान्य मानसिक उत्तेजना में या उन्माद की स्थिति में ध्यान संबंधी विकार हो जाते हैं। मस्तिष्क में इस या उस विचार के अतिरेकपूर्ण रूप से बैठ जाने पर अवसाद की स्थिति में तब ध्यान सम्बंधी विकार हो जाते हैं, जब रोगी इस विचार में खो जाता है कि वह गंभीर रूप से बीमार है और इस रोग का परिणाम बहुत बुरा होगा तथा यह कि अब तो उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है।

विचार तथा वाक शक्ति सम्बंधी विकार

पर्यावरण वस्तुओं और घटनाओं को समझने की क्षमता समाकल्पनी अथवा बौद्धिक क्रिया होती है। इसमें निर्णय करने, निगमन करने और विचार करने की शक्ति शामिल है, यह क्रिया बोध और जीवन के अनुभव का परिणाम है।

विचार को वाक शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता है। वाक् शक्ति के बिना विचार विकसित नहीं हो सकते। सोचने के विकार इस या उस स्थिति तक बढ़ गये मानसिक रोगों के लक्षण होते हैं। इन विकारों की नैदानिक अभिव्यक्ति अत्यंत असमान है। विखंडित मनस्कता में ये अभिव्यक्तियां अत्यधिक तीव्र हो जाती हैं। रोग के प्रथम चरण में विकार में एकाएक "व्यवधान" आ जाता है और रोगी एकाएक बोलना बन्द कर देता है और फिर थोड़ी देर बाद ही बोलने लगता है। रोगी इस बात को स्वयं समझते हैं कि उनके विचार सुस्पष्ट नहीं, वरण अस्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए, एक रोगी ने कहा कि उसके विचार "छितरे हुए" और असम्बन्ध हैं तथा उसके लिए इन विचारों को सुगठित रूप में व्यक्त करना बहुत कठिन है। दूसरे रोगी को इस बात का विश्वास था कि उसके मस्तिष्क में विचार तो भरे पड़े हैं, परन्तु वे विचार उसके लिए अनावश्यक और विचित्र-से हैं। इसके बाद विचार टूटने लगते हैं और रोगी के मन में एक के बाद दूसरा विचार बदलता रहता है, जिसका कि उससे पहले वाले विचार से कोई संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि उससे पूछा जाये कि आप कैसे हैं तो वह उत्तर देता है कि "मुझे भूख नहीं लगती है और कार-चालक वायुमंडल में जा रहा है।"

विखंडित मनस्कता वाले रोगी विवाद प्रिय विचार वाले होते हैं; यह कोरी दार्शनिकता के रूप में अभिव्यक्त होता है। उदाहरण के लिए, उन से जब पूछा जाये "आज आपको नींद कैसी आयी?" तो विखंडित मनस्कता वाला रोगी कहता है "यदि हम निद्रावस्था को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखें और इसका जीव से संबंध उसके विकास के लिए..." इस रोगियों द्वारा दिये गये वक्तव्य बहुधा अंडबंड होते

हैं और शब्दों का अर्थ गड्डमड्ड होता है। उदाहरणार्थ, वह कैसा महसूस कर रहा है, इस प्रश्न के उत्तर में वह बोलता है "पिआनो, बुलेटिन, स्पैगेटी (मोटी सेवई)"।

असामान्य विस्तृत विचार बुद्धिमन्दता का लक्षण है, जब कि रोगी मुख्य और गौण विचार में भेद नहीं कर सकता है और नगण्य-सी बात पर अटक जाता है और इसी विचार को बार-बार दोहराता रहता है। यह एक विशिष्ट प्रकार की मिरगी है। उदाहरण के लिए जब उससे दौरे के लक्षणों का वर्णन करने को कहा जाता है तो रोगी अपने जन्म के स्थान और समय तथा अपने पूरे जीवन के अनावश्यक विवरण देने लगता है।

उसके विचार असामान्य रूप से तीव्र हो सकते हैं, और वह असाधारण रूप से बंधे-बंधाए सम्पर्कों को जोड़ता चलता है। रोगी का दिमाग अनेकानेक विचारों से भरा रहता है, जो एक के बाद एक आते रहते हैं। यह विक्षिप्तता की स्थिति का लक्षण होता है। तब भी रोगी के सोचने की प्रक्रिया असामान्य रूप से मंद हो सकती है: रोगी बहुत कम बोलता है, उसकी वाणी मंद पड़ जाती है और एक विचार से दूसरे विचार तक आने में उसे बहुत कठिनाई होती है। यह अवसाद की स्थिति में होता है।

विविध मानसिक रोगों का सर्वाधिक सामान्य लक्षण है, प्रलाप असामान्यता से उत्पन्न होने वाले वातावरण के बारे में भ्रांति, मिथ्या दुर्निरूपण और मिथ्या विश्वास। भ्रांति सदैव मानसिक रोग का संकेत होती है। अंध विश्वास और पूर्वाग्रह निर्णय सम्बन्धी दोष हैं, लेकिन वे मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में भी पाये जाते हैं और इनका कारण उसका अल्प ज्ञान व निम्न सांस्कृतिक स्तर होते हैं।

भ्रांति को समझा-बुझा कर दूर किया जा सकता है, क्योंकि रोगी की सोचने की मनःशक्ति अस्त-व्यस्त होती है।

भ्रांति के नैदानिक रूपों के प्रकार विविध हैं:

1. **प्रसंग की भ्रांति.** इसमें रोगी यह समझता है कि जो कुछ भी उसके चारों ओर घटित हो रहा है, उसका उसी से सम्बन्ध है, और यह संबन्ध नकारात्मक पक्ष में है। उदाहरण के लिए, यदि कोई मुस्कराता है, हाथों को स्वाभाविक रूप से हिलाता है या खांसता है तो रोगी समझता है कि यह उसके लिए अशुभ संकेत है कि इस बात का इशारा है कि उस पर विपत्ति टूटने वाली है।

2. **उत्पीड़न की भ्रांति.** इसमें रोगी यह समझता है कि उसके कई शत्रु हैं जो उसे हर जगह सताते रहते हैं और जो उसे विष दे देना या मार डालना चाहते हैं, आदि।

3. **भौतिक कारकों के प्रभावाधीन भ्रांति.** इसमें रोगी यह समझता है कि वह विशेष किरणों, बिजली के करेन्ट या सम्मोहन के प्रभाव में है, और उसे शरीर के विभिन्न भागों में सभी तरह के अप्रिय संवेदन (जलन, चुभन) होते हैं।

4. **रोगभ्रमी भ्रांति.** इसमें रोगी को यह निश्चित हो जाता है कि उसे आंतरिक

अंगों का कोई तीव्र रोग हो गया है। रोगी शारीरिक अक्षमता की शिकायत निरंतर करता है और बहुधा चिकित्सक को यह विश्वास दिलाता है कि उसे यह और वह रोग है तथा चिकित्सक को शल्य चिकित्सा करने के लिए विवश करने पर उतर आता है।

उपरोक्त गिनायी गयी भ्रांतियाँ बहुधा विखंडित मनस्कता में होती हैं।

5. **आत्म-भर्त्सना भ्रांति.** इस प्रकार की भ्रांति बहुधा ऐसे रोगियों को होती है, जो अवसादग्रस्त होते हैं (इसका पता विषण्णता और विषाद से चलता है)। वह अपने को किसी प्रकार के अपराध का दोषी मानते हैं और उन्हें पक्का यकीन होता है कि वे दंड के अधिकारी हैं। ऐसे रोगी अपने जीवन को उद्देश्यहीन समझते हैं और आत्महत्या करने का प्रयत्न करते हैं।

6. **वैभव, धन और सुन्दरता की भ्रांति.** ऐसा रोगी यह सोचता है कि उसके पास अगणनीय धनराशि है या वह बहुत ही सुन्दर है और सर्वाधिक शक्तिशाली व बलवान है। भ्रांति का यह रूप बहुधा सिफिलिसी मनोविक्षिप्ति (वृद्धिमान अंगघात) वाले रोगियों में होता है, जो विशेषकर उल्लास की स्थिति में (विक्षिप्तता की स्थिति में) पाया जाता है।

7. **हानि की भ्रांति.** ऐसी भ्रांति जराजन्य मनोभ्रंश (क्षीण बुद्धिता) में होती है। रोगी दावा करता है कि उसके कपड़े, पैसा और भोजन चुरा लिए गये हैं। एक महिला आधी रात गये जगी और अपने जूते खोजने लगी, अगर उसे जूते नहीं मिलते तो वह चिल्ला उठेगी, "बचाओ, हाय, मैं तो लुट गयी"।

भ्रांति अव्यवस्थित (वियोजित भागों का बना हुआ) और व्यवस्थित हो सकती है, अर्थात उसका स्वरूप विचारों और आस्थाओं की एक पद्धति का हो सकता है। मसलन, एक पुरुष रोगी ने कृत्रिम भ्रूण निर्मित करने की प्रणाली "विकसित" कर ली, ताकि महिला को प्रसव धारण और प्रसव पीड़ा से छुट्टी मिल जाये।

एक रोगी को एक ही साथ विभिन्न नैदानिक प्रकार की भ्रांतियां हो सकती हैं और बहुधा सहगामी विभ्रम भी साथ-साथ हो सकता है।

सिभिन्न प्रकार की भ्रांतियों में से प्रत्येक को उसकी अनुरूप मन:स्थिति द्वारा जाना जाता है–उल्लास की मन-स्थिति में वैभव की भ्रांति, भय और चिंता की मन:स्थिति में आत्म-भर्त्सना की भ्रांति, अवसाद और चिंता की मन:स्थिति में उत्पीड़न की भ्रांति।

भ्रांति को मनोग्रस्ति से अलगाया जाना चाहिए। मनोग्रस्ति उन विचारों, रुझानों और कार्यों के रूप में प्रकट होती है, जिनसे रोगी का दिमाग भरा रहता है, बिल्कुल वैसा ही, जैसा भ्रांति होने पर होता है। भ्रांतियों से ग्रस्त रोगी से अलग मनोग्रस्तियों वाले रोगी को, मनोग्रस्तियों की विचित्रता और बेतुकेपन का बोध रहता है और वह अपनी बीमारी में उनके प्रकटीकरण को आलोचनात्मक रूप से समझता है। मनोग्रस्तियाँ विविधतापूर्ण होती हैं और ये न केवल मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियों में, बल्कि मनोविक्षिप्ति वाले व्यक्तियों और मानसिक अभिघात के बाद स्वस्थ लोगों तक में पायी जाती हैं। स्वस्थ व्यक्तियों में मनोग्रस्ति संलक्षण के तत्त्व हो सकते हैं जो

ऐसी स्थायी मनोग्रस्ति लय अथवा अंशों में व्यक्त होते हैं, जिनका रोगी पर पहले कभी भारी प्रभाव पड़ा था।

उच्च तंत्रिका को सक्रियता में अव्यवस्था हो जाने के कारण विक्षिप्ति में मनोग्रस्ति स्थायी हो सकती है और यंत्रणादायी व्यथा पैदा कर सकती है।

मनोग्रस्ति दशाएं विवृत भीति और संवृत भीति विकार के रूप में प्रकट होती हैं। उनका स्वरूप संतापदायी संदेहों का हो सकता जो रोगी को किसी चीज की (दरवाजे) पर कुंडा लगा है या नहीं, गैस बंद की है या नहीं, उसने कहीं कुछ गलत तो नहीं कह दिया है) बारंबार जाँच पड़ताल करने के लिए विवश करते हैं। उसको लगातार यह भय बना रहता है कि कहीं वह संदूषित न हो जाये या कहीं उसे कोई रोग न पकड़ ले और इससे बचने के लिए उसे बार-बार हाथ धोने या अपना मुंह धोने की और चिकित्सक के पास डाक्टरी जाँच के लिए जाने की अप्रतिरोध्य जरूरत महसूस होती है।

मनोग्रस्ति ऐसे लोगों को होती है जिनमें ऐसी अति उत्सुकता और कल्पनाशीलता हो जो एक क्षण में तीव्र हो जाये और फिर मन्द पड़ जाती हो। यदि रोगी का ध्यान दूसरी ओर खींचा जाये या तीव्र भावावेगों की स्थिति में मनोग्रस्ति कम हो सकती है या काफी समय के लिए बिल्कुल लुप्त हो जा सकती है।

मनोभ्रंश के संलक्षण

प्रज्ञात्मक प्रक्रिया के स्थिर और असुधार्य ह्रास को क्षीण बुद्धिता कहते हैं। जन्मजात क्षीण बुद्धिता आलीगोफ्रेनिया (मंद बुद्धिता) कहलाती है, और जो बाद में विकसित होती है उसे मनोभ्रंश कहते हैं। मनोभ्रंश तीव्र कायिक मस्तिष्क विक्षति (अभिघात, एथिरोकाठिन्य, जराजन्य मनोविक्षिप्ति) के परिणामस्वरूप होता है।

आवेश के विकार

आवेश आंतरिक और बाह्य उद्दीपकों के प्रति मनुष्य की वृत्ति को निश्चित करते हैं। आवेश के साथ-साथ भाव बोधक गति होती है (मुखाकृति, भंगिमाओं में परिवर्तन होता है) और शरीर के विभिन्न तंत्रों में भी परिवर्तन होता है: जैसे हृदय की धड़कन और श्वास तेज हो जाती है, आंखों की पुतलियाँ विस्फुरित हो जाती हैं तथा लालास्राव घट जाता है (मुंह सूखने लगता है), मूत्र अधिक आने लगता है, चयापचय बढ़ जाता है और रक्त शर्करा की मात्रा में वृद्धि होती है। आवेश सक्रियता के द्वारा प्रान्तस्था और अवप्रान्तस्था की संयुक्त समन्वित क्रिया का प्रतिबिंबन होता है।

मानव आवेश अत्यंत जटिल होते हैं। निम्न श्रेणी के आवेशों को आम तौर पर पहचान लिया जाता है जो कि जानवरों में भी पाये जाते हैं (जैसे भूख का आवेश जो कि आत्म परिरक्षण के लिए होता है) और उच्च श्रेणी के आवेश जो खालिस

मान्वीय होते हैं। समाज के हितों से संबंधित तथा सामूहिक कार्य और कर्तव्य के विवेक, देशभक्ति संबंधी आवेशों की गिनती सबसे बाद में होती हैं।

चारों ओर से पड़े प्रभावों (बहिर्ग्राही प्रभावों) से तथा आंतरिक अंगों (अंतर-ग्राही प्रभावों) से मस्तिष्क तक पहुँचने वाले विभिन्न उद्दीपक मिलकर एक सम्मिश्र संवेदन उत्पन्न करते हैं, जिसे मूड (भावदशा) कहते हैं। हर्ष, आनन्द, दुःख, संभ्रान्ति, क्रोध, चिड़चिड़ेपन की अनुभूति ये सब मानस की आवेश सक्रियता की अभि-व्यक्ति के विभिन्न सूक्ष्म भेद हैं। स्वस्थ व्यक्ति की भावदशा उम्र, लिंग, वर्ष या दिन के समय, जैसे कारकों की विभिन्नता पर निर्भर करते हुए बदलती रहती है। युवकों में ग्राही आवेशों की प्रचुरता, पूर्वऋतुकाल और ऋतुकाल के समय महिलाओं की मनोदशाओं में परिवर्तनों को सामान्य घटना समझा जाना चाहिए।

मनोदशा में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन, भले ही वह क्षणिक हो, "**अनुभाव**" कहलाता है।

अनुभाविक आक्षेप, अर्थात आवेश के नियंत्रण विवेक की हानि, उन लोगों में होती है जिनके सिर में चोट लगी हो या जिन्हें चिरकारी कायिक रोग या संक्रामक अथवा विषालुता के रोग हों।

विभिन्न प्रकार के अनुभावों में से विकृतजन्य अनुभाव को अलग से देखा जाना चाहिए। इस अनुभाव में आंशिक रूप से मन्द चेतना की स्थिति में रोगी बहुधा तोड़-फोड़ के काम करता है और इसके बाद उसकी स्मृति लोप हो जाती है। उदाहरण के लिए एक युवक अपने अफसर के साथ अप्रिय भिड़न्त होने के बाद अपने दफतर से चला और उसने सड़क पर थोड़ी दूर चलने के बाद अपनी जेब से आग्नेयास्त्र निकाला और सड़क से गुजरने वाले पर तीन गोलियां चला दीं और उसके बाद चला गया। गिरफतार होने पर वह यह भी याद नहीं कर पाता है कि आखिर क्या हुआ है। मनोविकार विज्ञानी विशेषज्ञ न्यायिक मनोविकारी परीक्षण के बाद ही विकृतजन्य अनुभाव को प्रमाणित कर सकते हैं।

सुखाभास एक असामान्य हंसमुख मनोदशा है जिसमें मनुष्य प्रसन्न रहता है, और उसे भले-चंगे होने का अनुभव होता है। यह क्षणिक और अस्थाई स्थिति हो सकती है, जैसे कि मदिरा की मदोन्मत्तता में या मस्तिष्क में गंभीर कायिक विक्षिप्ति (वर्धमान घात, मस्तिष्क में गुल्मन) होने पर। सुखाभास उन्माद का एक लक्षण है जिसमें कि विचार बहुत तेजी से और बहुत मात्रा में आते हैं, वाणी चैतन्य रहती है और मोटर प्रक्रिया बढ़ जाती है।

बुझी चिन्ता, भय और बेचैनी भी भाव-विकार है। यह अधिकतर कायिक रोगों, हृदय रोगों, क्षय, कार्सीनोमा, तीव्र संक्रमण वाले रोगियों में और लैंगिक क्षीणता काल में देखा जाता है।

भाव विकार भावहीनता में प्रकट हो सकते हैं, अर्थात इस में रोगी को अपने चारों ओर की चीजों से कोई लगाव नहीं रहता। यह विकार कुछ रोगों (विखंडित मनस्कता,

सिर की चोट, मस्तिष्क में शोथ या गुल्म) में होता है। बदलते रहने वाली मनोदशा तथा चिड़चिड़ेपन की प्रवृत्ति (भाव विकार की अस्थिरता) परोक्ष रूप में मस्तिष्क के अभिघात के उत्तर प्रभाव हो सकते हैं।

आवेश विकारों में प्रमस्तिष्क धमनी काठिन्य का आम और पूर्व लक्षण भी शामिल है, यानी आवेश अस्थिरता, जिसमें कि रोगी सहज ही शांत भाव की स्थिति से रोने की स्थिति में और फिर रोने की दशा से हंसने की दशा में, विनोदप्रिय अवस्था में पहुँच जाता है।

व्यवहार और ललक के विकार

व्यवहार और ललक के विभिन्न विकार मानसिक रोग के पूर्वलक्षण हो सकते हैं।

भोजन करने से इन्कार करना ललक के विकारों का बारम्बार प्रकटीकरण होता है। रोगी कई दिनों तक इस बात का बहाना करके भोजन नहीं करता कि उसे भूख नहीं है या भोजन अच्छा नहीं बना है या यह कहता है कि थोड़ी देर बाद वह थोड़ा-सा भोजन कर लेगा। विखंडित मनस्कता के रोगी को आदेशात्मक श्रवण विभ्रम होता है, जो कि उसे भोजन करने से "रोकता" है। ऐसे भी रोगी हैं, जिन्हें भ्रान्ति होती है कि उन्हें विष दिया जायेगा, या जड़िमा रोगी में इतनी सक्रिय नकारात्मकता होती है कि वह हठपूर्वक भोजन करने को मना करता है और बहुत अर्से तक मना करता रहता है। कभी-कभी भोजन करने से मना करना हिस्टीरियाग्रस्त अक्षुधा का लक्षण हो सकता है।

कुछ मानसिक रोगी व्यक्तियों में अपने को जखमी करने, अपने आपको काट लेने, खरोंचने या कुछ निगल लेने (जैसे चम्मच, कांटा या सुई) की अदमनीय इच्छा होती है। अवसाद या आदेशात्मक विभ्रम होने पर रोगी में आत्महत्या की भावना को रोक पाना कठिन होता है।

असामान्य ललक में विभिन्न प्रकार के लैंगिक विपर्यास भी सम्मिलित होते हैं, जैसे समलिंगी कामुकता अर्थात उसी लिंग वाले व्यक्ति की ओर लैंगिक आकर्षण।

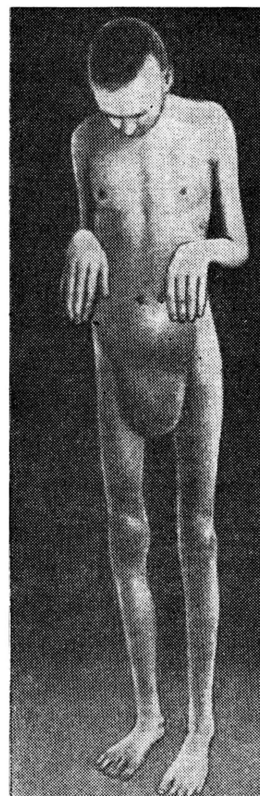
ललक विकारों वाले उपरोक्त रोगियों को विशेष निगरानी और देख-भाल की आवश्यकता होती है।

मनोविकार चिकित्सा में व्यवहार सम्बन्धी अनेक विकारों का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बहुत से मानसिक रोगियों को समझ पाना मुश्किल होता है, क्योंकि वे अल्पभाषी होते हैं, उनमें स्पष्टता की कमी होती है और वे अपने असामान्य विचारों, इरादों तथा इच्छाओं को दृढ़तापूर्वक छिपाते रहते हैं। जो उपचारिका रोगी के साथ दिन और रात में अधिक समय तक रहती है, उसके लिए व्यवहार संबंधी नैदानिक प्रकटीकरणों का जानना तथा उन्हें अंकित करना बहुत ही आवश्यक है।

इनमें से **कैटाटोनिक विकार** सबसे अधिक निश्चायक होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति

जड़िमा या घटी हुई अनुक्रियात्मकता से होती है। इसमें रोगी पूछे गये प्रश्नों का उत्तर नहीं देता। जब उसे अपनी जीभ दिखाने को कहा जाता है तो वह इन आदेशों का पालन नहीं करता है और बहुधा अपनी मुद्रा स्थिर-सी बना लेता है। अपनी टांगों को पेट तक सिकोड़े पड़ा रहता है और अपने सिर को तकिये पर से उठाये रखता है और कभी-कभी अस्वाभाविक मुद्रा में खड़ा रह जाता है (चित्र 27)। रोगी के शरीर को किसी भी स्थिति में रखा जा सकता है और वह उसी स्थिति में बिना हिले-डुले पड़ा रहता है। इस लक्षण को **मोमा नम्यता** कहते हैं। रोगी भोजन करने से मना करता है। कुछ मामलों में रोगी में अपने आस-पास की चीजों को सही ढंग से समझने की क्षमता होती है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए, और यह साव-धानी बरतनी चाहिए कि मानस रोगी के सामने उसके रोग की चर्चा न की जाये। ऐसी स्थिति अधिकतर विखंडित मनस्कता में होती है, परन्तु अन्य संक्रामक और विषालुता के रोगों में भी हो सकती है।

बहुधा कैटाटोनिक स्थिति एकाएक मोटर-वाक की स्थिति में बदल जाती है; रोगी किसी विशेष स्थान को तत्काल जाना चाहता है तथा आक्रामी क्रियाएँ करता है तथा एक ही हरकत को बार-बार दोहराता रहता है, कुछ शब्दों को दोहराता रहता है (शब्दा-नुकरण), या वह अपने पास के लोगों की तरह गति करता है (इकोप्रैक्सिस)। रोगी व्यक्ति स्वयं के लिए तथा किसी अन्य व्यक्ति के लिए खतरा बन सकता है, विशेष रूप से तब जब कि उत्तेजनात्मक स्थिति विभ्रम और उत्पीड़न की भ्रांति से प्रेरित हुई हो।



चित्र 27. तानप्रतिष्टम्भ के रोगी के अप्राकृतिक व्यवहार की मुद्रा।

व्यवहार विकार वाला रोगी बहानेबाज, मूर्ख और विनोदशील हो सकता है। उदाहरण के लिए, वयस्क अपने हाथों और घुटनों पर रेंगने लगे, अपनी जीभ दिखाने लगे या किसी अन्य व्यक्ति की नकल उतारने लगे। वह एकाएक किसी के मुँह पर थूक सकता है और बच्चों जैसी आवाज में बोलने लगता है। विक्षत चेतना वाले रोगी में आकस्मिक व्यवहार सम्बन्धी इन विकारों को ध्यान में रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति तीव्र मानसिक अभिघात, तेज संक्रमण या विषालुता में होती है। ऐसे रोगी में मोटर उत्तेजन के साथ संभ्रमित संज्ञा होती है। इसमें दृष्टि और कभी-कभी श्रवण विभ्रम और असंबंधित भ्रमित विचार

बहुतायत में होते हैं। ऐसे रोगियों में चूंकि ये स्थितियाँ घर पर या काय चिकित्सालय में आती हैं, इसलिए रोगी को फौरन निगरानी में ले लिया जाना चाहिए और चिकित्सक को फौरन बुलाना चाहिए क्योंकि ऐसे रोगी अपने तथा दूसरों के लिए खतरा बना सकते हैं।

मनोविक्षिप्ति एक सामान्य जीव रोग है, जिसमें कि मानस परिवर्तन होते हैं और बहुधा कायिक विकार भी हो जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि रोगी की मानसिक क्रिया के विकारों के साथ उसके कायिक क्षेत्र का भी परीक्षण किया जाये। इसमें हृदवाहिका और श्वसन तंत्र की स्थिति, जठर-आंत्र पथ और अंतःस्रावी वर्धी तंत्र की ओर ध्यान दिया जाता है।

मनोविकारी संस्थानों में रोगी की संपूर्ण नैदानिक परीक्षण (रक्त की जांच) निश्चित रूप से की जाती है। मनोविकार चिकित्सा में विभिन्न प्रकार की मानसिक क्रियाओं के विकारों को ठीक करना पड़ता है, न कि इनमें से किसी एक क्रिया की असामान्यता को। ऐसा कभी नहीं होता है कि रोगी को केवल विभ्रम और भ्रान्ति की शिकायत हो, तथा अन्य सभी मामलों में उसकी मानसिक क्रिया सामान्य हो। बोध विकार होने पर ये निश्चय ही सोचने और व्यवहार संबंधी विकारों, आवेशपूर्ण जीवन के विकारों को उत्पन्न करते हैं।

IV. विशिष्ट मनोविकार चिकित्सा

संक्रमण-श्रांति और विषालु मनोविक्षिप्ति

संक्रमण-श्रान्ति और विषालु मनोविक्षिप्ति रोग तीव्र तथा चिरकारी संक्रामक रोगों और विषालुता के कारण होते हैं।

आंत्र ज्वर, टाइफस और तीव्र रूमेटी ज्वर, विसर्प, कंठशोथीय न्यूमोनिया, मलेरिया और विषालु इन्फलुएंजा को विशेष रूप से ऐसे संक्रामक रोगों के समूह में गिना जाना चाहिए, जिनमें तीव्र मनोविक्षिप्ति सर्वाधिक बार हो सकती है।

मदिरा, भोजन या औद्योगिक-विषों, दवाओं के कारण विषालुता, तथा आंतरिक अंगों के चिरकारी रोगों (कैन्सर, गुर्दे, हृदय, लीवर और गैस्ट्रोइंटैस्टाइलनल पथ के दीर्घकालिक रोगों) में विकसित होने वाली अंतर्जनित विषालुताएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

कायिक चिकित्सालयों में उपचार पाने वाले रोगियों में ऐसी मनोविक्षिप्ति बहुधा होती है,—परिचारिकाओं और उनके सहायकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और केवल आंतरिक अंगों की स्थिति पर ही नजर नहीं रखनी चाहिए, बल्कि ऐसे रोगियों की मनोदशा और उनके व्यवहार में होने वाले हर परिवर्तन पर गौर करना चाहिए तथा चिकित्सक को इन परिवर्तनों की तत्काल सूचना देनी चाहिए। संक्रमण-श्रान्ति मनोविक्षिप्ति वाले रोगियों को मानसिक रोग चिकित्सालय में बहुत कम भेजा जाता है, क्योंकि ऐसा करना इसलिए खतरनाक होता है कि इससे संक्रमण फैल सकता है और यही नहीं, यह अनुपयुक्त भी है, क्योंकि ऐसे मानसिक विकार केवल कुछ दिनों तक ही पाये जाते हैं और इसके बाद वे लेशमात्र चिन्ह तक छोड़े बिना लुप्त हो जाते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, रोगी की देख-भाल और उपचार उस विभाग के कर्मचारियों द्वारा उसी विभाग में दिया जाता है जिसमें कि रोगी रह रहा है।

अवसन्नता की दशा बहुत-से कायिक रोगों में सर्वसामान्य रूप से पाया जाने वाला मानसिक विकार है। यह दशा तीव्र संक्रमण रोगों के बाद और ऐसे रोगों के बाद, जिनके कोई प्रकट लक्षण नहीं होते, दोनों ही स्थितियों में हो सकती है। उदाहरण के लिए, सामान्य ज्वर वाले इन्फ्लुएंजा में ऊपरी श्वास पथ की श्लेष्मस्रावी शोथ की

अपेक्षाकृत छोटी अवधि के बाद बहुधा अवसन्नता, सामान्य कमजोरी, बढ़ी हुई पेशीय व मानसिक थकान, और ध्यान सम्बन्धी विकार होते हैं। चिकित्सक से बात करने में रोगी जल्दी थक जाता है, वह बार-बार उसको कही गयी बात को दुहराने के लिए कहता है और बड़ी कठिनाई से सही शब्दों का चयन कर पाता है। ऐसे रोगियों की मन:स्थिति आम तौर पर गिरी हुई होती है और उनमें चिंता का भाव रहता है; उनकी नींद हल्की और अल्पकालिक होती है।

बहुत से कायिक रोगों में, विशेषकर हृदय रोगों में, चिन्ता, ज्वर और निम्न शंकुता विकसित हो सकती है।

तीव्र संक्रमक भ्रान्ति मनोविक्षिप्ति का मुख्य लक्षण निर्बल चेतना होती है, जो जड़िमा द्वारा लक्षित होती है; रोगी अपने आस-पास की चीजों के प्रति विस्मरणशील-सा प्रतीत होता है और उस पर साधारण उद्दीपन की कोई प्रक्रिया नहीं होती है। बहुत जोर से बोलने पर या आग्रहपूर्ण खींचतान से वह इस स्थिति से थोड़े समय के लिए अलग हो सकता है और उसे यह याद नहीं रहता है कि क्या हुआ है। इसे स्मृतिलोप कहते हैं।

संक्रमण प्रलाप. तीव्र संक्रामक रोग की चरम सीमा पर पहुचने पर बहुधा प्रलाप की स्थिति विकसित हो जाती है। रोगी की संज्ञा धूमिल पड़ जाती है। उसे स्थिति भ्रान्ति हो जाती है और भ्रम और डराने वाले विभ्रम होने लगते हैं। ये विभ्रम बहुधा दृष्टि और स्पर्श के होते हैं और श्रवण विभ्रम कम होते हैं। इसके अतिरिक्त रोगी प्रलापी आवेशों में होता है। वह किसी काल्पनिक खतरे से बच निकलने के लिए भाग जाने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में रोगी बहुत ही खतरनाक होते हैं, वे खिड़की से बाहर कूद सकते हैं, चिकित्सालय से भाग सकते हैं, अथवा किसी पर आक्रमण कर सकते हैं।

संक्रमण प्रलाप कई दिनों तक चलता है। शरीर का तापमान घटने पर संज्ञा आ जाती है और रोगी का व्यवहार अपेक्षाकृत सामान्य हो जाता है, और वह अपने अनुभव को विवेकपूर्वक आंकने में सक्षम हो जाता है।

हम यहाँ उन परिवर्तनों पर अधिक विस्तार में विचार करेंगे जो कि महिला की मानसिक स्थिति में उसकी गर्भावस्था में होते हैं या प्रसव के समय या प्रसवोत्तर स्थिति में होते हैं, जिनका सामना स्त्री रोग विशेषज्ञ चिकित्सा व्यवसाय में करता है।

गर्भावस्था और प्रसवोत्तर अवस्था की मनोविक्षिप्तिया. गर्भवती होने पर स्त्री को डर लग सकता है और उसे मनोग्रस्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए, उसमें किसी दूसरे की चीज को चोरी छिपे उठा लेने की अनियंत्रित उत्कंठा हो सकती है, परन्तु यह चोरी सामान्य चोरी करने की आदत से भिन्न होती है। इसमें जो चीज वह चोरी छिपे उठाती है, उसका कोई भौतिक मूल्य नहीं होता है और बहुधा कुछ समय बाद अनदेखी होने पर उसके स्वामी को वापिस कर देती है। प्रसव होने के बाद यह चोरी

की आदत नहीं रह जाती है। ऐसे रोगियों को बहुधा अधिक समय तक मनोरोग चिकित्सक का उपचार नहीं लेना पड़ता है।

सगर्भता में होने वाली विभिन्न मनोविकृतियों में एक मनोविकृति विषम मनोग्रस्ति है, जिसमें स्त्री अपने निकट सम्बन्धियों को, स्वयं को, या पैदा होने वाले बच्चे को, मार डालने के लिए प्रेरित होती है। ऐसे लक्षणों वाली गर्भवती स्त्री को मनोविकार विज्ञानी की देख-रेख में रखना आवश्यक होता है। अच्छा हो कि उसे अंतरंग रोगी की भांति रखा जाये, ताकि उसे विशिष्ट उपचार दिया जा सके।

प्रसव होने पर या उसके कुछ दिन बाद विभिन्न प्रकार के मनोविकार उत्पन्न हो सकते हैं। अमनस्कता मनोविक्षिप्ति की स्थिति में, जिसमें अत्यधिक मानसिक भ्रान्ति और पूर्ण स्थिति भ्रान्ति, मोटर उत्तेजना, वियोजित विभ्रम होते हैं और उसके साथ शारीरिक विक्षोभ (तेज ज्वर, तेज गति से नाड़ी का चलना) भी होता है, स्त्री को मानसिक रोग चिकित्सालय में यथोचित उपचार के लिए फौरन भर्ती करा देना चाहिए।

गंभीर प्रासूतिक मनोविक्षिप्ति के साथ-साथ प्रासूतिक संक्रमण (पूतिता) हो सकता है, और यह अक्सर कई महीनों तक रहता है। इसका प्राथमिक उपचार निर्विषीकरण है। प्रसव के कुछ घंटों के बाद मनोविकृति क्रियाएं हो सकती हैं जो कि प्रासूतिक अवसन्नता के कारण और शिशु की कुशलता और जीवन के बारे में माँ को हद से ज्यादा आशंका होने के कारण होती हैं। इस प्रकार की प्रक्रियाएं प्रथम प्रसवा स्त्री में अधिकतर होती हैं।

कुछ मामलों में भावी माता, गर्भधारण और दीर्घ, तथा यहां तक कि जटिल श्रम से गुजरते हुए, बढ़ती हुई शक्तिक्षीणता की चिंता के साथ-साथ अनेक चिंताओं का सामना कर सकती है: कि बच्चा स्वस्थ होगा या नहीं, कहीं बच्चे के आकार-प्रकार में गड़बड़ न हो, उसको समय पर दूध पिलाने के लिए लाया जायेगा या नहीं, कहीं गलती से उसका बच्चा दूसरे के बच्चे के साथ न बदल जाये, उसमें बच्चे के स्तनपान के लिए दूध होगा या नहीं, या स्तनपान के लिए दूध पर्याप्त होगा या नहीं, आदि, आदि। ऐसी प्रतिक्रियाएँ बहुधा ऐसी स्त्रियों में होती हैं, जो चिंताग्रस्त और अविश्वासी स्वभाव की होती हैं। ऐसे में कार्यरत उपचारिका के सहृदयतापूर्ण, दयालुतापूर्ण और प्रशामक शब्दों का रोगी पर लाभदायक प्रभाव पड़ेगा।

उपचार. तीव्र संक्रमण और विषालुता के कारण होने वाली गंभीर मनोविक्षिप्ति का उपचार निर्विषीकारी पदार्थों तथा हृदय क्रिया और श्वास क्रिया को उद्दीपित करने वाली लाक्षणिक औषधियों द्वारा किया जाता है। उत्तेजना होने पर 3 प्रतिशत क्लोरल-हाइड्रेट (100 मि० ली०) का एनिमा दिया जाता है। यदि इन औषधियों का प्रतिनिर्देश न हो तो गंभीर मनःप्रेरक उत्तेजना को रोकने के लिए 2.5 प्रतिशत एमिनाजीन (क्लोरप्रोमाजीन) घोल के 1.00 से 2.00 मि० ली० या 0.5 प्रतिशत

डाइजेपाय (मिथाइल डाइजेपिनोन, सेड्यूक्सेन) घोल का पेशी में 1.00 से 2.00 मि० ली० का इंजेक्शन दिया जाता है।

मदात्यय ग्रौर स्वापकोन्माद. विभिन्न प्रकार के नशीले पदार्थों ग्रौर स्वापकों का दुरुपयोग करने से होने वाले मनोविकारों का एक विशेष समूह है। स्वापकों के लिए ग्रदमनीय ललक को स्वापकोन्माद कहते हैं।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मदिरा की छोटी-सी खुराक भी, जिससे कि यद्यपि चैतन्यता ग्राती है, विचारों का तेजी से प्रवाह होने लगता है ग्रौर मनोदशा ग्रच्छी हो जाती है, कार्य करने की क्षमता घटा देती है ग्रौर बोध कठिन हो जाता है, ध्यान कमजोर हो जाता है ग्रौर दैनिक कर्म करने में गलती होने लगती है। पियक्कड़ ग्रादमी ग्रासानी से ईर्ष्यालु, चिड़चिड़ा ग्रौर दोषान्वेशी हो जाता है। उसके निर्णय विचारहीन ग्रौर उथले होते हैं। ग्रौर ग्रपने व्यवहार के प्रति उसकी विवेचन शक्ति घट जाती है। मोटर-विकार स्थिर ग्रौर समन्वित गतियों की गड़बड़ी के रूप में प्रकट होते हैं। मदिरा की मादकता में नाड़ी तेज हो जाती है, पसीना ज्यादा ग्राने लगता है ग्रौर चेहरे पर रक्त का दौर बढ़ जाता है।

मादकता की स्थिति गहरी नींद में खत्म होती है। इस निद्रा से मनुष्य को जगाना मुश्किल होता है। इस प्रकार, हलकी मादकता से भी तीव्र ग्रौर जल्दी ठीक होने वाला मानसिक विकार होता है।

नियमित रूप से मद्यपान करने से **चिरकारी मदात्यय** हो जाता है। इस स्थिति में कायिक ग्रसामान्यता होने के ग्रलावा मानसिक विक्षोभ भी हो जाता है। ऐसे रोगियों में बहुधा पेट ग्रौर यकृत के चिरकारी शोथज रोग हो जाते हैं या नपुंसकता हो जाती है ग्रथवा बुढ़ापा जल्दी ग्रा जाता है। व्यक्तिगत व्यवहार का विवेक कम हो जाता है ग्रौर वह ग्रनुचित ग्रंतरंगता बढ़ा लेता है तथा उसका विनोद ग्रश्लील ग्रौर दोषान्वेषी हो जाता है। बिना किसी संकोच के ग्रौर यहां तक कि बड़ी शेखी बघारते हुए रोगी बड़ी शान से कहता है कि उसने इतनी शराब पी है। उसमें इस बात की तनिक भी इच्छा नहीं होती है कि वह मद्यपान से दूर रहे। यहां तक कि वह मदिरा खरीदने के लिए ग्रपने निकटतम संबंधी के धन की चोरी भी कर सकता है। उसकी कार्यक्षमता तेजी से घटने लगती है। मद्यपी यदि कार्य करने से पूर्व मद्यपान न करे या बीच में मद्यपान न करे तो वह कार्य नहीं कर सकता है, क्योंकि मद्यपान किये बिना उसे बहुत कमजोरी महसूस होती है तथा उसे बेचैनी, चिन्ता ग्रौर ग्रवसाद होने लगता है। जठर ग्रांत्रिक विक्षोभ ग्रौर हृदय में पीड़ा बहुधा होने लगती है। इस स्थिति को ग्रवशिष्ट दुष्प्रभाव कहते हैं ग्रौर इस दशा में ग्रौषधि (कैफीन, कैंफर ग्रौर ब्रोमाइड) देने की ग्रावश्यकता होती है। मदिरा का दुरुपयोग करने से परिवार में कलह, दैनिक जीवन ग्रौर कार्य में संघर्ष ग्रवश्यंभावी है। चिरकारी एल्कोहाल मादकता का परिणाम इस बात पर निर्भर करता है कि ग्रत्यधिक मद्यपान की ग्रवधि कितनी है ग्रौर कितना मद्यपान किया गया है ग्रौर इसके ग्रनुषंगिक हानिकर प्रभाव (सिर की चोट, संक्र-

मण) किस हद तक हैं। बहुत से ऐसे रोगी दैहिक रोगों (न्यूमोनिया, इन्फ्लूएंजा इत्यादि) से मर जाते हैं, क्योंकि उनके निर्बल शरीर में रोग-प्रतिरोधी शक्ति घट जाती है।

मद्यपान उन्माद (अधिक मद्यपान करने के नियतकालिक आवर्ती दौर) चिरकारी मदात्यय का विशिष्ट रूप होता है। इसमें दौरा पड़ने से पहले विषादीय और अवसादित मनोदशा होती है। इन दौरों (आक्रमणों) के बीच में रोगी मदिरा पान नहीं करता है। इस प्रकार के रोग बहुधा मनोविकृत लोगों में होते हैं।

इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि बालकों और किशोरों की काया पर मदिरा का हानिकर प्रभाव विशेष रूप से होता है। ऐसी दशा में मदिरा की लत बहुत जल्दी पड़ जाती है तथा उनका शारीरिक और मानसिक विकास कम होने लगता है।

चिरकारी मदात्यय से पीड़ित व्यक्तियों को विशेष उपचार की आवश्यकता होती है।

मद्यपान रोकने की रोगी की इच्छा बहुत महत्वपूर्ण होती है, जिसे कार्य-स्थल पर और सार्वजनिक संगठनों में रोगी के सहकर्मियों के सकारात्मक प्रभाव द्वारा और मद्यपान की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले वातावरण से दूर रह कर मजबूत बनाया जा सकता है। इस रोग में विशेष मानसिक संस्थल में उपचार की सलाह दी जाती है।

उपचार की सबसे पुरानी विधि यह है कि एपोमोरफीन द्वारा अलकोहल की प्रतिवर्त नकारात्मक स्थितियां निम्न प्रकार से पैदा कर दी जाती थीं। 0.5 प्रतिशत एपोमोरफीन घोल के 0.5 मि० ली० का अधस्त्वक इन्जेक्शन देने के बाद रोगी को मदिरा सुंघाई जाती है और उसे कायल किया जाता है कि मदिरापान से उसे मितली आयेगी और उलटी होगी और यह कि अब वह उसे नहीं पी सकेगा। 5 – 10 मिनट बाद जब एपोमोरफीन से उलटी आने को हो, तो रोगी को मदिरा का एक गिलास दिया जाता है और पुनः उसे इस बात का कायल बनाया जाता है कि उसे उलटी होगी। निश्चय ही, मितली और उल्टी वास्तव में होने लगती हैं। इस प्रक्रिया को 10 से 30 दिन तक प्रतिदिन या एक दिन छोड़ कर दोहराया जाता है। प्रक्रिया का कार्यकाल इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी जल्दी मदिरा के प्रतिवर्त उलटी होती है। उपचारिकाएं इस उपचार कार्य में सक्रिय भाग लेती हैं।

टेटूरम (टेट्राएथाइल डाइसल्फाइड), जिसे मद्य-परहेज, टेट्राडिन, संयमकारी प्रत्यकुप्रयोगी और टेका भी कहा जाता है, का प्रयोग चिरकारी मदात्यय का सफलतापूर्वक उपचार करने के लिए किया जाता है। भौतिक चिकित्सा के साथ-साथ इसके अंतर्गत अल्कोहल के प्रति अनुकूलित नकारात्मक प्रक्रिया पैदा की जाती है। टेटूरम द्वारा उपचार चिकित्सक की देख-रेख में भली भांति प्रशिक्षित उपचारिकाओं द्वारा किया जाना चाहिए। अंतरंग रोगियों का उपचार निम्नलिखित ढंग से किया जाता है। टेटूरम की 0.5 ग्राम की खुराक सुबह-शाम रोगी को दी जाती है। और धीरे-धीरे यह खुराक घटाकर 0.15 ग्राम कर दी जाती है। दो या तीन दिन तक रोगी को प्रतिदिन (दिन के समय) 15 से 30 मि० ली० मदिरा पीने को दी जाती है।

मदिरापान के 10 या 15 मिनट बाद वर्धी रक्तधर में विकार उत्पन्न हो जाता है, जो कि मुख और स्कन्ध के ऊपरी भाग में अतिरक्तता के रूप में प्रकट होता है और रोगी को गर्मी लगने लगती है, श्वास लेने में कठिनाई होती है, हृदक्षिप्रता और भय की अनुभूति होती है। जांच करने पर पता चलता है कि नाड़ी तेज चलती है और रक्त की मात्रा कम होती जाती है तथा धमनी दाब नियमित रूप से तेजी से घट जाता है। टेटूरम के औषधि प्रयोग से एसेटिक एल्डीहाइड के रक्त में जमा हो जाने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे रोगी सहन नहीं कर पाता। यह स्थिति एक घंटे या उससे अधिक समय तक रहती है। एसेटिक एल्डीहाइड अल्कोहल के अपूर्ण दहन के कारण बनता है। बारंबार यह क्रिया करने से अल्कोहल के प्रति प्रतिवर्त अरुचि स्थाई बन जाती है।

उपचारिकाओं को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर वर्णित वर्धी रक्तधर की प्रतिक्रियाएं कभी-कभी गंभीर विकार का रूप धारण कर सकती हैं। ऐसे में रोगी के जीवन को बचाने के लिए आपातकालीन सहायता देनी चाहिए। इसीलिए उपचारिका या चिकित्सक के सहायक का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी आवश्यक औषधियों को तैयार करके रखे जिनकी आवश्यकता जटिलता के खतरनाक लक्षण होने पर पड़ सकती है। इन औषधियों में कैफीन, कैंफर, एफीड्रीन और लोबेलीन अवश्य ही शामिल होनी चाहिए। उपचार करते समय उपचारिका को चाहिए कि वह तब तक रोगी के पास रहे जब तक चिकित्सक उसे जाने की अनुमति न दे दे। उपचारिका को कृत्रिम श्वसन की तकनीक में दक्षता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"प्रोत्तेजना" के बाद रोगी को कई घंटों के लिए शैय्या विश्राम देना चाहिए, ऐसा न हो कि कहीं और जटिलता पैदा हो जाये। इस काल में रोगी और उसके व्यवहार की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी उपचारिका पर होती है। चिकित्सा केन्द्रों में कार्य करने वाली उपचारिकाओं को मदिरा के कुप्रयोगों की नैदानिक जानकारी होनी चाहिए, जो टेटूरम से उपचार करने के बाद मदिरा पान करने पर रोगी को दुबारा हो सकते हैं। उपचार पूरा होने पर मदिरा को देखने और सूंघने मात्र से रोगी को उलटी और मतली होने लगती है और रोगी मद्यपान बन्द कर देता है। बहुत से रोगियों में इस उपचार के परिणाम बहुत अच्छे होते हैं।

टेटूरम पाउडर और गोलियां रोशनी से बचाकर दवाइयों की आलमारी में रखी जाती हैं।

चिरकारी मदात्यय से निरोध हेतु स्वास्थ्य शिक्षा, यानी मदिरा के दुरुपयोग के विषय में रोगी और उसके संबंधियों से वार्तालाप बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार की स्वास्थ्य शिक्षा वार्ताएँ चिकित्सकों या उपचारिकाओं द्वारा दी जाती हैं।

चिरकारी मदात्यय में गंभीर मनोविक्षिप्ति, सकम्प प्रलाप और मद्यप विभ्रम हो सकते हैं।

संकप प्रलाप ऐसी तीव्र मनोविक्षिप्ति को कहते हैं जो दीर्घ काल तक मदिरा का

सेवन करने से हो जाती है। यह लक्षण चिरकारी मदात्यय रोगी में गंभीर शारीरिक रोग (न्यूमोनिया, इन्फ्लूएंजा इत्यादि) के बाद अथवा स्थानिक और सार्वदेहिक संज्ञाहरण औषधि देकर शल्यचिकित्सा किये जाने के बाद, प्रकट हो सकते हैं। सकम्प प्रलाप अधिकतर ऐसे रोगियों को होते हैं जो कि कायिक चिकित्सालयों में रहते हैं। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि इन रोगियों को चिकित्सा कर्मी की सख्त निगरानी में रखा जाये क्योंकि इस हालत में ये रोगी स्वय के लिए तथा दूसरों के लिए खतरनाक होते हैं।



चित्र 28. सकम्प प्रलाप। रोगी छोटे-छोटे काल्पनिक जीवों को पकड़ रहा है।

सकंप प्रलाप सामान्य हालत में गिरावट आने, बढ़े हुए प्रस्वेदन, अनिद्रा, डरावने दुःस्वप्नों, बेचैनी और विशेषकर सायंकाल में महसूस किये जाने वाले भय द्वारा लक्षित होते हैं। इन लक्षणों का प्रकटीकरण होने पर रोगी पर सतत निगरानी रखी जाती है और मनोविकार विज्ञानी को बुलाया जाता है। सकंप प्रलाप के तीव्रतापूर्ण रूप का पता संज्ञा के धूमिल पड़ जाने, स्थान, समय और वातावरणगत यथार्थ के बारे में स्थिति भ्रांति से चलता है। रोगी को दृष्टि के, और कभी-कभी श्रवण के विभ्रम होते हैं, जो मुख्यतः डरावने किस्म के होते हैं (देखिये चित्र 28)। रोगी को चूहे, मूषक और अपने पर आक्रमण करने वाले विकराल किस्म के प्राणी दिखायी देते हैं। कभी-कभी उसे धमकियां और आदेश सुनाई देते हैं, डर लगता है और उत्पीड़न तथा अनावरण की भ्रांति का अनुभव होता है। इन डरावने दृश्यों से बचने के लिए रोगी अपने आस-पास के लोगों पर आक्रमण कर सकता है, खिड़की से बाहर कूद सकता है,

किसी भी तरीके से आत्महत्या कर सकता है। रात में भय और बेचैनी ज्यादा महसूस होती है।

सकम्प प्रलाप वाले रोगी को विभ्रम बहुत आसानी से संसूचित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उसे एक साफ कागज का टुकड़ा दिया जाये और बताया जाये कि उसे इसमें क्या दिखलाई पड़ता है तो वह अपने विभ्रम अनुभव का वर्णन करना प्रारंभ कर देता है।

सकम्प प्रलाप में उंगलियां, जिभ, आंख की पलकें और पूरा शरीर तक हिलने लगता है। इसीलिए इसे सकंप प्रलाप कहते हैं। चेहरा अतिरक्तता से भर जाता है, होंठ नीले पड़ जाते हैं, नाड़ी कमजोर और तेज हो जाती है, हृदय की आवाज मंद पड़ जाती है तथा अत्यधिक स्वेदन होता है। तंत्रिका तंत्र की स्थिति का पता रोगी की पुतलियों पर प्रकाश की प्रक्रिया, तथा बढ़े हुए कंडरा प्रतिवर्त से चलता है। शरीर का ताप बहुधा बढ़ जाता है। बहुत से रोगियों में विक्षिप्ति के लक्षण तीन से सात दिन की गहरी निद्रा के पश्चात् लुप्त होते हैं। रोग कभी-कभी हृद अपूर्णता के कारण जटिल हो जाता है। यकृत की क्रिया में विघ्न आने से सकम्प प्रलाप होने लगते हैं। अधिक समय तक मदिरा के कुप्रयोग से यकृत की क्रिया में दोष आ जाता है और वह चयापचय के विषालु पदार्थों का निर्विषीकरण नहीं कर पाता है।

उपचार. मदिरा का दुर्व्यसन करने वाले उस रोगी को, जिसे सायंकाल तथा रात्रि में अनिद्रा तथा चिंता रहती हो, तत्काल आपात्कालीन चिकित्सा दी जानी चाहिए। सकम्प प्रलाप वाले रोगी को अलग से देखभाल तथा निरंतर निगरानी की जरूरत होती है। प्रलाप की स्थिति प्रायः तीन से पांच दिन तक रहती है और उसके बाद नींद आ जाती है। ऐसे में प्रभावशाली निद्रायक औषधि के रूप में दिये जाते हैं। 6 प्रतिशत क्लोरलहाइड्रेट के 50 मि० ली० घोल का एनिमा देने की सलाह दी जाती है या यदि रोगी पी सके तो उसे क्लोरलहाइड्रेट दिया जाता है। हृदय उद्दीपक निश्चित रूप से दिये जाते हैं, इनमें ऐडोनिलीन (एडोनिस का सत्व) 15 से 20 बूंद की खुराक दिन में तीन बार लेने की सलाह दी जाती है। हृदपात की स्थिति में कोर्डियामिन (निकेथामीन), कैफीन, एड्रेनिलीन, आदि के इंजेक्शन कारगर सिद्ध होते हैं। सकम्प प्रलाप की स्थिति में डाइजेपाम (0.005 ग्राम दिन में तीन बार या 0.5 प्रतिशत घोल को 2.0 मि० की मात्रा में अंतर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है) से मनः प्रेरक उत्तेजन में आराम मिलने के साथ अच्छा प्रभाव पड़ता है; एमिनाजीन का भी प्रयोग किया जा सकता है (एक बार या तीन बार 0.025 ग्राम मुख से, या 2.5% घोल का 2.0 से 4.0 मि० ली० का अंतरपेशीय इंजेक्शन दिया जाता है। इंजेक्शन की मात्रा उत्तेजन की डिग्री पर निर्भर करती है)। कभी-कभी मनोविक्षिप्ति दिन के समय शांत हो जाती है और रात्रि में फिर से हो जाती है।

मारफीमता अफीम के क्षाराभ–मारफीन–के चिरकाली प्रयोग से उत्पन्नतल है। इसका संबंध भिन्न कायिक वोगों में पीड़ाहर के रूप में मारफीन के बरंबार

प्रयोग से है। इसीलिये मारफीन को दवा के रूप में लंबे समय तक निर्दिष्ट करना इष्ट नहीं है, विशेषकर यदि रोगी की मानसिकता अस्थिर हो। ज्ञात है कि मारफीन मूड अच्छा करता है, सुखबोध उत्पन्न करता है और थोड़े समय के लिये स्फूर्ति प्रदान करता है, इसीलिये रोगी को बारंबार इसे ग्रहण करने की इच्छा होती है।

मारफीन का आदी होने पर रोगी उसकी और अधिक मात्रा में आवश्यकता महसूस करता है और दिन में कई ग्राम तक का प्रयोग कर सकता है। वह मारफीन के बिना जी नहीं सकता। पैंटोपोन, अफीम, एथीलमोर्फीन हाइड्रोक्लोराइड, कोडेईन जैसे पीनक पदार्थों का भी आदी होना संभव है। पीनक पदार्थों का प्रयोग छोड़ने वाले रोगी में त्यजन नामक अवस्था उत्पन्न होती है, जिसमें सामान्य दुर्बलता, सर-दर्द, उल्टी, दस्त, खांसी तेज नब्ज होती है और सांस घट हो जाता है, धमनी दाब धीमा पड़ जाता है। आतंक, भय और अनिद्रा के साथ अवसाद हो जाता है। मारफीन व्यसनी ऐसी स्थिति आने पर स्वापक प्राप्त करने के लिए सब कुछ कर सकता है। वह इसे प्राप्त करने के लिए औषधि की पेटी से चोरी तक कर सकता है।

त्यजन की स्थिति में रोगी पर उपचारिका को कड़ी नजर रखनी चाहिए। उसे केवल डाक्टर द्वारा निर्देशित औषधियाँ ही दी जानी चाहिए। यदि हृदक्रिया कमजोर हो तो चिकित्सक को फौरन बुलाना चाहिए। यदि चिकित्सक को बुलाना संभव न हो, तो उपचारिका को कोर्डीमीन, कैफीन या कैम्फर अथवा अन्य किसी हृद उद्दीपक का इंजेक्शन देना चाहिए। इसकी खुराक आम प्रयोग की होनी चाहिये।

चिरकारी मारफीन विषाक्तता के रोगी की भूख और वजन घट जाते हैं। उनकी त्वचा और श्लेष्मल कला सुख जाती है। नब्ज तेज हो जाती है। शोफ हो जाता है। धमनी दाब बढ़ जाता है। कंडरा प्रतिवर्त अतिशयित हो जाता है और उंगलियों में कम्प हो जाता है। मारफीन व्यसनी क्षीण और कमजोर संकल्पी होता है तथा उसकी स्मृति ठीक नहीं होती है। मारफीन व्यसनी स्वयं ही स्वापक का इंजेक्शन लगा लेता है और वह अपूति के नियमों का भी पालन नहीं करता है। जहाँ इंजेक्शन लगा हो, उस जगह पर त्वचा में विद्रधि के निशान पड़ जाते हैं।

और भी कई प्रकार के स्वापक व्यसन होते हैं, जैसे बारबीटुरेट का स्वापक व्यसन, जो कि बारबिटुरिक अम्ल से बने पदार्थ (बारबिटल सोडियम, पेन्टाबारबिटलसोडियम, बारबिटल) के कुप्रयोग से होता है। इसका नैदानिक चित्र मद्य मादकता से मिलता-जुलता है। उसकी मनोदशा असामान्य प्रसन्नता की होती है। उसकी गति में समन्वय नहीं होता है तथा उसमें उच्चारण दोष भी हो जाता है। बारबिटुरेट स्वापक व्यसन होने पर बारबिटुरेट औषधि के रूप में नहीं दिये जाते हैं। इन रोगियों का उपचार ग्लूकोस, विटामिन और हृद् उद्दीपकों के इंजेक्शनों से किया जाता है। ऐमिनाजीन तथा अन्य मनोवियोजी औषधियां भी स्वापक व्यसन में नहीं दी जाती हैं, क्योंकि इनसे स्वापकों का प्रभाव बढ़ता है।

ऐट्रोपीन से (खुराक से अधिक देने पर) होने वाली विषाक्तता की संभावना को

भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। मुंह का सूखना, पुतलियों का फैल जाना, उच्चारण दोष, त्वचा का सूख जाना, निगलने में कठिनाई होना, मनोप्रेरक उत्तेजना, भ्रांति और विभ्रम इसकी अभिव्यक्तियां हैं। दु:साध्य रोगियों में आक्षेप और सन्यस्त की दशा आ जाती है। धमनी दाब घट जाता है। नाड़ी कमजोर हो जाती है और श्वसनघात होने से मृत्यु हो जाती है। आपत्कालीन चिकित्सा में जठर-धोवन, 1% पिलोकार्पिन घोल के 1.0 मि० ली० का इंजेक्शन या 0.05 प्रतिशत प्रोसेरीन (न्योस्टीगमाइन) घोल का 1.0 मि० ली० का (अधस्त्वक) इंजेक्शन दिया जाता है। मनोप्रेरक उत्तेजना को 2.5 प्रतिशत एमिनाजीन घोल के 2.0 मि० ली० इंजेक्शन देकर ठीक किया जाता है। यह इंजेक्शन पेशी में दिया जाता है, या फिर 1 प्रतिशत प्रोमेडील घोल के 2.0 मि० ली० का इंजेक्शन (अधस्त्वक) दिया जाता है।

निकोटीन व्यसन सबसे अधिक प्रचलित खराब आदतों में से है। निकोटीन से प्रमस्तिष्क और परिसरीय वाहिकाओं का आकुंचन हो जाता है। इससे विलोपन भी हो सकता है, तथा लोपक अन्तरधमनीशोथ भी हो जाता है। निकोटीन व्यसन में मानसिक क्रिया कमजोर हो जाती है तथा तान घट जाती है। यह उपचारिका का कर्त्तव्य है कि रोगी को धूम्रपान न करने दे।

प्रगामी घात तंत्रिका तंत्र के सिफिलिस का अग्रवर्ती चरण है। कपाल प्रमस्तिष्क की चोट, मदात्यय और संक्रमण जैसे हानिकर कारकों से यह घात बढ़ता है। रोग की प्रारंभिक अवधि में तंत्रिकावसाद के लक्षण प्रमुख होते हैं जैसे चिड़चिड़ाहट, ध्यान लगाने में थकान और घटी हुई कार्यक्षमता। अपने व्यवहार, मनोदशा और कार्यक्षमता में हुए परिवर्तनों को समझे बिना रोगी इन परिवर्तनों को थकान के कारण हुआ समझता है और डाक्टर की सलाह नहीं लेता। गतिशय सुखाभास, इच्छावरोधन न कर पाना, हास्यास्पद व्यवहार करना आदि मनोविकृति प्रगामी घात के पूर्व लक्षण हैं। रोगी विचारहीन, चिड़चिड़ा और अपव्ययी हो जाता है, जो कि अनावश्यक चीजों पर ध्यान व्यय करता है। दैहिक तथा तंत्रिका विज्ञानी परीक्षण से अरजाइल रौबर्टसन के लक्षणों का पता चलता है। आँखों की पुतलियों पर प्रकाश की अनुक्रिया नहीं होती है, पर समंजन की अनुक्रिया होती है। नासा प्रोष्ठावलि लुप्त हो जाती है तथा कंडरा प्रतिवर्त घट-बढ़ जाता है और असमतल हो जाता है। उच्चारण दोष प्रगामी घात का पूर्व तंत्रिकीय लक्षण है। इसका पता रोगी को जिभ को तोड़-मरोड़ कर बोलने वाले वाक्यों का उच्चारण करवा कर लग सकता है। लिखने की क्षमता भी कमजोर हो जाती है: उसका मुलेख विषम होता है। रोगी या तो अक्षरों और मात्राओं को लिखते समय छोड़ जाता है या बार-बार लिख जाता है। इस रोग का काल कुछ हफ्तों से लेकर दो-तीन महीनों तक का होता है।

प्रगामी (वर्धमान) घात की दूसरी और तीसरी अवधियों का विशेष लक्षण यह है कि इसमें मनोभ्रंश बढ़ता जाता है और चरम सीमा तक पहुँच जाता है। रोगी अस्पष्ट स्वर में बोलता है और धीरे-धीरे अचल हो जाता है। इच्छा न होते हुए भी

मूत्र और मल त्याग हो जाता है। शारीरिक कृशता तेजी से होने लगती है। रोगी एकदम असहाय हो जाता है और अपने को संभाल नहीं पाता है। उसे शय्यात्रण आसानी से हो जाते हैं। यह जरूरी है कि उपचारिका इस हालत वाले रोगियों को विशेष देखभाल करे।

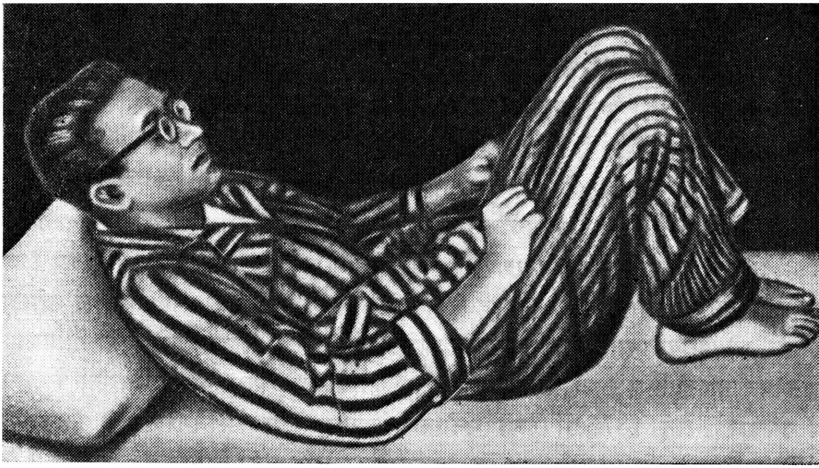
बाल प्रगामी अंगघात 7 से 15 साल तक के बच्चों को होता है और बहुधा यह जन्मजात सिफिलिस के परिणामस्वरूप होता है। मानसिक और शारीरिक विकास का कम होना इस रोग के मुख्य लक्षण हैं। यह रोग चार से छः साल तक रहता है और अंत में रोगी की मृत्यु हो जाती है। अत्यधिक मानसिक ह्रास वाले बच्चे की पूरी देखभाल की आवश्यकता है। उपचारिकाओं और उनके सहायकों को ऐसे रोगियों को भोजन कराना चाहिए तथा उनकी शारीरिक हालत पर नजर रखनी चाहिए।

उपचार. सन् 1875 में रूसी मनोविकार विज्ञानी ए० रोजेनब्लूम ने पहली बार प्रगामी घात की चिकित्सा करने का प्रस्ताव रखा। यह चिकित्सा पुनरावर्ती ज्वर प्रतिरक्षीकरण के द्वारा की गयी। बाद में रोगियों को इसी विचार से मलेरिया से संक्रमित किया गया। हृदपात वाले रोगियों को शुद्ध गंधक, सल्फाजीन (सल्फाडायजीन) के 1 प्रतिशत घोल का अधस्त्वक इंजेक्शन दिया जाता है, इससे शरीर का ताप 30-40 सेन्टीग्रेड तक हो जाता है। बाद में प्रगामी अंगघात का उपचार पेन्सिलीन और मलेरिया की चिकित्सा मिलाकर किया जाता है। यदि यह उपचार जल्दी किया जाये तो अधिकांश रोगी इस संयुक्त उपचार से बिलकुल चंगे हो जाते हैं, अथवा इसके विसर्ग का अंतराल बढ़ जाता है।

विखंडित मनस्कता

यह सबसे अधिक मिलने वाला रोग है और 17-35 की उम्र में विकसित होता है। इसका नाम ब्लेइलेर द्वारा दिया गया था, और अभी भी इसे "ब्लेइलेर रोग" कहा जाता है। इस रुग्णावस्था की नैदानिक अभिव्यक्तियां लक्षणों और इसके दौर, दोनों में बहुरूपता रखती हैं। विखंडित मनस्कता के निम्नलिखित चार प्रमुख नैदानिक रूप गिनाये जाते हैं: तान प्रतिष्टम्भ, हैबिफ्रेनिया, साधारण विखंडित मनस्कता और विभ्रमित पैरानोयड विखंडित मनस्कता।

कैटाटोनिया (तान प्रतिष्टम्भ) की अभिव्यक्ति दो मुख्य संलक्षणों, कैटाटोनिक जड़िमा और कैटाटोनिक उत्तेजना, से होती है। कैटाटोनिक जड़िमा में रोगी दुराग्रहपूर्ण और कभी-कभी विचित्र और बेढंगी स्थिति अपनाये रखता है। उदाहरण के लिए, हाथ और पैर मोड़े हुए पड़े रहना और ठोड़ी को सीने की ओर दबाये रखना तथा सिर को तकिये पर उठाये रखना (कैटालेप्सी या पेशी प्रतिष्टम्भ) (चित्र 29)। यह स्थिति, भले ही उसे कही हुई बात को समझने में रुकावट नहीं डालती है, वह स्वयं अपनी रुग्ण अवस्था को समझता है और कभी-कभी अपने आसपास की चीजों



चित्र 29. विखण्डित मनस्कता के तानप्रतिष्टम्भ का रोगी पेशीय प्रतिष्टम्भ की दशा में।

को सही ढंग पर तथा सूक्ष्मता से आंकता है। जड़िमा रोग से स्वस्थ होने के बाद रोगी की बातचीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आसपास की चीजों को समझता है। कैटाटोनिया का बारंबार होने वाला एक लक्षण नकारात्मकता है। इस दशा में रोगी को जो करना चाहिए वह उसके विपरीत करता है। उसे जब जीभ दिखाने को कहा जाता है तो वह अपने जबड़े कस कर बन्द कर लेता है। अपने हाथ को उठाने के बजाय पीछे खींच लेता है। जब उसे कमरे में जाने को कहा जाये, तो वह विरोध करता है। रोगी को जब खाना खिलाने का प्रयास किया जाता है तो वह अपना मुँह भोजन से फेर लेता है और मुँह कस कर बंद कर लेता है, पर यदि उसे खाना खिलाने वाला व्यक्ति भोजन उसके पास छोड़ कर चला जाये तो फिर वह स्वयं ही भोजन कर लेगा।

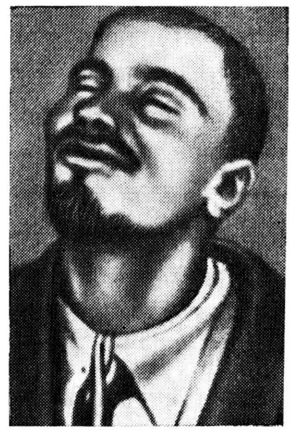
कैटाटोनिया के नैदानिक चित्र में **शब्दानुकरण, क्रियानुकरण** और **नियत मोटर उत्तेजना** विशिष्ट है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि शब्दानुकरण में रोगी उन्हीं शब्दों को दोहराता है जो उसको कहे गये हैं और उसी स्वर शैली में दोहराता है। उदाहरण के लिए जब चिकित्सक उससे पूछता है—"आपकी तबियत कैसी है?" तो वह उत्तर में कहता है: "आपकी तबियत कैसी है?" क्रियानुकरण रोगी अपने पास के लोगों जैसी ही चाल तथा गति की नकल करता है।

कैटाटोनिया के ऊपर वर्णित लक्षण—प्रतिष्टम्भ, मूकता, नकारात्मकता, शब्दानुकरण, क्रियानुकरण और रुढ़िवधिता—पेशी विखंडित मनस्कता के अन्य रूपों में भी हो सकते हैं। कैटाटोनिया उतेजना या जड़िमा की घटना के साथ विसर्गरहित कैटाटोनिया की अपेक्षा अधिक अनुकूल मार्ग लेती है। विसर्गरहित कैटाटोनिया में व्यक्तित्व खराब होता जाता है।

कैटाटोनिक उत्तेजना नियमित रूप से एकाएक होती है। रोगी कहीं भाग जाने का प्रयास करता है और नीरस, उद्देश्यहीन चाल चलता है तथा काफी समय तक लगातार हाथों को अनियमित चलाता रहता है और एक शब्द भी नहीं बोलता है। और न हो अपनी धुरी पर घुमता है। उसकी बातचीत में टूटे-फूटे मुहावरों और शब्दों का गड़मड़ रहता है। उसका व्यवहार आवेगात्मक होता है। एक रोगी जो कि अभी तक चुपचाप लेटा हुआ है एकदम उछल कर अपने पीछे के रोगी पर या और किसी पर गिर पड़ता है। उसे धक्का देकर फिर लेट जाता है और दृढ़ हो जाता है।

कैटाटोनिया में वर्धी विकार बहुत ही प्रत्यक्ष होते हैं, इसमें चेहरा चिकना होता है। हथेलियों और पैरों पर पसीना आता है, नाड़ी सुस्त होती है और धमनी दाब घट जाता है।

हैबीफ्रेनिया या **विखंडित मनस्कता का बाल रूप.** इस प्रकार की विखंडित मनस्कता में विनोदप्रियता, मैत्री पूर्ण व्यवहार तथा विचारों का अशांत प्रवाह आदि नैदानिक लक्षण हैं। बहुधा इस रोग का अनपेक्षित रूप से तब पता चलता है जबकि रोगी कोई बेतुका काम करता है। उदाहरण के लिए, एक पुरुष रोगी को मनोविकारी अस्पताल में भर्ती कराने के पूर्व कई बार पुलिस स्टेशन ले जाना पड़ा, क्योंकि वह सार्वजनिक स्थान पर "बचाओ, बचाओ" चिल्लाया और दूसरी बार उसने एक अनजान स्त्री के मुँह पर थूक दिया। इस रोग से पीड़ित रोगी मूर्खतापूर्ण व्यवहार करता है, मुँह चिढ़ाता है और बेवकूफ बनाने का प्रदर्शन करता है और एकाएक हंसने लगता है या अपनी जीभ दिखाता है या मूढ़ की सी मुद्रा बना लेता है (चित्र 30)। उसके विचार असंबंध और असंगत होते हैं। उदाहरण के लिए जब उससे पूछा जाता है कि वह कैसा है, तो वह उत्तर देता है कि "मेरे दांत में दर्द है, कागज पियानो पर है, रुक जाओ"। उसकी वार्ता शब्दों के सलाद जैसी होती है: "बड़ा वातावरण, क्रिया के नियम, मुर्गी का चूजा, नीला रोशनदान"। कभी-कभी रोगी को विभ्रम होता है और वह भ्रमित विचारों के खंड अभिव्यक्त करता है। निरंतर प्रेरक उत्तेजना के कारण उसका व्यवहार मूर्खतापूर्ण और आक्रामक होता है। ऐसे रोगियों की चौकस निगरानी की जानी चाहिए।



चित्र 30. विखण्डित मनस्कता (हैबोफ्रेनिया) के रोगी की मुख-विकृति।

विखंडित मनस्कता का साधारण रूप. धीरे-धीरे बढ़ती हुई जड़ता, भाव-हीनता, वातावरण से उदासीनता, कोरी दार्शनिकता के रूप में विकसित विचार, कैटाटोनिया के बिना असंबद्ध विचार, हैबिफ्रेनिक या विभ्रम की भ्रान्ति की चित्र तथा सामाजिक

और कर्मी कार्यों में भाग लेने की क्षमता की हानि आदि यदि नैदानिक चित्र में प्रधान हों तो ऐसी विखंडित मनस्कता को साधारण रूप वाली विखंडित मनस्कता कहा जाता है। यह धीरे-धीरे विकसित होती है और रोगी का व्यवहार काफी समय तक ठीक रहता है। इस रोग में एक लड़का (या लड़की) जो कभी सक्रिय और मिलनसार था, अपने मित्रों से दूर रहने लगता है और अपना अधिक समय शय्या पर बिताने लगता है तथा अपने निकट संबंधियों की चिंताओं के प्रति विमुख हो जाता है। अपने माता-पिता के लिए नफरत से भरी बातें करता है और यहाँ तक कि उनकी (माता, पिता की) हत्या का विचार भी प्रकट करता है। रोग का भीषण आक्रमण होने के पूर्व काल में पहले तो परिस्थितियों के प्रति भावात्मक प्रक्रिया अपर्याप्त होती है और फिर भाव का सर्वथा अभाव हो जाता है। उदाहरण के लिए, किसी शोकपूर्ण घटना पर वह हंसता है या अपने खराब स्वास्थ्य पर बातचीत करते-करते हंसने लगता है। एक युवक को, जो कि अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान था, विखंडित मनस्कता का रोग हो गया। और अब उसकी चिंतित मां ने उससे पूछा कि उसे क्या तकलीफ है, वह क्यों अन्यमनस्क और विचलित रहता है तो उसने उत्तर दिया कि "मैं आत्महत्या करने के तरीके पर विचार कर रहा हूँ क्योंकि मैं अपने चारों ओर की चीजों की ओर से भावहीन और संवेदनहीन हो चुका हूँ।" इन रोगियों में बहुधा बोधी विचार नहीं होते तथा इनमें मनःप्रेरक उत्तेजना नहीं होती है।

बीमारी के बहुत बढ़ जाने पर रोगी का ध्यान केवल भोजन करने, सोने और शौच में रहता है। वे अपने चारों ओर घटने वाली घटनाओं से सर्वथा उदासीन रहने लगते हैं।

विखंडित मनस्कता के विभ्रमित-पैरानोयड रूप के लक्षण विभ्रम और भ्रान्ति हैं। यह रोग बहुधा उन लोगों को होता है जो 30 वर्ष की अवस्था के हो चुके हैं। रोगी व्यक्ति को आदेशात्मक और धमकाने वाली आवाजें नियमित रूप से सुनाई देती हैं। विभ्रम के अंश से रोगी के व्यवहार का पता लगता है। आज्ञार्थक श्रवण विभ्रम के प्रभाव से रोगी भोजन करने से मना कर सकता है, वह खिड़की से बाहर कूद सकता है, अपने आप को तथा अपने आस-पास के लोगों को चोट पहुँचा सकता है। रोगी जो कुछ सोचता है, वही उसे बहुधा सुनाई देता है (विचारों की ध्वनि गूंजती रहती है)। बहुधा रोगी को अधिकाधिक आवाजें सुनाई देती हैं, जबकि उनके बिम्ब उसके बाहर नहीं, बल्कि अपने अंदर दिखाई देते हैं, जैसे कोई उसके सिर या पेट में बैठ कर बोल रहा हो। रोगी कहता है कि किसी बुरा चाहने वाले ने उसे उसके अंदर घुसा दिया है। विखंडित मनस्कता वाले रोगी को बहुधा शरीर के विभिन्न भागों में अजीब तरह के संवेदन महसूस होते हैं: जैसे ठंड लगना, सूजन होना, शरीर में धारा सी प्रवाहित होना, जलन महसूस होना (स्पर्श विभ्रम होना), ऐसा महसूस होना कि भोजन में से अरुचिकर गंध आ रही है और कभी-कभी रोगी को अपने स्वयं में से दुर्गंध आती महसूस होती है (इसे घ्राण विभ्रम कहते हैं)। विखंडित मनस्कता

में दृष्टि विभ्रम बहुत कम होता है। भ्रान्तियां विभिन्न लक्षणों वाली होती हैं और इनके साथ बहुत विभ्रम होते हैं। परन्तु भ्रान्ति विभ्रम के बगैर भी हो सकती है। रोगी बहुधा इस बात का दावा करता है कि उसके इर्द-गिर्द की स्थिति उसके प्रति नकारात्मक है (इसे संदर्भ की भ्रान्ति कहते हैं)। उसे ऐसा विश्वास होता है कि कोई उसकी निगरानी कर रहा है या कोई उसे विष देना चाहता है, या उसे विशेष किरणों या विद्युतधारा के प्रभावधीन कर देना चाहता है (उत्पीड़न की भ्रान्ति होती है)। यदि रोगी को यह विश्वास हो जाये कि उसके आंतरिक अंग सड़ रहे हैं और आपस में जुड़े जा रहे हैं तथा उसे असाध्य रोग है तो यह रोगभ्रमी भ्रान्ति का रोग है।

विखंडित मनस्कता का निदान बहुत कठिन हो सकता है और विशेषकर जब कि इसके प्रारंभ में सामान्य लक्षणों (सिर दर्द, हृदय, पेट या आँतों में अरुचिकर संवेदन) की शिकायत हो और रोग के लक्षण धीरे-धीरे बढ़ते जायें। ऐसी दशा में रोगियों का उपचार चिकित्सा के अन्य विशेषज्ञों द्वारा बहुत दिनों तक चलता रहता है और उससे कोई लाभ नहीं होता है। कई बार विखंडित मनस्कता के ऐसे रोगी मिलते हैं जो कि कायिक चिकित्सालयों के विभिन्न विभागों में जठरशोथ, वृहदान्त्र शोथ, कृमि पर्याक्रमण और तंत्रिकावसाद इत्यादि के उपचार के लिए भर्ती रहते हैं। विखंडित मनस्कता के प्रारम्भ में रोग की गतियां ही निदान का निश्चायक कारक होती हैं: एकान्तवास की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, सांसारिक रुचियों से खिंचाव, अपने व्यक्तिगत अनुभवों की दुनिया में खोये रहना (स्वपरायणता), शारीरिक और मानसिक क्षेत्र के रोगों में सुधार न होने की शिकायत जैसी भावहीनता, कार्यकारी क्षमता और स्वतः प्रेरणा का प्रभाव होना।

अन्य दशाओं में रोग एकाएक और तेजी से प्रकट होता है। संभ्रम, अपार और एकदम निराधार भय तथा भ्रांति के लक्षण मिलते हैं। रोगी कमरे में चक्कर खाता रहता है और अपनी दशा को बहुधा शब्दों में इस प्रकार समझता है कि "मैं तो पागल होता जा रहा हूँ"। बढ़ती हुई प्रेरक उत्तेजना के साथ-साथ संभ्रमित चेतना और तीव्र विषालुता के लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे—शरीर का बढ़ा हुआ तापमान, श्लेष्मलकला का सूखना, मूत्र का दिन ब दिन कम होना, तेज और अनियमित नाड़ी चलना आदि। इस प्रकार का प्रारंभ विखंडित मनस्कता का नियत, कालिक या प्रवेगी रूप होता है।

रोग के अन्य रूपों की तरह, इस प्रकार के रोग से पीड़ित रोगी को फौरन मनो-विकारी चिकित्सालय में भर्ती करा दिया जाना चाहिये।

विखंडित मनस्कता का रोग पूर्वबाल्यावस्था, किशोरावस्था और यौवनारम्भ अवस्था में भी हो सकता है। विकारी पारिवारिक इतिहास स्कूल पूर्व की अवस्था वाले बच्चे में विखंडित मनस्कता के प्रारंभ होने में महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। दो से चार वर्ष की अवस्था वाले शिशुओं में सक्रियता का अभाव होना और अकेलेपन में रहने के

लक्षणों से विखंडित मनस्कता का निदान किया जाता है। शिशु को खिलौने में कोई रुचि नहीं रह जाती है और वह हर चीज से विमुख हो जाता है। इस अवस्था में रोग के अनुतीव्र होने की अभिव्यक्ति निराधार भय से होती है। शिशु को अपने प्रिय खिलौने से, पुस्तक के चित्र से तथा अपने मां-बाप तक से डर लगने लगता है। उसे ऐसा डर लगता है कि वह स्वयं या अन्य कोई मर जायेगा और या किसी अन्य प्रकार की महाविपत्ति (जैसे आग लगना, भवन का ढह जाना) आ जायेगी। उसे कालिक विभ्रम होते हैं। उसे अपने बिस्तर में बहुत से जीव-जन्तु रेंगते दिखायी देते हैं। बच्चे को शरीर के विभिन्न अंगों में पीड़ा का अनुभव होता है। शिशुओं में वाक्‌विकार होना इसका प्रथम लक्षण है: बच्चा बोलना बन्द कर देता है (मूक हो जाता है) या एकाएक कुछ नये और अजीब से शब्द बोलता है। जिन बच्चों को यह रोग बहुत कम उम्र में हो जाता है उन्हें अपने स्वयं की फिक्र नहीं रहती है, वे नहाते-धोते नहीं हैं तथा बेढगें से हो जाते हैं। बहुधा इन बच्चों में जड़िमा और नकारात्मकता जैसे कैटाटोनिक लक्षण मिलते हैं, जो कालिक कैटाटोनिक उत्तेजना का छप धारण कर लेते हैं। विखंडित मनस्कता का रोग जितनी कम उम्र में हो जाता है, बालक की प्रतिभा के विकास पर उसका उतना ही अधिक अवरोधक प्रभाव होता है। इस रोग (विखंडित मनस्कता) का पैरानोयड रूप प्रारंभिक बाल्यावस्था में बहुत कम होता है। विखंडित मनस्कता में कैटाटोनिक लक्षणों की प्रधानता को छोटे बच्चों में मन्द और प्रतिकूल गति से पहचाना जाता है। बाल्यावस्था में विखंडित मनस्कता के अन्य रूपों में अनुकूल परिणाम हो सकता है।

उपचार. विखंडित मनस्कता के उपचार के विभिन्न तरीकों में से इंसुलीन-कोमाटोज पद्धति अब तक सबसे अच्छी समझी जाती है; और विशेष रूप से उन रोगियों में जिनका रोग पुराना न हो (एक वर्ष से कम का हो)।

पिछले दशकों में मनोविकार चिकित्सा की कई नयी पद्धतियाँ निकाली गयी हैं जिन्हें व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। इन तरीकों में से अवताप जीवी जीवाणु (मनोवियोजी औषधि वर्ग) पदार्थ – द्विमिनाजीन (क्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड) और प्रोपाजीन – को धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी खुराक बढ़ा कर प्रयुक्त किया जाता है। रोग के एकाएक प्रारंभ होने पर मनोवियोजी औषधि वर्ग से उपचार किया जाता है। मनोवियोजी औषधि वर्ग में मिनाजीन था लेवोप्रोमाजीन की पहली खुराक 25 से 50 मि० ग्रा० की होती है। उत्तेजना होने पर 2.5 प्रतिशत घोल वाली इस औषधि को 1.0 से 2.0 मि० ली० प्रोकीन हाइड्रोक्लोराइड के साथ मिला कर नितंब के ऊपरी पार्श्व चतुर्थान्श में अंतरपेशीय इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है। रोग के प्रारंभ में मोटर और वाक उत्तेजना होती है तथा रोगी का झुकाव आक्रामक, सामाजिक रूप से खतरनाक गतिविधियों की ओर होता है। औषधि की शरीर पर प्रक्रिया को देखते हुए औषधि की खुराक को विभिन्न दर से बढ़ाया जाता है (इष्ट मात्रा 100 से 300 मि० ग्रा० है)। अन्य औषधियों में रूसी योग ट्रिफ्टाजीन (ट्राइफ्लूपेराजीन हाइड्रोक्लोराइड) उल्लेखनीय

है। दीर्घकालिक रोग में विभ्रम और भ्रान्तियां होती हैं और इसमें 2.0 से 50 मि० ग्रा० (या अधिक) प्रति खुराक निर्धारित की जाती है। विखंडित मनस्कता में जब एक औषधि से लाभ नहीं होता है तो एमिनाजीन और द्रिफ्टाजीन का मिश्रण प्रभावकारी होता है। विभ्रम-भ्रान्ति के लक्षण होने पर हैलोपेरीडाल गोली की 5.0 से 20 मि० ग्रा० मात्रा प्रतिदिन लेने की सलाह दी जाती है। कैटाटोनिया होने पर मेझाप्टिल (थायोपेराजीन) की गोलियां (45 से 70 मि० ग्रा० प्रतिदिन की खुराक) दी जाती हैं। विखंडित मनस्कता के अवसाद सहित होने पर ऐमिनाजीन और इमीजीन (इमीप्रामीन) की खुराक 25 से 75 मि० ग्रा० तक की दी जाती है।

ऐसे रोगियों की देखभाल के लिए जिम्मेदार उपचारिकाओं और उनकी सहायिकाओं को भली भांति यह ज्ञात रहना चाहिए कि इन औषधियों के प्रयोग के पहले कुछ दिनों में कौन-कौन से इतर प्रभाव हो सकते हैं, और इसलिए सभी रोगियों के लिए 15 से 20 बूंद कोर्डामीन और 0.03 ग्राम डाइमेड्राल की प्रतिदिन एक या दो खुराकें निर्धारित की जाती हैं।

विखंडित मनस्कता के रोगियों को मानसिक रोग चिकित्सालय से छुट्टी देने के बाद भी उनकी निगरानी बहिरंग चिकित्सा केन्द्र में करते रहनी चाहिए और उनको संरक्षण चिकित्सा मिलती रहनी चाहिए, ताकि रोग की पुनरावृत्ति न हो। रोग की अपवृद्धि को घर पर ही रोकना चाहिए। इस प्रकार के उपचार के संवहन में उपचारिकाओं की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। अवतापजीवी जीवाणुओं द्वारा चिकित्सा से निपात भी हो सकता है। यदि ऐसा हो तो रोगी को उसकी पीठ के बल लिटा दिया जाता है और उसके सिर के नीचे कोई तकिया नहीं रखा जाता, तथा उसकी टांगें थोड़ी उठी हुई रखी जाती हैं। 10 प्रतिशत के 1 मि० ली० कैफीन घोल का इंजेक्शन फौरन लगाया जाता है या उसे पीने को तेज चाय दी जाती है। इसलिए उपचारिका को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अवतापजीवी जीवाणु औषधि देने के बाद रोगी एक दो घंटे तक बिस्तर पर पड़ा रहे। उपचार आरंभ करने पर यह बिल्कुल अनिवार्य है। गंभीर मनोविक्षिप्त स्थिति के उपशमन के लिए इंसुलीन द्वारा चिकित्सा निर्धारित की जाती है। उसी क्षण से इन्सुलीन कोमाटोज विधि द्वारा मनोवियोजी औषधि वर्ग से विखंडित मनस्कता का मिश्रित उपचार प्रारंभ किया जाता है। इन्सुलिन सुबह और शाम को (अधिकतर सोने के समय) दी जाती है। उपरोक्त वर्णित मनोवियोजी औषधि में से एक को छोटी खुराक में मुँह से या इंजेक्शन के रूप में दिया जाता है।

उपचार की सारिणी इस प्रकार है: इन्सुलिन को प्रतिदिन खाली पेट दिया जाता है। इसकी खुराक 4 इकाई से शुरू कर धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है (उपचारार्थ खुराक से शुरू करके कोमा प्रेरित करने वाली खुराक लगभग 80 से 120 इकाई तक)। इन्सुलिन की खुराक बढ़ाने से अधो शर्करा रक्तता के लक्षण पैदा होने लगते हैं और यह क्रम कोमा की स्थिति में समाप्त होता है।

सन्यस्त की स्थिति रक्त में शर्करा की मात्रा में 20-10 मि० ग्रा० प्रति 100 मि० ली० (सामान्य स्तर 100–120 मि० ग्रा०/100 मि० ली०) की गिरावट के कारण होती है और इसकी नैदानिक अभिव्यक्ति चेतना की कमजोरी और कायिक तथा वर्धी विकारों के रूप में होती है। रोगी पीला पड़ जाता है और वह बुलाने, छूने या चुभाने पर भी अनुक्रिया नहीं प्रकट करता, उसे पसीना बहुत आता है, श्वसन खर्राटेदार होता है, आँखों की पुतलियां फैल जाती हैं, जिन पर प्रकाश की प्रतिक्रिया नहीं होती। कभी-कभी चेहरे और अंगों की पेशियों में फड़कन होती है और अपस्मार-रूपी दौरे पड़ते हैं। रोगी अधिक से अधिक 30 से 50 मिनट तक कोमा की स्थिति में रहता है, उसके बाद 40 प्रतिशत ग्लुकोस घोल 10 से 20 मि० ली० की मात्रा में अंतःशिरा इंजेक्शन से दिया जाता है। रोगी जैसे ही प्रश्नों के उत्तर देने योग्य होता है उसे फौरन ही तेज शक्कर का घोल (200 ग्राम चीनी प्रति 100 मि० ली० पानी या चाय के साथ) पिलाया जाता है। उसके थोड़ी देर बाद उसे ऐसा भोजन दिया जाना चाहिए, जिसमें विशेष रूप से कार्बोहाइड्रेट हो, इससे उसकी रक्त-शर्करा का स्तर ठीक हो जाता है।

इन्सुलीन-कोमाटोज चिकित्सा विशेष वार्ड में दी जाती है, जिसमें 8 से 10 या अधिक रोगी हों। इन रोगियों की व्यवस्था करना उपचारिकाओं और उनके सहायकों की जिम्मेदारी होती है और उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस उपचार-विधि के सभी नियमों का भली-भांति पालन हो। ऐसे रोगियों को इन्सुलिन का टीका लगाने के बाद पूरे समय तबतक वार्ड में रखना चाहिए, जबतक वे इन्सुलिन कोमा से स्वस्थ न हो जायें।

उपचारस्वरूप रोगी को 30 से 40 बार तक कोमा प्रेरित किया जाता है। इसके अलावा रोगी को सोते समय प्रतिदिन 25 से 200 मि० ग्रा० एमिनमजीन या लेवोप्रो-माजीन दिया जाता है। इन्सुलीन और मनोवियोजी औषधि वर्ग के मिश्रित प्रयोग से मनःप्रेरक उत्तेजना घट जाती है। ऐसी उत्तेजना इन्सुलिन अल्प ग्लुकोस रक्तता या कोमा की स्थिति में होती है। उत्तेजना घटने से उपचार काल घट जाता है और अत्यधिक शिथिलता आ जाती है।

अल्प ग्लुकोस रक्ताल्पता के द्वारा होने की सभांवना (विशेषकर दिन को दोपहर के पहले) को ध्यान में रखना चाहिए। इसके पूर्व लक्षण भी वही हैं: कमजोरी, अन्यधिक पसीना और जड़िमा। यदि ऐसे लक्षण हों तो फौरन 40 प्रतिशत वाला ग्लुकोज का घोल 10 से 20 मि० ली० तक शिरा में देना चाहिए। हल्की अल्प ग्लुकोस रक्ताल्पता होने पर रोगी को 100 से 200 मि० ली० रोज चीनी का घोल पिला देना ही काफी होगा। 100 मि० ग्रा० एमिनाजीन या लीवोप्रोमाजीन सोते समय लेने से शामक (प्रशान्तक) प्रभाव पड़ता है जिससे तनाव या चिंता से आराम मिल जाता है तथा अच्छी नींद आ जाती है। विखंडित मनस्कता के रोगियों के उपचार के सभी साधन चिकित्सक के निर्देश के अनुकूल ही होने चाहिए।

चिरकारी विखंडित मनस्कता का उपचार मनोवियोजी औषधि वर्ग, एमीनाजीन, ट्रिफ्टाजीन (1.0 से 50 मि० ग्रा०) या हेलोपेरीडाल (5.0 से 20 मि० ग्रा०) या इनके मिश्रण के दीर्घकालीन प्रयोग द्वारा किया जाता है। मानसिक रोग चिकित्सालय से छुट्टी मिलने के बाद भी रोगी को संरक्षण चिकित्सा मिलती रहनी चाहिए।

विखंडित मनस्कता रोग के मामलों में बहिरंग चिकित्सा की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि चिकित्सा का संगठन कार्य नियमनिष्ठ रूप से किया गया है। इसमें उपचारिका की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है, वह रोगी को उसके घर देखने के लिए नियमित रूप से जाती रहती है, और यह देखती है कि रोगी मनोवियोजी औषधि लगातार ले रहा है तथा चिकित्सक की सलाह का पूरी तरह अनुपालन कर रहा है।

दीर्घकालिक मनोवियोजी औषधि चिकित्सा में इंजेक्शन लगने की जगह पर अंतःसंचरण हो जाता है। पेशी ऊतक के वियोजन से होने वाले फोड़े को बनने से रोकने के लिए आवश्यक है कि एमीनाजीन इंजेक्शन लगाने वाली जगह को प्रतिदिन ध्यानपूर्वक देखा जाये। यदि मामूली सी भी अतिरिक्तता हो तो नितंबों को अति उच्च आवृत्ति धारा के प्रभावाधीन करने की सलाह दी जाती है।
है। अमीनाजीन को, विशेषकर ट्रिफ्टाजीन को, काफी समय तक लेते रहने से पेशी कठोरता, हाथों में कंप और अत्यधिक लार आने लगती है (अर्थात् पारकिन्सनता के संलक्षण होते हैं) अथवा इसके विपरीत, प्रेरक (मोटर) की बेचैनी की स्थिति आ जाती है, जिसमें कि नींद ठीक नहीं आती। 1.0 मि० ग्रा० बेन्जोक्सोल कई दिन तक लेते रहने से कठोरता ठीक हो जाती है। प्रेरक की बेचैनी कैफीन (0.1 ग्रा० दिन में एक या दो बार) लेने से या कोर्डीमीन (15 से 20 बूंद) और डाइमेड्रोल (0.03 ग्राम दिन में एक या दो बार) लेने से ठीक हो जाती है।

उन्माद-अवसादी मनोविक्षिप्ति

आवर्ती मनोविक्षिप्ति विकास से कभी उन्माद, तो कभी अवसाद होता है। इस रोग में पूरे समय तक कभी एक स्थिति तो कभी दूसरी स्थिति या केवल अवसादी अथवा केवल उन्मादी स्थिति की प्रक्रिया होती रहती है। रोग के एक चरण से दूसरे चरण तक रोग रहित अंतराल भी होता है तथा कार्यक्षमता भी पुनः पूरी तरह वापस आ जाती है और रोगी पहले की तरह अपना कामकाज करने लगता है, क्योंकि रोग में कोई भी असामान्य मानसिक प्रभाव नहीं होता है।

उन्मादी चरण में (चित्र 31) रोगी अतिशयित, सुखाभास सहित अच्छी मनोदशा में रहता है तथा उसमें विचारों की धारा तेजी से बहती रहती है। मन में विचार बहुत तेजी से आने के कारण रोगी अनवरत रूप से जोर-जोर से बोलता रहता है या गाता रहता है अथवा अपनी स्वयं की कविताओं का पाठ करता रहता है। वह

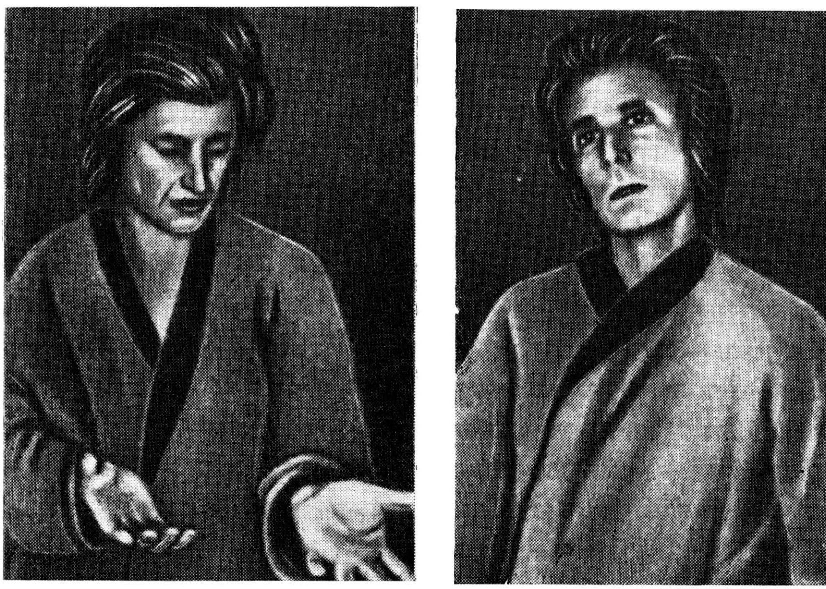
बहुत बेचैन रहता है। एक जगह पर एक मिनट तक के लिए बैठ नहीं सकता और हर समय कुछ न कुछ करते रहने का प्रयास करता है, वह आजिज करता रहता है, हर बात में टांग अड़ाता है। वह हर बात को गौर से देखता है और हर कुव्यवस्था की मीन-मेख निकालता है। यह उत्तेजना एक दिन और रात तक रहती है। रोगी दो से चार घंटे तक सोता है और कभी-कभी सारे समय जागता रहता है। यद्यपि ऐसे रोगी बराबर चलते रहते हैं पर उनका वजन कम नहीं होता है। बहुधा वे अपनी स्थिति को ठीक तरह से समझ नहीं पाते हैं और अनोखे व्यावसायिक अवसरों की बात करते रहते हैं। वे अपनी योग्यता (महान होने की मिथ्या भ्रान्ति) या अपने आप के बहुत सुन्दर होने की बात सोचते हैं।



चित्र 31. रोगी वर्तुल मनोविक्षिप्ति के उन्मादी चरण में।

अवसाद की स्थिति में रोगी की हालत उन्मादी स्थिति के बिल्कुल विपरीत होती है। उसकी मनोदशा अवसादग्रस्त हो जाती है। रोगी को गुस्सा चढ़ा रहता है और उसे स्थिति से निपटने का रास्ता नजर नहीं आता है तथा वह लगातार आत्महत्या करने का प्रयास करता रहता है। रात्रि में भी उसे शांति नहीं मिलती। रोगी सो नहीं पाता। सोचने की शक्ति की मन्दता के कारण वह प्रश्न का उत्तर देर से और केवल एक शब्द में देता है। रोगी व्यक्ति के चेहरे पर दीर्घकालिक पीड़ा का स्थायी भाव झलकता है (चित्र 32) । वह या तो सिर लटकाये बैटा रहता है या सारे समय लेटा रहता है। उसकी चाल बहुत ही धीमी होती है। रोगी अपने आप न तो उठ सकता है और न स्वयं हाथ-मुँह धो सकता है, न कपड़े पहन सकता है और न ही बिना किसी की सहायता के स्वयं भोजन ही कर सकता है। वह दावा करता है कि वह स्वयं अपराधी है, और अपने को किसी को मुँह दिखलाने के काबिल नहीं समझता और भोजन करने से इन्कार करता है। रोग के इस चरण में गंभीर कायिक विकार हो जाते हैं। त्वचा सूख जाती है। धमनी दाब बढ़ जाता है, भूख घट जाती

है। पेट और आंतें सिकुड़ जाती हैं, जिससे कि कोष्ठबद्धता हो जाती है। रोग के प्रथम लक्षण बाल्यकाल में भी (5 से 10 वर्ष की अवस्था तक) पहचाने जाते हैं। अवसाद विशेषकर बालकों में तीव्र होता है। उन्मादी स्थिति की अभिव्यक्ति व्यवहार, अस्थाई मनोदशा, चिड़चिड़ेपन और विचारों के प्रवाह में गतिहीनता से होती है। अवसादी और उन्मादी स्थिति वाले बच्चों को ऐसे मनोविकार विज्ञानी की देखरेख में रखना चाहिए जिसने बाल रोग में विशेषज्ञता प्राप्त की हो। अवसादी स्थिति वाले बच्चे को निश्चित रूप से चिकित्सालय में भर्ती कराया जाना चाहिए।



चित्र 32. रोगी अवसाद की दशा में।

इनकी उपचार विधि भी बड़ों की उपचार विधि के सामान होती है। प्रतिअवसादी औषधि की खुराक बच्चों के लिए बड़ों की अपेक्षा आधी या उससे भी कम होती है।

उपचार और देखभाल. अवसाद के उपचार के लिए प्रति अवसादी औषधियों का प्रयोग अधिकतर होता है। ये औषधि हैं, इमाइजीन (इमीप्रामीन) जो पहले 25 मि० ग्रा० की खुराक में निर्धारित की जाती है और धीरे-धीरे इसकी खुराक बढ़ाते-बढ़ाते 100 से 200 मि० ग्रा० तक कर दी जाती है तथा 10 मि० ग्रा० की खुराक में एमाइट्रिप्टलीन दिया जाता है। अवसाद और संताप से थोड़ा आराम तो औषधि लेने के पहले दिन से ही महसूस होने लगता है। हृद क्षिप्रता और कमजोरी की संवेदना इतर प्रभाव के रूप में हो सकती है। इसका उपचार एक महीने से दो महीने तक चलता है। हलके अवसाद के उपचार के लिए प्रयुक्त हलके उद्दीपक समूह की रूसी

ग्रौषधियों में मेरीडिल (मेथाइल फेनीडेट) उल्लेखनीय है जिसकी 10 से 15 मि० ग्रा० की दो या तीन खुराकें प्रतिदिन दी जाती हैं। दूसरी ग्रौषधि है एजेक्सोडोन जिसकी प्रतिदिन 25 से 100 मि० ग्रा० तक खुराक है। ग्रन्द्रिा को रोकने के लिए प्रति-ग्रवसादी ग्रौषधि प्रातः काल ग्रौर दिन में ली जाती हैं। यदि प्रति ग्रवसादी ग्रौषधियां प्रतिदिष्ट हैं (जिगर या तिल्ली तथा धमनी ग्रतिरिक्त दाब के रोगों में) या रोगी इन्हें सहन नहीं कर पाता है तो ग्रफीम के योग, शिवर में ग्राक्सीजन ग्रभिश्वसन ग्रौर 15 मिनट के गर्म स्नान (30° सें०) की सलाह दी जाती है।

कर्मचारी वर्ग को रोगी की शारीरिक स्थिति, उसके पोषण ग्रौर ग्रांत्रक्रिया पर ध्यान रखना चाहिए ग्रौर देखना चाहिए कि रोगी ग्रपने हाथ-पैर धोते हैं, मुँह दांत साफ करते हैं तथा ग्रपना मुँह साफ करते हैं या नहीं। रोगी व्यक्ति को बहुधा चम्मच से खिलाना पड़ता है ग्रौर पेट की सफाई के लिए रोज एनीमा देना पड़ता

ग्रवसादी चरण में रोगी पर लगातार चौबीसों घंटे नजर रखना ग्रावश्यक है, क्योंकि रोगी में ग्रात्महत्या करने का विचार बना रहता है। चिकित्सालय में भरती करना ग्रावश्यक होता है।

उन्मादी स्थिति वाले रोगी को मनोवियोजित ग्रौषधि वर्ग का उपचार देना चाहिए। इसकी प्रारंभिक खुराक 25 से 50 मि० ग्रा० के बीच होती है जो धीरे-धीरे बढ़ा कर 200–300 मि० ग्रा० तक की जाती है। दो से चार घंटे तक टब में स्नान लेने का हितकर प्रभाव होता है, पर हृदय की क्रिया पर कड़ी नजर रखी जाती है। ब्रोमाइड यौगिक (10 प्रतिशत सोडियम ब्रोमाइड घोल का एक चम्मच दिन में तीन बार दिया जाता है) ग्रौर 2.5 प्रतिशत मैग्नीशियम सल्फेट घोल की 5.0 मि० ली० मात्रा के ग्रंतरपेशीय इंजेक्शन से मनःप्रेरक उत्तेजना घट जाती है।

ग्रनिद्रा में मनोवियोजित ग्रौषधि (लेवोप्रोमाजीन ग्रौर निट्राजेपाम) 5.0 से 10.0 मि० ग्रा० दी जाती है। चिन्ता ग्रवसाद होने पर हल्का प्रशांतक (5.0 मि० ग्रा० डाइजापाम दिन में दो या तीन बार) लेने की सलाह दी जाती है।

रक्तधर वाहिकाग्रों के रोगों से मानसिक विकार

50 से 60 वर्ष की ग्रायु में, ग्रौर विशेषकर पुरुषों में, प्रमस्तिष्क वाहिका के थिरोकाठिन्य से संबंधित मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं। सिर की चोट, मदात्यय, संक्रमण ग्रौर धूम्रपान से यह रोग बढ़ सकता है। यह धीरे-धीरे बढ़ता है। प्रमस्तिष्क थिरोकाठिन्य के पूर्व लक्षण हैं—ग्रपसामान्य थकावट, ग्रनिद्रा, चिड़चिड़ाहट, सिर में भारीपन ग्रौर टिनिटस (कानों में शोर)। ग्रावेश ग्रस्थिरता इसका नियमित ग्रौर पूर्व लक्षण है। मामूली सी बात पर रोगी रोने लगता है ग्रौर फिर ग्रासानी से रोने की मुद्रा से विनोदी भाव की मुद्रा में ग्रा जाता है। इन लक्षणों के साथ ही जल्दी ही भुलक्कड़पन के लक्षण भी दिखने लगते हैं। रोगी ग्रपने परिचितों,

चीजों के नाम और घटनाओं तक को भूल जाता है। यहाँ तक कि ऐसी घटनाओं को भी भूल जाता है जो कि अभी-अभी या थोड़ा पहले घटी हों। स्मृति की अगामी अवनति से रोगी की काम करने की क्षमता घटती जाती है और उसे सिर में तेज पीड़ा और घुमनी का अनुभव होता है। रोगी को बहुधा अपनी विकारी स्थिति का ज्ञान होता है और वह अपनी कार्यक्षमता की अवनति पर विचार करता रहता है। बहुधा अवसाद बढ़ता जाता है और रोगी आत्महत्या करने की सोचता है। थिरो-काठिन्य वाला रोगी चिड़चिड़ा हो जाता है, इसलिये उस पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिये। रोग की प्रथम अवस्था में यदि रोगी कार्य और आराम का रोग निरोधी विधान बरतता रहे तथा आयोडीन के यौगिक लेता रहे तो रोगी की दशा काफी अच्छी रहती है।

मस्तिष्क के वाहिका रोगों, थिरोकाठिन्य का लक्षण "अस्थिर" है, जिससे कि रोगी की हालत दिन में, कभी-कभी घंटों में और मिनटों में बदलती रहती है। यदि स्थाई पक्षाघात, आंशिक घात, या अपस्मारी दौरे और मनोभ्रंश का आघात हुआ हो तो प्रमस्तिष्क थिरोकाठिन्य की तीव्र दशा में जटिलता आ जाती है। कुछ कायिक विकार भी देखे जाते हैं: जैसे कैचेक्सिया (क्षीणता), शय्याशोथ और हृद क्रिया का निर्बल होना।

उपचार. रोग की प्राथमिक अवस्था में रोगी को दूध और सब्जी की खुराक लेने की सलाह दी जाती है तथा मदिरा और धूम्रपान वर्जित किया जाता है। आयोडीन यौगिक (आयोडीन टिंचर की दूध में छः से आठ बूंदें भोजन के बाद दिन में दो बार) और कालर क्षेत्र में पोटैशियम आयोडीन लगाकर आयन संचालन करने का निर्देश दिया जाता है। हंगेरियन दवा रेताबोलील (अंतर्राष्ट्रीय नामः नांड्रोलोनी डेकानोआस) के अंतर्पेशी इंजेक्शन का दौर भी लाभकर होता है। मस्तिष्क में रक्त परिसंचार ठीक करने के लिये स्तुगेरोन (सिन्नारिजीन), काप्लामीन, कावितोन, त्रेंताल प्रयुक्त होते हैं। खनिज जल से चिकित्सा विधियों में कार्बन डायक्साइड स्नान का व्यवहार करते हैं। यदि धमनी दाब बढ़ता है तो वाहिका-विस्फोटक डाइबाजोल (हेट्रोसाइक्लिक मिश्रण के साथ बेन्जीन रेडिकल वाला हाइड्रोक्लोराइड लवण), पापावेरीन और नोस्पानुम, राउनाटीन लेने की सलाह दी जाती है। अवसाद में डाइजापाम (5.0 मि० ग्रा० दिन में क या दो बार), माइट्रिप्टालीन (1.0 मि० ग्रा० या इमाइजीन (15.9 मि० ग्रा०) का औषधि निर्देश दिया जाता है। दीर्घ स्थायी अनिद्रा में सोने ग पूर्व 5.0 मि० ग्रा० .मिनाजीन लेने की सलाह दी जाती है।

प्रत्यावर्तनी मनोविक्षिप्ति

ह्रास काल में होने वाले जटिल परिवर्तन प्रत्यावर्तन के अंतर्गत आते हैं। प्रत्यावर्तनी प्रकृति के मानसिक परिवर्तन बहुधा महिलाओं को होते हैं। जरा-पूर्व मनोविक्षिप्ति का नैदानिक लक्षण अवसाद या पैरानोइक प्रलाप और जरा मनोविक्षिप्ति है।

प्रत्यावर्तनी अवसाद में अवसादी मनोदशा और तीव्र चिन्ता के साथ विषाद होता है। रोगी सो नहीं सकता है। वह बराबर कुछ न कुछ, भयावह वेदना के बारे में सोचता रहता है और उसे अपने नजदीकी रिश्तेदारों के सिर पर संकट मंडराता दिखायी देता है। वह एकदम निराधार निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि उसके सम्बन्धी मर जायेंगे और वह स्वयं इस भावी विनाश का कारण है। अपने जीवन पर विचार करते हुए रोगी स्वयं को इस विनाश के लिये दोषी समझता है। रोग के तीव्र रूप में होने पर रोगी को स्वयं दोषी समझने का विभ्रम होता है। रोगी अपने को इस योग्य नहीं समझता है कि उसकी देखभाल की जाये या उसका ध्यान रखा जाये और वह कर्मचारी वर्ग की सहायता लेने से, यहाँ तक कि दवाई खाने से और भोजन करने तक से, इन्कार कर देता है। उसके व्यवहार का पता उसकी अवसादपूर्ण मनोदशा और अपराधी होने के विचार से लगता है। ऐसा रोगी लगभग सदैव ही प्रेरक उत्तेजना की स्थिति में रहता है, विभाग में इधर से उधर घूमता रहता है और अपने सिर को हाथों से दबाये रहता है। इस प्रकार से वह अपने अपराध के लिये सुनिश्चित सजा के खतरे और भयावह अपरिहार्य पीड़ाओं के भय को प्रकट करता है। जरा अवसाद के रोगी में आत्महत्या के विचार बहुत आते हैं। बहुधा वह अपनी मृत्यु का विचार अपने तक ही सीमित रखता है और पहले ही मौके पर आत्महत्या करने का प्रयास करता है। यह आवश्यक है कि चिकित्सा कर्मी कड़ी नजर और निगरानी रखें।

यदि रोगी भोजन करने से इंकार कर दे तो उसे भोजन कराने का प्रयास करना चाहिये, लेकिन यदि यह प्रयास सफल न हो तो नली द्वारा कृत्रिम पद्धति से उसे खाना दिया जाना चाहिये। इस विधि की तकनीक मनोविकारी रोगियों की देखभाल वाले प्रकरण में दी गयी है।

जरा पैरनोइड. अवसाद और चिन्ता की पृष्ठभूमि में रोगी को ईर्ष्या और उत्पीड़न के विभ्रम का अनुभव होता है। ऐसे रोगियों को यह विश्वास होता है कि कोई उन्हें मार डालना चाहता है या विष देना चाहता है। अधिकतर इन विभ्रमित अनुभवों में पड़ोसी, परिचितों और यहाँ तक कि अपने परिवार के सदस्यों तक से रोगी को भय लगा रहता है। ऐसे रोगियों में श्रवण भ्रान्ति और विभ्रम होते रहते हैं। रोगी को द्वार खटखटाने की, धक्का देने की और बातचीत की आवाजें सुनायी देती हैं।

उपरोक्त वर्णित मानसिक विकार कुछ महीने से लेकर तीन से चार वर्ष तक रहते हैं और कुछ रोगी एकदम चंगे हो जाते हैं और उनमें इस रोग का तनिक भी चिन्ह नहीं रह जाता। ऐसे जरा मनोविक्षिप्ति वाले रोगों के साथ यदि प्रमस्तिष्क ऐथिरोकाठिन्य भी हो जाये तो यह बहुत समय तक चलता रहता है।

उपचार. जरा अवसाद और भ्रान्ति वाले रोगियों को उपचार हेतु मनोविकारी चिकित्सालय में भेजना चाहिये। यह जरूरी है कि उनकी शारीरिक हालत की ध्यानपूर्वक देखभाल की जाये और यह निश्चित किया जाये कि रोगी पर्याप्त भोजन करे तथा

उनका पेट साफ रहे। उत्तेजना और चिन्ता होने पर समोष्ण जल स्नान लेने की सलाह दी जाती है और प्रति खुराक साइकोट्रोप औषधियाँ 5.0 मि० ग्रा० डाइजेपाम दिन में एक से तीन बार; लेवोप्रोमाजिन (25 मि० ग्रा०) या एमीनाजीन (25 मि० ग्रा०) सोने से पहले निर्देशित की जाती है। प्रत्यवसादक औषधियों का आजकल सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाता है: जैसे इमाइजीन की दैनिक खुराक 25 से 100 मि० ग्रा० और 200 मि० ग्रा० एमिनाजीन से मिला कर दिया जाता है।

तेजी से बढ़ता हुआ मस्तिष्कशोथ जरा मनोविक्षिप्ति के अंतर्गत आता है और इस से मनोभ्रंश होता है। जरा मनोविक्षिप्ति अपेक्षाकृत कम पायी जाती है। पहले स्मृति कम होती है। रोगी अन्यमनस्क और भुलक्कड़ हो जाते हैं। उनको हाल की सूचना भी याद नहीं रहती है। वे तिथियाँ, लोगों और चीजों के नाम तक भूल जाते हैं। वे हाल में घटी घटनाओं को याद नहीं कर पाते। वे अपने और अपने सम्बन्धियों तक को नहीं पहचान पाते। स्मृति के अंतरालों को गल्पन से भरा जाता है। रोगी अपनी हालत की विवेचना नहीं कर पाता है और उसे गंभीर मनोभ्रंश हो जाता है। उसका व्यवहार बेतुका हो जाता है: रोगी गड़बड़ी करने वाले हो जाते हैं। वे जूठन और कूड़ा–कबाड़ एकत्रित करने लगते हैं। आवेश क्षेत्र में भी परिवर्तन हो जाता है, उच्च और सूक्ष्म आवेशों का अभाव हो जाता है। रोगी अपने आचरण में अकुशल, स्वार्थी तथा दूसरों की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन हो जाता है। वह अपने लुटे जाने की मिथ्या भ्रान्ति व्यक्त करता है, या रोग भ्रमी आचरण करता है तथा घोषित करता है: "मेरे शरीर के सभी अंग विघटित हो गये हैं, मेरे पेट और अंतड़ी ही नहीं है।" बढ़ती हुई क्षीण बुद्धिक्षमता के साथ शारीरिक जराक्षीणता भी होती जाती है सामान्य कशकायता विकसित होती है तथा अस्थि भंगुरता होती है। ऐसे रोगियों की देखभाल करनी चाहिये क्योंकि वे ढीले-ढाले होते हैं तथा उन्हें शैय्या शोथ हो सकता है।

रोग के किसी भी चरण में होनेवाली मनोप्रेरक उत्तेजना होने पर 25 से 50 मि० ग्रा० ऐमिनाजीन का इंजेक्शन देने से आराम मिलता है।

अपस्मार

हाल के वर्षों में "असली" अपस्मार की धारणा काफी सीमित हो गयी है। यह उन रोगों में होता है जिन में कभी-कभी पड़ने वाले दौरों के साथ व्यक्तित्व का अधिकाधिक अपकर्ष होता है। ये दौरे बचपन में अकारण शुरू हो जाते हैं। बहुत से रोगियों में अपस्मार इस बात का लक्षण है कि मस्तिष्क में अर्बुद है या अभिघात, तानिका शोथ और मस्तिष्क शोथ का अवशेषी प्रभाव है। अपस्मार का मुख्य लक्षण है आक्षेपी दौरा पड़ने के साथ चेतना का लोप या अक्षचेतन स्थिति का होना।

अपस्मारी रोग के कारण अभी तक एकदम स्पष्ट नहीं हैं। कई मामलों में जन्म

के समय लगी चोट के कारण या अंतर्गर्भाशिय जीवन में या शैशवावस्था में हुए मस्तिष्क शोथ के कारण पड़ते हैं। अक्सर अपस्मारी रोगी के माता-पिता में तंत्रिका मानसिक रोग का या मदात्यय का इतिहास मिलता है। यह सुझाया गया है कि चयापचयी विकार और वर्धीवाहिका तंत्र में होने वाले विचित्र परिवर्तन अपस्मारी की क्रिया-विधि को विकसित करने में सहायक होते हैं। कुछ शोधकर्ता अपस्मारी दौरे के मूल और प्रमस्तिष्क वाहिका के आकर्ष में सम्बन्ध बैठाते हैं, जिसकी पुष्टि अपस्मारी रोगियों के मस्तिष्क की शल्य चिकित्सा के दौरान की गयी।

अपस्मारी के रोगी का मुख्यत: आडम्बरपूर्ण, हुज्जती और उकताऊ किस्म का चरित्र होता है। प्रमुख बातों को गौण बातों से अलग कर पाने में अक्षम होने के कारण वे नगण्य सी बातों पर अटक जाते हैं, हर बात में हस्तक्षेप करते हैं और मुँह से किसी काल्पनिक न्याय की लगातार वकालत करते हैं। चरित्र की ये प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हो सकती हैं कि रोगी व्यक्ति रोज-ब-रोज के जीवन में असहनीय हो जाय। अपस्मार के रोगी व्यक्तित्व में होने वाले विशिष्ट परिवर्तन अक्सर तब रोग का निदान करने में सहायक होते हैं, जब उस के दूसरे लक्षण, दौरे, अस्पष्ट होते हैं।

निष्क्रियता अपस्मार के रोगी के चरित्र की प्रवृत्तियों में से एक है। रोगी के लिये अपनी पुरानी आदतों, पुरानी चीजों और पुराने विचारों को छोड़ना कठिन होता है और वह उन्हीं एक ही तरह के प्रभावों और भावनात्मक अनुभवों से चिपका रहता है। उसकी रुचियों का दायरा धीरे-धीरे संकुचित होता जाता है और उसकी मेधा में गिरावट आती है।

अपस्मारी रोगी बहुधा अत्यधिक नम्र, मधुर और मिठबोले होते हैं, पर वास्तव में वे भावशून्य, स्वार्थी, विद्वेषी, ईर्ष्यालु, प्रतिशोधी और अत्यन्त क्रोधी होते हैं। वे बहुधा बहुत ही धर्मनिष्ठ होते हैं तथा उनका झुकाव अन्धविश्वास और रहस्यवाद की ओर होता है। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिये कि व्यक्तित्व में ऐसे गंभीर परिवर्तन अपस्मार वाले सभी लोगों में नहीं होते।

अपस्मार का दौरा चेतना के एकाएक लोप हो जाने के साथ शुरू होता है। रोगी व्यक्ति जमीन पर गिर पड़ता है और बहुधा मुँह के बल गिरता है और उसे चोट लग सकती है। तान के साथ प्राक्षेपों का दौरा पड़ता है। ऊपरी और निचले अंगों की पेशियाँ तन जाती हैं। इसके बाद अवमोड़न चरण आता है, अंगों की गति का तीव्र आक्षेपी आकुंचन और प्रसार होता है, चेहरे और जिह्वा की पेशियों में आकर्ष होता है और जीभ कट जा सकती है तथा मुँह में लार इकट्ठी हो जाती है जो कि झाग बनकर मुँह से बाहर निकलती है। यदि रोगी अपनी जीभ काट लेता है तो लार में खून के दाग होते हैं। आकर्ष से श्वसन पेशियाँ भी प्रभावित होती हैं और श्वसन में कठिनाई होती है; पहले तो रोगी का चेहरा पीला पड़ जाता है और उसके बाद श्याव हो जाता है। उसकी आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं और उनपर प्रकाश की प्रतिक्रिया नहीं होती। दौरा पड़ने पर मूत्र और कभी-कभी मल भी निकल

जाता है। दौरा बहुधा डेढ़ मिनट से दो मिनट तक रहता है और इस के बाद विसारित संदमन होता है। निद्रा कई घंटों तक चलती है। रोगी जब जागता है तो उसे प्रायः यह याद नहीं आता है कि उसके साथ क्या हुआ है। कुछ रोगी दौरा पड़ने के बाद दो-तीन दिन तक चिड़चिड़े और क्लांत रहते हैं। वे जल्दी थक जाते हैं और उनको सिर दर्द होता है तथा मानसिक क्रिया विलम्ब से होती है।

कभी-कभी अपस्मारी दौरा केवल रात में पड़ता है जब रोगी सो रहा हो। उसे अपने दौरा पड़ने का पता तभी चलता है, जब कोई उसे इस बात को बताये।

बहुधा दौरा पड़ने के कुछ सेकेन्ड पहले रोगी को गर्मी लगती है और उसे **अपस्मारी पूर्वाभास** का अनुभव होता है, जो नानाविध संवेदनों के रूप में होता है। इस या उस भाग में अरुचिकर अपसंवेदन, निश्चित गंध, दृष्टि या श्रवण के संवेदन। कभी-कभी पूर्वाभास के दौरान अपने आस-पास की चीजें अपने असली आकार की अपेक्षा छोटी या बड़ी या फिर विरूपित लगती हैं। पूर्वाभास में थोड़ी देर के लिये श्रवण शक्ति एक या दूसरे कान में कमजोर हो जाती है। कानों में सीटी का संवेदन होता है या रोगी कल्पना करता है कि कोई उसका नाम लेकर उसे पुकार रहा है। अन्ततः, पूर्वाभास का विचित्र अनुभव होता है। रोगी को यह लगता है जैसे कि उस जगह को उसने पहले भी कभी देखा है, और उसके आसपास की चीजें उसी तरीके से व्यवस्थित की गयी हैं और वही बातचीत पहले भी हो चुकी है तथा यह कि उसे ऐसा ही अनुभव इससे पहले भी हो चुका है। उसे ठीक से याद नहीं आता है कि यह घटना ठीक-ठीक कब और कहाँ घटी थी। पूर्वाभास बहुधा कुछ सेकेन्ड तक रहता है, और कभी-कभी ज्यादा देर तक भी। रोगी को पूर्वाभास में इतना समय मिल जाता है कि वह अपने बिस्तर तक पहुँच सके या अपने दौरे पड़ने की पूर्व-सूचना वह अपने आसपास के लोगों को दे सके। कभी-कभी यह पूर्वाभास तक ही सीमित रह जाता है और दौरा नहीं पड़ता है।

अपस्मारी दौरे की क्रिया-विधि बहुत ही जटिल है और इससे सम्बन्धित अधिकतर बातें अभी तक स्पष्ट नहीं हैं। व्यक्ति के मन विश्लेषक का प्रान्तस्था भाग अपस्मार होने पर उत्तेजना की स्थिति में होता है। किसी अतिरिक्त उद्दीपक के प्रभाव से यह बढ़ी हुई आक्षेपी सतर्कता अपस्मारी दौरे में बदल जाती है। प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था में उत्तेजना प्रक्रिया की प्रचंडता और विस्फोटकता अपस्मार के रोगी का लक्षण है।

अपस्मार के बड़े आक्षेपी दौरे के अतिरिक्त, हल्के दौरे भी पड़ सकते हैं, जो अपने स्वरूप में अत्यंत विविधतापूर्ण होते हैं। छोटे दौरे का मुख्य लक्षण यह है कि रोगी की चेतना तत्काल लुप्त हो जाती है। रोगी के आस-पास के लोग यह देखते हैं कि उसने कुछ सेकेन्डों के लिये बोलना एकदम बन्द कर दिया है, फिर किसी बिन्दु पर खाली निगाह जमाता है, जैसे कि वह वहाँ मौजूद ही नहीं और उसके कुछ देर बाद फिर बातचीत ऐसे शुरू कर देता है जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। बहुत ही कम रोगियों को छोटा दौरा पड़ने के बाद थकान और कमजोरी महसूस होती है।

बड़े और छोटे दौरे के बीच विभिन्न प्रकार के अंतर्वर्ती रूप होते हैं। कभी-कभी रोगी एकाएक मूर्छित हो जाता है, जमीन पर गिर पड़ता है और उसके चेहरे तथा अंगों की पेशियों में आक्षेप होता है। दौरे में कभी-कभी चेतना लुप्त हो जाती है और रोगी इधर-उधर भागने का प्रयास करता है।

अपस्मारी रोगी में काफी समय के लिये अर्धचेतन स्थिति भी रह सकती है, जिस में कि रोगी बिना समझे-बूझे कार्य करता रहता है। वह सब के सामने अपने कपड़े उतार सकता है। या कपड़े पहने हुए पानी में कूद सकता है, आदि। अर्धचेतन स्थिति में रोगी किसी दूसरे नगर को चला जा सकता है, या वह अपने को किसी अपराध का भागी बना सकता है, जैसे रास्ता चलते समय किसी आदमी को मारना या किसी के घर में आग लगा देना। अर्धचेतन स्थिति से उबरने के बाद रोगी को कुछ याद नहीं रहता है। अर्धचेतन स्थिति की अभिव्यक्ति तेज मन प्रेरक उत्तेजना से होती है। इसमें अथाह डर लगता है या डरावने सपने आते हैं जो रोगी को आक्रामी कार्य करने के लिये प्रेरित करते हैं। यह स्थिति कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक रहती है।

आपस्मारी रोगियों में आवेशी विकार भी हो सकते हैं, रोगी एकाएक, अकारण ही विद्वेषी बन जाते हैं और साथ ही दोषान्वेषी, बहुत ही चिड़चिड़े और आक्रामक हो जाते हैं। उदाहरण के लिये एक पुरुष रोगी, जो मृदुभाषी और अत्यंत विनम्र था, कभी-कभी उत्तेजित हो जाता था और थूकता था। वह कहता था कि वह गुस्से से भरा हुआ है। वह अपनी मुट्टियाँ जकड़े हुए गलियारे में इधर-उधर घूमता था या अपने बिस्तर पर पड़े-पड़े कहता था, "मेरे पास मत आओ, नहीं तो मैं तुम्हें जान से मार दूँगा"। कुछ समय के बाद सब शांत हो जाता था, उसे अपने सारे शरीर में मचक सी महसूस होती थी और वह सो जाता था।

सोने के लिये अनियंत्रित इच्छा, तन्द्रालुता के दौरे अनुकूल अवस्था समझी जाती है। रोगी को निद्रालुता की विचित्र अवस्था का अनुभव होता है। यह अनुभव कभी-कभी दिन में भी होता है, जिसका रोगी दमन नहीं कर पाता है। कुछ मिनट या सेकेन्डों तक वह अपनी आँखें बन्द करके अचल रहता है। वह अपनी हालत का बिस्तार से वर्णन करता है।

यदि अपस्मारी दौरे एक के बाद एक पड़ते रहें और दो दौरों के बीच अंतराल इतना कम हो कि रोगी की चेतना वापस न आये तो सतत अपस्मार हो जाता है जो कि घंटों से लेकर कई दिनों तक रह सकता है। यह अवस्था बहुत ही खतरनाक है और ऐसे में आपत्कालीन उपचार की आवश्यकता होती है।

अपस्मारी रोगी दौरे के अंतराल में पूर्ण रूप से स्वस्थ होते हैं, शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूपों में। यह अधिकतर ऐसे रोगियों पर लागू होता है जिन्हें दौरा कभी-कभी पड़ता है। जिन रोगियों को दौरा जब-तब पड़ता रहता है, उनमें विशेषकर मानसिक विकार देखे जाते हैं।

यदि अपस्मार रोग बाल्यकाल से हो तो तेज दौरा न पड़ कर वृद्धि रोधी दौरे का दबदबा रहता है, जिसमें अभ्रसंज्ञा की पृष्ठभूमि में आक्षेप बहुधा होते हैं। परन्तु तानी आक्षेप को अवमोड़नी आक्षेप स्थान्नापन्न नहीं करते हैं। बच्चे में अपस्मारी दौरा रूढ़िबद्ध गति वाली मूर्च्छा के समान होता है यानी वह अपने धड़ को अक्ष पर मरोड़ता रहता है। एक ही शब्द को बार-बार दोहराता रहता है।

बच्चों में अपस्मारी दौरे के तुल्य की अभिव्यक्ति मनोदशा में होने वाले आकस्मिक तीव्र परिवर्तनों से होती है। बच्चा सनकी और विद्वेषी हो जाता है। वह डर की अनुभूति के साथ जागता है और कहीं दूर भाग जाने का प्रयास करता है।

उपचार. अपस्मार के उपचार में ऐसी औषधियों का प्रयोग होता है जो तंत्रिकातंत्र की उत्तेजना को कम करती है और जिन का आक्षेपरोधी प्रभाव पड़ता है। ये औषधियाँ हैं फेनोबारबिटल (0.05 से 0.1 ग्रा० सोने से पहले या सुबह और शाम), डाइफेनाइन (डाइफेनाइल हाइडेन्टोन सोडियम) (0.1 ग्रा० दिन में तीन बार प्रति दिन), क्लोराकोन (1.0 ग्रा० प्रतिदिन तीन बार)। हाल ही में, हेक्सामिडीन (प्रिमीडोन) (0.25 ग्रा० प्रतिदिन तीन बार) और कार्बामाजेपीन (100 से 200 मि० ग्रा० दिन में एक या दो बार) दिये जा रहे हैं।

अपस्मार के उपचार में निम्न दवाएं भी कारगर होती हैं: क्लोनाजेपाम, फेनोबारबिटल, बेंजोनाल, क्लोराकोन। रोगी को निर्जलकारी साधन अवश्य देते हैं (डियामोक, हाइपोटियाजीड आदि)। कभी-कभी विषहारी इलाज भी करते हैं। इसके लिये टियोसोडियम टियोसल्फेट, उनितोल, ग्लुटामीन अम्ल आदि देते हैं और साधारण नमक के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाते हैं।

अपस्मार का उपचार कई वर्षों तक चलता है। इसका मुख्य सिद्धांत है कार्यविधि का विशिष्टीकरण करना तथा सर्वाधिक प्रभावी औषधि को चुनना, तथा उपचार में क्रमभंग न होने देना।

अपस्मारी रोगियों का विशेष पथ्यापथ्य नियमों का पालन करना चाहिये, उन्हें अत्यधिक थकान, रात्रि में कार्य करने धूम्रपान से बचना चाहिये, भोजन में मिर्च मसाले नहीं लेने चाहिये तथा मदिरापान नहीं करना चाहिये। ठीक दिनचर्या और नियमित उपचार से रोगी की हालत में सुधार होता है और अपस्मारी दौरे की संख्या घट जाती है।

जब कोई बड़ा अपस्मारी दौरा पड़ता है, तो रोगी के कपड़े ढीले कर देना आवश्यक है (जैसे कालर और पेटी आदि) और उसके सर के नीचे कुछ मुलायम चीज रखनी चाहिये जिससे कि कोई गंभीर चोट न लग सके। रोगी को पकड़कर बैठाना निषिद्ध है। जब आक्षेप खत्म हो तो रोगी को बिस्तर पर लिटा देना चाहिये।

मनः प्रेरक उत्तेजना वाली अर्धचेतन दशा वाले रोगी को आपत्कालीन उपचार देना चाहिये। क्लोरल हाइड्रेट (2 से 3 ग्रा० प्रति 50 मि० ली० जल में दिन में एक या दो बार) या हेक्सानल (25 मि० ली० जल में 1 ग्राम गुदा द्वारा या 10

मि० ली० डिस्टिल्ड जल में 1 ग्राम अंतरशिरा मे) देने की सलाह दी जाती है। 0.5 प्रतिशत सेडुक्सीन का 4–6 मि० लि० (20–30 मि० ग्रा०) का अंतर्शीरा साधन भी लाभकर है। बच्चों के लिये इसकी मात्रा रोगी – 10 मि० ग्रा०, पर इसके साथ 40% ग्लुकोज घोल का 20 मि० लि० अवश्य देना चाहिये। यदि ये उपाय निरर्थक सिद्ध हों और दौरे खत्म नहीं हों तो कटिवेधन करना पड़ता है।

आक्षेपी दौरों की अभिव्यक्ति बहुधा मस्तिष्क की विभिन्न कायिक क्रियाओं से होती है। उदाहरण के लिये, मस्तिष्क में अर्बुद होने पर या प्रमस्तिष्क कपाल की चोट होने पर आक्षेपी दौरे लाक्षणिक होते हैं। ऐसे रोगियों में पेशी समूह में ऐंठन शुरू होने के साथ दौरा पड़ता है, यानी चेहरे पर, ऊपरी और निचले अंगों में चेतना का लोप हुए बिना ऐंठन होती है। प्रान्तस्था में उद्दीपन धीरे-धीरे प्रदीप्त होता है और विभिन्न पेशियाँ आक्षेपों में भाग लेती हैं जिसके फलस्वरूप सामान्य दौरा पड़ सकता है। इस दौरे को जेक्सन का अपस्मारी दौरा कहते हैं। इन रोगियों में मस्तिष्क के अर्बुद या मस्तिष्क अथवा तानिकाओं में पश्चअभिघातज क्षत चिन्ह द्वारा प्रेरित उत्तेजना का सीमित फोकस होता है। दौरे के मुख्य कारक (अर्बुद, क्षतचिन्ह, या आगन्तुक शल्य) को निकाल कर और अति आक्षेपी औषधि चिकित्सा द्वारा उपचार किया जाता है।

चिकित्सा कर्मचारियों को हिस्टीरिया आक्षेप से अपस्मारी दौरे के अंतर को पहचानना चाहिये, क्योंकि अपस्मारी के लक्षण बहुधा स्पष्ट नहीं होते।

अपस्मारी दौरे में पूरी तरह से चेतना लोप हो जाता है। जमीन पर गिरने से रोगी को चोट लग सकती है, वह अपने आपको जला सकता है या खुद को कोई और चोट लगा सकता है। अर्धचेतन स्थिति में होने के कारण रोगी बेवकूफी के कार्य करता है जो उसके अपने लिये तथा दूसरों के लिये खतरनाक हो सकते हैं। यह स्पष्ट है कि अपस्मार रोगी की चिकित्सा कर्मियों को निरंतर देखभाल करनी चाहिये। यदि रोगी की पुतली पर प्रकाश की अनुक्रिया न हो, पुतली प्रकाश पड़ने पर संकुचित न हो तो यह रोगी के अचेत होने का यथार्थ प्रमाण है।

हिस्टीरिया के दौरे में रोगी की चेतना का लोप नहीं होता और नेत्र की पुतली पर अनुक्रिया होती है। वह जमीन पर नहीं गिरता और मलमूत्र त्याग अनैच्छिक रूप से नहीं होता और न ही रोगी अपनी जीभ काटता है। हिस्टीरिया का दौरा काफी देर के लिये होता है, इस में रोगी बड़बड़ाता रहता है या चिल्लाता रहता है। चिकित्सा कर्मियों की मौजूदगी में अवमोटनी आक्षेप के अतिरिक्त कृत्रिमता और घनीभूतीकरण होता है। अस्वाभाविक गतियों का निश्चित अर्थ और रूप होता है और इससे रोगी के आवेश प्रकट होते हैं। हिस्टीरिया के दौरे के बाद गहरी नींद नहीं आती है। दौरे और उससे पूर्व के आवेश अभिघात के संबन्ध को सदैव ही नैदानिक संकेत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी-कभी अपस्मारी दौरा भावावेशों द्वारा प्रेरित होता है।

अपस्मारी दौरा पड़ने के बाद रोगी संभ्रमित और आचरण की सीमा से परे होता है। उसके लिये बोल पाना कठिन होता है और उसकी निगाह एक बिन्दु पर टिकी रहती है। हिस्टीरिया में रोगी आँखों का सफेद दाग दिखलाता है और पुतली को आँखों के किनारे की ओर घुमाता है। उस की पलकों को उठाया नहीं जा सकता है, क्योंकि वह बलपूर्वक इसे बन्द रखता है।

शिशुओं में अपस्मारी संलक्षण विभिन्न घटकों के कारण आसानी से सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिये शिशुओं में पराथाइराइड ग्रन्थि की अपूर्णता होने पर चयापचयी विकारों के द्वारा तानी और अवमोटनी आक्षेप प्रेरित किये जा सकते हैं। इस रोग को स्पास्मोफीलिया कहते हैं, जो कि शिशुओं को होता है। तीन वर्ष की अवस्था तक पहुँचने पर बच्चा इस रोग से पूरी तरह स्वस्थ हो जाता है और रोग का कोई अवशेष नहीं रह जाता है। स्पास्मोफीलिया से पीड़ित रोगी का उपचार कोडलिवर आयल, फास्फोरस योग और विटामिन ए० बी० सी० और डी० से किया जाता है।

आक्षेपी दौरों के साथ बहुधा तीव्र संक्रमण विभिन्न प्रकार की मादकता और कृमि का प्रहार होता है। अंततः आक्षेपी दौरे के साथ-साथ तंत्रिकातंत्र के कायिक रोग भी हो सकते हैं (मेनिंगो मस्तिष्क शोथ, जल तानिकाशोथ)। जिस सरलता से आक्षेपी संलक्षण बाल्यकाल में मिलते हैं उसका सम्बन्ध संदमन क्रिया के अपूर्ण विकास से और प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था की उत्तजना के विकरण से होता है।

विक्षिप्ति

विक्षिप्ति का मूल कारक मनोवृत्ति की अव्यवस्था है, जिस की अभिव्यक्ति विभिन्न विकारी स्थितियों द्वारा होती है। ये स्थितियाँ ऐसे हालात के कारण होती हैं जो मानस पर अभिघातज प्रभाव डालती हैं। विक्षिप्ति को आधिज रोग समझा जाता है। मानसिक रोगों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण के अनुसार विक्षिप्ति रोग समूहों को पृथक किया जाता है। इन में से तीन रूप महत्वपूर्ण हैं—तंत्रिकावसाद, मनोग्रस्ति विक्षिप्ति और हिस्टीरिया।

तंत्रिकावसाद का रोग तंत्रिका तंत्र के प्रति आभास के कारण होता है। इसके नैदानिक चित्र में एक ओर तो बढ़ी हुई उत्तेजना के लक्षण होते हैं और दूसरी ओर क्लांति होती है। एक रोगी में बढ़ी हुई उत्तेजना के और दूसरे में थकान के लक्षण हो सकते हैं। इस प्रकार की तंत्रिका उत्तेजनों के लक्षणों में चिड़चिड़ापन, अपसामान्य क्लांति अश्रुपूर्णता होती है। तंत्रिकावसादी रोगियों के लिये अपने आवेश को दबा पाना अत्यन्त कठिन होता है। उन के लिये किसी बात की प्रतीक्षा करना असहनीय होता है। प्रकाश और ध्वनि के जिन उद्दीपकों का स्वस्थ मनुष्य आदी होता है तंत्रिकावसादी रोगी उनके प्रति अतिसुग्राही होता है: दरवाजों का भड़भड़ाना, चलने की आवाज, सड़क

मि० ली० डिस्टिल्ड जल में 1 ग्राम अंतर्शिरा में) देने की सलाह दी जाती है। 0.5 प्रतिशत सेडुक्सीन का 4–6 मि० लि० (20–30 मि० ग्रा०) का अंतर्शीरा साधन भी लाभकर है। बच्चों के लिये इसकी मात्रा होगी – 10 मि० ग्रा०, पर इसके साथ 40% ग्लुकोज घोल का 20 मि० लि० अवश्य देना चाहिये। यदि ये उपाय निरर्थक सिद्ध हों और दौरे खत्म नहीं हों तो कटिवेधन करना पड़ता है।

आक्षेपी दौरों की अभिव्यक्ति बहुधा मस्तिष्क की विभिन्न कायिक क्रियाओं से होती है। उदाहरण के लिये, मस्तिष्क में अर्बुद होने पर या प्रमस्तिष्क कपाल की चोट होने पर आक्षेपी दौरे लाक्षणिक होते हैं। ऐसे रोगियों में पेशी समूह में ऐंठन शुरू होने के साथ दौरा पड़ता है, यानी चेहरे पर, ऊपरी और निचले अंगों में चेतना का लोप हुए बिना ऐंठन होती है। प्रान्तस्था में उद्दीपन धीरे-धीरे प्रदीप्त होता है और विभिन्न पेशियाँ आक्षेपों में भाग लेती हैं जिसके फलस्वरूप सामान्य दौरा पड़ सकता है। इस दौरे को जेक्सन का अपस्मारी दौरा कहते हैं। इन रोगियों में मस्तिष्क के अर्बुद या मस्तिष्क अथवा तानिकाओं में पश्चअभिघातज क्षत चिन्ह द्वारा प्रेरित उत्तेजना का सीमित फोकस होता है। दौरे के मुख्य कारक (अर्बुद, क्षतचिन्ह, या आगन्तुक शल्य) को निकाल कर और अति आक्षेपी औषधि चिकित्सा द्वारा उपचार किया जाता है।

चिकित्सा कर्मचारियों को हिस्टीरिया आक्षेप से अपस्मारी दौरे के अंतर को पहचानना चाहिये, क्योंकि अपस्मारी के लक्षण बहुधा स्पष्ट नहीं होते।

अपस्मारी दौरे में पूरी तरह से चेतना लोप हो जाता है। जमीन पर गिरने से रोगी को चोट लग सकती है, वह अपने आपको जला सकता है या खुद को कोई और चोट लगा सकता है। अर्धचेतन स्थिति में होने के कारण रोगी बेवकूफी के कार्य करता है जो उसके अपने लिये तथा दूसरों के लिये खतरनाक हो सकते हैं। यह स्पष्ट है कि अपस्मार रोगी की चिकित्सा कर्मियों को निरंतर देखभाल करनी चाहिये। यदि रोगी की पुतली पर प्रकाश की अनुक्रिया न हो, पुतली प्रकाश पड़ने पर संकुचित न हो तो यह रोगी के अचेत होने का यथार्थ प्रमाण है।

हिस्टीरिया के दौरे में रोगी की चेतना का लोप नहीं होता और नेत्र की पुतली पर अनुक्रिया होती है। वह जमीन पर नहीं गिरता और मलमूत्र त्याग अनैच्छिक रूप से नहीं होता और न ही रोगी अपनी जीभ काटता है। हिस्टीरिया का दौरा काफी देर के लिये होता है, इस में रोगी बड़बड़ाता रहता है या चिल्लाता रहता है। चिकित्सा कर्मियों की मौजूदगी में अवमोटनी आक्षेप के अतिरिक्त कृत्रिमता और घनीभूतीकरण होता है। अस्वाभाविक गतियों का निश्चित अर्थ और रूप होता है और इससे रोगी के आवेश प्रकट होते हैं। हिस्टीरिया के दौरे के बाद गहरी नींद नहीं आती है। दौरे और उससे पूर्व के आवेश अभिघात के संबन्ध को सदैव ही नैदानिक संकेत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी-कभी अपस्मारी दौरा भावावेशों द्वारा प्रेरित होता है।

अपस्मारी दौरा पड़ने के बाद रोगी संभ्रमित और आचरण की सीमा से परे होता है। उसके लिये बोल पाना कठिन होता है और उसकी निगाह एक बिन्दु पर टिकी रहती है। हिस्टीरिया में रोगी आँखों का सफेद दाग दिखलाता है और पुतली को आँखों के किनारे की ओर घुमाता है। उस की पलकों को उठाया नहीं जा सकता है, क्योंकि वह बलपूर्वक इसे बन्द रखता है।

शिशुओं में अपस्मारी संलक्षण विभिन्न घटकों के कारण आसानी से सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिये शिशुओं में पराथाइराइड ग्रन्थि की अपूर्णता होने पर चयापचयी विकारों के द्वारा तानी और अवमोटनी आक्षेप प्रेरित किये जा सकते हैं। इस रोग को स्पास्मोफीलिया कहते हैं, जो कि शिशुओं को होता है। तीन वर्ष की अवस्था तक पहुँचने पर बच्चा इस रोग से पूरी तरह स्वस्थ हो जाता है और रोग का कोई अवशेष नहीं रह जाता है। स्पास्मोफीलिया से पीड़ित रोगी का उपचार कोडलिवर आयल, फास्फोरस योग और विटामिन ए० बी० सी० और डी० से किया जाता है।

आक्षेपी दौरों के साथ बहुधा तीव्र संक्रमण विभिन्न प्रकार की मादकता और कृमि का प्रहार होता है। अंततः आक्षेपी दौरे के साथ-साथ तंत्रिकातंत्र के कायिक रोग भी हो सकते हैं (मेनिंगो मस्तिष्क शोथ, जल तानिकाशोथ)। जिस सरलता से आक्षेपी संलक्षण बाल्यकाल में मिलते हैं उसका सम्बन्ध संदमन क्रिया के अपूर्ण विकास से और प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था की उत्तजना के विकरण से होता है।

विक्षिप्ति

विक्षिप्ति का मूल कारक मनोवृत्ति की अव्यवस्था है, जिस की अभिव्यक्ति विभिन्न विकारी स्थितियों द्वारा होती है। ये स्थितियाँ ऐसे हालात के कारण होती हैं जो मानस पर अभिघातज प्रभाव डालती हैं। विक्षिप्ति को आधिज रोग समझा जाता है। मानसिक रोगों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण के अनुसार विक्षिप्ति रोग समूहों को पृथक किया जाता है। इन में से तीन रूप महत्वपूर्ण हैं–तंत्रिकावसाद, मनोग्रस्ति विक्षिप्ति और हिस्टीरिया।

तंत्रिकावसाद का रोग तंत्रिका तंत्र के प्रति आभास के कारण होता है। इसके नैदानिक चित्र में एक ओर तो बढ़ी हुई उत्तेजना के लक्षण होते हैं और दूसरी ओर क्लांति होती है। एक रोगी में बढ़ी हुई उत्तेजना के और दूसरे में थकान के लक्षण हो सकते हैं। इस प्रकार की तंत्रिका उत्तेजनों के लक्षणों में चिड़चिड़ापन, अपसामान्य क्लांति अश्रुपूर्णता होती है। तंत्रिकावसादी रोगियों के लिये अपने आवेश को दबा पाना अत्यन्त कठिन होता है। उन के लिये किसी बात की प्रतीक्षा करना असहनीय होता है। प्रकाश और ध्वनि के जिन उद्दीपकों का स्वस्थ मनुष्य आदी होता है तंत्रिकावसादी रोगी उनके प्रति अतिसुग्राही होता है: दरवाजों का भड़भड़ाना, चलने की आवाज, सड़क

का शोर, दूसरे रोगियों की बातचीत, तेज संगीत, चमकीला प्रकाश ग्रौर ठंडी तथा गर्म चीज़ का स्पर्श तंत्रिकावसादी रोगी के लिये सह पाना कठिन होता है।

निद्राविकार तंत्रिकावसाद का एक सर्वाधिक ग्राम लक्षण है। शाम के समय रोगी सो नहीं सकता है, उसके मस्तिष्क में पुरानी घटनाग्रों के विचार घिरे रहते हैं। दिन की ग्रनावश्यक ग्रौर छोटी सी छोटी घटना पर उसको लगातार खयाल ग्राते रहते हैं, कभी-कभी उसके दिमाग में कोई भी उलझन वाले विचार नहीं ग्राते हैं ग्रौर वह सो जाना चाहता है पर कई घंटों तक वह सो नहीं पाता है। ग्राखिरकार जब वह सो जाता है, तब तनिक सी ग्रावाज या सरसराहट से जाग जाता है ग्रौर फिर जागता ही रहता है। उस की नींद हल्की ग्रौर मुसीबतों भरी होती है, बहुधा ग्रप्रिय स्वप्न ग्राते रहते हैं। इससे रोगी के मन में प्रसन्नता या फुर्ती नहीं होती, जो ग्राराम करने के बाद मिलती है; ग्रौर वह सारे दिन उनींदा ग्रौर थका-सा रहता है।

तंत्रिका विज्ञान परीक्षण से कंडरा ग्रौर श्लेष्मलकला से प्राप्त ग्रतिशयित प्रतिवर्त ग्रौर उँगलियों तथा पलकों के कम्प का पता चलता है। चेहरे ग्रौर गले की त्वचा लाल धब्बों से ढक जाती है, हथेली, पैरों ग्रौर शरीर के ग्रन्य भागों में तेजी से पसीना ग्राता है तथा नाड़ी तेज चलती है। तंत्रिकावसादी शरीर के विभिन्न भागों में ग्रप्रिय संवेदन की शिकायत करता है, जैसे दिल में भारीपन, पेट या ग्रांतों में दर्द, सिरदर्द ग्रौर घुमनी महसूस होना। तंत्रिका की ग्रति उत्तेजना के साथ ग्रत्यन्त मानसिक थकान के लक्षण बहुधा मिले हुए होते हैं जो जल्दी थकान, ध्यान की शीघ्र क्लान्ति ग्रौर ग्रास्थिरता तथा कार्य करने की क्षमता कम होने में ग्रभिव्यक्त होते हैं। रोगी के लिये ग्रपने दैनिक कार्य पर ध्यान केन्द्रित करना कठिन होता है। उसका ध्यानान्तरण ग्रासानी से हो जाता है ग्रौर जो कुछ भी वह पढ़ता है, वह उसे याद नहीं रहता। इस ग्रवस्था से उसे चिन्ता हो जाती है, क्योंकि वह समझता है कि उसकी "स्मृति का लोप" हो गया है ग्रौर वह ग्रब काम नहीं कर सकता। इस ग्रावेशीय ग्रवस्था में वह ग्रपना ध्यान केन्द्रित करने में ग्रौर ग्रधिक ग्रक्षम हो जाता है। बातचीत के दौरान ग्रपने व्यक्तिगत जीवन या सामाजिक घटनाग्रों का कालक्रमिक ढंग से वर्णन करने में या ग्रपने परिचितों के नाम याद करने में उसे बहुत कठिनाई होती है। ग्रवसाद ग्रौर चिन्ता तथा स्थिति के ग्रनुकूल परिणाम के प्रति चिन्ता के साथ-साथ इसमें घटी हुई कार्य-क्षमता, क्षीण निद्रा, शरीर के विभिन्न ग्रंगों में ग्रप्रिय पीड़ा वाले संवेदन, घटी हुई काम सक्रियता (नपुंसकता), के लक्षण होते हैं। तंत्रिकावसाद बच्चों में भी हो सकता है। ऐसा बच्चों में ग्रपसामान्य मानसिक ग्रौर शारीरिक जोर पड़ने से होता है। ऐसा जोर बच्चों पर तब पड़ता है जब माता-पिता ग्रपने बच्चों में पाठ्येतर प्रतिभा जगाने हेतु जोर डालते हैं (जैसे ग्रतिरिक्त विदेशी भाषा का पढ़ाना, संगीत के पाठ देना, स्केटिंग तथा ग्रन्य क्रीड़ाएं, जो उनकी शारीरिक ग्रौर मानसिक क्षमता से बाहर होते हैं)। बच्चों के तंत्रिकावसाद के लक्षणों में दीर्घ स्थायी ग्रनिद्रा, ग्रावेशग्रस्थिरता, चिड़चिड़ापन, शरीर का भार कम होना, भूखा मर जाना ग्रौर

कभी-कभी धड़कन की शिकायत भी शामिल है। तंत्रिका अवसादी बच्चे की हालत तब लाजिमी और गंभीर रूप से बिगड़ जाती है जब घर या स्कूल में ऐसी स्थिति हो जिससे बच्चे के मानस पटल पर हानिकारक प्रभाव पड़ता हो, उसे अतिरिक्त काम दिया जाय, या स्कूल की परीक्षा में खराब अंक प्राप्त हों, उसे दंडित किया जाय या स्कूल के अध्यापक अथवा अन्य बच्चों से उसका झगड़ा हो। उनको हृद्क्षिप्रता, अत्यधिक प्रस्वेदन, भूख का लोप हो सकता है और वे हकलाने लग सकते हैं या उनके चेहरे तथा अंगों की पेशियों में स्वभावाकर्ष (टिक) हो सकते हैं। स्वभावाकर्ष बहुधा विशेषकर 6 और 7 वर्ष की अवस्था के बच्चों में और यौवनारंभ (11 से 13 वर्ष) में होता है। तंत्रिकावसाद के उपचार के लिये उन परिस्थितियों को हटाना चाहिये जिनसे कि अतिक्लांति हो और जिन का बच्चे के मानस पर हानिकर प्रभाव हो। ऐसे में विटामिन और शक्तिदायक औषधियों का निर्देश दिया जाता है, बच्चे को खेलकूद के लिये भेजने की सलाह दी जाती है। ऐसे में बहिरंग उपचार अधिक उपयुक्त होता है।

तंत्रिकातंत्र पर अतिक्लान्ति पैदा करनेवाले कारकों को दूर करने के लिये टहलने और उपचारार्थ शारीरिक अभ्यास और विभिन्न जल चिकित्सा पद्धतियों (कैल्शियम क्लोराइड वाला गैल्वानीकालर, जैट धोवन) से चिकित्सा की जाती है।

औषधि चिकित्सा में, ब्रोमाइड लवणों, वालेरियान टिंचर, कोडीन, कैफीन से बहुत सफलता मिली है। डाइजेपाम और एलीनियम जैसे प्रशांतक की 5 से 10 मि० ग्रा० मात्रा तक की छोटी खुराकें दिन में एक बार से तीन बार तक दी जायें तो चिन्ता पर इसका काफी प्रभाव पड़ता है। यौनक्रिया शक्ति घट जाने पर स्थिति को समझाने वाली वार्ता और सांत्वना के शब्दों (और कभी-कभी सम्मोहन) के साथ स्पर्माइन या पेन्टोक्राइन (केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के लिये उद्दीपक के रूप में अस्थि-रहित मृगशृंग से निकाले गये तरल का प्रयोग किया जाता है) लेने की सलाह दी जाती है।

मनोग्रस्ति विक्षिप्ति. इस रोग के नैदानिक चित्र में मनोग्रस्तियाँ होती हैं, जो अपनी अंतर्वस्तु तथा स्थिरता में भिन्न-भिन्न होती हैं और ये मानसिक अभिघात की पृष्ठभूमि में तथा अवसन्नता या अधिक समय तक रहनेवाले शारीरिक रोगों में विकसित होती हैं। रोगी के मस्तिष्क पर विभिन्न तरह के डर और आशंकाएं छाई रहती हैं। हृदपेशी रोगगलन (हृदभीति) से अचानक मृत्यु का भय, और प्रमस्तिष्क रक्तस्राव, या कैन्सर होने का तथा किसी अन्य असाध्य रोग होने का भय लगा रहता है। बहुधा रोगी भीड़ के भय से, सड़कों को पार करने के भय से तथा ऊँचाई के भय से मनोग्रस्त रहते हैं। डर की मनोग्रस्ति के साथ वर्धी-वाहिकायम विकार—हृदय की धड़कन तेज होना, चेहरे पर पांडुरता या लाली होना, या उच्च धमनी दाब, श्लेष्मा का सूख जाना तथा श्वसन में कठिनाई—होते हैं। भय से मनोग्रस्त होने पर रोगी फौरन चिकित्सा सहायता के लिये दौड़ता है। कभी-कभी उसे यह सांत्वना और विश्वास

दिलाया जाता है कि उसे कोई गंभीर रोग नहीं है और उसकी सारी आशंकाएं और भय मस्तिष्क की अतिश्रांति के फलस्वरूप हैं। मनोग्रस्ति वाले अधिकतर रोगियों का उपचार कई वर्षों तक चलता है। आधुनिक शोध से यह पता लगा है कि यह रोग बहुधा दीर्घकालिक होता है। बीमार होने से पूर्व रोगी के स्वभाव में बेचैनी और चिन्ता का दौर होने से उसके मस्तिष्क पर हानिकर प्रभाव होता है, जिससे रोग बढ़ता है। हानिकारक स्थिति को हटा लेने के बाद भी ऐसे रोगी में विक्षिप्ति के लक्षण (डर, आशंका) बने रहते हैं। केवल उस स्थिति का उल्लेख करने मात्र से, जिससे रोगी को भीति हुई हो, रोगी फिर उसी भय में जकड़ जाता है। हृदपेशी रोध गलन (जिस में भय की विक्षिप्ति हो) में डर की विक्षिप्ति होने पर रोगी को दीर्घकालीन उपचार हेतु मानसिक रोग चिकित्सालय में भर्ती कराना चाहिये। मनोग्रस्ति विक्षिप्ति की रोग संप्राप्ति बहुत जटिल होती है। संदमन क्रिया की घटी हुई गतिशीलता की पृष्ठभूमि में प्रान्तस्था पर निश्चल उत्तेजना होती है, जिससे मनोग्रस्ति की स्थिरता का पता चलता है। यह प्रमाणित हो चुका है कि शरीर में चयापचयी (केटेकोलामीन) विकार तथा सीमान्ततंत्र में शोथ से स्थायी भीति का विकास होता है। इस से उपचार की आधुनिक विधि का पता चलता है। अधिक समय तक रहने वाली भीति को सदैव बुद्धिसंगत मनश्चिकित्सा से वांछित आराम नहीं मिलता। ऐसे रोगियों को जल्दी प्रति-भीति प्रभाव देनेवाली औषधियाँ दी जाती हैं जैसे, डाइजेपाम (5.0 मि० ग्रा० दिन में छ: बार)। सोडियम ब्रोमाइड (3 से 6 प्रतिशत) को वैलोकोर्डीन और वालेरियान टिंचर (10 से 15 बूंद) और कोडीन (0.01 ग्रा० से 0.02 ग्रा०) कोलियोनारस के क्वाथ में मिलाकर लेने के औषधि-निर्देश दिये जाते हैं। यह उपचार बहिरंग रोगी विभाग में दिया जाता है।

शिशुओं में मनोग्रस्ति विक्षिप्ति की अभिव्यक्ति विशेष रूप से किसी चीज की गणना करने की अनियंत्रणीय इच्छा में (जीने की सीढ़ियाँ, खिड़कियाँ व शब्दों के अक्षर गिनना, इत्यादि), या किसी शब्द या मुहावरे को तब तक दोहराते रहने में, जब तक कि नींद न आ जाय, और यह कहते रहने में होती है कि कहीं स्वयं उसे या उसके रिश्तेदारों को कुछ न हो जाय। ऐसे शिशुओं को बहुधा तब मनोग्रस्ति संदेह हो जाते हैं जब अध्यापक उन्हें पाठ लिखाने के लिये श्यामपट्ट पर बुलाता है। डर के मारे उनका चेहरा लाल हो जाता है अथवा दूसरे बच्चों के लिये वे हास्यास्पद बन जाते हैं। उन्हें संक्रमण होने, हाथों के दूषित होने, चीजों को छूने में भी डर लगता है।

उपचार में मनश्चिकित्सा संबन्धी वार्ता और स्वास्थ्यकर विधान की स्थापना भी सम्मिलित होती है। ऐसे रोगियों को समूह में रखने तथा उन्हें खेलने के लिये प्रोत्साहित करने से भी हितकारी प्रभाव होता है। मनोग्रस्ति को दूर करने के लिये मनश्चिकित्सा से संबंधित चिकित्सा-कर्मियों और अध्यापकों को बहुत धैर्य की आवश्यक्ता होती है।

हिस्टीरिया. इस मनोग्रस्ति का नैदानिक चित्र बहुत असमान होता है। हिस्टीरिया

के सभी लक्षणों को रस्मी तौर पर मनोविकृतजन्य और शारीरिक दो भागों में बांटा जाता है। पहले समूह में हिस्टीरिया का दौरा, हिस्टीरिया की मंदद्युतिक स्थिति, हिस्टीरिया कूट मनोभ्रंश, बलिशता और जड़िमा सम्मिलित हैं; दूसरे समूह में हिस्टीरिया आंशिकघात और अंगघात, स्वर हानि, बधिरता, मूकता, अन्धापन और मलमूत्र का अवधारण होना आते हैं।

हिस्टीरिया पुट के स्वभाव वाले लोगों में उपरोक्त लक्षण मिलते हैं। हिस्टीरिया के कुछ लक्षणों से गंभीर शारीरिक रोग के होने का पता चलता है।

हिस्टीरिया के उच्च लक्षण अब बहुत कम पाये जाते हैं। **हिस्टीरिया का दौरा** बहुधा दिन में पड़ता है जब कि अन्य लोग भी मौजूद हों। इसके पहले आवेश और मस्तिष्क के लिये अहितकर परिस्थितियाँ आती हैं। उपचारिका को हिस्टीरिया और अपस्मारी दौरे के बीच भेद को समझने में सक्षम होना चाहिये।

उपचारिका को दौरे के सभी लक्षणों का वर्णन करना चाहिये ताकि चिकित्सक इसके लक्षणों को भली-भांति समझ सके। हिस्टीरिया के रोगी की गिरने से चोट नहीं लगती। अपस्मारी आक्षेप से भिन्न, हिस्टीरिया मूल के दौरे उत्पाती, नाटकीय और अडम्बरपूर्ण होते हैं, इनमें पीड़ा प्रकट करने वाली मुख-विरूपता की भावबोधक गति होती है, रोगी अपने आस-पास के लोगों की सहानुभूति पाने तथा अपनी ओर उनका ध्यान आकर्षित करने के लिये विभिन्न प्रकार की मुद्राएं बनाता है (चित्र 33)।



चित्र 33. हिस्टीरिया में पीठ की मोड़ना।

हिस्टीरिया का दौरा कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों तक रह सकता है। लघुकालिक अपस्मारी दौरे से स्वस्थ होने के बाद रोगी पहले तो भौंचक्का-सा रह जाता है और उसके बाद बहुत देर तक सोता रहता है, दीर्घ-कालिक हिस्टीरिया का दौरा पड़ने के बाद या लगातार दौरा पड़ने से रोगी भौंचक्का नहीं होता, उसका स्मृतिलोप नहीं

होता, लेकिन दौरे से स्वस्थ होने के बाद रोगी कुछ अंतरायित कार्य करता है जैसे कि कुछ हुआ ही न हो।

हिस्टीरिया द्वारा चेतना क्षति किसी विषय पर विचारों और एकाग्रता के सीमित होने से प्रकट होती है जो कि मानस पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिये, अपने पुत्र को खोनेवाली माता में मंद्द युतिक (अर्धचेतन) अवस्था आ जाती है जिस में कि उसे स्थिति भ्रान्ति हुई हो। वह लगातार कोई चीज खोजती रहती है। तकिये को बच्चे के कंबल में बार-बार लपेट लेती है और उसे अपनी बाँहों में लेकर कमरे में झुलाती रहती है और लोरी सुनाती रहती है। ऐसी स्थिति में वह कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक रहती है और वह फिर स्वस्थ हो जाती है।

हिस्टीरिया की मूक-बधिरता में रोगी न सुन सकता है और न बोल सकता है। यह स्थिति कुछ महीनों तक रह सकती और स्वस्थ होने पर इसका कोई अवशेष नहीं रहता है। कभी-कभी मूकता (बोलने की असमर्थता) हकलाने में बदल जाती है।

मूक-बधिरता या जड़िमा के रूप में होने वाली हिस्टीरिया प्रक्रिया विसंज्ञा या कोमा की स्थिति में प्रकट हो सकती है। इसके निदान सम्बन्धी निर्णय रोगी के चिकित्सकीय इतिहास और उसकी हालत पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिये जड़िमा, जिसे कायिक प्रमस्तिष्क विक्षति समझा जाता है, यदि हिस्टीरिया प्रकृति की हो तो रोगी प्रश्नों के उत्तर नहीं देता है, पर साथ ही वर्धी और आवेश प्रतिक्रियाओं तथा मुख-विरूपता से भाव प्रकट करता है, जबकि उससे उसके रोग के प्रारंभ होने या रोग के कारणों के विषय में पूछा जाता है, तो रोगी का चेहरा लाल या पीला हो जाता है और उसकी नाड़ी तेज हो जाती है। रोगी से संपर्क बहुधा लिखकर या इशारे से किया जाता है। मूत्र और रक्त परीक्षण तथा तंत्रिका तंत्र के परीक्षण से किसी ऐसी कायिक क्षति का पता नहीं चलता है, जिससे कि इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके कि रोग कायिक प्रकृति का नहीं है।

हिस्टीरिया मूल के विभिन्न विकारों में अंगघात, आंशिकघात, अंधापन, वमन और मल मूत्रावधारण होता है।

हिस्टीरिया के अधरांग घात (दोनों निचले अंगों का अंगघात), एकांगघात (ऊपर या नीचे के एक अंग का अंगघात) या असाधारण पक्षाघात में पेशीय तान सामान्य रहता है और कोई विकृतिजन्य परावर्त नहीं होता। इस हालत का पता स्थान-स्थान पर संवेदन के लुप्त होने से या पक्षाघात से जिसका सम्बन्ध न तो संवहन से होती है और न ही मूल विकार से चलता है। कंडरा परावर्त सामान्य होते हैं।

हिस्टीरिया की स्थिति में असमर्थता और चलन अक्षमता में रोगी खड़े होने और चलने में असमर्थ होता है, हालांकि उसके निचले अंग (पैर) काफी मजबूत होते हैं और उनकी गति के समन्वय में कोई विघ्न नहीं होता।

हिस्टीरिया के अंधापन में आँखों के परीक्षण से किसी प्रकार की कायिक विक्षति

का पता नहीं चलता। रोगी केवल दूरस्थ चीजों को नहीं देख पाता है या उसे दो उंगलियों में से एक, या तीन में से केवल दो दिखाई देती हैं। हिस्टीरिया के रोगी को जिस चीज को देखने को कहा जाय वह हठपूर्वक उस चीज पर अपनी निगाह नहीं गड़ाता या फिर वह उसके आस-पास देखता है।

हिस्टीरिया वमन। समय समय पर वमन होने से गंभीर कैचेक्सिया (क्षीणता) हो सकती है, जिससे विभिन्न प्रकार के कायिक रोग मालूम होते हैं। रोगी की मानसिक दशा की क्षतिपूर्ण स्थिति में वमन अधिक बारम्बारता से होता है।

यह जरूरी है कि प्रत्येक चिकित्सा-सहायक या उपचारिका हिस्टीरिया के नैदानिक चित्रण से भली-भांति परिचित हो, क्योंकि इस स्थिति में वह रोग को उस की प्रारंभिक अवस्था में पहचानने में डाक्टर की सहायता कर सकेगी और समय पर उपचार किया जा सकेगी।

अप्रिय आवेश अनुभव होने के बाद एकाएक हिस्टीरिया होना हिस्टीरिया का विशिष्ट लक्षण है। स्थिति को ठीक तरह समझने के बाद या प्रभावकारी उपचार देने के बाद इन लक्षणों का प्रतिगमन होता है और सारी शारीरिक क्रियाएं पूरी तरह ठीक हो जाती हैं।

हिस्टीरिया के स्वभाव को आवेश अस्थिरता से पहचाना जाता है। इसमें रोगी अपनी भावनाओं को क्रोधावेश में प्रकट करता है और उसका एक भाव आसानी से उसके एकदम प्रतिकूल दूसरे भाव में बदल जाता है। रोगी जोर जोर से हँसता है और एकाएक पसन्द के भाव के उत्तेजना में बदल जाने से फफक-फफक कर रोने लगता है। रोगी अपनी रुग्ण अनुभूति को बढ़ा-बढ़ा कर बताता है और उनका वर्णन उसके ठीक नाम से करता है (जैसे यंत्रणा, भय, पीड़ा, तीव्र, मलिन, विषाद इत्यादि) और अपने भाव को नाटकीय मुद्रा से स्पष्ट करता है। स्वार्थपरता, अहंकेंद्रिता, हर व्यक्ति के ध्यानाकर्षन बिन्दु होने की ललक, झूठ बोलने की प्रवृत्ति, सनक और अपसामान्य सुझाव ग्राहिता यह सब चरित्र की हिस्टीरिया-वर्ण रेखाएं हैं। हिस्टीरिया रोगी जल्दी ही टकराव उकसा लेते हैं और उन से सम्पर्क रखना जोखिम वाला काम होता है।

शिशुओं में, और विशेषकर मन्दबुद्धि के बच्चों में, हिस्टीरिया की अभिव्यक्ति बहुधा होती है। शिशुओं में भी नैदानिक लक्षण उसी प्रकार परिवर्तित होते हैं जैसे कि बड़ों में। स्वर हानि, मूकता, हकलाना, स्थिति-असमर्थता और चलन अक्षमता और दौरा पड़ना बहुत आम बात है। हिस्टीरिया वाली लड़कियों में दीर्घकालिक अरुचि हो जाती है। रोगी होने की अतिकल्पना की प्रवृत्ति, कल्पना, झूठ और जिद्दी होने की ऐसी प्रवृत्ति होती है, जो कि उस उम्र में बहुधा संभाली नहीं जा सकती। बच्चों में हिस्टीरिया को अनुकूल क्रम से ठीक किया जाता है। दैनिक अनिवार्य आहार-विधान, परिवार में ठीक-ठीक पालन-पोषण तथा सामाजिक रूप से लाभदायक कार्य में लगे रहने से हिस्टीरिया का आविर्भाव बिल्कुल ठीक हो सकता है। बहिरंग की उपचारिकाओं

और परिचारिकाओं को चाहिए कि यह देखें कि हिस्टीरिया प्रक्रिया वाले बच्चे निर्धारित—आहार-विधान के अनुसार चलें। चिकित्मा कर्मियों को हिस्टीरिया के रोगियों के प्रति कठोर रुख अपनाना चाहिये। औषधि उपचार में ब्रोमाइड, वालेरियान और कभी-कभी प्रशान्तक (डाइजेपाम) नुस्खे शामिल हैं।

हिस्टीरिया विकारों के औषध प्रयोग की सफलता अधिकतर उपचारिका की युक्तिपूर्ण कार्यविधि पर निर्भर करती है। हिस्टीरिया का दौरा पड़ने पर कमरे में मौजूद हर आदमी को कमरे से बाहर निकाल देना चाहिये तथा किसी प्रकार की उत्तेजना या घबराहट नहीं दिखानी चाहिये। हिस्टीरिया की दूसरी अभिव्यक्तियों में स्वास्थ्यकर आहार विधान निर्धारित किया जाता है, रोगी को किसी तरह का काम करने के लिये दिया जाता है और हर प्रयास किया जाता है कि ऐसी स्थिति न आने दी जाय जिससे रोगी के मस्तिष्क पर अहितकारी प्रभाव पड़े। मंद्‌द्युतिक अवस्था और वमन होने पर एमीनाजीन (25 से 50 मि० ग्रा० कई दिन तक) या डाइजेपाम (0.5 प्रतिशत घोल के 1.0 मि० ली० का अन्तर्पेशीय इंजेक्शन) का निर्देश दिया जाता है।

प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति

किसी सम्बन्धी की मृत्यु, आपदा, आदि जैसे अचानक और गंभीर मानसिक अभिघात से होने वाले मानसिक विकार को प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति कहते हैं। गंभीर प्रतिघातक मनोविक्षिप्तियों को, जिन में मनोविकृत जड़िमा हो सकती है, पहचाना जाता है। रोगी किसी भी परिस्थिति में हठी हो जाता है। संपूर्ण दृढ़ता के अतिरिक्त, मोटर प्रक्रिया भी हो सकती है। रोगी प्रश्नों के उत्तर नहीं देता, लेकिन उद्देश्यपूर्ण चेष्टाएं करता है। धूमिल चेतना की पृष्ठभूमि में होनेवाली मोटर उत्तेजना एक अन्य प्रकार की गंभीर मनोविकृत प्रक्रिया है।

दीर्घकालिक प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति में, और विशेषकर प्रत्यावर्ती मानसिक अभिघात की स्थिति में तथा मन्द प्रतिकूल परिस्थितियों में होने वाले मानसिक विकार बहुधा मनोविकृत अवसाद का रूप ले लेते हैं। रोगी अवसादी होता है, और अपनी मनोदशा के लिये दूसरों को दोषी ठहराता है तथा बराबर उस स्थिति का वर्णन करता रहता है जिससे कि उसकी विकार स्थिति का सम्बन्ध है। चिन्ता की जगह बहुधा आशंका ले लेती है।

उन्मादी अवसाद मनोविक्षिप्ति में होने वाले अंतर्जात अवसाद से अलग, प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति तब जल्दी से शांत हो जाती है, जब उन परिस्थितियों को हटा दिया जाय जिन के कारण मनोविक्षिप्ति हुई हो, अर्थात उस परिस्थिति को हटा दिया जाय जिस के कारण मस्तिष्क को अभिघात हुआ हो।

ऐसे दीर्घकालिक संघर्षों के कारण, जो बहुत लम्बे समय तक तय नहीं होते, अधिज पैरानोयड, अर्थात झगड़ालू स्वभाव का प्रलाप हो जाता है। रोगी का मस्तिष्क

इस विचार पर केन्द्रित हो जाता है कि उसके हितों का अतिलघन हुआ है और वह अपनी सारी मांगों की संतुष्टि के लिये आग्रह करता है और सभी प्रकार के संगठनों को लिख कर मांग करता है कि उस के बुरा चाहने वालों को दंड दिया जाय। आम तौर पर ऐसे रोगियों को उनके विचारों से अलग करना असंभव होता है, इस लिये औषधज चिकित्सा देनी पड़ती है जोकि बहुधा अंतरंग चिकित्सा केन्द्रों में दी जाती है।

तीव्र प्रतिघातक अवस्था वाले रोगियों को मनोविकारी चिकित्सालयों में 25 से 50 मि० ग्रा० एमीनाजीन की खुराक मुँह से या फिर अंतरपेशी इंजेक्शन द्वारा दी जाती है। रोग के हल्के रूप में प्रशांतक दिये जाते हैं: डाइजेपाम 5.0 से 10.0 मि० ग्रा०, ट्राइओक्साजीन 200 से 400 मि० ग्रा० मुँह से। मनश्चिकित्सा या एरगोचिकित्सा की सलाह दी जाती है। दीर्घकालिक प्रतिघातक स्थिति में (विशेष रूप से पैरानोइड में) ट्रिफ्टाजीन (5.0 से 20 मि० ग्रा० प्रतिदिन) या हेलोपेरीडाल (1.0 से 1.5 मिलीग्राम दिन में एक या दो बार) दिया जाता है। प्रतिघाती अवसाद में इमाइजीन (50 से 100 मि० ग्रा० प्रतिदिन) या डाइजेपाम (25 से 50 मि० ग्रा० प्रतिदिन) दिया जाता है।

बच्चों में प्रतिघाती अवस्था की अभिव्यक्ति डर से होती है जिस के साथ में वर्धी विकार, जैसे पांडुता और स्वेदन होते हैं। इसके अतिरिक्त मोटर उत्तेजना भी हो सकती है जो कि मोटर झंझा का रूप ले सकती है, जिससे रोगी कहीं भाग जाने का प्रयास करता है या विनाशकारी कार्य करता है। यौवनारंभ में (10 से 12 वर्ष की आयु के बीच) बच्चे अभिघातज स्थिति से प्रतिक्रिया दिखाते हैं और बहुधा हकलाते हैं या मूक हो जाते हैं। 13 या 14 वर्ष की अवस्था के बाद प्रतिघातक अवसाद में बच्चे भोजन करने से मना कर देते हैं, जिससे उन्हें चिकित्सालय में रखना जरूरी हो जाता है।

हल्के अवसाद का बहिरंग में उपचार लेने वाले शिशुओं पर उपचारिकाओं और उनके सहायकों को कड़ी नजर रखनी चाहिये और उनको धैर्य एवं चतुराई से संभालना चाहिये। इनके उपचार में विटामिन और वालेरियान के साथ ब्रोमाइड के नुस्खे दिये जाते हैं। उन अंतरंग रोगियों को प्रति अवसादी (इमाइजीन) या प्रशान्तक (डाइजे-पाम) दिये जाते हैं, जो दीर्घकालिक प्रतिघाती अवस्था में होते हैं।

मनसतंत्रिका सेवा का संगठन

बहिरंग मनोविकारी सेवा मनसतंत्रिका औषधालय* द्वारा दी जाती है। मानसिक रोग वाले रोगियों को किसी भी विशेषज्ञ (तंत्रिका विज्ञानी या आंतरिक रोग विशेषज्ञ)

---

*नियमित बहुमुखी चिकित्सीय परीक्षण, निरोधक उपायों का लागू करने और क्षय रोग, मानसिक रोगों, त्वचा और रतिज रोगों, आदि के लिये एक विशेषीकृत चिकित्सीय उपचार सुविधा।

द्वारा औषधालय भेजा जाता है। ये वे विशेषज्ञ हैं जिन्हें रोगी सब से पहले मिलता है। मनस्तंत्रिका औषधालय के काम का संगठन जनपद स्तर पर किया जाता है। जिला चिकित्सक, मुख्य उपचारिका और कायिक बहिरंग की जनपद उपचारिका का यह कर्तव्य है कि वे अपने यहाँ के सभी मानसिक रोगियों को उसी प्रकार जानें जैसे वे कायिक रोगियों को जानते हैं, जो कि उस जनपद में रहते हैं। जनपद चिकित्सक बहुधा कस्बों और गाँवों में काम करते हुए अपने जिले के लोगों से मिलते हैं और उन्हें मानसिक रोग के नये रोगियों का पता चल जाता है और पहले से जाने हुए मानसिक रोगी की गंभीर स्थिति होने का भी पता चल जाता है और फौरन जनपद मनश्चिकित्सक को बुलाने की कार्रवाई करता है। निष्कर्ष यह है कि मानसिक रोग की रोकथाम, मनोविक्षिप्ति को उसके पहले चरण में पहचानना, ताकि समय से उसका उपचार हो सके, ज्यादातर इस बात पर निर्भर करता है कि जनपद चिकित्सक तथा जनपद मनस्तंत्रिका औषधालय के मनोविकार विज्ञानी के कार्यों के बीच ठीक सामंजस्य हो। चिकित्सक के सहायक और उपचारिका की भूमिका का महत्व कम नहीं है, यह विशेषकर उस जनपद में कार्यरत कर्मचारियों के लिये लागू होता है क्योंकि यह उनके दैनिक कर्तव्य में शामिल है (चिकित्सक के निर्देशों का पालन करना, रोगी को उसके घर पर देखना) और वे रोगी के परिवार से जब-तब मिलते रहते हैं और उनके साथ अधिक समय बिताते हैं।

विलक्षण द्वारा अभिव्यक्त मानसिक विकार के प्रथम लक्षणों को रोगी के सम्बन्धी सब से पहले निरीक्षण करने वाली उपचारिका को बताते हैं। ये विलक्षण व्यवहार हैं—भोजन को मना करना, रात्रि में चिन्ता करना और लोगों से दूर रहने की इच्छा होना।

उपचारिका को चाहिये कि वह इन लक्षणों को गंभीरता से ले और तत्काल जनपद चिकित्सक को सूचित करे। उसकी सतर्कता और सावधानी से जनपद मनोविकार विज्ञानी को उसके कठिन काम में सहायता मिलती है।

ग्रामीण आबादी को मनोविकारी सेवा क्षेत्रीय (स्थानीय) मनस्तंत्रिक औषधालय और मानसिक रोग चिकित्सालयों द्वारा दी जाती है। मानसिक रोग चिकित्सालय इनके लिये औषधालय का काम करते हैं। इन चिकित्सालयों को नगर या ग्राम की जनपद बहिरंग निदानशाला से जोड़ देना चाहिये।

सुदूर बस्ती में इस सम्बन्ध को बनाये रखने की जिम्मेदारी चिकित्सक-सहायक की होती है। चिकित्सक या उसका सहायक रोगी को क्षेत्रीय या गणराज्य के मनस्तंत्रिक औषधालय के विशेषज्ञ से सलाह लेने के लिये भेज सकता है या यदि इस बीमारी के लक्षण सुस्पष्ट हों तो वह उसे मनोविकारी चिकित्सालय में भेज सकता है। क्षेत्रीय (प्रादेशिक) औषधालय के मनोविकार विज्ञानी का यह कर्तव्य है कि वह जनपद चिकित्सालयों को नियमित रूप से जाता रहे और वहाँ के चिकित्सकों से, मानसिक विकारवाले रोगों की चर्चा करे तथा उनके रोगों का अध्ययन करे।

औषधालय उन सब रोगियों का रिकार्ड रखता है जो कि उससे सलाह पूछते हैं। उन रोगियों का "व्यावहारिक" रिकार्ड रखा जाता है और उनपर विशेष ध्यान दिया जाता है जो गंभीर मानसिक विकार वाले तीव्र रोग से पीड़ित हों अथवा ऐसे रोगी जिन्हें हाल ही में मनोविकारी चिकित्सालय से छुट्टी दी गयी हो।

इस प्रकार के रिकार्ड को रखने के सिद्धांत और रोगियों को उनके निदान और मानसिक विकार की तीव्रता के अनुसार विभाजित करने के सिद्धांतों से उपचारिका को भली भांति परिचित होना चाहिये।

मानसिक रोग से पीड़ित रोगियों को जनपद मनोविकार विज्ञानी विशेष सेवा प्रदान करता है और इस बात का निर्णय करता है कि रोगी को औषधालय के बहिरंग में उपचार दिया जाना है या उसे फौरन मनोविकारी चिकित्सालय में भर्ती कराया जाना है। औषधालयों में वहिरंग उपचार ऐसे लोगों को दिया जाता है जिन्हें दीर्घकालिक चिरकारी कार्यविधि के बाद मनोविक्षिप्ति का प्रतिकारी रूप हो या जिन में विक्षिप्ति प्रक्रिया हो या उन का व्यवहार मनोविकृत हो और उन्हें मनोविकारी चिकित्सालय में रखना आवश्यक न हो।

ग्रामीण बस्ती में ऐसे रोगियों को रोज देखना, मनोविकार-विज्ञानी के सभी निर्देशों का पालन करना, और जहाँ कहीं आवश्यक हो वहाँ आपत्कालिन सहायता देना, रोगी को मनोविकारी चिकित्सालय में भेजना आदि उस स्थानीय चिकित्सा केन्द्र के चिकित्सक और उपचारिकाओं की जिम्मेदारियाँ हैं।

विभिन्न मानसिक रोग वाले रोगियों की अनुरक्षण चिकित्सा के संचालन में औषधालय की उपचारिका की भूमिका अत्यधिक बढ़ गयी है। इस प्रकार के उपचारों में ऐसी औषधियों का निर्देश देना शामिल है, जिसका विक्षुब्ध मानसिक क्रिया पर बहुमुखी प्रभाव हो। ऐसी औषधियों को साइकोट्रोपिक कहते हैं और इनमें मनोविज्ञानी औषधि वर्ग (मेप्रोटोन, ट्रायोखाजिन, क्लोरडाइजेपोक्साइड, ड्राइजेपाम) और अति-अवसादी (इमाइजीन, ट्रिप्टीजोल) शामिल हैं। ये औषधियाँ 5.0 मि० ग्रा० (डाइजेपाम,) 10 मि० ग्रा० (क्लोरडाइजेपाक्साइड), 25, 50 और 100 मि० ग्रा० की, तथा मनोवियोजी औषधि वर्ग 1.0 से 5.0 मि० ग्रा० की ख़ुराक में प्रति अवसादी 10 मि० ग्रा० (इमाइट्रिप्टालीन), 25 मि० ग्रा० (इमइजीन), को ड्रेजी के रूप में बनायी जाती हैं तथा एमाइनाजीम 2.5 प्रतिशत घोल की 1.0 या 2.0 मि० ली० की ऐम्पुल के रूप में मिलती है। मनोप्रेरक प्रभाव को पूरी तरह या काफी हद तक ठीक करने के लिये एमीनाजीन, लेवोप्रोमाजीन, ट्रिफ्टाजीन और हेलोपेरीडाल को कारक के रूप में प्रयुक्त करते हैं। चिन्ता, डर, और तंत्र की अवसादी दुर्बलता में प्रशान्तक औषधि के रूप में दिये जाते हैं।

मनोवियोजी औषधियों का इतर प्रभाव हो सकता है, भले ही वे किसी भी रूप में दी गयी हों। उपचारिकाओं और उनके सहायकों को इन इतर प्रभावों की जानकारी होनी चाहिये ताकि उन्हें रोका जा सके या जो प्रभाव हो चुके हैं उन्हें दूर किया जा

सके। प्रशान्तकों को औषधि के रूप में प्रयोग करने के प्रथम दिवसों में धमनी दाब बहुत घट सकता है और इससे जुड़ी हुई स्थिति "निपात" के रूप में जटिल बन सकती है।

इन हालात में रोगी पीला पड़ जाता है, वह ठंडा हो जाता है, उसे चिपचिपा पसीना आता है और बहुधा उसकी चेतना का लोप हो जाता है तथा नाड़ी कमजोर पड़ जाती है। उसे उसकी पीठ के सहारे सिर के नीचे तकिये बिना लिटाना आवश्यक है। उसके पैर थोड़े से ऊपर उठे हुए होने चाहिये; उसे पीने को तेज चाय देनी चाहिये और 10 प्रतिशत कैफीन घोल के 1.0 मि० ली० का अंतरचर्म इंजेक्शन देना चाहिये या मुख से (0.1 से 0.2 ग्रा०) कैफीन पाउडर देना चाहिये तथा चिकित्सक को तुरंत उसकी हालत की सूचना देनी चाहिये। अन्य उल्लेखनीय इतर प्रभाव है मुख का, तथा नासाग्रसनी श्लेष्मा का सूखना, तन्द्रा का बढ़ना। श्वसन की कठिनाई, अतिगतिकला, चेहरे; गर्दन और कभी-कभी निचले अंगों की पेशियों के समूह में आक्षेप। ऐसे हालत में उपचारिका को चिकित्सक से पूछना चाहिये कि उपचार जारी रखा जाय या नहीं। दीर्घकालिक उपचार होने पर शरीर का भार और भूख बढ़ जाती है। कब्ज और पीलिया हो जाता है तथा श्वेत कोशिका गणना घट या बढ़ जाती है। लोहित कोशिका और हीमोग्लोबिन स्तर घट जाता है तथा ई० एस० आर० तेज हो जाता है। औषधि की बड़ी खुराक से पारकिन्सनता से मिलते हुए संलक्षण होते हैं, तथा मोटर दृढ़ता, इंगित प्रभाव, लार और उंगलियों में कंपन के लक्षण होते हैं। एमिनाजीन या ट्रिफ्टाजीन, हैलोपेरीडोल और थायोप्रोपेराजीन के दीर्घकालिक प्रयोग से कभी-कभी बजाय इसके कि सामान्य प्रशान्तक प्रभाव हो, मोटर उत्तेजना और चिन्ता पैदा हो सकती है। जब ये संलक्षण हों तो दवा की खुराक घटा दी जानी चाहिये या फिर उपचार बन्द कर देना चाहिये।

मनोवियोजी औषधि वर्ग को लेने वाले रोगियों में होने वाले उपद्रवों को उपचारिका द्वारा विशेष दैनन्दिनी (डायरी) में दर्ज कर देना चाहिये। चिकित्सक को इनके बारे में अविलम्ब सूचना देनी चाहिये। उपचार के दौरान केवल चिकित्सक ही नहीं, बल्कि उपचारिकाओं और उनके सहायकों को भी रोगी की भली-भांति देखभाल करनी चाहिये। यह आवश्यक है कि रोगी की मानसिक और शारीरिक दोनों ही हालतों का बराबर ध्यान रखा जाय।

बहिरंग में चलने वाले उपचार से दीर्घकालिक प्रगति होती है और रोगी अपने परिवार और अपने योग्य काम पर लौट जाता है। निरन्तर चलने वाले उपचार से रोग का प्रकोपन रुक जाता है तथा औषधि की खुराक बढ़ाते रहने से रोगी की हालत बिगड़ने से बचायी जा सकती है। चिकित्सा सेवा को सही ढंग पर संगठित करके उपचार की सुरक्षा और प्रभावोत्पादकता से आश्वस्त हुआ जा सकता है। इसमें उपचारिका महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। चिकित्सक के शिक्षित सहायक या उपचारिका ग्रामीण क्षेत्र में रहनेवाले रोगियों को, यद्यपि चिकित्सक के नियन्त्रण में ही, अनुरक्षण

चिकित्सा दे सकते हैं। आधुनिक मनोवियोजी औषधि वर्ग आपात् मनोविकारी सेवा में, अर्थात प्राकृतिक संकट या महाविपत्ति के दौरान, कुछ व्यक्तियों में होनेवाले तीव्र मानसिक विकारों के मामले में, अपरिहार्य हैं।

मनोतंत्रिका औषधालयों का सब से प्रमुख कर्तव्य यह होता है कि वे रोगी को नित्य उसके घर देखने जायें और उन्हें संरक्षण में लेकर उनके अधिकारों की सुरक्षा करें। इस कार्य में निरीक्षण करनेवाली उपचारिकाएं सक्रिय भाग लेती हैं ।

चिकित्सा विशेषज्ञ का कार्य औषधालय का दूसरा महत्वपूर्ण क्रियाकलाप होता है। मनोविकार विज्ञानी मानसिक रूप से रोगी व्यक्तियों की काय करने की क्षमता, सैनिक सेवा के लिये योग्यता और उनके मानसिक स्वास्थ्य के विषय में महत्वपूर्ण निर्णय देते हैं।

नगर मनोतंत्रिका औषधालयों में ऐसे रोगियों के लिये उपचार और श्रम कार्यक्रम होते हैं, जिन्हें चिकित्सालय में तो नहीं रखना होता, परन्तु वे अवशिष्ट मानसिक विकार के कारण अपने व्यवसाय में नहीं जा पाते। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत वे नये विशिष्ट व्यवसाय में दक्षता प्राप्त करते हैं। स्वास्थ्य में सुधार होने पर रोगी ऐसा कुशल हो जाता है कि उद्यम में कार्य हेतु उसकी सिफारिश की जा सकती है। रोगी चिकित्सक और उपचारिकाओं के नियंत्रण में काम करते हैं।

मानसिक रूप से रोगी व्यक्तियों की व्यवस्था के लिये बहिरंग और अतरंग सेवा अपृथक्करणीय कड़ियाँ हैं।

सही लक्षण मिलने पर चिकित्सक रोगी को मनोविकारी चिकित्सालय में भेजते हैं, साथ ही रोग का विस्तृत इतिहास भेजा जाता है, जिस में रोग के सारे लक्षण और बहिरंग में दिये गये उपचार का विवरण होता है। अस्पताल से छूटने के बाद सभी रोगियों का पंजीकरण जनपद मनोविकार विज्ञानी के पास होता है और पूरी तरह स्वस्थ हो जाने तक रोगी उनकी देखभाल में रहता है।

सोवियत संघ में शिशुओं के लिये मनोतंत्रिका सेवा का प्रारंभ क्रान्ति के बाद के प्रथम वर्षों में हुआ और आज मनोतंत्रिका संस्थानों का पूरा एक ताना-बाना है। ये संस्थान विभिन्न प्रकार के हैं जिनमें मानसिक विकार के स्वभाव के अनुसार बच्चों को भर्ती किया जाता है। विक्षिप्ति वाले ऐसे बच्चे जिन्हें केवल स्वास्थ्य लाभ की आवश्यकता है, उन्हें विशेष चिकित्सा संस्थानों और सेनीटोरियम में भेजा जाता है। तीव्र और अनुतीव्र मानसिक बिकार वाले शिशुओं को विशेष मनः तंत्रिका चिकित्सालयों में भर्ती कराया जाता है। विसर्जन के बाद उन्हें बहिरंग चिकित्सालय में निगरानी में रखा जाता है। तीव्र मानसिक क्षीणता वाले बच्चों (जन्मजात, अनुवांशिक या उपार्जित) को समीप की निगरानी, देखभाल या संगठन की अभिभावकता में रखा जाता है। ये संगठन वे हैं जो सामाजिक सुरक्षा के अंतगत विभिन्न संस्थानों में होते हैं।

जब उपचार पूरा हो जाता है तो मानसिक रोग चिकित्सालय उस आधार पर रोगी का विस्तृत इतिहास जनपद औषधालय को भेजता है, जिस आधार पर रोगी का वहाँ पंजीकरण हुआ हो।

मनोविकारी औषधालय में निम्नलिखित विभाग होते हैं:

1. **स्वागत विभाग**. यह चिकित्सालय में भर्ती होने वाले सभी रोगियों के हेतु होता है। यह आरामदेह, स्वस्थ और शांत होना चाहिये। स्नान करने के बाद रोगी वहाँ वापिस नहीं जाता है, बल्कि उसकी कायिक तथा मानसिक अवस्था के लिये उपयुक्त विभाग में उसे सीधा भेज दिया जाता है। उसके साथ उपचारिका या सहायक को जाना चाहिये।

कुछ स्वागत विभागों में दो उपविभाग होते हैं। एक शांत स्वभाववाले रोगियों के लिये, दूसरा ऐसे रोगियों के लिये जो उत्तेजना की स्थिति में हों। लगभग वे सभी रोगी, जो पहली बार बीमार हुए हों, वहाँ भर्ती किये जाते हैं। उन पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिये क्योंकि अब तक उनके बारे में पूरी जानकारी नहीं होती है और हो सकता है कि उनके अचानक और अप्रत्याशित आचरण से उनके व्यवहार का पता चले। यहाँ के कमरे घर के कमरों की तरह आरामदेह होने चाहिये, जिन में कालीन बिछे हों, संगीत के साज और तस्वीरें सजी हों, जिससे कि चिकित्सालय में ठहरने से रोगी की मनोदशा पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

2. **उत्तेजित रोगियों का विभाग** उन लोगों के लिये होता है जिन्हें विशेष देखभाल और कड़ी निगरानी की आवश्यकता होती है या जिनकी प्रवृत्ति आक्रामक और वृत्ति प्रलापी होती है। इसे कुछ विशेष आकृतियों से पहचाना जाता है। यहाँ की शय्याओं में कोने तेज नहीं होने चाहिये और ये अच्छी तरह लगे हुए स्प्रिंगों और लोहे की छड़ों से मुक्त होनी चाहिये। दीवारें एकदम चिकनी होनी चाहिये। इनमें कोई हुक, कील या कपड़े टांगने के लिये रैक नहीं होना चाहिये और न ही इनमें आले और बहिर्वेशन होने चाहिये। सभी प्लेटें, तश्तरियाँ और प्याले मजबूत और हल्के होने चाहिये तथा अगर ये अलम्यूनियम के हों तो बेहतर है। मेज पर प्लेट, प्याला (या जग) और चम्मच लगाया जाता है। इन रोगियों को छुरी या कांटा नहीं दिया जाता है।

विभाग में ऐसे कोई भारी, तेज या काटने वाले औजार नहीं होने चाहिये जिनसे रोगी अपने आपको या अन्य किसी को चोट पहुँचा सके।

3. **शांत रोगियों के लिये विभाग** ऐसे लोगों के लिये है, जिन्हें निरंतर निगरानी की जरूरत नहीं होती। अधिकतर मामलों में ये रोगी बिभिन्न प्रकार की विक्षिप्ति, प्रतिक्रियात्मक दशा, वाहिकामय विक्षिप्ति के हल्के रूप में, या अभिघातज विक्षिप्ति की अभिव्यक्ति और विरले अपस्मारी दौरे से पीड़ित होते हैं।

बहुत से मनोविकारी चिकित्सालयों में इन विभागों के अतिरिक्त, **कायिक रोगों से पीड़ित मानसिक रोगियों** के लिये भी विभाग होता है। एक **दिवा आवास** होता है, जिसमें रोगियों की एक विशेष टुकड़ी अपना सारा दिन बिताती है, तथा **बच्चों के विभाग** होते हैं।

चिरकारी प्रकार के रोगों से पीड़ित रोगियों को शहर से बाहर के चिकित्सालय

में रखा जाता है जहाँ उन्हें व्यावसायिक चिकित्सा दी जाती है, आम तौर पर यह खेती-बाड़ी जैसा कुछ कार्य होता है।

मनोविकारी चिकित्सालयों में लक्षण-नैदानिक प्रयोगशाला होनी चाहिये, जिनमें जीव रासायनिक, विद्युत शरीरवृत्तिक और मनोवैज्ञानिक जांच की जा सके। एक्सरे विभाग, भौतिक चिकित्सा विभाग और विकृति विज्ञानी विभाग होने चाहिये, जिसमें मरणोत्तर परीक्षण हो सके। चिकित्सीय न्यायपरक परीक्षण विशेष विभागों में किया जाता है।

मदात्यय और स्वापकोन्माद से पीड़ित रोगियों का उपचार बहिरंग में किया जाता है या उन्हें मनोविकारी चिकित्सालयों में भेजा जाता है।

मानसिक रोग वाले रोगियों की देख-भाल और उपचार

रोगी के प्रति उपचारिका का दृष्टिकोण मनःचिकित्सकीय होनी चाहिये। बात-चीत में रोगी का डर दूर करना और उसे अपने रोग से संघर्ष करने में सक्रिय बनाना चाहिये। इस तरह के संबंध सिर्फ रोगी के लिये ही नहीं, पूरे वार्ड के मानसिक वातावरण के लिये अच्छा होता है।

मनोरोगी की देख-भाल के पीछे दो बातें होती हैं: रोगी के लिये कोई खतरा न उठे और वह अपने को हिचकिचाहटों से मुक्त रख सके।

मनोरोगी की निगरानी और प्रेक्षण चिकित्सकीय सहायता का ही एक अंश है, क्योंकि इससे रोगी के बारे में अधिक जानकारी मिलती है, रोग की अभिव्यक्तियों के बारे में पता चलता है, दुर्घटनाओं की रोक-थाम हो सकती है, रोगी के खतरनाक कामों के प्रति सावधानी बरती जा सकती है।

तीन तरह की निगरानी हो सकती है, जो कड़ाई के अनुसार भिन्नता रखती हैं: कड़ी निगरानी, सतर्क प्रेक्षण, सामान्य प्रेक्षण। कड़ाई का स्तर डाक्टर निर्धारित करते हैं और निगरानी का कार्य उपचारिका व अन्य कर्मचारी करते हैं।

आक्रामक वृत्ति वाले, आत्महत्या का प्रयास करने वाले या अस्पताल से भागने की चेष्टा करने वाले रोगियों पर कड़ी निगरानी रखी जाती है। जिनकी बीमारी को और नजदीक से देखना है, या जिनमें रोग प्रचंड रूप लेने वाला हो, या जिनमें व्याधियों से अन्य जटिलताएं उत्पन्न हो सकती हैं, उन पर सतर्क निगरानी रखी जाती है।

मानसिक रोगी का उपचार तभी प्रारंभ हो जाता है जब उसे स्वागत कक्ष में लाया जाता है, जहाँ उसकी मुलाकात होती है ड्यूटी पर मौजूद मनोविकार विज्ञानी, उपचारिका और सहायक से। स्वागत कक्ष के कर्मचारियों का काम कुशल और समन्वयपूर्ण होना चाहिये, क्योंकि उन्हें विभिन्न प्रकार के मानसिक विकारों के रोगियों के साथ काम करना पड़ता है। जो लोग उपचार लेना चाहते हैं उन्हें बहुधा मनोविकार

विज्ञानी के आदेशानुसार, शांत रोगियों वाले विभाग में रखा जाता है। कुछ रोगियों को स्वागतकक्ष में उनके संबन्धी लाते हैं तथा अन्य को आपात्कालीन मामले में बतौर एम्बुलेन्स में लाया जाता है। बड़े शहरों में उत्तेजित रोगियों को मानस रोगी के लिये बनी विशेष एम्बुलेन्स द्वारा लाया जाता है।

चिकित्सालय में उन्हें अलग-अलग विभागों में रखा जाता है। रोगियों के पास सही ढंग से आने से तथा उनसे आवश्यक संपर्क बनाये रखने से उनकी व्यवस्था तथा उपचार में सहायता मिलती है। यदि उपचारिका और चिकित्सा सहायक पर्याप्त आत्मनियंत्रण, समझ-बूझ, धैर्य और कोमलता न बरतें तो उनके और रोगियों के बीच संपर्क स्थापित नहीं हो सकता। बुखार देखने और आंतरिक अंगों की जांच करने के अतिरिक्त रोगी के शरीर की परीक्षा करना भी चिकित्सक के लिये आवश्यक होता है। मनोप्रेरक उत्तेजना की दशा में भर्ती किये गये रोगी के शरीर पर खरोंच, नील और अस्थिभंग भी हो सकते हैं। जितनी भी चोटों का पता लगता है उनका वर्णन रोगी वृत्त में किया जाता है। उपचारिका चिकित्सा सहायक के साथ रोगी के कपड़े तथा उसके द्वारा लायी गयी चीजों का निरीक्षण भी करती है, और उन्हें रोगी से ले लिया जाता है तथा उसे अच्छा पाजामा और ड्रेसिंग गाउन पहनने को दिया जाता है।

स्वागत कक्ष के कर्मचारियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी वार्ड में ऐसी कोई चीज न ले जा सके जिससे कि वह अन्य रोगियों, अपने आस-पास के लोगों को तथा स्वयं को चोट पहुँचा सके। औषधि व्यसनी रोगियों का मुँह, सिर के बाल और कान देखना आवश्यक है, क्योंकि इनमें वे लोग स्वापक छिपा सकते हैं।

उपचारिका और चिकित्सा सहायक के काम का मुख्य सिद्धांत यह है कि चिकित्सक के निर्देशों का पालन तत्परता से हो। चिकित्सक की अनुमति के बिना कोई भी औषधि नहीं दी जा सकती। रोगी को दूसरे वार्ड या दूसरी शैय्या पर बदला नहीं जा सकता और न उसे चलने-फिरने की अनुमति ही दी जा सकती है। फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि उपचारिका को कोई पहल नहीं करनी चाहिये या वह रोगी के संबंध में अपना कोई बिचार प्रकट न करे। इसके उल्टे, रोगी की शैय्या के साथ लगातार रहने से उपचारिका उसके व्यवहार और मनोदशा पर नजर रख सकती है और रोग के लक्षण नोट कर सकती है। और अगर रोगी की हालत में कोई परिवर्तन होता है तो उसे चाहिये कि चिकित्सक को फौरन इसकी सूचना दे।

मनोविकार के मूल सिद्धांतों के ज्ञान के बिना मानसिक रोगी की देखभाल करना असंभव है। मनोविकारी चिकित्सालय के कर्मचारियों के उग्र और अहंकारी रुख से रोगियों को भारी हानि पहुँच सकती है और यहाँ तक कि यह किसी हिंसक घटना का कारण हो सकता है।

उदाहरण के लिये, एक मनोविकारी चिकित्सालय में निम्नलिखित घटना घटी। एक उपचारिका ने, जो अपने को मनोविकार चिकित्सा में दक्ष समझती थी, एक महिला रोगी को चिकित्सक की अनुमति के बिना ही बाग में सैर के लिये जाने दिया।

इस रोगी ने ठीक ढंग से व्यवहार किया, सब प्रश्नों का उत्तर दिया, विधान का पालन किया और इस बात से इंकार किया कि उसे विकारी आवेश है या कोई निराशापूर्ण विचार है। लेकिन दूसरे शब्दों में कहें तो उसने जानबूझ कर अपने को छिपा कर रखा। ऐसी स्थिति का लाभ उठाते हुए जब उस पर किसी की कड़ी नजर नहीं थी, वह भाग खड़ी हुई और चलती गाड़ी के नीचे आ गयी।

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनोविकारी चिकित्सालय में काम करने वाली उपचारिका को मनोविकार के मूल सिद्धांतों का ज्ञान हो, वहां कड़ा अनुशासन बनाये रखा जा सके और रोगियों के व्यवहार पर सतर्कतापूर्वक निगरानी रख सके। और इस में अतिशिष्टता न हो।

मनोविकारी चिकित्सालय के कर्मचारी के कार्य में यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि उसमें मानसिक और तंत्रिका रोग से पीड़ित रोगियों से ठीक संपर्क स्थापित करने की क्षमता हो। यह जरूरी है कि उपचारिकाओं और सहायकों का रुख संतुलित, शांत, सतर्क और चतुरतापूर्ण, लेकिन साथ ही बिना भेदभाव के सभी रोगियों के साथ कड़ा भी हो। उन्हें किसी रोगी के प्रति अपनी नापसन्दी या शत्रुता कभी नहीं दिखानी चाहिये, भले ही उनकी मानसिक स्थिति में अप्रिय अनुचिन्ह हों। रोगी में थूकने की आदत होने, शत्रुता और यहाँ तक कि आक्रमण को भी उसकी बीमारी ही समझा जाना चाहिये और ऐसा न हो कि इससे कर्मचारी उत्तेजित हो जाय या नकारात्मक रुख अपना ले। किसी भी हालत में रोगी से न तो ऊँची आवाज में बोलना चाहिये और न ही उसके साथ कठोरता बरतनी चाहिये और न उसे भयभीत ही करना चाहिये। ऊँची आवाज की बातचीत जो दूसरे विभागों तक सुनायी दे, और रोगी की मौजूदगी में कर्मचारियों के बीच वाद-विवाद भी निषिद्ध हैं; इससे रोगियों में तनाव और प्रेरक उत्तेजना बढ़ती है और कर्मचारियों की प्रतिष्ठा घटती है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि तान प्रतिष्टम्भ लक्षण वाले रोगियों पर, जो जड़िमा की स्थिति में होते हैं, जो कुछ हो रहा है उसकी कोई प्रतिक्रिया तो बाहर नहीं दिखायी देती, लेकिन उसे वास्तव में सब कुछ ठीक-ठीक याद रहता है। ऐसे रोगियों से संबंधित जो भी शब्द लापरवाही से बोले जाते हैं (जैसे कि "उसे चिकित्सालय भेजा जाना चाहिये" या "उस का रोग चिरकारी है") वे बहुत समय तक रोगी के स्मृति-पटल पर बने रहते हैं। तान प्रतिष्टम्भ अवस्था के ठीक होते ही, रोगी कर्मचारियों के व्यवहार का आश्चर्यजनक सटीकता से ठीक-ठीक वर्णन करता है।

उपचारिका या परिचारक की अपेक्षा अक्सर ही चिकित्सक के लिये रोगी से संपर्क स्थापित करना ज्यादा कठिन होता है। उपचारिका और सहायक के सान्निध्य से रोगी उनका आदी हो जाता है और यह देखकर कि वे उसके शुभ चिन्तक हैं रोगी उनको विकारी ध्यान और प्रलापी आवेशों में शायद ही सम्मिलित करता है। रोगी बहुधा अपनी अनुभूति को अपने परिचारक को तो बता देता है पर चिकित्सक को बताने में संकोच करता है। वह उसकी सलाह लेता है और किसी खास परिचारिका या

सहायक से ही भोजन स्वीकार करता है। रोगी द्वारा दिखाये गये विश्वास को पोषित करना चाहिये : ये अक्सर चिकित्सक के लिये रोगी के प्रच्छन्न आवेशों को सामने लाने में सहायक होते हैं।

रोगी को कभी भी धोखा नहीं देना चाहिये या उसे झूठ बोलकर नहीं समझाना चाहिये। रोग के परिणाम ठीक होने की संभावना, चिकित्सालय से छूटने का समय, उपचार की पद्धति और उपचारार्थ नियंत्रण के शरीर पर प्रभाव संबंधी सभी प्रश्नों का चतुरता से उत्तर देने से बचना चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी उत्तेजित न हो जाय। कोई फरेब करने से या वचन तोड़ने से कर्मचारी की प्रतिष्ठा ही नहीं घटती है, बल्कि इससे रोगी का अविश्वास, तनाव और उसकी प्रलापी मनोदशा पुष्ट होते हैं। यदि उपचारिका या परिचारक अपने को रोगी के किसी कठिन और जिदभरे प्रश्न का उत्तर देने में अक्षम हों तो बेहतर होगा कि वे चिकित्सक की सलाह लें।

रोगी के सभी अनुरोधों को नहीं मानना चाहिये, क्योंकि देखने में मामूली सी चीज (जैसे पत्र लिखने के लिये तेज की हुई पेन्सिल और कलम) को भी रोगी अपने को या दूसरों को चोट पहुँचाने के लिये प्रयुक्त कर सकता है। पर साथ ही ऐसे किसी अनुरोध को, जो कि विभाग के नियमों के विरुद्ध न हो (जैसे पुस्तक के लिये प्रार्थना), वायदे के अनुसार पूरा कर देना चाहिये।

उपचारिका को ऐसे रोगियों के प्रति विशेष रूप से कोमल हृदय होना चाहिये जो भय से पीड़ित हों या जिनमें अपराध का विभ्रम हो। ये रोगी प्रेरक उत्तेजना से पहचाने जाते हैं, वे उपचारिका से बातें करते रहते हैं और उसके सम्मुख अपने कठोर दंडनीय अपराध के दोष को सिद्ध करते रहते हैं। उद्बोधन, समझाने बुझानें, भर्त्सना और रोगी को मना करने के प्रयास बहुधा विफल हो जाते हैं। रोगी का उस ओर से ध्यान हटाने से और उसे कुछ काम देने से उसे आराम मिल जाता है।

अवसाद और मोटर संदमन से पीड़ित और विषाद से व्यथित रोगियों में बहुधा बिस्तर से उठने, और अपने बिस्तर को ठीक करने, अपने बाल संवारने तथा खाने की इच्छा नहीं होती। उन्हें कर्मचारियों की निरंतर सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे रोगियों में आत्म-हत्या करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, इस लिये इनपर लगातार दिन-रात निगाह रखनी चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि अवसाद वाले रोगियों में अपनी चिन्ता छिपाने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये उनके लिये निर्धारित विधान में कोई परिवर्तन चिकित्सक के अनुमोदन के बाद ही करना चाहिये, भले ही उपचारिका इस बात का दावा करे कि रोगी की हालत बहुत सुधर गयी है।

ऐसे रोगियों की भी निरंतर निगरानी करनी चाहिये जो ठीक बरताव तो करते हैं, लेकिन अपने चारों ओर होनेवाली बातों से भावहीन और उदासीन रहते हैं। रोगी को अपना बिछौना सिर पर डाल कर बिस्तर पर लेटे नहीं रहने देना चाहिये,

ऐसी स्थिति में दूसरों के अनदेखे ही चादर या तौलियों में अपना सिर ढक कर रोगी अपनी कमीज की बाहों से ही अपने गले में फांसी का फंदा डालने का उपाय भिड़ा सकता है। ड्यूटी वाले कर्मचारियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सारे तौलिये ऐसी जगह रखे हों, जहाँ से वे दिखायी पड़ते रहें।

तान प्रतिष्टम्भ संदमन की दशा में विखंडित मनस्कता, या विभ्रम के क्रमबद्ध रूप विशेषकर भयानक होते हैं क्योंकि ये दशाएं एकाएक मनप्रेरक उत्तेजना वाले प्रयोजनरहित आक्रामी आचरण में बदल सकती हैं। ऐसे रोगियों को निरंतर निगरानी में रखना चाहिये।

विभ्रम वाले रोगी बहुधा अपने आसपास की वास्तविकता और अपने विचारों के विकारी प्रकटीकरणों को छिपाये रहते हैं और अपने को स्वस्थ समझते हैं तथा सोचते हैं कि उन्हें चिकित्सालय में अकारण ही रखा गया है। वे चिकित्सालय से भाग सकते हैं या दूसरे रोगियों और उन कर्मचारियों के प्रति आक्रामी हो सकते हैं जो उनके विभ्रमों के समय उनके साथ रहते हैं। किसी को भी रोगी के विभ्रमों की पुष्टि नहीं करनी चाहिये और न ही उसके विकारी विचारों से सहमत होना चाहिये। रोगी के साथ मजाक करना या लापरवाही से फबती कसना एकदम निषिद्ध है। रोगी को चिढ़ाने वाली या उत्तेजित करने वाली बातचीत या ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिये जो उसके विभ्रमों को बढ़ाने में सहायक हो। रोगी द्वारा व्यक्त प्रलापी अभिशंसा पर कभी एतराज नहीं करना चाहिये। वह जब कभी भी अपने भावों को प्रकट करना चाहे, तो उसे धैर्यपूर्वक सुनना आवश्यक है। उजड्डपन से ऐसा वातावरण बन जाता है, जिससे कि विभ्रम उग्र हो उठता है। उत्तेजना की हृदय तक पहुँचनेवाली मोटर-वाक बेचैनी और हड़बड़ी वाले रोगी के प्रति एक विशेष रुख अपनाने की जरूरत होती है। उन्मादी स्थिति वाले रोगी में, जिन में कुछ न कुछ करने की सतत इच्छा होती है, हर बात में दखल देने, अवांछित आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करने की अदम्य इच्छा होती है, और ऐसे रोगी जो सतत बातचीत करते रहते हैं या गाते हैं, बहुधा अन्य रोगियों में विद्वेष की भावना और चिड़चिड़ापन पैदा कर देते हैं। उन्मादी रोगी जल्दी ही झगड़ने लगते हैं और मारपीट हो सकती है, लेकिन बहुधा वे अन्य रोगियों के आक्रमण का निशाना भी बन जाते हैं। कर्मचारियों को रोगियों से सांत्वनापूर्ण ढंग से बातचीत के जरिये और रोगियों को कुछ काम देकर उनका ध्यानान्तरण करके वार्ड में तनाव कम करने में सक्षम होना चाहिये।

रोगियों को उनके विभिन्न वार्डों में रखना बहुत सोच-विचार का काम है। जल्दी उत्तेजित होने वाले, भावावेश विक्षुब्ध रोगी, मनोविकृत और लती को किसी भी हालत में एक वार्ड में नहीं रखना चाहिये। एक वार्ड में एक से अधिक ऐसे अपस्मारी रोगी नहीं रखने चाहिये जो विद्वेषी और सनकी हों। यह ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ रोगियों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे दूसरों की विकारी अभिव्यक्ति की नकल करते हैं। उदाहरण के लिये, एक रोगी के हिस्टीरिया के दौरे को देखकर अन्य

रोगियों को भी वैसे दौरे पड़ सकते हैं। बहुधा नकल करने की इच्छा ऐसे मन्दबुद्धि रोगियों में होती है जिनमें विवेचनशक्ति कम होती है या कभी-कभी ऐसे रोगियों में भी, जो विखंडित मनस्कता के शिकार होते हैं।

यदि वार्ड में लड़ाई शुरू हो जाय तो कर्मचारियों को क्या करना चाहिये? सर्वप्रथम ड्यूटी वाले चिकित्सक को बुलाना चाहिये, विरोधियों को अलग-अलग कर देना चाहिये और यदि आवश्यक हो तो उनमें से एक को दूसरे विभाग में (ड्यूटी पर स्थित चिकित्सक की अनुमति लेकर) स्थानान्तरित कर देना चाहिये।

अपस्मारी रोगी की देखभाल बहुत कठिन है। आवेश, क्षेत्र की विचित्रताओं के कारण ये रोगी बहुत निकृष्ट और कभी-कभी बहुत आक्रामक हो सकते हैं, भले ही कोई खास बात न हो (जैसे कोई उनकी शैय्या को छू ले या उनके कम्बल की तह लगा दे आदि)। यदि चिकित्सक, उपचारिका या सहायक अपस्मारी रोगी को दिये गये वचन को पूरा नहीं करता तो वह रोगी विशेष रूप से प्रतिशोधी हो जाता है।

रोगी के साथ "मीठी बातें" करने या अतिसरल वार्त्तालाप करने से, जैसे उसे बहुत बेतकल्लूफ़ी से पुकारने या किसी वयस्क रोगी को उसके प्रथम नाम से बुलाने से, बचना चाहिये। चिकित्सा-कर्मियों को उनका पहला नाम लेकर बुलाने से रोगी को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये। रोगियों के साथ चतुर और नम्र सम्बंध, चिकित्सा कर्मियों की प्रतिष्ठा को बनाये रखने, नियम-विधान के पालन, और विभाग में हर चीज को व्यवस्थित रखने में सहायक होते हैं।

चिकित्सालय के सभी विभागों, शांत और उत्तेजित दोनों तरह के रोगियों के लिये दिन का एक निश्चित विधान होता है। इसे ऐसा उपचारार्थ साधन समझना चाहिये जिसका उद्देश्य अस्वस्थ घटनाओं को रोकना और रोगियों का सही आचरण रखने में मदद करना होता है। कर्मचारियों को यह देखना चाहिये कि प्रत्येक रोगी कड़े अनुशासन और विधान का ठीक-ठीक पालन करे।

चिकित्सा कर्मियों को अवश्य ही तत्परता और मित्रतापूर्ण सहयोग से काम करना चाहिये, जिससे चिकित्सालय में अच्छी व्यवस्था, तथा रोगियों द्वारा निश्चित विधान का अनुपालन सुनिश्चित हो सके।

दिन के सामान्य कार्यक्रम और सब रोगियों द्वारा निश्चित विधान के पालन के साथ-साथ कुछ ऐसे रोगियों के लिये विशेष विधान निर्धारित करना चाहिये, जिन्हें विशेष देखभाल और निकट से निगरानी की आवश्यकता होती है।

रोगियों की कठिन टुकड़ी होने के बावजूद भी विभाग की उपचार प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाने के लिये एक जरूरी बात यह है कि चिकित्सा कर्मियों को विभिन्न वार्डों में सही ढंग से बांटा जाय। भोजन के समय किसी चिकित्साकर्मी को दूसरी ड्यूटी पर लगाने, जैसे उन्हें संबंधियों द्वारा लाये गये भोजन को रोगियों को देने, वार्ड और कार्यालय को साफ करने, रोगियों को टहलाने के लिये ले जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। भोजन और मनोरंजन के समय कर्मचारियों को विशेष सतर्कता

बरतनी चाहिये, विशेष रूप से ऐसे रोगियों के प्रति जिन्हों ने कभी भागने का, आत्मपीड़न या आत्महत्या का प्रयास किया हो। ऐसे रोगी कर्मचारियों की तनिक सी भी असावधानी, हड़बड़ी और अनाड़ीपन का फायदा उठा कर अपना सुनियोजित कार्य और कभी-कभी आक्रामक कार्य पूरा कर डालते हैं। ड्यूटी वाले कर्मचारी को ऐसे रोगियों को वार्ड से चिकित्सक के पास या उपचार के लिये ले जाने से पहले चेतावनी अवश्य दे दी जानी चाहिये। कड़ी निगरानी में रखे जाने वाले रोगी को कभी भी अकेला नहीं छोड़ना चाहिये। हठपूर्वक भोजन करने से मना करने वाले रोगियों को चम्मच से या जबर्दस्ती भोजन कराना चाहिये और अंतिम साधन के रूप में उन्हें नली से भोजन दिया जाना चाहिये।

मनोरंजन क्रियाकलापों के विशेष संगठनकर्ता द्वारा आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रम दैनन्दिन विधान और कार्यक्रम के अनुपालन में सहायक होते हैं। रोगियों को विभाग में बाजा बजाने और खेल (शतरंज, चेकर, डोमीनो) खेलने की, अखबार, पत्रिकाएं और किताबें पढ़ने की एकदम अनुमति होती है। यहाँ तक कि उत्तेजित रोगियों के वार्ड में भी कुछ सांस्कृतिक सेवाओं (जैसे अखबार, पत्रिकाएं और किताबें पढ़ने) की अनुमति है। शौकिया कला-प्रदर्शन, कन्सर्ट और फिल्म प्रदर्शन रोगियों का तनाव खत्म करने और उन्हें आराम पहुँचाने में भारी सहायक होते हैं। कुछ रोगी, विशेषकर उन्मादी दशा वाले रोगी, आमंत्रित किये जाने पर अपनी खुशी से वार्ड को स्वच्छ करने में, फर्श की झाड़ू-बुहारी करने तथा पालिश करने के दैनिक कार्य में सहायता करते हैं।

रोगियों के लिये उनके रिश्तेदारों द्वारा लाये गये पारसलों की सामग्री की पूरी सतर्कता के साथ जांच करनी चाहिये। एक ऐसी भी घटना हुई है जब एक रोगी के जोर डालने पर उसकी पत्नी ने उसके लिये लायी गयी रोटी में प्लास छिपाकर देने की कोशिश की, ताकि रोगी दरवाजे को जबर्दस्ती खोलकर अस्पताल से भाग सके। नशे की लत वाले रोगियों के लिये लाये गये पारसल को विशेष सावधानी से जांचना चाहिये, क्योंकि ऐसी भी घटनाएं हुई हैं कि संबंधियों ने चोरी-छिपे स्वापक लाने का प्रयास किया है।

चिकित्सा कर्मचारी का दिखदिखाव भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। उनके कपड़े सदैव स्वच्छ और सलीके से होने चाहिये। उन्हें कोई भी आभूषण, यहाँ तक कि जैसे पिन, अंगूठी, कान की बालियां और जड़ाऊ पिन जैसा साधारण गहना तक नहीं पहनना चाहिये तथा तेज नाखून पालिश नहीं लगानी चाहिये, विशेष रूप से तब जब कि वे जल्दी उत्तेजित होने वाले रोगियों की देखभाल कर रही हों। ऊपरी वस्त्र में बटन सदैव लगे रहने चाहिये और केशों पर टोपी या रूमाल होना चाहिये। चिकित्सा कर्मचारियों को हल्के, कम एड़ी वाले जूते पहनने चाहिये, जिस से कि वे तेज गति से चल सकें तथा रोगी की सहायता के लिये दौड़ सकें, इत्यादि। नये रोगियों के प्रवेश के समय उनकी सिगरेटें और भोज्य पदार्थ उनसे ले लेने चाहिये और विभाग की मुख्य या ड्यूटी उपचारिका के पास जमा करा देने चाहिये।

जब बहुत ही उत्तेजित नये मरीज को नहला धुला कर उसका परीक्षण किया जाता है तब संबंधित विभाग की उपचारिका या सहायक को कार्यविधि में सहायता के लिये बुला लिया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विभिन्न अंशों की तीव्रता वाले कई रोगी स्वागत कक्ष में एक ही समय में आ जाते हैं: उत्तेजित रोगी, जिन में वाक और प्रेरक उत्तेजना हो, तथा देखने में शांत विश्वास योग्य रोगी। ऐसे समय में स्वागत कक्ष में काम करने वाले कर्मचारियों का कार्य बहुत कठिन हो जाता है। कर्मचारियों का ध्यान उनके काम से नहीं हटना चाहिये। उन्हें सतर्क निगाह रखनी चाहिये कि स्वागत कक्ष का दरवाजा हमेशा बन्द रहे और कोई भी रोगी खिड़की के पास अकेला न बैठा हो। ऐसी घटनाएं हो चुकी हैं कि रोगी स्वागत कक्ष से भाग निकलने में सफल हुए हैं।

मनोविकार चिकित्सालय के सामान्य नियमों के अनुसार किसी भी विभाग में भर्ती किये गये रोगी को पहले दो-तीन दिन तक शैय्या विश्राम दिया जाता है, भले ही उसकी हालत कैसी भी हो। उस वार्ड में नियुक्त कर्मचारी को यह देखना चाहिये कि इस नियम का पालन ठीक तरह से हो। पहले कुछ दिनों तक बाहर टहलने की अनुमति नहीं दी जाती है। रोगी को पहले कुछ दिनों तक प्रेक्षण कक्ष में रखा जाता है, जहाँ वह कर्मचारियों की कड़ी निगरानी के तहत रहता है। कर्मचारी उसके व्यवहार की विचित्रताओं को नोट करते हैं। ड्यूटी वाली उपचारिका को यह ज्ञात रहना चाहिये कि उसके विभाग के सभी रोगियों के कुल नाम (बेहतर हो कि उनके पूरे नाम) क्या हैं तथा कौन रोगी किस वार्ड में है और वार्ड में उसका स्थान कहां है।

प्रत्येक विभाग में ड्यूटी वाली उपचारिका या चिकित्सक-सहायक के पास ऐसे रोगियों की सूची होनी चाहिये, जिन पर अतिरिक्त सतर्कता से नजर रखने की आवश्यकता है। ये रोगी बहुधा ऐसे होते हैं जिन में आत्महत्या की प्रवृत्ति होती है, या जो हठपूर्वक भोजन को अस्वीकार करते हैं, भाग निकलने का प्रयास करते हैं और अपने को घायल करना चाहते हैं; ऐसे रोगी जो हिस्टीरिया और अपस्मारी दौरों से पीड़ित होते हैं। केवल उपचारिका ही नहीं, बल्कि सहायकों को भी रोगियों के नाम मालूम होने चाहिये। पारी बदलते समय अपनी ड्यूटी पूरी करने वाले कर्मचारियों को चाहिये कि वे रोगी की डायरी में पिछली पारी में देखी गयी उसके आचरण की विचित्रता की लिखित रिपोर्ट छोड़ जायें। उन्हें ड्यूटी लेने वाले कर्मचारी को उन सब रोगियों की सूचना विस्तार से देनी चाहिये जिन की हालत में परिवर्तन हुआ है या जिन की हालत अभी तक गंभीर बनी हुई है। कड़ी निगरानी में रहने वाले रोगियों की उपचारिका या सहायक द्वारा अनवरत देखभाल की जानी चाहिये। जिस रोगी के बारे में मालूम हो कि वह आत्महत्या करना चाहता है या भागना चाहता है और बराम्बार होने वाले उद्वेषकर दौरों से पीड़ित है, उसके शौचालय जाते समय उपचारिका या परिचारक को उसके साथ होना चाहिये। यदि रोगी को शौचालय में सामान्य से अधिक समय लगता है, तो उसे पर्यवेक्षक खिड़की से देखना जरूरी होता है, ताकि

कहीं कोई अनहोनी घटना न हो। टहलने जाते समय, तथा भौतिक चिकित्सा, स्नान और प्रयोगशाला जांच के समय भी रोगी पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिये। नाई को रोगियों की हजामत सेफ्टीरेजर से ही बनानी चाहिये; वह भी सहायकों की उपस्थिति में।

भोजन अस्वीकार करने वाले रोगियों को समझाबुझाकर स्वयं कुछ खाने के लिये कहा जाता है। यदि इस में सफलता नहीं मिलती है तो उन्हें अवश्य ही नली द्वारा कृत्रिम रूप से भोजन दिया जाना चाहिये। यह नली 0.5 से० मी० व्यास वाली मुलायम रबर की होती है। प्रयोग से पूर्व इस नली को उबलते हुए पानी में डुबोना चाहिये या गर्म पानी में सोडियम बाइकार्बोनेट डालकर धोना चाहिये। नली के छोर को गोल किया जाता है और इस में किनारे पर छेद होता है। इस में ग्लीसरीन या वैसलीन चुपड़ी जाती है। नली का दूसरा सिरा खुला रहना चाहिये और इसमें कीप फिट कर दी जाती है (चित्र 34)।



चित्र 34. रोगी को नाक से नली प्रवेशित करके खुराक देना।

रोगी को नली से भोजन केवल चिकित्सक द्वारा ही दिया जाना चाहिये या चिकित्सक की उपस्थिति में किसी अनुभवी उपचारिका द्वारा। बहुत से रोगी इसे हठपूर्वक रोकते हैं इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसी स्थिति को काबू में रखने

के लिये सहायक मौके पर उपलब्ध रहें। नली द्वारा भोजन देते समय रोगी को उत्तान स्थिति में रखना चाहिये, यद्यपि रोगी को बैठने की स्थिति में खुराक पहुँचायी जा सकती है। ऐसी दशा में रोगी को खुराक पहुँचाने वाला व्यक्ति कुर्सी के पीछे खड़े होकर रोगी का सिर थाम कर रखता है। नली को मुँह या नाक से प्रवेशित किया जा सकता है। यदि रोगी के मुँह में मुँह फैलाने वाला औजार न लगाया गया हो तो रोगी नली को चबा जा सकता है, यहाँ तक कि नली के सिरे को काट कर अलग तक कर सकता है। इसको बचाने के लिये नली का प्रवेशन नाक द्वारा किया जाता है और यह विधि श्रेयस्कर समझी जाती है। नली प्रवेशन से पहले यह देखना जरूरी है कि रोगी के नासा-पथ विचलित तो नहीं है या पीली पस तो नहीं है। ऐसा होने पर नली प्रवेशित न हो सकेगी। मुँह द्वारा खुराक देने से पहले रोगी का मुँह खोल कर देखा जाता है और निकलनेवाले कृत्रिम जबड़े को निकाल दिया जाता है। 50 या 55 से० मी० नली प्रवेश करने के बाद इस बात से आश्वस्त होना चाहिये कि नली का सिरा वास्तव में पेट तक पहुँच गया है। यदि नली श्वसन नली में प्रवेशित की गयी है तो रोगी का चेहरा स्याह (नीला) पड़ जाता है, श्वसन कठिन हो जाता है और रोगी क्रोधोन्मत होकर नली के और प्रवेशन का विरोध करता है। ऐसी हालत में नली को फौरन बाहर निकाल लेना चाहिये। जब नली सही ढंग से प्रवेशित की जाती है तो यह नाक ग्रसनी और भोजन नली से होते हुए अंततः पेट तक पहुँच जाती है। बहुधा प्रारंभ में कठिनाई होती है और रोगी बारंबार वमन के प्रयास करके नली को ग्रास नली से बाहर मुँह में धकेलता है। इस हालत में रोगी को नाक के द्वारा श्वास दिलाया जाता है।

यह कि नली पेट में पहुँची है या नहीं, तब सुनिश्चित किया जा सकता है जब: (1) रोगी लगातार सांस ले रहा हो, (2) उसका चेहरा स्याह न पड़ गया हो, (3) गुरगुराहट जैसी कोई आवाज सुनाई दे, क्योंकि पेट में कुछ हवा चली जाती है; (4) नली के कीप में थोड़ा सा तरल पदार्थ (पानी के चौथाई से आधा गिलास) डालने पर धीरे-धीरे वह पेट में चला जाय।

पोषण देने वाला प्रभारी व्यक्ति जब इस सम्बन्ध में निश्चित हो जाता है कि नली ठीक ढंग से लग गयी है तब पोषण मिश्रण को धीरे-धीरे नली के कीप में उसे थोड़ा उठाकर डाला जाता है। एक बार या दो बार में प्रवेशित पोषण 300 ग्रा० से कम नहीं होना चाहिये। पोषण देने के बाद नली को एक झटके के साथ निकाल लेते हैं, जिस से कि नली में बचा हुआ पोषण मिश्रण श्वसन पथ में न पहुँच जाय। मिश्रण के पेट में पहुँच जाने के बाद थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी चाहिये और फिर नली निकाल लेनी चाहिये।

नाक से नली निकालने के बाद रोगी को लिटाये रखना चाहिये, जिससे रोगी भोजन मिश्रण को वमन करके निकाल न सके।

कृत्रिम पोषण के लिये पोषण मिश्रण में आवश्यक मात्रा में प्रोटीन, वसा, कार्बो-

हाइड्रेट, विटामिन और लवण होने चाहिये। इस में अधिकतर 500 ग्रा० दूध, 2 कच्चे अंडे, 50 ग्रा० चीनी, 20 या 30 ग्रा० मक्खन, 1 से 5 ग्रा० तक नमक और पोली विटामिन होते हैं। बहुधा ऐसी औषधियाँ भी जो रोगी लेने से मना करता है, इस मिश्रण में मिला दी जाती हैं। रोगी चूँकि कई महीनों तक भोजन अस्वीकार कर सकता है इसलिये पोषण के साथ-साथ 40 प्रतिशत ग्लूकोज घोल विटामिन सी सहित अंतर्शिरा द्वारा नित्य की खुराक के रूप में दिया जाता है। समय-समय पर नली द्वारा पोषण देने के बजाय पोषक एनीमा दिया जाता है, जिस में 200 से 300 ग्रा० तक पोषक मिश्रण होता है, जिस में दूध, अंडे, चीनी और वसा होती है। एनीमा द्वारा सफाई करने के बाद यह गुदा द्वारा प्रवेशित किया जाता है।

पोषण मिश्रण में आयोडीन टिंचर की कुछ बूंदें मिला दी जाती हैं जिससे कि गुदा द्वारा इसका शोषण तीव्र गति से हो सके। दो से पांच बूंद तक अफीम का टिंचर भी मिला दिया जाता है, जिस से कि एनीमा द्वारा दिये गये पदार्थ गुदा में रह सकें और पूरी तरह शोषित हो सकें।

कृत्रिम पोषण की बाद वाली विधि तकनीकी दृष्टि से अधिक सरल है परन्तु थकान को रोकने के लिये पोषण पूरी तरह नहीं हो पाता है, क्योंकि बड़ी आंत में द्रव का शोषण अपूर्ण होता है। इसलिये नली की अपेक्षा एनीमा का प्रयोग कम किया जाता है। भोजन अस्वीकृत होने के प्रतिकर्म हेतु इन्सूलिन की छोटी खुराकें (4-8 यू० प्रति दिन) कभी-कभी औषधि निर्देश में दी जाती हैं। सभी ऐसे मामलों में जब रोगी सदैव पर्याप्त आहार न ले, यद्यपि वह सामान्य संदमन होने (उदाहरण के लिये वर्तुल अवसाद) या तीव्र कायिक विक्षिप्ति होने (रक्त-स्राव सहित ऐथिरो-काठिन्य, जरा मनोविक्षिप्ति) के कारण, भोजन को अस्वीकार नहीं करता, उसे कर्मचारियों द्वारा नियमित रूप से प्रति दिन चम्मच से भोजन दिया जाना चाहिये। यदि रोगी दांत न होने के कारण या सामान्य निर्बलता के कारण या फिर विभ्रमित चेतना के कारण भोजन को चबा नहीं पाता तो उसको भोजन मसल कर देना चाहिये या उसे दलिया जैसा भोजन दिया जाना चाहिये। यह देखना आवश्यक है कि रोगी भोजन निगलने के बजाय कहीं मुँह में जमा तो नहीं करता जा रहा है। चिकित्सा कर्मचारियों को ज्यादा भूख लगने वाले रोगी के खाने की आदतें देखनी चाहिये और उन्हें मन्दित रोगियों के भोजन का हिस्सा खाने से रोकना चाहिये।

नकारात्मकता वाले रोगी की प्रवृत्ति भोजन अस्वीकार करने की होती है। इस हालत में रोगी के सामने भोजन छोड़कर अलग खड़े हो जाना चाहिये। कई बार रोगी सब कुछ स्वयं ही थोड़ी देर में खा जाता है। भोजन काल में कर्मचारी को ऐसी जगह बैठना चाहिये कि वह कड़ी निगरानी वाले सभी रोगियों पर नजर रख सके।

जैसे रोगी के भोजन पर निगाह रखनी चाहिये, उसी तरह रोगी के मूत्रण और

मल त्याग पर भी निगाह रखनी चाहिये। रोगी अपने आप जो कहता है उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। चिकित्सा सहायकों को पूरी तरह से यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि रोगी की आंतें और मूत्राशय सामान्य रूप से काम कर रहे हैं। बहुधा किसी विशेष मानसिक स्थिति के कारण (विशेष रूप से तान प्रतिष्टम्भ में) रोगी शौच या पेशाब लगने पर उसे दबा जाते हैं। मुख्य शारीरिक क्रियाओं के कमज़ोर पड़ जाने, अन्य अंगों के अलावा आंत की संकुचनहीनता के फलस्वरूप, उन रोगियों को चिरकारी कब्ज हो सकती है जो अवसादी दशा से ग्रस्त हों। बिस्तर में बहुत देर पड़े रहने से तथा अफीम वाली औषधियाँ लेने से आंतों की प्रक्रिया शक्तिहीन हो जाती है और कब्ज रहने लगता है। आंतों की दैनिक सफाई के लिये साधारण साबुन या लवणी (अति तनाव) एनिमा लगाना आवश्यक है। मस्तिष्क की तीव्र कायिक क्षति से पीड़ित लोगों की प्रज्ञा (विवेचन, स्मृति) घट जाती है और साथ ही मूत्राशय और गुदा की संवरणी क्रियाशीलता कमजोर पड़ जाती है, तथा शौच और मूत्र की असंयति हो जाती है। ऐसे रोगियों की खास तौर पर देख-भाल की जानी चाहिये।

बहुत समय तक शय्याग्रस्त तथा क्लांत रोगियों में शय्यात्रण हो जाना एक आम बात है। शय्यात्रण से बचाने के लिये हवा भरे हुए रबर रिंग को गद्दी के रूप में रोगी को चादर के नीचे रखना चाहिये। खराब हुई चादरों को फौरन ही स्वच्छ चादर से बदल देना चाहिये और रोगी को जब तब शीघ्रातिशीघ्र स्वास्थ्यकर स्नान कराना चाहिये। नियमित समय पर रोगी को शय्या मूत्र-मल पात्र देना चाहिये और जो रोगी स्वयं चल फिर सकते हों उन्हें शौचालय ले जाना चाहिये। शय्यात्रण को रोकने के लिये रोगी की करवट बदलाते रहनी चाहिये, बिस्तर के कपड़ों की जरा सी भी सलवट निकाल देनी चाहिये और खाने के टुकड़ों को बिस्तर से झाड़ देना चाहिये।

एक नियम के तौर पर मल और मूत्र की असंयति वाले रोगियों को निर्बल रोगियों वाले वार्ड में रखा जाता है। यदि इन वार्डों में दुर्गन्ध न हो तो यह समझना चाहिये कि सहायक अपने कर्तव्य को भली-भांति निभा रहे हैं।

निर्बल मानसिकता वाले रोगियों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये। यह देखना चाहिये कि उनकी आंतें और मूत्राशय खाली होते रहें, उनके हाथों, चेहरे और मुँह की स्वास्थ्य स्थिति पर नजर रखनी होती है तथा यह देखना होता है कि वे नियमित रूप से भोजन ले रहे हैं कि नहीं।

ऐसे मानसिक रोगी, जो अर्से से उत्तेजित रोगियों के विभाग में रह रहे हैं, बहुधा नये कर्मचारियों में डर पैदा करते रहते हैं। यदि उत्तेजित रोगियों की देख-भाल के लिये परिचारक कर्मचारी को सही ढंग पर काम का वितरण किया गया है और प्रत्येक कर्मचारी अपनी दी गयी ड्यूटी को जिम्मेदारी और अंतर-विवेक से दक्षतापूर्वक निभाता है और यदि अनुशासन ठीक रहे तो भय की तनिक भी आशंका नहीं रहती।

कर्मचारियों को यह मालूम होना चाहिये कि उत्तेजित रोगियों को कैसे संभाला जाय और उनका उपचार कैसे किया जाय।

विखंडित मनस्कता, वर्धमान घात, उन्मादी स्थिति में वृत्तीय मनोविक्षिप्ति, तीव्र विषालुता और संक्रामक रोगों में (जैसे मद्यप प्रलापी कंपन या टाइफस के तीव्र रूप में अमनस्कता की स्थिति में) प्रचंड मनोप्रेरक उत्तेजना हो सकती है। मंदद्युतिक स्थिति में होने पर अपस्मारी रोगियों में सर्वाधिक उत्तेजना होती है। प्रेरक उत्तेजना वाले अवसाद और सोद्वेग अवसाद में एमाइ–ट्रिप्टीलीन (इसे लैंट्रोन भी कहते हैं) 10 मि० ग्रा०, या हालत पर निर्भर करते हुए एक या दो गोली), लीनोरस जड़ी के क्वाथ में बारबिटल, कोडीन, सोडियम ब्रोमाइड और वालेरियान का मिश्रण अत्यन्त प्रभावशाली औषधियाँ हैं।

Rp. Inf. herbae Leonuri 6.0-200.0
Natrii bromidi 0.3
Codeini phosphatis 0.2
Barbitali-natrii 0.3
T-rae Valerianae 5.0
Sig. एक बड़ा चम्मच दिन में तीन बार।

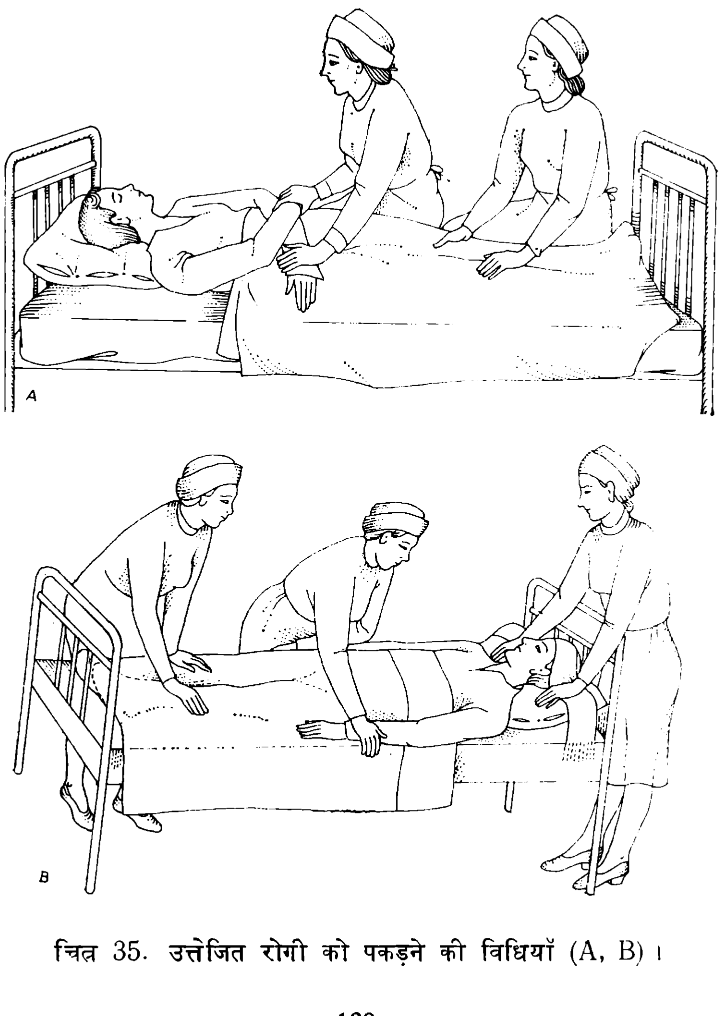
पूर्ण गतिहीनता की स्थिति में फ्रेनोलोन (मेथोफेनारजीन) की 5.0 मि० ग्रा० की गोली दिन में एक या दो बार और एमाइट्रिप्टीलीन की 10 मि० ग्रा० की गोली सुबह तीसरे पहर और दिन में दी जाती है। मनोवियोजी औषधि वर्ग में थायोप्रोपेराजीन (मजेप्टील, थायोपेराजीन) भी दी जाती है।

जब रोगी मनःप्रेरक उत्तेजना की स्थिति में होता है और औषधि लेने से मना कर देता है तो उसे औषधि किस प्रकार दी जाय? कभी-कभी तो रोगी को समझा-बुझाकर दवा पिलाना संभव होता है। यदि यह संभव न हो तो इंजेक्शन लगाये जाते हैं या एनीमा के द्वारा दवाई पहुँचायी जाती है। जब दवाई पहुँचायी जा रही हो तो रोगी को पीठ के बल बिस्तर पर लिटाया जाता है और अनेक सहायक उसके हाथ-पैरों को पकड़ कर रखते हैं, जिस से कहीं वह अपने हाथ छुड़ा न ले, उपचारिका के हाथ से सिरिंज और सुई को गिरा न दे, और किसी कर्मचारी पर प्रहार न कर दे। जब एनीमा द्वारा दवाई पहुँचानी हो तो रोगी को करवट के बल लिटाकर उसकी जंघाओं को उसके पेट से सटा दिया जाना चाहिये। ऐनीमा देने के बाद यह जरूरी होता है कि गुब्बारे या सिरे को कुछ क्षणों तक गुदा में रोके रखा जाय। जब इसे गुदा से निकाला जाता है तो नितम्बों को थोड़ी देर तक हाथ से दबाये रखा जाता है।

मनोवियोजी औषधि द्वारा चिकित्सा के प्रयोग से मनः प्रेरक उत्तेजना को नियंत्रित करने की समस्या हल हो चुकी है। मनोप्रेरक उत्तेजना धीरे-धीरे भी विकसित हो सकती है, और अकस्मात भी। इसे दूर करने के लिये निम्न दवाएं हैं: अमीनाजीन

(2.5 प्रतिशत वाला घोल), तिजरसीन (लेवोमेप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड) 3-6 मि॰ लि॰ की खुराकों में, हेलोपेरिडोल (0.5 प्रतिशत वाला घोल, 2-3 मि॰ लि॰), ट्रिफ्टैजीन (0.2% का घोल, 35 मि॰ लि॰)। इनमें से किसी का भी उपयोग हो सकता है। अपस्मारी से पीड़ित यदि मनोप्रेरक उत्तेजना में हो, तो 0.5 प्रतिशत घोल वाले सेडुक्सीन को 2-4 मि॰ लि॰ की खुराक में देते हैं।

स्थिर भीतियाँ और विभ्रम में हेलोपेरीडोल (हंगेरी की शामक औषधि) दी जाती हैं। किसी भी हेतुकी के अवसाद में प्रतिअवसादी औषधियाँ दी जाती हैं। मन्द अवसाद में चिमाइजीन 25 ग्रा॰ की खुराक दिन में एक बार से लेकर तीन बार तक दी जाती है और संत्रास में 10 मि॰ ग्रा॰ एमाइट्रिप्टालीन की खुराक दिन में दो से तीन बार दी जाती है।



चित्र 35. उत्तेजित रोगी को पकड़ने की विधियाँ (A, B)।

उपरोक्त औषधियों के अलावा गर्म जल स्नान (35 से 37° सें०) का सुखदायक प्रभाव होता है। उन्मादी उत्तेजना में देर तक के (एक घंटे या इससे ज्यादा) स्नान की सिफारिश की जाती है। अधिक समय तक स्नान वाले रोगी की हृदक्रिया पर निगाह रखना जरूरी है। देर तक स्नान की विधि में जल का तापमान 35° सें० से नीचे नहीं गिरने देना चाहिये। मनःप्रेरक उत्तेजना को शांत करने के लिये स्नान, देर तक स्नान की विधि चिकित्सक की सलाह पर दी जाती है।

इर्द-गिर्द के लोगों के प्रति आक्रमणशील क्रिया की प्रवृत्ति के साथ अचानक उत्तेजना होने पर चिकित्सक के आने तक रोगी को रोके रखना आवश्यक है। इस काम को करने के लिये कम से कम दो लोगों की जरूरत होती है: एक रोगी को पैर से पकड़ता है और दूसरा उसके हाथ (चित्र 35a)। जब तीन लोग होते हैं तो एक रोगी का सिर थामता है, दूसरा कलाई से उसके हाथ पकड़ता है और तीसरा रोगी के दोनों पैर पकड़ता है (चित्र 35b)। यदि उत्तेजित रोगी को एक वार्ड से दूसरे वार्ड में ले जाना हो या चिकित्सक के कमरे में ले जाना हो तो निम्नलिखित पद्धति अपनायी जाती है: रोगी के पीछे से जाकर उसकी कलाइयों को पकड़ कर उसके हाथों का क्रास बना दिया जाता है (चित्र 36)। अच्छा हो कि रोगी के बराबर चला जाय और एकदम उसके आगे या पीछे नहीं, क्योंकि वह पीछे की तरफ लात चला सकता है या सिर से आगे टक्कर मार सकता है। ऐसी टक्कर से बचने के लिये रोगी की क्रास की हुई बांहों को यथासंभव ऊँचा रखा जाता है। यदि दो परिचारक रोगी के साथ हों तो उनमें से प्रत्येक रोगी की कलाई आगे से और उसी बांह को कोहनी के ऊपर से पिछली तरफ से पकड़ कर ले जाते हैं। रोगी की बांहों को यथासंभव दूर फैलाकर और कंधों तक उठाकर पकड़ते हैं, जिससे कि रोगी सिर से हमला न कर सके।

यदि रोगी चरम सीमा तक उत्तेजित हो जाय और उसे कोई ऐसी चीज मिल जाय जिसका इस्तेमाल वह अपनी रक्षा करने व दूसरे पर आक्रमण करने के लिये कर सके, तो ऐसे रोगी के साथ सामने से कंबल लेकर जाया जाता है और एक क्षण में रोगी के सिर पर कंबल फेंका जाता है और रोगी को जबर्दस्ती बिस्तर पर लिटा कर 100 से 150 मि० ग्रा० एमिनाजीन अंतरपेशीय इंजेक्शन से देते हैं।



चित्र 36. उत्तेजित रोगी का अनुरक्षण।

अपस्मारी रोगी में मनोप्रेरक उत्तेजना होना उसके आस-पास के लोगों के लिये खतरनाक है, क्योंकि मानसिक संभ्रम की हालत में रोगी भयावह विभ्रम से पीड़ित होकर अपने बचाव के लिये पागलपन के दौरे में प्रचंड हो सकता है। ऐसे पागल आदमी को पांच या छः लोग भी मुश्किल से ही काबू में रख पाते हैं। यदि वहाँ पर्याप्त सहायक उपलब्ध न हों तो स्वास्थ्यलाभ पाने वाले रोगियों की सहायता लेनी चाहिये।

पहले अति उत्तेजित रोगी को पार्थक्य में रखते थे। पर अब ऐसा नहीं किया जाता क्योंकि पार्थक्य से रोगी की उत्तेजना बढ़ती है और उसे बहुत गुस्सा हो जाता है तथा उसकी मानसिक हालत और भी खराब हो जाती है। अपस्मारी दौरे की तरह मंद्दयुतिक अवस्था वाली उत्तेजना के दुखाभास को रोकने के लिये एमीनाजीन (100 से 200 मि० ग्रा० अंतरपेशीय) दी जाती है।

मनोविकारी चिकित्सालय में रात्रि के समय कर्मचारी को विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिये। रात्रि के समय ड्यूटी वाले व्यक्ति को रोगियों के बीच घूमते रहना चाहिये, और विशेषकर ऐसे रोगियों के बीच, जिनको कड़ी निगरानी की जरूरत होती है। यदि रोगी रात में शौच या मूत्र के लिये जाय तो यह देखना चाहिये कि वह वार्ड में अपनी जगह पर वापस आ गया है या नहीं।

ड्यूटी वाले कर्मचारी, उपचारिका या चिकित्सक के सहायकों को चाहिये कि वे अवश्य ही हर रोगी के व्यवहार और हालत का रिकार्ड रखें। वार्ड में चक्कर लगाने से पूर्व हर चिकित्सक को चाहिये कि वह अवश्य ही इन डायरियों को पढ़ ले। रोगी की हालत में क्या परिवर्तन हुआ है, रोगी का कोई वक्तव्य जो रोगी के दिमाग में किसी स्वस्थ विचार की पुष्टि करे, उसके किसी इरादे को सामने लाये—इस सब का विवरण सहित वर्णन इन डायरियों में होना चाहिये। किसी दौरे का लिखित वर्णन चिकित्सक को यह निर्धारित करने के लिये पर्याप्त रूप से सटीक होना चाहिये कि रोगी को अपस्मारी दौरा था अथवा हिस्टीरिया का आक्षेप। विभाग में हुई किसी भी तरह की घटना को (रोगियों के बीच कलह, झगड़ा या किसी कर्मचारी पर हमला, उत्तेजना के आकस्मिक दौरे, और आत्महत्या के प्रयास) रोगियों की डायरी में नोट किया जाना चाहिये।

अपनी पारी छोड़ने से पहले ड्यूटी वाली उपचारिका को सब कर्मचारियों (चिकित्सक, उपचारिका, चिकित्सक के सहायक और परिचारक) की उपस्थिति में एक जबानी रिपोर्ट पढ़नी चाहिये, जिस में उस की पारी में घटित सभी घटनाओं का जिक्र हो और विशेष ध्यान रखे जाने वाले रोगियों का खास तौर से उल्लेख किया गया हो। ड्यूटी पर आने वाली उपचारिका को यह देखना चाहिये कि औषधि की अलमारी में ताला ठीक ढंग से लगा हुआ है और आपात्कालीन सहायता के लिये अपेक्षित औषधियाँ तथा आवश्यक यंत्र भी मौजूद हैं।

मनतंत्रिका औषधालय और चिकित्सालयों में चिकित्सक के निकट संपर्क में आने वाली उपचारिकाओं और परिचारकों के कार्य को **सही ढंग से संगठित करके** बहुत से रोगियों को स्वस्थ किया जा सकता है और वे (रोगी) अपने सामान्य काम पर लौट सकते हैं।

2

त्वचीय और रतिज रोग

प्रस्तावना

रतिज और छूतज त्वचीय रोगों पर नियंत्रण बहुत हद तक उपचारिका की कार्य-कुशलता व कर्तव्यनिष्ठता के साथ-साथ सभी कारवाइयों व हस्तोपचारों की पूर्णता पर भी निर्भर करता है।

रतिज रोग सामाजिक रोग हैं। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में इन रोगों के सामाजिक जड़ को दूर कर दिया गया है और इन रोगों की घटनाओं को कम करने के लिए विस्तृत् संगठन तथा चिकित्सा सम्बंधी कदम उठाये गये हैं। लेकिन, रतिज रोग चूंकि अब भी होते हैं, इसलिए उपचारिकाओं को इन रोगों की अभिव्यक्तियों (लक्षणों), उनके संक्रामण के पथ, उनकी रोकथाम के उपायों से भली-भांति परिचित होना चाहिए और उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि ऐसे रोगियों का (चिकित्सक के निर्देश के तहत) उपचार किस प्रकार किया जाता है। चिकित्साकर्मियों को चाहिए कि वे आकस्मिक संक्रामित रोगियों की हताश मनोदशा को आराम पहुंचाने के लिए अपनी शक्ति भर हर प्रयास करें और उन्हें स्वस्थ हो जाने का आश्वासन दें तथा जिन रोगियों को यह रोग अनैतिक कर्म के कारण हुआ हो, उन्हें हालत की घातकता और गंभीर परिणामों की संभावना के बारे में समझाना चाहिये। सभी जरूरतमंद रोगियों के लिये निःशुल्क उच्चप्रशिक्षित चिकित्सा सेवा की उपलब्धि, साथ ही चिकित्सा के राजकीय और सामाजिक संस्थानों द्वारा रतिज रोगों की रोकथाम के सर्वव्यापी प्रयास—यही है रतिज रोगों के उन्मूलन में सफलता की गारंटी।

त्वचीय रोग मुख्यतः आंतरिक अंगों, अंतःस्रावी ग्रंथियों और विशेषकर तंत्रिका तंत्र की क्रिया में विभिन्न प्रकार की गड़बड़ियों के कारण होते हैं। औषधियों के अविवेकी प्रयोग से तथा पूरे शरीर और त्वचा पर विभिन्न प्रकार के क्षोभकों के प्रभाव से बहुधा त्वचीय रोग होते हैं। कभी-कभी त्वचीय रोग व्यावसायिक प्रकृति के होते हैं। इनमें से कुछ सांसर्गिक होते हैं और इनके नियंत्रण के लिये निरोधक उपाय विशेषरूप से महत्वपूर्ण होते हैं। कुछ रोगियों में यह रोग आनुवंशिकता (जीनत्वक रोग) से निर्धारित होते हैं।

उपचारिकाओं को त्वचा रोग के लक्षणों से अवश्य ही परिचित होना चाहिये और इस प्रकार के रोगियों की देखभाल करने में (जिनकी हालत कभी-कभी बहुत खराब होती है) तथा चिकित्सक के निर्देशानुसार उनका उपचार करने में उन्हें समर्थ होना चाहिये।

सोवियत संघ में रतिज और त्वचा रोगों के निरोध को विशेष महत्व दिया जाता है। उपचारिकाओं को इन रोगों के नियंत्रण के लिये चलने वाले निरोधक अभियानों के कार्यान्वियन में अवश्य भाग लेना चाहिये।

I सामान्य

त्वचा की संरचना और उसके कार्य

त्वचा मानव शरीर की सम्पूर्ण सतह को ढके हुए हैं और प्राकृतिक द्वारों (मुंह, नाक, जननेन्द्रियों और गुदा के चारों ओर) के क्षेत्र में श्लेष्मा कला से जुड़ी हुई है। एक वयस्क की त्वचा की सतह 1.5 से 2.0 वर्ग मीटर तक होती है। त्वचा मनुष्य के शरीर को प्रतिकूल परिवेशी प्रभावों से बचाती है और चयापचयी प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेती है।

त्वचा की शरीर रचना

त्वचा की तीन पर्तें होती हैं: (1) बाह्य त्वचा, ऊपर की पर्त, (2) त्वचा, या अंत:त्वचा, या असली त्वचा, (3) अधस्तक कोशिका ऊतक या अधस्त्वक (त्वचा का गहरा भाग) (प्लेट)। इन पर्तों के भ्रूणीय मूल में भेद हैं। बाह्य त्वचा बहिर्जनस्तर (प्राथमिक बीजांकुर-सतह के सबसे ऊपर के भाग) से और अन्तस्त्वचा तथा अधस्त्वक वसा मध्यजनस्तर (बीच की प्राथमिक बीजांकुर-सतह) से उभरती हैं।

बाह्य त्वचा उपकलात ऊतक है और निम्नलिखित पांच पर्तों से बनी होती है: (1) आधार स्तर, (2) कंटक स्तर, (3) कणमय स्तर, (4) स्वच्छ स्तर, (5) शल्क स्तर या शृंगी स्तर (चित्र 37)। इनमें रक्त वाहिकाएं नहीं होतीं और कोशिकाओं को पोषण अंतर्कोशिका रेखाछिद्रों की लसीका से प्राप्त होता है। बाह्य त्वचा में बहुत सी तंत्रिकाओं के छोर होते हैं।

आधार-स्तर बाह्य त्वचा की सबसे गहरी पर्त होती है और यह अन्तस्त्वचा से जुड़ी होती है; यह स्तम्भाकार कोशिकाओं की एक श्रेणी है। बाह्य त्वचा की कोशिकाएं यहां विभाजित होती हैं। इन कोशिकाओं में भूरे वर्णक, मैलेनिन की कणिकाएं होती हैं, जिनकी मात्रा त्वचा के रंग को निर्धारित करती है। गर्म देश के वासियों में मैलेनिन की मात्रा बहुत होती है, एक ही आदमी के विभिन्न त्वचा-क्षेत्रों में इनकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मैलेनिन कोशिका-केन्द्रकों और गहरे ऊतकों पर पड़ने वाले पराबैंगनी किरणों के प्रतिकूल प्रभाव से जीव की रक्षा करती है।

पसीना प्रतिदिन निस्सारित करती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में यह निस्सारण बढ़कर 1500 मि० ली० या इससे भी अधिक हो सकता है। स्वेदन ग्रन्थियां नालिकीय संरचना की होती हैं और यह एक काय सर्पिल नालिका के रूप में) और निकासिकी वाहिका की बनी होती हैं। कुण्डली (ग्रन्थि का स्रावी भाग) अधस्त्वक त्वचा में होती है, जबकि वाहिनी बाह्य त्वचा की पूरी मोटाई में फैली रहती है और त्वचा की सतह पर खुलती है। हथेलियों, तलवों और चेहरे पर स्वेदन ग्रन्थियां विशेषकर अधिक होती हैं, जबकि शिश्न के मुण्ड पर, शिश्नमुंडच्छद की अंदरूनी सतह पर और गुह्य अधरों की बाहरी सतह पर एक भी स्वेदन ग्रन्थि नहीं होती। उत्सर्गी कहलाने वाली साधारण स्वेदन ग्रान्थियों के अलावा शिखर उत्सर्गी ग्रान्थियां भी होती हैं जो काँख, जननांगों, चूचक और गुदा के चारों ओर की त्वचा में होती हैं। ये उत्सर्गी ग्रंथियां बड़ी होती हैं तथा त्वकवसीय–रोमपुटक के ऊपरी भाग में खुली हुई होती हैं और इनका सम्बन्ध लिंग ग्रंथियों की सक्रियता से होता है। शिखर उत्सर्गी स्वेदन ग्रंथियां परिपक्वता काल में कार्य करना शुरू कर देती हैं।

त्वकवसीय ग्रंथियों की संरचना सम्मिश्र खंडकीय होती है। ये रोमकूपों को घेरे रहती हैं (प्रत्येक रोमकूप के चारों ओर छः से आठ ग्रंथियां तक होती हैं) और इन वाहिकाओं की निकासी रोमकूप के ऊपरी भाग में होती है तथा कभी-कभी ये त्वचा की सतह पर खुलती हैं। ये त्वकवसीय ग्रंथियां सिर, चेहरे और पीठ के ऊपरी भाग में अधिक संख्या में होती हैं।

सभी त्वचा ग्रंथियों में वाहिकाएं और तंत्रिकाओं के सिरे होते हैं। ये सिरे संयोजी ऊतक सम्पुट में होते हैं।

बाल **लंबे** (शिरोवल्क, दाढ़ी, मूंछ, कांखों, जघनास्थि और बाह्य जननांग के), **बड़े और खुरदरे** (भौंह, आँखों की पलकों, नथुनों और बाहरी कानों के), **घुरे हुए** नीचे की ओर (बाहों और धड़ में) होते हैं। बालों का स्वतंत्र भाग त्वचा की सतह से ऊपर उठा हुआ होता है। लोम का त्वचा में जो भाग छिपा रहता है उसे मूल कहते हैं। कलाओं से ढके लोम-मूल और संयोजी ऊतक सुपुट को **लोमकूप** कहते हैं। मूल के निकटस्थ चौड़े भाग को **लोमकन्द** (लोम कोशिकाओं के विभाजन का स्थान) कहते हैं और इसके साथ ही **लोम अंकुरक** होता है (जिसमें रक्त वाहिकाएं लोम और तंत्र तंतुओं को पोषण लाती हैं)। मध्य भाग (अंतस्था) और बाहरी भाग (प्रान्तस्था) को लम्बे केशों से पहचाना जाता है। केशों की कला को उपत्वचा कहते हैं। कंदों से केश धीरे-धीरे बढ़ते हैं और 24 घंटों में इनकी लम्बाई बढ़ कर 0.3 मि० मि० से 0.5 मि० मि० तक हो जाती है। त्वकवसीय ग्रंथियां लोमकूप के ऊपरी भाग तक बहती हैं।

त्वचा की पेशियां. लोम को उठाने वाली पेशियां और वाहिकाओं की दीवारों में पाये जाने वाले पेशीय तंतु तथा स्वेद ग्रंथियां त्वचा की चिकनी और अनैच्छिक पेशियों के समूह में आते हैं। पेशी हर्षणी के संकुचन से केश लम्बीय स्थिति में खिंच

जाता है और त्वकवसीय ग्रंथियों से स्रवण होने लगता है। चेहरे के भाव और सजीवता की पेशियां खिंच जाती हैं।

नाखून. नाखून एक कठोर श्रृंगी पट्टिका है जिसकी बाह्य कला चमकती है; यह नख-शय्या पर स्थित होता है। नख-शय्या दोनों तरफ से तथा समीपस्थ छोर तक त्वचा परत से परिसीमित होती है और इसे नख दीवार (अधिनख) कहते हैं। नख प्लेट में जड़, शरीर और खुला हुआ किनारा होता है। प्लेट का समीपस्थ भाग त्वचा की परत के अंदर होता है। इसी स्थान से नख उगता है।

त्वचा की तंत्रिकाएं. त्वचा में तंत्रिका तंतु, तंत्रिका के सिरे और विशेष तंत्रिका अंतस्थ उपकरण होते हैं। अधस्त्वक वसा स्तर स्थित तंत्रिका जालिका से तंत्रिका की शाखाएं निकलती हैं और ये रोमकूप, त्वकससीय और स्वेदन ग्रंथियों, त्वचा की वाहिकाओं और पेशियों तक फैली होती हैं। त्वचा में बहुत सी संवेदी तंत्रिकाएं होती हैं और विशेष अन्तस्थ उपकरण होते हैं जो पीड़ा, गर्म, सर्द, दबाव और स्पर्श के संवेद को महसूस करते हैं।

त्वचा की शरीरवृत्ति (क्रिया)

त्वचा और इसके उपांग, जो शरीर के बाह्य और आंतरिक पर्यावरण के बीच स्थित एक ऐसे अवयव होते हैं जो जीव की कई महत्वपूर्ण क्रियाएं सम्पन्न करते हैं। तंत्रिकातंत्र, परिसंचरण और अंतःस्रावी ग्रंथियों के द्वारा त्वचा जीव से जुड़ी होती है। यह प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, जल-खनिज और विटामिन के चयापचय में शामिल रहती है।

संरक्षी क्रिया. दृढ़ श्रृंगी परत, मजबूत और लचकदार तंतु तथा अधस्त्वक वसा जीव (शरीर) की बलकृत (घूंसे, रगड़, दाब इत्यादि), भौतिक (उच्च और निम्न तापमान इत्यादि) और रासायनिक उद्दीपकों से रक्षा करते हैं। त्वचा पर जल–वसा की पर्त होती है, जिसकी अम्लीय प्रक्रिया शरीर में सूक्ष्मजीवियों को घुसने नहीं देती है और न ही रासायनिक पदार्थों के प्रभाव को कमजोर होने देती है। त्वकवसीय और स्वेदनग्रन्थियों के स्राव में जीवाणुनाशी गुण होते हैं। श्रृंगी कोशिकाओं की ऊपरी श्रेणियों के लगातार विशल्कन से त्वचा के विसंक्रमण गुण बने रहते हैं। बाह्य त्वचा की कोशिकाओं में बनने वाले मैलेनिन वर्णक उगाने वाली परत (मैल-पिगीय) की सूर्य विकीरण तथा अन्य विकीरण कारकों से रक्षा करते हैं। त्वचा की उष्माचालकता कम होती है जिसके कारण जीव की अतिशीतन और अतितापन से रक्षा होती है।

त्वचा की प्रक्रियता और जीव की प्रतिरक्षा वाले गुणों का संबंध भी त्वचा की सुरक्षात्मक क्रिया से होता है। बच्चों और तंत्रिका रोग तथा आंतरिक अंगों के रोग से पीड़ित व्यक्तियों की रोगक्षमता घट जाती है और प्रतिक्रिया घटती या बढ़ती है।

इसलिए बहुत से त्वचा रोग (उदाहरणार्थ त्वक पूयता) आसानी से हो जाते हैं और उनका **दौर** बदलता रहता है।

संवेदी अंग के रूप में त्वचा. अनेकानेक तंत्रिकांतों और अन्तस्थ तंत्रिका उपकरणों के त्वचा में मौजूद होने से बाह्य पर्यावरण से प्राप्त विभिन्न प्रभावों के उद्दीपकों को त्वचा महसूस करती है और उन्हें केंद्रीय तंत्रिका तंत्र को प्रेषित करती है। ये उद्दीपन (संकेत) प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था में पहुँचकर पीड़ा, स्पर्श, दवाव, गर्म और सर्द इत्यादि के संवेदन में परिवर्तित हो जाते हैं। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां (दृष्टि, श्रवण और घ्राण) त्वचा के स्पर्श-संवेदन से मिलकर मनुष्य को (स्वयं को) पर्यावरण के अनुकूल होने में समर्थ बनाती हैं।

स्रावी और उत्सर्गी क्रियाएं. त्वकवसीय और स्वेदन ग्रन्थियों द्वारा कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थों, खनिज चयापचयी उत्पादकों, कार्बोहाइड्रेट, विटामिनों, हार्मोन, एन्जाइमों और काफी मात्रा में जल का स्रवण होता है। इसे पता लगता है कि त्वचा चयापचयी क्रियाओं में भाग लेती है। तीव्र पेशीय आयास, ज्वर या उच्च परिवेशी तापमान होने से स्वेदन द्वारा सामान्य रूप से 300 से 800 मि० ली० पसीना निकलने की अपेक्षा दो से चार लीटर तक निकल जाता है। त्वकवसीय ग्रंथियों द्वारा रोज 20 ग्राम त्वकवसा का स्राव (वसीय स्राव) होता है।

बच्चों में स्वेदन ग्रंथियां पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती हैं इसीलिये जल मुख्यतः त्वचा पारस्रवण के रूप में निकल जाता है। यह पारस्रवण बाह्य त्वचा की पतली श्रृंगी परत और विस्फरित लस वाहिका तथा रक्त वाहिकाओं की दीवारों की बढ़ी हुई पारगम्यता के कारण बढ़ जाता है। बच्चे की त्वचा में जल और खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में होने से उसकी कोशिकाओं, संयोजी कोशिका-तंतुओं और अंतराकोशिका पदार्थों में सघन चयापचय होता है।

श्वसन क्रिया और अवशोषण का गुण. त्वचा के द्वारा कुछ आक्सीजन अंदर जाती है और कुछ कार्बनडाइआक्साइड और जल-वाष्प निष्क्रमित होता है। इस प्रकार फेफड़ों की श्वसन क्रिया की आंशिक पूर्ति होती है (फेफड़ों द्वारा गैसों के विनिमय की अपेक्षा त्वचा द्वारा 1/180 आक्सीजन का अवशोषण और 1/90 कार्बनडाइ-आक्साइड का विसर्जन होता है)। वयस्कों की अपेक्षा इस क्रिया की अभिव्यक्ति शिशुओं में अधिक होती है। स्वस्थ त्वचा द्वारा जल और कठोर पदार्थ का अवशोषण नहीं के बराबर होता है। कुछ रसायन और औषधियों (ईथर क्लोरोफार्म, सैलिसिलिक अम्ल, आयोडीन और पारद के बाइक्लोराइड इत्यादि) का अवशोषण अधिक सरलता से होता है।

त्वचा की तापनियमन क्रिया का संचालन केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के द्वारा होता है। त्वचीय रक्त-वाहिकाओं के विस्फारण से और स्वेदन बढ़ जाने से ऊष्मा का उत्सर्जन बढ़ता है तथा वाहिकाओं के संकुचन और स्वेद स्राव के घटने से घट जाता है। शरीर से बाह्य पर्यावरण में ऊष्मा का उत्सर्जन त्वचा के द्वारा होता है।

त्वचा-स्वास्थ्य विज्ञान

त्वचीय रोगों को रोकने के लिये त्वचा की सफाई और उसकी देखभाल का बहुत महत्व है। त्वगवसा, स्वेदन, शृंगी परत की विशल्कित कोशिकाएं मनुष्य की त्वचा पर धूल और गंदगी के लगातार जमा होते रहने से रोगजनक जीवाणुओं के जनन के लिये अनुकूल परिस्थितियां बनाती जाती हैं। इसीलिये त्वचा-रोग की रोकथाम के लिये त्वचा को साफ रखना अपरिहार्य है। ऐसे लोग जो अपने काम के दौरान मशीनी तेल, पेट्रोलियम टार, मिट्टी के तेल, गैसोलिन आदि के सम्पर्क में आते हैं, उन्हें अपनी त्वचा को दैनिक रूप से साफ करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्षोभकों का निराकरण करना चाहिये और छोटी सी भी चोट का उपचार करना चाहिये। बहुत से उद्यमों में व्यक्ति की त्वचा को सुरक्षित करने के साधनों में विभिन्न प्रकार के लेप X ИОТ-6, ПМ-1, ИЭР-1, जीव विज्ञानी दस्ताने इत्यादि) और मलहम (सेलिस्की, कोचेरगिन और अन्य) भी सम्मिलित हैं। छोटी चोटों का उपचार 2 प्रतिशत हरे अल्कोहली घोल या आयोडीन तथा प्रतिजीवी वाले मलहम से किया जाता है। त्वचा के खुले क्षेत्र और त्वचा की सलवटें बहुधा अधिक गंदी होती हैं। ऐसे उद्यमों के चिकित्सा कर्मियों को चाहिए कि वे स्नानघर और सफाई घरों की निगरानी रखें और यह देखें कि कर्मचारियों की त्वचा ठीक तरह से साफ है या नहीं और सूक्ष्माभिघातों का समय से उपचार हुआ है या नहीं।

सूर्य विकिरण, ताजी हवा, वायु स्नान और नर्म गर्म जल में रगड़-रगड़ कर स्नान करने का प्रभाव स्वस्थ त्वचा पर अच्छा पड़ता है। स्वच्छ त्वचा को धोने के लिए क्षार रहित निष्प्रभावी साबुन सबसे अच्छा होता है। सूखी त्वचा वाले व्यक्तियों और शिशुओं के लिए अधिक मात्रा में वसा वाले साबुन (जिनमें लैनोलिन, ग्लीसरीन या तार और बेबी सोप) के प्रयोग करने की सिफारिश की जाती है। जिस व्यक्ति के चेहरे की त्वचा सूखी हो, उसे साबुन के बिना ही मुंह धोना चाहिए।

त्वक-रतिरोग चिकित्सालय में भर्ती सभी रोगियों का निरीक्षण उपचारिका द्वारा ध्यानपूर्वक किया जाता है। यूका या लीख (जूँ) मिलने पर केश काट देने चाहिए और यदि आवश्यक हो तो बालों को उस्तरे से साफ करना चाहिए और शरीर के बालों वाले भागों को विशेष साबुन से, जिसमें पोटाश हो, साफ करना चाहिए या फिर क्लोरोफेनोथेन (डी० डी० टी० साबुन) का प्रयोग करना चाहिए।

ऐसे रोगी जिनकी हालत संतोषजनक हो, मसलन उनको विसरित पूयत्वक रोग या कवक रोग न हो, फव्वारे से नहा सकते हैं। जिनकी हालत अधिक खराब हो, उन्हें स्नान कराया जाता है। कमजोर रोगियों को स्नान टब में लिटा कर कराते हैं और फिर चादर पर बाहर निकाल लेते हैं। इन रोगियों को उपचारिका का सहायक नहलाता है। अधिक गंभीर होने पर उपचारिका भी रोगी को स्नान कराने में सहायता करती है। धड़ और अंगों में पूयत्व रोग और कवक रोग में फव्वारे से

स्नान निषिद्ध है। ऐसी हालत में स्वस्थ त्वचा के भागों को एक के बाद एक टैम्पन (पिचु) को कर्पूरित स्प्रिट में भिगोकर उससे रगड़-रगड़ कर, पोंछ कर, सुखाया जाता है।

उपचारिकाएं और परिचारकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी त्वचा स्वास्थ्य निर्देशों का उल्लंघन न करे और स्वयं ही उनका कड़ाई से पालन करें।

त्वचीय और रतिज रोगों के सामान्य लक्षण

त्वचीय और रतिज रोग सम्पूर्ण शरीर की बीमारी होते हैं और इनकी अभिव्यक्ति त्वचा और श्लेष्म कला की विक्षति में ही नहीं होती, बल्कि विविध सामान्य लक्षणों में भी होती है। आत्मगत और वस्तुगत लक्षणों में अंतर किया जाता है। आत्मगत लक्षणों के अंतर्गत खुजली, दर्द, ठंड और जलन की अनुभूति होती है, तंगी सुन्नता और तनाव आते हैं।

वस्तुगत लक्षण त्वचा के रंग, उसकी प्रत्यास्थता आदि से संबंधित हो सकते हैं या ये एकदम फूट पड़ने वाले लक्षण कहे जा सकते हैं। स्फूटन शोथ और बिना शोथ के हो सकते हैं। त्वचा और रतिज रोगों के बहुत से स्फूटन शोथज लक्षण वाले होते हैं। गुल्म, चकत्ते (वर्णकता के धब्बे) शोथ, अतिकिरेटिनता इत्यादि शोथज रहित अभिव्यक्ति होती हैं।

त्वचीय स्फूटन से अलग-अलग आकृतिक विक्षतियां होती हैं जैसे, प्राथमिक और द्वितीयक अथवा क्रमिक। **प्राथमिक आकृतिक विक्षति** प्रकट रूप से पहले स्वस्थ त्वचा पर बाह्य और आंतरिक उद्दीपक की तुरंत प्रक्रिया के रूप में होती है। द्वितीयक (क्रमिक) आकृतिक विक्षति प्राथमिक और द्वितीयक तत्वों के विकास के परिणामस्वरूप होती है।

त्वचा में विकृतिजन्य परिवर्तन होने की प्रक्रिया की संपूर्णता को देखते हुए आकृतिक विक्षति का प्राथमिक और द्वितीयक में पृथक्करण औपचारिक है।

प्राथमिक आकृतिक विक्षतियां

प्राथमिक विक्षतियों को अंतःसंचारित और निःस्रावी विक्षति के रूप में पहचाना जाता है। अंतःसंचारित विक्षति के अंतर्गत चकत्ता, पिटिका, गुलिका और पर्विका आते हैं तथा निःस्रावी विक्षति के अंतर्गत पुटिका, फफोला, पूर्यस्फोटिका और ददौड़ा।

चकत्ता त्वचा के रंग में हुआ स्थान-संश्रित परिवर्तन है। यह बहुधा त्वचा की सतह से ऊपर उठा हुआ नहीं होता है और सघनता में यह त्वचा से अलग नहीं होता।

वाहिकामय और वर्णकयुक्त चकत्तों में विभेद किया जाता है। वाहिकामय चकत्ते शोथज या शोथ रहित हो सकते हैं। शोथज वाहिकामय विभिन्न आकार की स्थान-

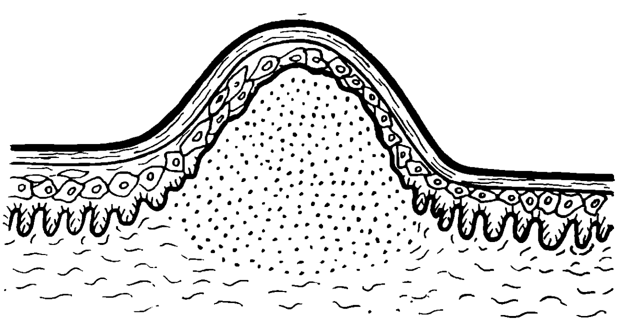
संश्रित ललाई है, जो बाह्य और आंतरिक उद्दीपकों का परिणाम होती है। यह ललाई गुलाबी लाल होती है जो बाद में नीले या भूरे रंग में बदल जाती है। 1.0 से 2.0 से० मी० व्यास वाले गुलाबी धब्बों को ददौड़ा (ये सिफिलिस, खासरा, स्कारलेट और टाइफस ज्वर इत्यादि में होते हैं), इससे बड़े चकत्ते को त्वगरक्तिमा (त्वकशोथ में, जो सूर्य किरणों के बहुत प्रभाचाधीन होने से होते हैं) कहते हैं।

त्वचीय वाहिकाओं के दीर्घकालीन स्थायी विस्फारण के फलस्वरूप **शोथज-रहित** वाहिकामय **चकत्ते** बनाते हैं। ये अर्जित (वाहिका स्फीति) भी हो सकते हैं और जन्मगत (वाहिकामय जन्म के निशान) भी।

जब रक्त वाहिकाओं से निकलकर त्वचा कोशिकाओं में चला जाता है तब स्रावी चकत्ते बनते हैं। जो पहले लाल होते हैं और फिर हेमोग्लोबीन के विघटन के फलस्वरूप नीले या हरापन लिए पीले हो जाते हैं। ये दबाने से मिटते नहीं हैं।

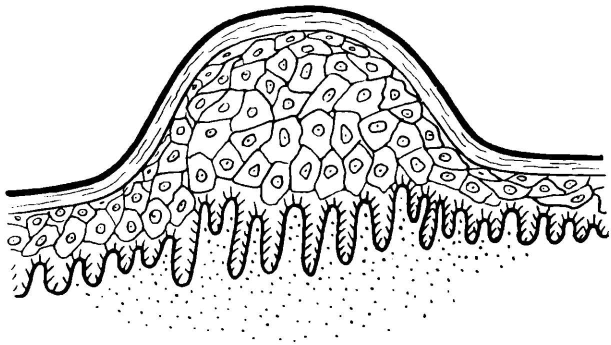
स्थान-संश्रित त्वचीय क्षेत्रों में मैलेनिन वर्णक की मात्रा के घटने या बढ़ने से वर्णकयुक्तता के धब्बे पड़ जाते हैं। ये जन्मजात ("जन्म चिन्ह" वर्णक की बढ़ी हुई मात्रा, वर्णक की मात्रा घटने के कारण विवर्णकता से रंजहीन धब्बे) या अर्जित (वर्णक की मात्रा बढ़ी होने पर मेचक और त्वक विवरणता, वर्णक की मात्रा घटने से श्वित्र या चितकबरी त्वचा) हो सकते हैं।

पिटिका अंतःसंचारित और त्वचा के ऊपर ठोस उभार सा होता है, जिसमें कोई गुहिका नहीं होती और यह बिना किसी निशान के गायब हो जाती है या कुछ समय के लिये वर्णक छोड़ जाती है। बाह्य त्वचा में होने वाली पिटिका को बर्हिजनस्तरीय कहते हैं और जो त्वचा में होती है उसे त्वचीय कहते हैं (चित्र 38)।



चित्र 38. त्वचीय पीटिका (कार्य प्रदर्शी आरेख)।

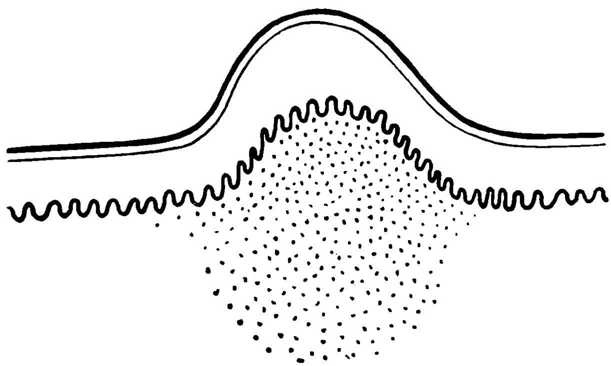
बहुधा यह क्रिया बाह्यय त्वचा और त्वचा में एक साथ होती है जिसमें कि बहिरत्वचीय-त्वचीय पिटिकाएं बनती हैं। (चित्र 39)। शोथज अंतःसंचरण अतिरक्तता और सूजन होने से शोथज पिटिकाएं बनती हैं (सिफिलिस, सोरियासिस, छाजन)। किसी त्वचा की पर्त मोटी होने से शोथज रहित पिटिकाएं (मस्सा इत्यादि) हो



चित्र 39. बाह्य त्वचा – त्वचीय पिटिका (कार्य प्रदर्शी आरेख)।

जाती हैं। पिटिका का आकार पिन के सिरे (विकरित पिटिका) और मसूर या मटर से लेकर बड़े सिक्के के आकार के बराबर तक होता है। बहुत सी संगामी पिटिकाएं चकत्ते का रूप ले लेती हैं।

गुलिका अंत:स्त्रावी त्वचा का उभार है जिसमें गुहिकाएं नहीं होतीं और यह पिटिका की अपेक्षा अधिक गहरी होती है (चित्र 40) और इसका सदैव ही परि-



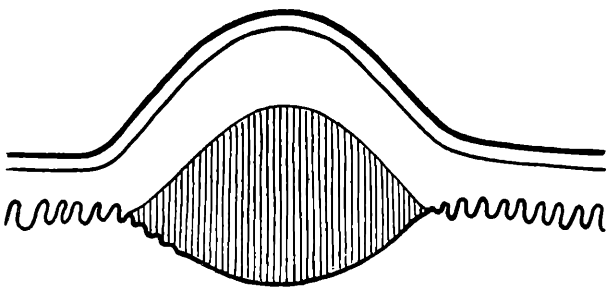
चित्र 40. गुलिका (आरेख)।

मलन होता रहता है जिससे कि द्वितीयक परिवर्तन होते हैं तथा त्वचा पर व्रण चिन्ह या क्षतांकज शेष रह जाता है।

पर्विका शोथज या शोथ रहित हो सकती है। शोथज पर्विका एक बड़े अंतरस्त्रावी आकार की हो सकती है (एक सेम के दाने के आकार से लेकर मुर्गी के अंडे के आकार तक की)। यह अधस्त्वक वसा में होती है। पर्विकाएं परिगलित हो सकती हैं, व्रण का रूप ले सकती हैं और क्षंताकित हो जा सकती हैं (सिफलिस गंम्मा या यक्ष्मज त्वकगलन में) या फिर ये कोई भी क्षतांक छोड़े बिना धीरे-धीरे अवशोषित हो सकती हैं।

शोथज–रहित पर्विका समूह के अंतर्गत वसार्बुद, तंतुअर्बुद तथा त्वचा अर्बुद आदि शामिल होते हैं।

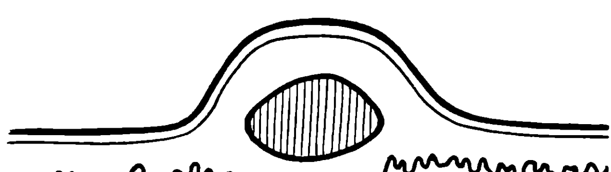
जलस्फोट एक निःस्रावी गुहिकी विक्षति है जिससे कि त्वचा थोड़ी सी उभर जाती है। इसका आकार पिन के सिरे से लेकर मटर के दाने के बराबर तक हो सकता है तथा इसमें स्वच्छ तरल भरा होता है (चित्र 41)। बाद में जलस्फोट की सतह नष्ट हो कर अपरदन या पपड़ी बन जाती है।



चित्र 41. जलस्फोट पुटिका (आरेख)।

फफोला एक निःस्रावी गुहिकामय विक्षति है जिसमें कि स्वच्छ तरल भरा होता है। यह बड़ा होता है (इसका आकार हेजिल के दाने से लेकर मुर्गी के अंडे या इससे भी बड़ा होता है)। फफोला भी ठीक होने पर, जलस्फोट की तरह, कोई निशान नहीं छोड़ता है।

पूय स्फोटिका एक गुहिकामय तत्व है जिसमें पस भरा होता है। यह विक्षति बाह्य त्वचा पर उपरिस्थ (इम्पेटाइगों) हो सकती है (चित्र 42) और यह बिना



चित्र 42. उपरिस्थ पूयस्फोटिका (आरेख)।

निशान छोड़े ठीक हो जाती है। यह भी हो सकता है कि यह गहरा हो (एक्थिमा में) जिससे कि त्वचा भी प्रभावित हो तथा ठीक होने पर इसका निशान रह जाये।

ददौड़ा त्वचा का निःस्रावी उभार होता है जिसमें गुहिका नहीं होती। यह अंकुरक त्वचा की सतह के स्थानिक शोथ से होता है। इसका आकार मटर के दाने से लेकर

हथेली भर के बराबर हो सकता है। इसके ऊपर की सतह लाल, गुलाबी या सफेद हो सकती है। ददौड़ा बहुत जल्दी हो सकता है और बहुधा चंद मिनट या चंद घंटों के बाद गायब हो जाता है और इसका कोई निशान नहीं रह जाता है। ददौड़े के साथ खुजली भी होती है।

द्वितीयक आकृतिक विक्षति

प्राथमिक विक्षतियों के दौरान द्वितीयक विक्षतियां हो सकती हैं। ये हैं—वर्णकयुक्तता, पर्पटी, निस्त्वचन, पपड़ी, विदर, अपरदन, व्रण, व्रणचिन्ह, शोथ, शैवाकीभवन और वर्धी।

वर्णकयुक्तता प्राथमिक (पर्विका, गुलिका, जलस्फोट, पूय स्फोटिका) या द्वितीयक (अपरदन, व्रण) विक्षतियों के लुप्त होने के बाद वर्णक के तेजी से निक्षेपण के फलस्वरूप होती है। द्वितीयक वर्णकयुक्तता में पहले लुप्त हुए वर्णक के आकार के धब्बे फिर हो जाते हैं।

पर्पटी झड़ी हुई शृंगी पट्टिका होती है। शृंगी परत से कोशिकाओं के तेजी से झड़ने को विशल्कन कहते हैं। पर्पटी आटे या चने की भूसी या उससे बड़ी हो सकती है।

पपड़ी सूखी हुई निःस्रावी है। जलस्फोट, फफोले या अपरदन, पूयस्फोटिका व्रण और खोंच के आस्राव के सूख जाने से या गुलिका और पर्विका की व्रणोप्रति से होती हैं। आस्राव के लक्षणों पर आधारित ये सीरमी सपूय या सीरमी सपूय अथवा सरक्त हो सकते हैं।

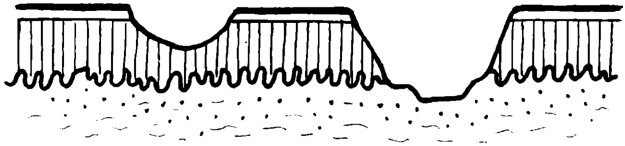
निस्त्वचन बाह्य त्वचा की बलकृत हानि (खरोंच इत्यादि) से होते हैं। ये बहुधा रेखित होते हैं।

अपसामान्य रूप से खिंची हुई उस त्वचा के रेखित विदार जैसे विदार बनते हैं, जिसका लचीलापन खत्म हो जाता है (सूखी हुई या शोथयुक्त त्वचा)। यह उपरिस्थ (त्वचा की अपेक्षा अधिक गहरा न लगा हो) या गहरा (त्वचा के अंदर तक) हो सकता है।

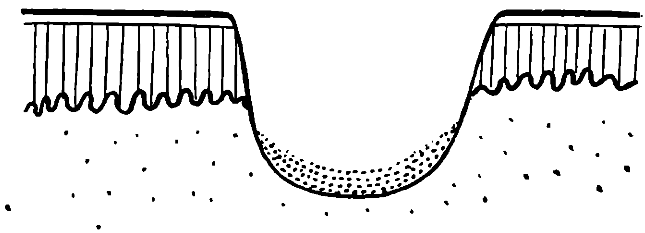
अपरदन. बाह्य त्वचा का उपरिस्थ दोष है, जिसमें अरोहीस्तर प्रभावित नहीं होता (चित्र 43a)। यह जलस्फोट, फफोले और स्फोटिका के विदार के बाद बनता है। अपरदन बिना व्रणचिन्ह के बने ठीक हो जाता है।

व्रण गहरी त्वचा का दोष है, जिसमें बाह्य और त्वचा प्रभावित होती है। यह त्वचा के अंदर अधिक गहरा भी हो सकता है (चित्र 43b)। व्रण, गुलिकाओं, पर्विका, और गहरी पूयस्फोटिका के विदार के बाद बनते हैं और ठीक हो जाने के बाद हमेशा चिन्ह छोड़ जाते हैं।

व्रण-चिन्ह खुरदरे, तंतु-संयोजी ऊतकों का बना होता है जो गहरे में त्वचा दोष होने की जगह पर (व्रण, पर्विका या गुलिका के बाद) होता है।



A



B

चित्र 43. अपरदन (A) और व्रण (B) (आरेख)।

त्वचा का क्षतांकज शोथ निःस्रावी के (गुलिका के स्थान पर, या कभी-कभी पर्विका के स्थान पर) धीरे-धीरे परिगलन से होता है जो व्रणोत्पत्ति नहीं करता, वरन इसके स्थान पर संयोजी ऊतक हो जाते हैं।

शैवाकीभवन दृढ़ हुई, मोटी, सूखी और वर्णकीय त्वचा को कहते हैं। इसका विन्यास अतिशयित होता है और खातिकाएं प्रबलित होती हैं। त्वचा की सभी पर्तों के निःस्रावी होने के कारण ऐसा होता है।

अपरदनों और व्रणों की सतह पर तथा पिटिकाओं पर अंकुरक वृद्धि को उद्भेद कहते हैं।

त्वचा और रतिज रोगों में स्फूटन एकरूपीय हो सकता है, जिसमें एक ही प्रकार की आकृतिक विक्षतियां (सिफिलिस में गुलिकाएं) तथा सिफिलिस और चर्म कील में लाल फुंसियां निकल आती हैं, या बहुरूपीय होने पर विभिन्न प्रकार की विक्षतियां हो सकती हैं। रोग एकरूपीय हो सकता है, जिसमें केवल प्राथमिक विक्षति ही रोग के पूरे काल में हो सकती है (सोरियासिस, पित्ती फुंसी, स्वेदग्रंथि शोथ, इत्यादि) या बहुरूपीय में दो या दो से ज्यादा विक्षतियां हो सकती हैं (द्वितीयक सिफिलिस, कुष्ट, इत्यादि)।

त्वचा और रतिज रोगों के निदान के सामान्य सिद्धांत

चिकित्सा-वृत्त द्वारा प्राप्त सूचना, रोगी की सामान्य हालत के लिए किये गये रोग लक्षण परीक्षण के परिणामों और तंत्रिका-तंत्र, आंतरिक अंगों और शारीरिक तंत्रों

ओ़ी हालत, त्वचा और श्लेष्मल कला के निरीक्षण तथा प्रयोगशाला में किये गये सामान्य तथा विशेष परीक्षणों की खोजों के आधार पर त्वचा रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा-वृत्त बनाते समय पूर्व रोगों और मानसिक अभिघातों, रहन-सहन की हालतों और पोषण, व्यवसायिक उपादानों, जलवायु के प्रभाव तथा अन्य बातों से, जो रोग के संचरण के लिए अनुकूल होंगी, सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं। सिफिलिस और सुजाक वाले रोगियों के चिकित्सा-वृत्त के लिए तथ्य लेने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए।

तंत्रिका-तंत्र और आंतरिक अंगों की हालत की परीक्षा करते समय आत्मगत शिकायतों का विश्लेषण किया जाता है तथा रोग के वस्तुगत लक्षण उद्घाटित किये जाते हैं (इन समस्याओं पर विस्तार से चर्चा उपचारिकाओं के स्कूल में लगी विशेष मैनुअल में की गयी है)।

त्वचा के सामान्य परीक्षण में इसके रंग, सूजन, प्रत्यस्थता, स्वेदन और त्वगवसीय ग्रन्थियों की सक्रियता, त्वग वर्णन और अधस्त्वचा तथा दृष्टिगोचर श्लेषमल कला की हालत को ध्यानपूर्वक देखा जाता है। त्वचा और श्लेष्मल कला को अच्छी रोशनी, और जहाँ तक हो सके दिन की रोशनी, में देखना चाहिए।

इसके बाद त्वचा स्फूटनों का निरीक्षण किया जाता है, जिसके लिये रोगी चिकित्सक की सलाह लेने आता है। स्फूटन का स्थान संश्रय और इसके लक्षणों (स्थानिक, त्वचा के विभक्त क्षेत्रों में, त्वचा के बड़े क्षेत्र में विसरित, सर्वव्यापी (त्वचा की पूरी सतह पर प्रभाव) को नोट किया जाता है। शरीर के दोनों तरफ होने वाले सममितीय स्फूटन तथा केवल एक ओर होने वाले असंमितीय विस्फोट देखे जाते हैं।

फिर इस बात को निश्चित किया जाता है कि यह क्रिया शोथज है या अशोथज। शोथज क्रिया का रूप तीव्र (गहरा लाल) हो सकता है और तीव्रताहीन भी।

प्राथमिक और द्वितीयक विक्षतियों का पता करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनका रंग, आकार, रूपरेखा, शक्ल और गाढ़ापन तथा उनकी सतह के लक्षण नोट करना जरूरी है। यह नोट करना चाहिए कि ये विक्षतियाँ सामूहिक रूप से हैं या बिखरी हुई हैं, त्वचा की सतह पर हैं या ये परिसरीय वृद्धि हैं (इसका पता बार-बार निरीक्षण करने से लगता है)। यह पता करना भी जरूरी है कि यह स्फूटन एकरूपीय है या बहुरूपीय। असली बहुरूपता में दो या अधिक प्राथमिक तत्व एक ही समय पर दिखायी देते हैं (उदाहरण के लिए चकत्ते, पर्विका और जलस्फोट)। नकली बहुरूपता में स्फूटन में कई द्वितीयक विक्षतियाँ (व्रण, पर्पटी और व्रणचिन्ह) होती हैं।

आकृतिक विक्षतियों के विस्तृत लक्षणों के द्वारा रोग का सही निदान करना संभव होता है।

परीक्षण के अलावा, विक्षतियों के परिस्पर्शन, खुरचने से डायास्कोपी और त्वचा परीक्षण किये जाते हैं। नित्यक्रम प्रयोगशाला परीक्षण विधियों में रक्त तथा मल-मूत्र की जाँच, आमाशयी स्राव इत्यादि की परीक्षा तथा विशेष परीक्षणों में ट्रेपोनीमा पेलिडम (सिफिलिस में), गोनोगोलाणु (सुजाक में), माइक्रोबैक्टीरियम लेप्रे (कुष्ठ रोग में), कवक (त्वक-कवकता में), और यीस्ट (कैंडिडा रुग्णता में), सीरमी रक्त जाँच, प्रमस्तिष्क मेरु तरल की जाँच तथा ऊतक वैज्ञानिक परीक्षण, इत्यादि किये जाते हैं।

II विशेष

त्वचा रोग

त्वचा रोगों के कारण

तंत्रिका तंत्र, आंतरिक अंगों और अंतःस्रावी ग्रन्थियों में होने वाले विभिन्न विक्षोभों के कारण त्वचा रोग होते हैं।

त्वचा रोग भी जीव की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं और तंत्रिका तंत्र की ओर आंतरिक अंगों की क्रिया में विकार उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनको ऐसी सामान्य क्रिया माना जाता है, जिससे कि पूरा जीव प्रभावित होता है। चर्म रोगों के आंतरिक और बाह्य कारणों में भेद किया जाता है।

बहिर्जात कारण

चर्म रोग के बहिर्जात कारण निम्नलिखित हैं:

1. हस्तकृत प्रभाव (रगड़दाब) से त्वचा सूज जाती है या निस्त्वचन होता है, जो कि त्वचा में संक्रमण के प्रवेश के लिए अनुकूल होता है (पूयत्वक रोग, कैंडिडा रुग्णता, एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता, इत्यादि);

2. पर्यावरण के भौतिक कारक: उच्च और निम्न तापक्रम का प्रभाव (दग्ध, हिमदाह, शीतशोथ) या विकिरणी ऊर्जा के प्रभाव, जिसमें सूर्य की किरणें, पराबैंगनी किरणें, एक्सरे और विघटनाभिक विकरण भी सम्मिलित हैं (छाजन, दुर्दम अर्बुद);

3. पर्यावरणीय रासायनिक कारक: इनमें से बहुतों का त्वचा पर सीधा हानिकारक प्रभाव हो सकता है (जैसे तेज अम्ल, क्षार, कार्बनिक विलायक तथा तेल और कोयले की प्रासेसिंग के उपोत्पाद, आदि) या ये जीव को संवेदनशील बना सकते हैं (रासायनिक प्रत्यूर्जता जनक के बार-बार प्रभावाधीन होने से संवेदनशीलता बढ़ जाती है जैसे कि तारपीन, पारा या निकेल)। सभी लोग इन कारकों के प्रति संवेदनशील नहीं होते हैं। कभी-कभी चर्म रोग औषधियों के खाने तथा लगाने से भी हो जाते हैं;

4. रोगजनक सूक्ष्म जीव (स्ट्रेप्टोकोकस, स्टेफाईलोकोकस, इत्यादि) से भी चर्म रोग होते हैं (पूयत्वक रोग, त्वचा की यक्ष्मा, कुष्ट आदि);

5. रोगजनक कवक (सब्जियों के पराजीवी) से कवक रोग (ट्राइकोफाइटानता, माइक्रोस्पोरिया, फैवास) होते हैं।

6. पशु-परजीवी: त्वचा में घुस कर सूक्ष्म कीट खुजली करते हैं या इनके काटने से पूर्यत्वक रोग होता है (जैसे जूँ, पिस्सू, खटमल और किलनी);

7. निस्यंदी विषाणुओं से सरल हर्पीज और जोस्टर हर्पीज, मस्से, मोलस्कम कन्टेजिओसम, इत्यादि होते हैं।

एक ही बाह्य कारक से एक आदमी को चर्म रोग हो सकता है तथा किसी दूसरे को नहीं भी हो सकता। यह जीव, तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की दशा पर, खान-पान और रहन-सहन की स्थितियों पर, अधिक मद्यपान करने पर, निर्भर करता है।

अंतर्जात कारण

त्वचा रोग के अंतर्जात कारण निम्नलिखित होते हैं:

1. तंत्रिका तंत्र की क्रिया के विकार, छाजन, प्रसृत तंत्रिका त्वकशोथ, सोरियासिस, चर्म कण्डू तथा अन्य त्वचा रोगों में तंत्रिका तंत्र की क्रिया में विघ्न बिमारी का या उसके परिणाम का कारण हो सकता है, जो इसको उग्र बना देता है।

प्रसिद्ध रूसी शरीर क्रिया विज्ञानी इवान पावलोव और उसके शिष्यों (म० पेत्रोव और अन्य) ने प्रयोग द्वारा यह दिखाया है कि नाना प्रकार के त्वचा रोग कुत्तों में कृत्रिम विक्षिप्ति द्वारा पैदा किये जा सकते हैं। उपचार करने से विक्षिप्ति के ठीक हो जाने के साथ ही साथ त्वचा रोग भी लुप्त हो जाता है।

तंत्रिका मानसिक अभिघात और तंत्रिका तंत्र की अतिश्रांति मनुष्यों में त्वचा विकार होने का मुख्य कारण है।

2. चयापचयी विकार. मधुमेह वाले रोगियों में (जिनमें कार्बोहाइड्रेट के चयापचयन के विकार होते हैं) वहुधा फुन्सी रोग और थ्रश हो जाते हैं।

3. अंतःस्रावी विकार. उदाहरण के लिए यौवनारंभ के त्वक वसा स्राव और मनसिका को पीयूष और लिंग ग्रन्थि के स्राव में गड़बड़ी से संबंधित बताया जाता है। गर्भधारण होने पर सोरियासिस का प्रकोष हो सकता है या त्वक शोथ हो सकते हैं।

4. आंतरिक अंगों (यकृत, पेट, आंत इत्यादि) के रोग, इनसे छाजन तंत्रिका त्वक शोथ और शीतपित्त हो सकते हैं। रक्तोत्पादक अंगों के रोगी होने से विचित्र प्रकार की त्वचा विक्षतियाँ (हीमोडरमिया) और खुजली होती है। कृमि रोग होने से शिशुओं में दीर्घस्थायी छाजन हो जाता है।

5. अविटामिनता और अल्पविटामिनता. जीव में विटामिन 'सी' की कमी से विचित्र त्वचा शोथ के साथ स्कर्वी होती है। विटामिन 'पी' की कमी से पैलाग्रा होता है तथा विटामिन 'अ' की कमी से शल्कीभवन के विकार होते हैं।

बहुत से त्वचा रोग **एलर्जी** के लक्षण हैं। एलर्जी किसी विशेष पदार्थ या बहुत से पदार्थों के प्रति शरीर की अति संवेदनशीलता होती है। **एलर्जन बहुधा** बहुत से खाद्य पदार्थ (अंडे की सफेदी, स्ट्राबेरी तथा कुछ खट्टे फल, इत्यादि), रसायन (निकेल के लवण, कृत्रिम राल इत्यादि) और औषधियाँ (पेन्सिलीन और इसके व्युतपादिक, स्ट्रप्टोमाइसीन, सल्फानिलामाइड इत्यादि) होती हैं।

बहुत से त्वचा रोगों में बहिर्जात और अंतर्जात दोनों ही कारक साथ-साथ होते हैं।

त्वचा रोगों से पीड़ित रोगियों के उपचार के सामान्य सिद्धांत

जैसा कि बताया जा चुका है, त्वचा रोगों का मनुष्य के पूरे शरीर की हालत से संबंध है। त्वचा रोगों को संभालने में, तंत्रिका तंत्र के रोगों, आंतरिक अंगों के रोगों और अंतःस्रावी ग्रन्थियों के रोगों के उपचार, कृमिनाशक उपचार और संक्रमण के केन्द्र बिन्दुओं के उपचार अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। जब रोग की हेतुकी का पता हो तो सबसे पहले इसके कारक का सफाया करने के लिए उपचार किया जाता है (जैसे स्केबीज में खुजली के सूक्ष्म कीट को नष्ट करने का उपाय)।

त्वचा विकार से पीड़ित रोगियों के उपचार में सम्मिश्र उपाय किये जाते हैं, जिनमें सही विधान और सामान्य तथा स्थल उपचारार्थ उपाय शामिल हैं।

सामान्य उपचार

सामान्य उपचार का उद्देश्य है संपूर्ण शरीर पर प्रभाव उत्पन्न करना।

शिराओं में कुछ औषधियों के पहुंचाने, अर्थात **अंतराशिरा** आधान के लिए शिरा वेध किया जाता है। त्वचा-रतिज रोगोपचार में रक्त लेने के लिए शिरावेध किया जाता है (स्वरक्त-चिकित्सा, या सिफिलिस के लिए सीरमी रक्त जाँच, जैव रासायनिक जाँच, इत्यादि) के लिए शिरा वेध किया जाता है। उपरिस्थ अंतःप्रकोष्टिका शिरा का वेधन बहुधा किया जाता है तथा हाथ और कलाई की छोटी शिराओं का वेधन बहुत कम किया जाता है। हस्तोपचार की तकनीक निम्नलिखित है: रोगी बैठा या ऐसे लेटा हुआ होता है कि उसकी बाँह मेज या कोच पर कोहने के जोड़ से पूरी तरह फैली हुई होती है। इस स्थिति में आने के लिए कोहनी के नीचे आयल क्लाथ की गद्दी लगा देते हैं। तब पूरी शिरा का वेधन आसान होता है। इस दृष्टि से, शिरा से खून के प्रवाह को रोकने के लिए कोहनी से ऊपर बाँह में शिराओं के संकोचन के लिए रक्त बंध लगाते हैं। धमनी में होनेवाले रक्त प्रवाह को छेड़ना नहीं चाहिए। यदि नब्ज रेडियल धमनी पर महसूस होती हो तो इस बारे में आश्वस्त हुआ जा सकता है कि ऐसा नहीं हुआ है (यदि कमजोर हो या तनिक भी परिस्पर्शन न हो तो रक्तबंध को तनिक ढीला कर देना चाहिए। यदि शिरा न फूले और रक्त

बंध से नीचे की त्वचा में शिराक्त स्थैतिकता के चिन्ह न दिखायी देते हों, यानी ये नीलापन लिए हुए लाल न हों तो रक्तबंध को कसना चाहिए)। शिराओं को और अधिक फैलाने के लिए रोगी को मुट्ठी खोलने और बंद करने को कहना चाहिए, रक्तबंध लगाने से पहले बाँह को नीचे करना चाहिए।

क्यूबिटल खात के दूरस्थ भाग को अल्कोहल से विसंक्रामित किया जाता है और त्वचा को बार-बार रगड़ा जाता है, जब तक यह लाल न हो जाय। इस विधि में क्यूबिटल खात में शिराओं का पता बायें हाथ की उंगलियों के पोरों से किया जाता है और त्वचा के नीचे की सब से स्थिर रहने वाली शिरा को चुना जाता है। त्वचा के खिंच जाने के बाद इसे थोड़ा सा नीचे खींचा जाता है, ताकि शिरा यथासंभव स्थिर **हो** जाय।

शिरा को बहुधा दो चरणों में वेधा जाता है। सुई को दाहिने हाथ से पकड़ा जाता है (चुनी हुई शिरा के समानान्तर और इसकी साफ की हुई सतह के ऊपर रखा जाता है) और फिर सुई को एक तीखे कोण पर चुभाया जाता है (एक खाली जगह पर सुई के प्रवेशन को महसूस किया जाता है)। यदि रक्त न आये तो सुई को बाहर निकाले बिना शिरा को फिर से वेधा जाता है। जैसे ही रक्त कैनुला से आने लगे सुई को कुछ मिलीमीटर आगे बढ़ाकर दायें हाथ से ऐसी स्थिति में रखना चाहिए कि शिरा अपने स्थान पर रहे।

एक चरण वाले शिरावेधन में त्वचा और उसके नीचे की शिरा एक साथ ही वेधी जाती हैं। इस तकनीक में अधिक कुशलता की जरूरत होती है।

रक्त जमा करने के लिए (विभिन्न जाँचों के लिए) एक परखनली वेधी हुई शिरा के स्रोत के नीचे लगा दी जाती है। पर्याप्त मात्रा में रक्त निकालने के बाद रक्तबंध को पहले हटाया जाता है और फिर झटके से सुई को बाहर निकालते हैं। वेधन की जगह को अल्कोहल से धो देते हैं (त्वचशोथ के रोगियों की त्वचा पर आयोडीन नहीं लगाना चाहिए क्योंकि आयोडीन से क्षोभ होता है) और विसंक्रामित रूई के फाहे से दो या तीन मिनट तक दबाकर रखते हैं या विसंक्रामित पट्टी बांधे हैं।

स्वरक्त चिकित्सा में विसंक्रामित पिचकारी में लगी सुई से शिरावेधन करते हैं और उसी पिचकारी में रक्त की वांछित मात्रा को एकत्र किया जाता है।

त्वचा और रतिज रोगों में **अंतराशिरा आधान** मुख्य रूप से रोम रेखा में किया जाता है। और ड्रिप में बहुत कम किया जाता है (केवल बहुत ही प्रचंड लोहित कोशिका बहुलता में, त्वगलालिमा, पैल्फीगस, दैहिक कैंडिड रुग्णता में और कुछ अन्य त्वक रोगों में)। औषधियों का आधान रोम रेखा में पिचकारी से किया जाता है। घोल के ड्रिप आधान के लिए ड्रापर वाली नलिकाओं की पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

जब पिचकारी प्रयोग में लायी जाती है तब शिरा वेधने से पहले यह देख लिया जाता है कि कहीं इसमें हवा तो नहीं है। सुई की नोक ऊपर करके पिचकारी को

लम्ब स्थिति में रखा जाता है तथा हवा और आधान करने वाले घोल को पिचकारी से बाहर फेंका जाता है। यदि इसमें हवा के बुलबुले हों तो पिचकारी के पिस्टन को थोड़ा पीछे खींच कर पिचकारी को कई बार हिलाया जाता है जिससे हवा के छोटे-छोटे बुलबुले मिलकर एक बड़ा बुलबुला बन जाते हैं, जिसे पिचकारी के पिस्टन को दबा कर बाहर निकाल दिया जाता है।

घोल का आधान करने से पूर्व उपचारिका टूर्निके को सावधानी से बाहर निकालती है, उस समय सुई शिरा से बाहर आ जा सकती है। इसलिए पिस्टन को थोड़ा पीछे खींच कर इस बात से आश्वस्त हो जाया जाता है कि रक्त पिचकारी में आने लगा है, इसके बाद आधान प्रारंभ होता है। क्षोभक औषधि की तनिक सी भी मात्रा को रिसने से बचाने के लिए सुई बाहर खींचते समय बचे हुए घोल को सुई से पिचकारी में चूषित कर लिया जाता है। औषधि के आधान में पिस्टन को बाय हाथ के अंगूठे से धकेला जा सकता है या पिचकारी को बायें हाथ में लेकर इसके सिलिंडर को दायें हाथ की तर्जनी और मध्यम उंगली में साध कर पिस्टन को दायें हाथ के अंगूठे से चलाते हैं। पिचकारी को एक हाथ से दूसरे हाथ में बदलते समय बहुत सावधानी बरती जाती है, अन्यथा सुई शिरा में से निकल कर बाहर आ सकती हैं। यदि ऐसा हो जाता है तो इंजेक्शन लगने की जगह पर सूजन आ जायगी और रोगी जलन होने की शिकायत करेगा। सुई को बाहर निकाले बिना बहिर्शिरा में अंतःक्षेपित घोल का पिचकारी से चूषण कर लेना चाहिए और फिर हवा वाली पिचकारी को वियोजित कर देना चाहिए और जल्दी से आइसोटोनिक सोडियम क्लोराइड घोल को दूसरी पिचकारी में भर कर सूई लगाकर कई मिलिलीटर दवाई अंतःक्षेपित करनी चाहिए, जिससे कि अंतःक्षेपित पदार्थ की सान्द्रता घट जाए और ऊतक क्षय को रोका जा सके।

त्वचा रोग उपचार में घोल का ड्रीप आधान बहुत कम किया जाता है तथा शल्य चिकित्सा के सभी नियमों का पालन किया जाता है।

अंतस्त्वक इंजेक्शन यक्ष्मा की मानटोक्स जाँच की एलर्जी जाँच में लगाया जाता है ताकि त्वक रोग के व्यावसायिक लक्षण का पता लग सके या इसे खल्वाटता के उपचार में हाइड्रोकारटीजोन देने में प्रयोग किया जाता है। 0.01 से लेकर 1.0 मि० ली० तक तरल को अतस्त्वक द्वारा इंजेक्ट किया जाता है। सबसे महीन और छोटी सुई को इस्तेमाल किया जाता है, जिसका मुँह 40-45 डिग्री पर खुलता हो और पिचकारी 1 मि० ली० की होती है। पिचकारी खूब चिकनी होनी चाहिए क्योंकि त्वचा इंजेक्शन के लिए प्रतिरोधी है। नैदानिक एलर्जी जाँच और औषधि संवेदन की जाँच कलाई की अकोचनी सतह पर की जाती है। इंजेक्शन लगाने की जगह को अल्कोहल से साफ करके त्वचा को सूखने दिया जाता है। सुई को इस प्रकार लगाया जाता है कि उसका तिर्यक छिद्र ऊपर की तरफ हो और सुई की नोक को निम्नकोण पर चुभाया जाता है, जो कि त्वचा के लगभग समानान्तर हो और

इतना अधिक गहरा न हो कि इसका मुँह ही छिप जाय। इसके बाद तरल की निर्धारित मात्रा को इंजेक्ट कर देते हैं। जो ददौड़ा पड़ता है वह 30 से 60 मिनट में अवशोषित हो जाता है।

अधस्त्वक इंजेक्शन बहुधा भुजा या जाँघ के पार्श्व भाग में लगता है और रोग क्षमीकरण के लिए बहुत ही कम स्थितियों में पेट में लगाया जाता है। इंजेक्शन लगाने से एकदम पहले पिचकारी को लम्ब स्थिति में पकड़कर इसकी हवा को बाहर निकाल दिया जाता है। इंजेक्शन लगने वाली जगह को अल्कोहल से साफ करते हैं। पानी वाले इंजेक्शन लगाने के लिए महीन सुई तथा तेल वाले इंजेक्शन लगाने के लिए मोटी सुई चुनते हैं। त्वचा को बायें हाथ की चकोटी में लेकर तेजी से सुई को त्वचा में दो तिहाई भाग घोंप देते हैं और भुजा की सतह पर 30 अंश के कोण पर इंजेक्शन लगाते हैं। औषधि का इंजेक्शन लगाने के बाद इंजेक्शन लगने की जगह पर अल्कोहल में भीगी हुई रूई लगा कर सुई को जल्दी से बाहर खींच लेते हैं और उस जगह पर रूई से हल्का मालिश कर देते हैं। इसके बाद इंजेक्शन लगने वाली जगह पर अल्कोहल-आयोडीन घोल लगा देते हैं।

त्वक रोग चिकित्सा में धीरे-धीरे अवशेषित होने वाली औषधि का **अंतर्पेशीय इंजेक्शन** लगाते हैं। उदाहरणार्थ, बाइसिलीन, एकमोनोत्रोसिलीन (एकमोलीन के साथ प्रोकेन पेन्सिलीन), बायोक्विनाल (कुनाइन, उदासीन वनस्पति तेल में), बिस्मोवेराल (मोनोबिस्मथलवण, उदासीन वनस्पति तेल में), इत्यादि।

5-6 से० सी० लंबी सुई, जिसका नलिका अवकाश ज्यादा हो, अंतर्पेशीय इंजेक्शन के लिए चुनी जाती है तथा नितंब के अधिपार्श्वभाग में इंजेक्शन लगाया जाता है। सुई सहित पिचकारी को त्वचा से लंब की स्थिति में रखते हैं। तेज गति के साथ सुई को पहले त्वचा और फिर अधस्त्वक वसा में घुसा कर फिर पेशी में बढ़ाते हैं। सुई को अंदर घुसाते समय इंजेक्शन लगने वाली जगह को बायें हाथ से दबाये रखते हैं। यदि सुई बहुत गहरी चली गयी हो तथा हड्डी तक पहुँच गयी हो तो इसे थोड़ा ऊपर खींच लेना चाहिए। यदि सुई से एक दो मिनट तक खून न आये तो इसे स्थिर जगह में मजबूती से पकड़ लिया जाता है और दवाई भरी हुई पिचकारी को सुई में लगाते हैं तथा पिस्टन को दबाकर दवा अंदर पहुँचाते हैं। यदि सुई से खून निकल आये तो सुई को खींच लेना चाहिए और नितम्ब के ऊपरी पार्श्व भाग में दूसरी जगह लगाना चाहिए।

सामान्य उपचार में निम्नलिखित कदम हैं:

1· **उत्तेजना को घटाने के लिए उपचारिक** उपाय. मनश्चिकित्सा, ब्रोमीन और वेलेरियाना के संयोग, प्रोफेनहाइड्रोक्लोराइड, मेप्रोटान (एन्डाक्सीन, मे प्रोब्रोमेट), क्लोर्डियाजेपोक्साइड (इलीनियम), ट्रिओक्साजीन, एमीनाजीन, नानोफाइन और निद्रापकता तथा निद्रा चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

मनश्चिकित्सा (मौखिक सुझाव) का रोगी के मस्तिष्क पर अनुकूल प्रभाव होता

है, उसमें प्रसन्नता का भाव जागृत होता है; स्वस्थ होने का आश्वासन मिलता है और शरीर का प्रतिरोध बढ़ता है।

निद्रापकता और निद्रा से मस्तिष्क की कोशिकाओं को आराम मिलता है और सुरक्षात्मक संदमन पैदा होता है।

सोडियम ब्रोमाइड (पोटेशियम और एमोनियम ब्रोमाइड बहुत कम) 0.25 – 3 प्रतिशत घोल के रूप में एक बड़ा चम्मच दिन में तीन बार पिलाया जाता है या अंतरशिरा आधान के रूप में 20 प्रतिशत सोडियम ब्रोमाइड घोल 5.00 से 10 मि० ली० की खुराक में रोज आठ या दस दिन तक आधान दिये जाते हैं। ब्रोमीन योग को लंबे अर्से तक औषधि के रूप में नहीं देना चाहिए (छाजन, तंत्रिका–त्वकशोथ, सोरियासिस शीत पित्ती, त्वचा की खुजली, आदि में) क्योंकि ब्रोमान्यय (त्वचा विस्फोट) हो सकता है।

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के 0.5 घोल का एक बड़ा चम्मच दिन में दो-तीन बार भोजन से एक घंटा पहले लेने की सलाह दी जाती है और यह उपचार चार से छः सप्ताह तक चलता है या अंतरशिरा में 0.25 = 0.5 प्रतिशत घोल की 2 से 6–10 मि० ली० मात्रा में कुल आठ से दस आधान दिये जाते हैं। शिरा में आधान करने पर प्रोकेन से शिर में चक्कर या सिर दर्द हो जाता है। ऐसी हालत में यह सलाह दी जाती है कि रोगी आधान के बाद कुछ समय तक लेटा रहे।

वलेरियन आधान (Infusum rad. Valerianae) 200 मि० ली० में 6 से 10 ग्राम की खुराक में एक बड़ा चम्मच दिन में तीन या चार बार लेने का निर्देश दिया जाता है। वलेरियन टिंचर (Tinctura rad. Valerianae) पीने को दिया जाता है (20 प्रतिशत टिंचर को 70 अंश अल्कोहल में मिलाकर)। इसकी 20 से 30 बूंद की खुराक दिन में तीन या चार बार दी जाती है।

मेप्रोटन, ट्रायोखाजिन और क्लोर्डियाजेपोक्साइड की एक-एक गोली दिन में दो से तीन बार तक एक महीने तक दी जाती है।

एमीनाजीन मुँह से (0.025 = 0.05 = 0.1 ग्रा० दिन में दो या तीन बार) दिया जाता है। नैनोफीन की गोलियाँ दी जाती हैं। एक गोली (0.1 ग्रा०) रोज दो या तीन बार या अधस्त्वक इंजेक्शन (1.0 मि० ली० 2.5 प्रतिशत घोल) रोज शाम को दो या तीन हफ्ते तक दिया जाता है।

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड, ब्रोमीन योग और अमीनाजीन से विषालु त्वचा रोग या एलकित्वक शोथ का प्रकोपन हो सकता है। इसलिए औषधि के रूप में निर्देश देने के पूर्व इन औषधियों को सहने संबंधी सूचना प्राप्त कर लेनी चाहिए।

2. **अतिसुग्राहीकरण चिकित्सा** विभिन्न क्षोभकों की एलर्जी रोगों में अति सुग्राहकता को कम करने के लिए की जाती है। कोर्टीकोस्टेराइड (नीचे देखिये), विटामिन 'सी' और 'पी' (नीचे देखिये), कैल्शियम ग्लूकोनेट अति सुग्राहीकरण और शोथ रोधी पदार्थ हैं।

कैल्शियम क्लोराइड को मुँह से (10 प्रतिशत घोल का एक बड़ा चम्मच भोजन के बाद दिन में तीन या चार बार) दिया जाता है या अंतराशिरा (10 प्रतिशत घोल का 5-10 मि० ली०) के सात से दस आधान दिये जाते हैं। रोगी को निश्चित रूप से यह चेतावनी दे देनी चाहिए कि आधान के समय गर्मी लगेगी और यह देर तक बनी रह सकती है। सोडियम हाइपोसल्फेट के 10 से 30 प्रतिशत घोल के 10 मि० ली० की खुराक का शिरा में आधान किया जाता है। कैल्शियम ग्लकोनेट को मुँह से (0.5 ग्रा० दिन में तीन बार) या अंतरपेशीय इंजेक्शन से (10 प्रतिशत घोल का 1 मि० ली०) दिया जाता है।

इन उपायों में प्रति-हिस्टामिनिक (कंडूरोधी) औषधियाँ भी शामिल हैं: सुप्रास्टीन (0.025 ग्रा० की टेबलेट), डिप्राजीन (0.025-0.05 ग्रा०) डाइजोलीन (0.1 से 0.2 ग्रा०), डाइमेड्राल (0.03-0.05 ग्रा०), परनोविन (0.025 ग्रा० की टैब्लेट)। ये औषधियाँ दिन में 2-3 बार ली जाती हैं। डाइमेड्राल को अंतरपेशीय (1 प्रतिशत घोल का 1-5 मि० ली०) इंजेक्शन से दे सकते हैं।

3. **प्रतिरक्षा चिकित्सा.** रोगी के शरीर में प्रतिरक्षा क्रिया को बढ़ाने के लिए प्रतिरक्षा चिकित्सा का निर्देश दिया जाता है।

यह विशिष्ट हो सकती है, जिसमें स्टैफिलोकोक्कल वैक्सीन (10 000 लाख माइक्रोबियल जीव, 1.00 मि० ली० में हों) को अंतरपेशीय या अधस्त्वक इंजेक्शन की 0.2 से 1.0 मि० ली० की खुराक हफ्ते में दो बार और कुल 8 या 12 इंजेक्शन दिये जाते हैं।

स्टेफाइलोकोकल एन्टीक्सीन (0.3 से 1.5 मि० ली०) के अंतरपेशीय या अधस्त्वक इंजेक्शन अंतर-असफलक संभाग में हफ्ते में दो या तीन बार लगाते हैं और कुल सात या आठ इंजेक्शन लगाते हैं।

स्टेफाइलोकोक्कल एन्टीफागिन के (0.2 से 1.0 मि० ली० के अधस्तक) इंजेक्शन रोज लगाये जाते हैं और कुल 8 से 10 इंजेक्शन लगते हैं।

अविशिष्ट इंजेक्शन आटोलोगस रक्त (2–5–10 मि० ली०) तीन या चार दिन के अंतर पर और कुल 6 से 10 इंजेक्शन निम्न तरीके से लगाये जाते हैं: शिरा का वेधन विसंक्रामित अवस्था में किया जाता है और आवश्यक मात्रा में रक्त को निकालकर फौरन नितंब के अधिपार्श्व चतुर्थांश में इंजेक्शन लगा दिया जाता है।

दूध का अंतरपेशीय इंजेक्शन (हफ्ते में दो बार) लगता है। इंजेक्शन की मात्रा 2.00 मि० ली० से बढ़ाकर 10 मि० ली० तक कर दी जाती है और कुल 4–6–8 इंजेक्शन लगते हैं। दूसरे को दिये हुए रक्त या प्लाज्मा का आधान (50–70–100–200 मि० ली०) दूसरे या चौथे दिन करते हैं। एक से तीन तक आधान किये जाते हैं।

आत्म सीरमी (आधान से 24 घंटे पहले 25 से 30 मि० ली० रक्त खाली पेट विसंक्रामित परखनली में लिया जाता है और इसे थर्मोस्टैट में 15 से 20 मिनट

तक 37° सें० पर रख कर फिर 24 घंटे के लिए रेफ्रेजिरेटर में रख देते हैं। दूसरे दिन बने हुए सीरम को विसंक्रामित परखनली में निकाल कर शिरा में आधान करते हैं। यह कार्य-प्रणाली हफ्ते में एक या दो बार की जाती है और कुल पाँच या छः आधान होते हैं)।

पाइरोगेनल या प्रोडिगीआजन के इंजेक्शन (25 – 50 – 75 – 100 – 150 – एम० पी० डी० (न्यूनतम पाइरोजेनिक खुराक) या 10 – 20 – 50 माइक्रोग्राम के कुल पाँच या छः इंजेक्शन लगते हैं)।

निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाता है। पेन्टाक्सिल (0.15 से 0.25 ग्रा० की टिकिया), मेथाइलयूरासिल (0.5 ग्रा०,) एक गोली दिन में दो या तीन बार, शिशुओं को गामा ग्लोबुलीन (0.5 मि० ली० प्रति किलोग्राम भार के लिए अंतरपेशीय इंजेक्शन तीन या चार दिन में एक बार दिया जाता है और कुल इंजेक्शन पाँच से आठ तक लगते हैं या 0.1– 0.15 – 0.20, – 0.25 – 0.3 – 0.5 मि० ली० अंतरपेशीय तीसरे या पाँचवें दिन लगता है। कुल 10 इंजेक्शन लगते हैं, और हिस्टाग्लोबीन (हिस्टापिन और ग्लोबुलीन) को 0.1 से 1.0 – 2.0 मि० ली० की खुराक में अंतस्त्वक हफ्ते में दो बार दिया जाता है और कुल 15 से 20 इंजेक्शन लगते हैं (एक प्वाइंट पर 0.25 मि० ली० से अधिक न हो)। इसे एकदम बनाया जाता है या सेम्पुल में दिये गये रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

4. **विटामिन चिकित्सा.** त्वचा रोग के रोगियों के उपचार में विटामिन का खूब प्रयोग होता है।

विटामिन 'ए' को केरेटिनीकरण क्रिया के विकार में, त्वचा के सूखेपन में लिया जाता है। इसे सान्द्र रूप में डबल रोटी के टुकड़े पर 10 से 30 बूंद डाल कर भोजन से पहले दिन में तीन बार लिया जाता है या विसरित विटामिन 'ए' को 2.0 से 3.0 मि० ली० दिन में दो या तीन बार लिया जाता है (30 से 40 दिन तक)।

एलर्जी और वाहिका रोगों में विटामिन 'सी' (एसकार्बिक एसिड) दिया जाता है। एसकार्बिक एसिड मुँह से (0.1 – 0.2 ग्रा० दिन में तीन बार) या अंतरशिरा (5 – 10 मि० ली० 5 प्रतिशत घोल) या अंतरपेशीय (2 – 5 मि० ली० 5 प्रतिशत घोल) इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है। विटामिन 'सी' को रूटिन (एक खुराक 0.04 से 0.05 ग्रा०) या विटामिन 'पी' (एस्कोरूटिन) के साथ देना अच्छा होता है।

विटामिन 'बी' कांप्लेक्स का प्रतिहिस्टामिनिक और प्रतिएलर्जी प्रभाव होता है। इसमें विटामिन '$बी_1$' (थायामीन), '$बी_2$' (राइबोफ्लेविन) '$बी_3$' (पैन्टोयेनिक एसिड) '$बी_6$' (पाइरीडोक्सीन), 'एच' (बायोटीन), '$बी_{12}$' (स्यानोकोबालाटीन), '$बी_{13}$' (अरोटिक एसिड), '$बी_{15}$' (पनगामिक एसिड) होते हैं।

आम तौर पर देने वाली दवाइयों में विटामिन '$बी_1$' (5 – 6 प्रतिशत घोल की 1.0 मि० ली० की खुराक का अंतरपेशीय या 0.02 – 0.03 ग्रा० मुँह से दिन

में तीन बार), विटामिन 'बी$_2$' (5–10 मि० ग्रा० मुंह में दिन में तीन बार), विटामिन 'बी$_6$' (5 प्रतिशत घोल के 1.0 मि० ली० अंतरापेशीय इंजेक्शन), 'बी$_{12}$' (30 से 100 माइक्रोग्राम या अधिक अंतरपेशीय) शामिल हैं।

कैलशियम पैन्टोथिनेट बहुधा शिशुओं को (छाजन, तंत्रिका त्वक रोग, सोरिअसिस) 0.05–0.1 ग्रा० की खुराक में तीन वर्ष से कम उम्र के बच्चों को और 0.1 से 0.2 ग्रा० तीन से चौदह वर्ष के बीच आयु वाले बच्चों को देते हैं।

विटामिन 'ई' (टोकोफेरोल) विटामिन 'ए' को सक्रिय करता है। इसे त्वक काठिन्य, सोरियासिस, तंत्रिका त्वक रोग में देते हैं। नया सोवियत योग एविट (जिसमें 100 000 यू० विटामिन 'ए' और 100 मि० ग्रा० विटामिन 'ई' प्रति 1 मि० ली०) के 1.0 मि० ली० को रोज या एक दिन छोड़ कर अंतरापेशीय इंजेक्शन से देते हैं।

निकोटिनिक एसिड (विटामिन 'पी पी') को अंतरशिरा (1 प्रतिशत घोल की 2–10 मि० ली०) या मुंह से (0.05–0.1 ग्रा०) दिन में तीन बार भोजन से 20–30 मिनट बाद दिया जाता है। निकोटिन एसिड से त्वचा पर क्षणिक लाली आ जाती है और सारे शरीर में गर्मी की अनुभूति होती है।

5. **प्रतिजीवी-उपचार.** प्रतिजीवी औषधि समूह बहुत बड़ा है, परन्तु पेन्सिलीन अभी तक त्वचा रोगों के उपचार के लिए मुख्य औषधि है। इसको बहुधा अंतरापेशीय इजेक्शन के रूप में 100 000–200 000 यूनिट 2.00 या 3.00 मि० ली० में 0.25–0.5–1.00 प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल को दिन में 4 या 5 बार या एकमोनोवोसिलीन (एकमोलीन के साथ प्रोकेन पेन्सिलिन) की 600 000 यूनिट प्रतिदिन की खुराक में देते हैं (यह इंजेक्शन दो चरणों में लगाया जाता है)। त्वचा की यक्ष्मा वाले रोगियों का उपचार स्ट्रेप्टोमाइसीन (500 000 यू० दिन में दो बार) या डाइहाइड्रो-स्ट्रेप्टोमाइसीन से किया जाता है। 1.00 ग्रा० सूख पदार्थ वाले फ्लास्क में 1 000 000 यू० स्ट्रेप्टोमाइसीन या डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसीन होती है। फ्लास्क की अंतर्वस्तु को 0.25 प्रतिशत प्रोकेन घोल या विसंक्रामित शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल के 4.00 से 5.00 मि० ली० में विलीन कर दिया जाता है। लेवोमाइसेटीन (क्लोरोम्फेनिकोल) को 0.5 ग्रा० की खुराक में दिन में तीन या चार बाद दिया जाता है, क्लोर्टेट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड (बायोमाइसीन), आक्सीटट्रासाइक्लीन डिहाइड्रेट, टेट्रासाइक्सीन, मेटासाइक्लीन (रोन्डोमाइसीन), टेट्रोओलीन और ओलेटेट्रीन की 0.25 ग्रा० की खुराक दिन में 4 या 5 बार दी जाती है। एराइथ्रोमाइसीन की 200 000 यू० की खुराक 4 से 6 घंटे के अंतर पर पाँच से बारह दिन तक दी जाती है। आक्सीटैट्रासाइक्लीन, मोनोमाइसीन और नियोमाइसीन सल्फेट (मिसेरिन) को अंतरापेशीय इंजेक्शन के रूप में या मुंह से टिकिया के रूप में दिया जाता है। मोनोमाइसीन की खुराक 0.25 ग्रा० (250 000 यू०) दिन में तीन बार बच्चों के लिए, 0.004–0.005 ग्रा० (4 000–5 000 यू०)

प्रति कीलो शरीर भार के अनुसार दिन में तीन बार आठ घंटे के अंतर पर देते हैं और यह उपचार पाँच सात दिन तक से ज्यादा नहीं होता है।

प्रतिजीवी औषधियों के इतर प्रभाव और उपद्रव (खुजली, विषालु त्वक रोग, यीस्ट प्रेरित विक्षति इत्यादि) हो सकते हैं, इसलिए इनसे उपचार करते समय बहुत सतर्क रहना चाहिए।

6. **कार्टिकोस्टेरायड चिकित्सा.** कार्टिकोस्टेरायड बहुत ही प्रभावशाली प्रतिएलर्जी और प्रतिशोथज औषधियाँ (प्रेडनीसोन, प्रेडनीसोलोन, ट्राइएमिनोसोलोन, डेक्सामेथाजोन और अन्य) हैं। बच्चे युवकों की अपेक्षा एड्रोनोकोर्टिकोट्रापिक हारमोन के इंजेक्शन को भली भांति सहन करते हैं। वे प्रतिदिन 5 – 10 – 15 – 20 यू० (आयु के अनुसार) से कुल 50– 300 यू० लेते हैं।

तीव्र और जीवनघाती रोगों (पैम्फीगस, तेज सार्वदेहिक रक्ति मल्यूपस और अन्य) में पहले कार्टिकोस्टेरायड की बड़ी खुराकें देते हैं जो धीरे-धीरे घटाई जाती हैं। विसरित दीर्घ स्थायी छाजन, तंत्रिका त्वकशोथ और सोरियासिस में हार्मोन के कार्टिकोस्टेरायड की मीडियम खुराक (20 – 40 मि० ग्रा० प्रेडनीसोन या प्रेडनीसोलोन रोज, 16 — 20 मि० ग्रा० ट्राइएमिसिलोना 3 — 4 मि० ग्रा० डेक्सामेथाजोन) दी जाती है।

अंतरंग रोगियों के स्टेरोयड की बड़ी खुराकें दी जाती हैं, पर चिकित्सक के नियंत्रण में ही, क्योंकि इनसे जीवन के लिए खतरे वाले उपद्रव का भय होता है। यदि स्टेरोयड को लेना एकाएक बन्द कर दिया जाय तो त्वक रोग का प्रकोप हो सकता है या बंद होने के संलक्षण (चिन्ता, कमजोरी, चक्कर आना, पेशियों और जोड़ों में दर्द, इत्यादि) प्रकट हो सकते हैं।

कोर्टिकोस्टेरायड से उपचार करते समय धमनी चाप नियमित रूप से रोज नापा जाता है तथा प्रोथ्रोम्बिन सूचक तथा रक्त और मूत्र के शर्करा स्तर को 10 दिन में एक बार देखा जाता है।

अधिकतर होने वाले उपद्रव हैं: धमनी दाब, धड़कन, उत्तेजना का बढ़ जाना, निद्रा विकार, पेट में दर्द जो कभी-कभी तेज हो जाता है, रक्त और मूत्र में शर्करा का स्तर बढ़ जाना (स्टेरोयड मधुमेह) धनास्राशिराशोथ, कैंडिडा रुग्णता, न्यूमोनिया या फुंसी रोग का प्रकोप हो सकते हैं।

एड्रेनोकार्टिकोट्रापिक हारमोन (ACTH) से उपचार करने में सीरस सिकनेस, शीतपित्त, वाहिकातंत्र शोथ (क्विन्के शोथ) के उपद्रव हो सकते हैं।

अनाबोलिक हारमोन: नेराबोलेटा (1 मि० ग्रा० की टिकिया), फेनोबोलीन (5 मि० ग्रा० की टिकिया) और मेथानड्रोस्टेनोलोन (0.005 ग्रा० की टिकिया)।

फेनाबोलिन (25 मि० ग्रा० औषधि का 1.0 मि० ली०) के लिए अंतरापेशीय पथ द्वारा 5 से 7 दिन में इंजेक्शन लगाया जाता है या रेटाबोलिस (50 मि० ग्रा० औषधि 1 मि० ली० में) दिया जाता है।

7. **सल्फोनामाइड.** इस समूह में नरसल्फासोल (सल्फाथायोजोल), सल्फाडिमेजीन (सल्फामेथाजीन), एटाजोल (सल्फाएथीडोल) तथा अन्य औषधियाँ आती हैं। ये औषधियाँ मुँह से 0.5 से 1.0 ग्रा० तीन बार से लेकर छः बार तक प्रति दिन के हिसाब से पाँच से दस दिन तक दी जाती है। देर तक असर रखने वाली औषधियों में सल्फोनोमाइड, सल्फापिरी औषधियों में सल्फापिरीडाजीन (सल्फा मेथाक्सीपिरीजीन) और सल्फाडाइमेथाक्सीन हैं। ये दिन में 1,5–2.0 ग्रा० दिन में एक बार के हिसाब से 14 दिन तक ली जाती है।

स्थानिक उपचार

त्वचा रोगों का स्थानिक उपचार सामान्य औषधि चिकित्सा और संयत आहार से किया जाता है। इसका उद्देश्य है विस्फोट को रोकना और रोगी को खुजली, जलन, खिंचन और पीड़ा से आराम दिलाना।

वाह्य उपचार प्रभावित रोगी-अंगों की सफाई से उपचार शुरू होता है। इसमें शल्क, पपड़ी, पस तथा जलस्फोट और फफोलों की बची सतह को हटा दिया जाता है। यह काम चिमटी, वक्रित कैंची और 3 प्रतिशत हाइड्रोजन पैराआक्साइड में भिगोई हुई रूई के पिचु से किया जाता है। शल्क, पपड़ी और जमे मरहम को कभी भी जोर से नहीं हटाना चाहिए। ऐसे भागों को सूर्यमुखी के तेल, अलसी या अन्य किसी तेल से अच्छी तरह भिगोया जाता है और दस या 15 मिनट के बाद फिर सतह को साफ किया जाता है या तेल की ड्रेसिंग को काफी समय तक रहने दिया जाता है। संदूषित अपरदन और व्रणों को 3 प्रतिशत हाइड्रोजन परआक्साइड घोल से साफ किया जाता है और इसके चारों ओर की त्वचा को कैम्फर स्पिरिट या 2 प्रतिशत सैलसिल अल्कोहल से पोंछा जाता है।

जब त्वक रोगों से पीड़ित रोगियों का चलना-फिरना मुश्किल हो या वे तनिक भी न चल सकते हों (जैसा कि त्वग्लालिमा, तीव्र कवकता फन्गोयड, पैम्फोगस वल्गेरिस, सिस्टेमिक ल्यूपस त्वगरक्तिम शोथ, सोरियासिस आर्थोपैथिका इत्यादि रोगों में होता है), तो उपचारिका या परिचारक को चादर बदलने का काम करना चाहिए। रोगी को शैय्या में एक तरफ़ कर दिया जाता है और मैली चादर को लपेटकर उसके नीचे से निकाल लिया जाता है। शय्या के खाली भाग में साफ चादर विछाई जाती है, जबकि दूसरी को लपेट कर हटा दिया जाता है। फिर रोगी को साफ चादर पर लिटा दिया जाता है और बाकी गंदी चादर को लपेट कर हटा लिया जाता है। कभी-कभी चादर दूसरे ढंग से बदली जाती है। गंदी चादर को ऊपर की तरफ़ से लपेटते हैं और नीचे से बीच की ओर, रोगी के धड़ की ओर और उसी समय साफ चादर उसके सिर के पास रख कर धीरे-धीरे पैरों की तरफ फैलाते जाते हैं और गंदी चादर को हटाते जाते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि चादर की सब सलवटें निकल जायें ताकि रोगी को शैय्या शोथ न हो। कमीज को निम्न

विधि से बदलते हैं—कमीज को नीचे से बगलों तक उठाते हैं और सिर से निकालने के बाद भुजाओं से निकालते हैं। बहुत ही तीव्र त्वक रोग (त्वगलालिमा) होने पर रोगी बनियान जैसा वस्त्र पहनता है।

गंभीर हालत वाले रोगियों को अपने स्वास्थ्य वृत्त की क्रिया में उपचारिकाओं और परिचारिकाओं को मदद करनी चाहिए। जग से बेसिन में यदि कोई पानी डालता रहे तो ये रोगी अपने आप अपना हाथ मुँह धो लेते हैं। शौच भागों को हल्के पोटैशियम परमैन्गनेट घोल से रूई के फाहे को ड्रेसिंग चिमटी से पकड़ कर साफ किया जाता है। रूई के टैम्पन को 2 प्रतिशत बोरिक एसिड घोल में भिगोकर पलकों को साफ करते हैं। मुँह को साफ करने के लिए नाइट्रोफ्यूराजोन, पोटैशियम परमैग्नेट या रिवानोल के घोल से कुल्ला करते हैं। जिह्वा और मुँह को 1 प्रतिशत बोरेक्स घोल और 10 प्रतिशत ग्लीसरीन घोल में भिगोई हुई गाज पट्टी को स्पैचुला में लपेटकर उससे पोंछते हैं।

त्वक रोगों के बाह्य उपचार के लिए बहुधा पाउडर, लोशन ड्रेसिंग, पेन्ट (टिंचर), जल और तेल वाले लोशन, पेस्ट, मल्हम, प्लास्टर तथा अन्य औषधीय रूप बहुधा प्रयोग में लाये जाते हैं।

1. **पाउडर.** विक्षति के क्षेत्र में पाउडर की एकसार पतली पर्त लगाई जाती है। विभिन्न पाउडरों में जिंक आक्साइड, टैल्कम, स्टार्च और काओलीन होती है। इनका कंडू-रोधी और शोथ-रोधी प्रभाव होता है। ये त्वचा को सुखाती हैं (त्वगवलिशोथ में), ठंडा रखती हैं और निःस्राव को अवशेषित करती हैं। विस्फोट और व्रण के उपचार में प्रयुक्त पाउडरों में सल्फानिलामाइड (पाउडर के रूप में), जेरोफार्म (विस्मथ ट्राइब्रोमोफेनेट) और डर्मेटाल होते हैं।

2. **लोशन.** पहले से ठंडी की गई औषधि के घोल में भिगोई हुई दो या चार गाज पट्टियाँ थोड़ी निचोड़कर विक्षति भाग पर लगाई जाती हैं। लोशन को हर 5 से 15 मिनट पर (या जैसे ही यह सूख जाय) बदलते रहते हैं और 30 मिनट तक रखते हैं। यह विधि दिन में तीन बार से लेकर पाँच बार तक दोहरायी जाती है। इनसे त्वचा का रिसना कम हो जाता है तथा कड्डू और जलन में आराम आ जाता है—यानी इनका प्रतिशोथज प्रभाव होता है। अधिकतर प्रयोग में आने वाले लोशन में 1—2 प्रतिशत टैनीन घोल, 0.25—0.5 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल, 2—3 प्रतिशत बोरिक एसिड घोल, 0.25—0.3 प्रतिशत एमिडोपाइरिन घोल और सीसे का पानी होता है।

पूयजन्य संक्रमण के संगामी विकास में विसंक्रामक लोशन का प्रयोग किया जाता है। इन घोलों में रिवानोल (एथाक्रीडिन लेक्टेट 2) (0.1 प्रतिशत), फ्यूरासिन (1:5000), पोटैशियम परमैन्गनेट (0.05 प्रतिशत), और रेर्सोसिनाल (1—2 प्रतिशत) शामिल हैं।

3. **आर्द्र सूखने वाली ड्रेसिंग** उसी तरह लगायी जाती है जैसे लोशन। लेकिन

गाज की 8 से 12 तहें प्रयोग में लाई जाती हैं ग्रौर ड्रेसिंग को हर 30 से 60 मिनट पर बदलते हैं (जैसे ही यह सूखने लगती है)। यदि ड्रेसिंग चिपक जाय तो इसे उधाड़ना नहीं चाहिए वरन उसी घोल में फिर भिगो देना चाहिए। यह ड्रेसिंग ऐसी स्थानिक त्वचा विक्षतियों में लगाई जाती है जिनमें काफी ग्रंत:संचरण हो ग्रौर जो रिसती हों। पूयस्फोटिक त्वचा रोगों में ग्रौर विसरित तीव्र शोथज क्रिया में ग्रार्द्र पट्टी नहीं करनी चाहिए।

4. **गर्म सम्पीड.** चिरकारी शोथज क्रिया में, जिसमें गहरे स्थानिक त्वचा ग्रंत:-संचरण हों, ग्रौर ग्रधस्त्वक वसा में (तंत्रिका त्वचा शोथ इत्यादि में) गर्म सम्पीड लगाये जाते हैं। गाज पट्टी को 10 या 12 बार तहकर घोल (सीसे के पानी, 2 प्रतिशत बोरिक एसिड घोल इत्यादि) में भिगोकर ग्रौर निचोड़कर विक्षति के ग्राकार की बना कर लगाते हैं। गाज को ग्राकार में थोड़े से बड़े वैक्स पेपर से ढक कर ग्रौर रूई की पर्त लगाकर पट्टी कर देते हैं। सम्पीड को दिन में एक या दो बार बदलते हैं।

5. **लेप.** लेप को ग्रल्कोहल ग्रौर ग्रनीलीन रंजक (उदाहरण के लिए चमकीला हरा) के साथ मिलाकर लगाते हैं। मेन्थाल (1—2 प्रतिशत), कार्बोलिक एसिड (1—1.5 प्रतिशत) ग्रौर नीला कासीस (2—10 प्रतिशत) ग्रौर सिल्वर ना-इट्रेट (2—10 प्रतिशत) के ग्रार्द्र ग्रल्कोहल घोल को कण्डू ग्रौर तंत्रिका त्वचा शोथ में इस्तेमाल करते हैं।

6. **तेल ग्रौर पानी के शेक लोशन.** जल लोशन में जल, ग्लीसरीन ग्रौर पाउडर (पूरी मात्रा का 30 प्रतिशत) होता है। ग्रधिकतर जिंक ग्राक्साइड, टेल्कम, काग्रोलीन ग्रौर स्टार्च का पाउडर इस्तेमाल करते हैं। जल शेक लोशन का प्रतिशोथज प्रभाव होता है तथा इससे खुजली ग्रौर जलन में ग्राराम मिलता है। जलग्रल्कोहल के शेक लोशन में ग्रल्कोहल होता है। तैल शेक लोशन इन्हीं पाउडरों के वाहक तैल द्रव (सूर्यमुखी, ग्राड़ू के छिलके के या वैसलीन तेल) से मिलाकर बनाते हैं। जिंक तेल में 30 प्रतिशत जिंक ग्राक्साइड ग्रौर 70 प्रतिशत वनस्पति तेल होता है। तेल शेक घोल से त्वचा मुलायम होती है। शल्क ग्रौर पपड़ी उतारने में मदद मिलती है ग्रौर खिंचाव कम महसूस होता है।

जल ग्रौर तेल के लोशन को इस्तेमाल करने से पहले उसे हिलाते हैं ग्रौर फिर रूई के पिंड से विक्षति वाले भाग में लगाते हैं। सल्फर, इच्छ्थोमोल, टार, मेन्थाल ग्रौर ग्रन्य पदार्थ भी इस में मिलाये जा सकते हैं। शेक लोशन त्वचा पर जल्दी सूख जाते हैं ग्रौर इसीलिए बैन्डेज नहीं लगाई जाती है। इन्हें सिर पर ग्रौर रिसती हुई त्वचा पर नहीं लगाते हैं।

7. **लेप** में बराबर मात्रा में पाउडर (जिंक ग्राक्साइड, टेल्कम इत्यादि) ग्रौर वाहक तेल (लैनोलिन, वैसलीन इत्यादि) होते हैं। निलंबन की ग्रपेक्षा लेप ग्रधिक गहराई तक जाते हैं पर मलहम की ग्रपेक्षा ये कम सक्रिय होते हैं।

इनका प्रभाव प्रतिशोथज और नमी सोखनेवाला होता है। लेप गाढ़े होते हैं, इसलिए पट्टी की आवश्यकता नहीं होती है। इन्हें सिर पर तथा रिसने वाली त्वचा पर नहीं लगाते हैं। लेप को त्वचा पर एक या दो बार लगाते हैं और तीन दिन में एक बार वनस्पति तेल में भिगोये हुए टैम्पन से इसे साफ किया जाता है।

जिंक लेप में जिंक आक्साइड, टैल्कम, लेनोलिन और वैसलिन बहुधा बराबर भाग में मिले होते हैं। जब कभी बताया जाये तो इस लेप में इक्थेमोल, नेफ्थेलेन, रिसोर्सिनोल, सल्फर के योग, टार इत्यादि मिला लिए जाते हैं। लेप को विक्षति वाले भाग पर इन्हें स्पैचुला से लगाते हैं और फिर इसे फैला देते हैं। और सतह को गाज पट्टी से ढक कर पट्टी बाँध देते हैं (पट्टी का एक या दो फेरा लगाते हैं)।

8. **मलहम.** मलहम में एक या ज्यादा औषधियाँ होती हैं, जो वसामूल पदार्थों (वैसलीन, लैनोलीन, लाई, नेफ्थेलेन इत्यादि) के साथ एकसार मिली होती हैं। इनका गहराई तक प्रभाव होता है, इसलिए इन्हें त्वचा का शोथज अंत:संचरण होने पर चिरकारी और कम तीव्र रोगों में दिया जाता है। 2—10 प्रतिशत सल्फर मलहम, 2—3 प्रतिशत टार मलहम, 1—3 प्रतिशत अमोनिया वाला पारद मलहम, 2 प्रतिशत सैलसिलिक मलहम, 2—5 प्रतिशत इक्थेमोल मलहम, 2—3 प्रतिशत नफ्थेलेन और अन्य मलहम प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके साथ ही प्रतिजीवी वाले मलहम (एराइथ्रोमाइसिन, क्लोर्टेट्रासाइक्लीन और दूसरे मलहम) भी इस्तेमाल किये जाते हैं। इंटरफेरोन मलहम को शैवाक पेम्फीगोइड और हर्पीज जोस्टर में इस्तेमाल करते हैं।

कोरटिकोस्टरायड योग वाले मलहम (सिनालार सम्मिश्र, फ्ल्यूसिनोलोन) भी होते हैं तथा ऐसे मलहम भी जिनमें कोर्टिकोस्टेरायड और प्रतिजीवी होते हैं (जैसे आक्सीकोर्ट, जिओकोर्टोन, नियोमाइसीन के साथ), वायोफार्म और टार, अल्ट्रालान, डेर्माजोलोन, मोनोमाइसीन-प्रेडनीसोलोन (जिसके 10 ग्राम में 1 000 000 यू० प्रतिजीवी और 0.1 ग्राम प्रेडनीसोलोन होता है, सिनालार एन में नियोमाइसिन और सिनालार सी में क्विनोफार्म होता है)।

मलहम को लिनेन पर एकसार फैलाया जाता है और फिर विक्षति के भाग पर रख पट्टी से बाँध देते हैं। कभी-कभी इसे सीधे त्वचा पर लगाकर खुला छोड़ देते हैं। स्केबीज और तुषाम शल्कन (सेहुंआ) में इस मलहम को त्वचा पर लगाते हैं। मलहम को त्वचा के रोगी भाग पर दिन में एक या दो बार लगाते हैं। कुछ रोगों में इक्थेमोल और टार को शुद्ध रूप में (बिना ग्रीस वाहक के) इस्तेमाल करते हैं और इसे दो दिन में एक बार लगाया जाता है।

9. **प्लास्टर.** प्लास्टर में वसा के अलावा मोम और कोलोफोनी (रेजिन) भी होता है। ये मलहम की अपेक्षा अधिक गाढ़े और चिपकने वाले होते हैं। प्लास्टर को अधिकतर पहले गर्म करते हैं और फिर इसकी मोटी तह रोगी भाग पर लगाते हैं। यह मलहम की अपेक्षा अधिक गहराई तक जाता है। निरऔषधीय चिपकने वाले

प्लास्टर को त्वचा में ड्रेसिंग लगाने में प्रयोग करते हैं। यह त्वचा से अच्छी तरह न चिपके तो इसे फिर थोड़ा गर्म कर लेते हैं।

10. **साबुन.** उपचारार्थ साबुनों में सल्फर, **टार**, इक्थेमोल, रिसार्सिनाल, सल्फर और सिलसिलेट, सल्फर इत्यादि होते हैं।

11. **स्नान.** पूर्णशरीर स्नान (जल का **तापमान** 35—37° सें०) में सप्रूस मत्व, पोटैशियम परमैगनेट (1 : 10000), बलूत की छाल (एक किलो छाल को 6 लिटर पानी में उबालकर) और गेहूँ की **भूसी** (एक किलो भूसी को तीन लीटर पानी में उबालकर) और स्थानिक स्नान (37—40° सें०) हाथ, पैर, जननेंद्रियों, और गुदा को दिये जाते हैं। उदाहरण के **लिए** हाथों को गर्म स्नान शीवशोथ और वाहिका प्रेरक विकार में दिया जाता है।

जल के तापमान के अनुसार स्नान में **भी अंतर** हो सकता है। 34—36° सें० सामान्य, (36—38° सें०) उष्ण, (39° सें० से अधिक) अति उष्ण (33—21° सें०) ठंडा, तथा अतिशीत (20 से **और** कम)। नित्य का स्नान 15 से 20 मिनट तक, उष्ण स्नान दस मिनट तक और अति उष्ण स्नान पाँच मिनट का होता है।

स्नान-घर को पहले गर्म पानी और साबुन से धोते हैं, फिर कपड़े या ब्रुश से साफ करके 1—2 प्रतिशत क्लोरामीन घोल या 1 प्रतिशत चूना क्लोराइड घोल से विसंक्रामित करते हैं। विसंक्रामक को गर्म जल से धो देते हैं। सप्ताह में एकबार स्नानघर को हल्के नमक के तेजाब, सोडा घोल, मिट्टी के तेल या विशेष लेप से धोते हैं। मोस्वे के धब्बों को आगजैलिक एसिड से साफ किया जाता है।

30 से 40 मिनट के उपचारार्थ स्नान को हल्के नाश्ते या दोपहर के भोजन के एक या दो घंटे बाद करना चाहिए।

स्नान में स्टार्च और चोकर (गेहूँ या बादाम का) जल में इसलिए मिलाया जाता है क्योंकि इसका कंडूरोधी प्रभाव होता है तथा त्वचा मुलायम हो जाती है। स्टार्च और चोकर को (500 से 1 000 ग्रा०) को सन् के थैले में रख कर पानी से भरे स्नान घर में नीचे रखा जाता है। इस स्नान का तापमान सामान्य या उष्ण (37° सें०) तक होता है। इस थैले को बार-बार निचोड़ कर इसके पदार्थों को पानी में पहुंचाया जाता है। 1—2 किलोग्राम चोकर क्वाथ पहले से तैयार करके और छान कर स्नान में मिला दिया जाता है। बादाम की भूसी को सीधे स्नान जल में मिला देते हैं। उपचारार्थ स्नान 30 से 60 मिनट तक या इससे अधिक समय तक लिया जाता है।

सोरियासिस तंत्रिका त्वक शोथ में पूर्ण शरीर स्नान और **फव्वरा** स्नान लिया जाता है। जल त्वचा पर से औषधि के अवशेष और पपड़ी को साफ करता है। यह मोटा बाह्य त्वचा की शृंगी परत को **मुलायन** बनाता है तथा तंत्रिका तंत्र पर इसका प्रशमनकारी प्रभाव होता है तथा यह परिसंचरण को नियंत्रित करता हैं।

त्वचा रोगों में भौतिक चिकित्सा

सिंकाई (उष्ण) और शीत का प्रयोग त्वचा रोगों के सफलतापूर्वक उपचार में किया जाता है। सिंकाई (उष्णता) का प्रभाव 'मिनिन' प्रकाश और सौलक्सलैम्प से किरणन द्वारा पैदा किया जाता है तथा पूर्ण शरीर और स्थानिक स्नान (सूर्य स्नान सहित), पैराफिन और ओजोकेराइट लगाकर स्थानिक और खंड डायाथर्मी से सिंकाई करते हैं।

विकृतजन्य ऊतकों को सूखी कार्बनडाइऑक्साइड बर्फ (शीतोपचार) या द्रवित नाइट्रोजन से हिमीकरण द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

अधिक प्रयुक्त कार्य विधि में क्वार्ट्ज-मरकरी (बाच, क्रोमायर, इत्यादि) लैम्प (पराबैंगनी विकिरण) किरणन और कभी-कभी एक्सरे और विघटनाभिक पदार्थ सम्मिलित होते हैं। विद्युत ऊर्जा का प्रयोग विद्युत अपघटन, गेल्वेनोकाटरी और डायथर्मो स्कंदन (शल्यडायथर्मो) को विकृतजन्य ऊतकों (अधिमांस और जन्म चिन्ह) को नष्ट करने में किया जाता है। स्थानिक डीअरसोनवालिकरण का प्रयोग खुजली वाले त्वक रोगों में किया जाता है।

अति उच्च आवृत्ति वाली धारा का प्रयोग फुन्सियों और स्वेद ग्रन्थि शोथ के उपचार में किया जाता है। लैसर किरणों का प्रयोग भी त्वक रोगों (पोषणज व्रण तथा अन्य रोगों) में किया जाता है।

स्वास्थ्य-सदनों में उपचार

बहुत से चिरकारी रोग, जैसे चिरकारी छाजन, तंत्रिका त्वक शोथ, सोरियासिस, त्वचा की खुजली, शैवाक रक्तिमा लानस, त्वचा काठिन्य, शीतपित्त, शल्की त्वचा, ल्यूपस यक्ष्मा, यक्ष्मा, पपुलोनोक्रोटिका तथा अन्य के लिए स्पा उपचार एक शक्तिशाली साधन है (खनिज जलीय झरने वाले स्थान पर)।

सूर्य और वायुस्नान के साथ-साथ रोगियों को समुद्र स्नान, पैट्रौल-नेफ्थेलेन और उपचारार्थ मिट्टी का प्रयोग भी किया जाता है।

खनिज स्नान में (1) सल्फाइड जल (सल्फरयुक्त जल) से स्नान सम्मिलित है। हाइड्रोजन सल्फाइड त्वचा (90%) और श्वास पथ से, शरीर के अंदर पहुंचता है। हाइड्रोजन सल्फाइड की सान्द्रता 30—40 मि० ग्रा० प्रति 100 लिटर से 100—150 मि० ग्रा० प्रति 100 लिटर तक होती है। उपचार के लिए 10 से 15 स्नान तक किये जाते हैं। सोवियत रूस में हाइड्रोजन सल्फाइड स्नान सोची-मत्सेस्ता, प्यातिगोर्स्क, केमेरी, गोर्याची क्ल्यूच, सेर्नोवोद्स्क, सेर्गियेव्स्किये मिनेरालिनये वोदी तथा अन्य खनिज जलीय झरने वाले स्थानों पर किया जाता है। कृत्रिम हाइड्रोजन सल्फाइड स्नान निम्न प्रकार से बनाते हैं—स्नान (टब) में 200 लिटर ताजा पानी वाँछित

तापमान पर भरा जाता है। उसमें इंडस्ट्रियल सोडियम सल्फाइड के 10 प्रतिशत घोल के 825 मि० ली० और 27.5 प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक एसिड के 200 मि० ली० मिला दिये जाते हैं। इस प्रकार से बनाये गये स्नान में 100 मि० ग्रा० स्वतंत्र और 150 मि० ग्रा० कुल हाइड्रोजन होता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस कमरे में स्नान की व्यवस्था की गयी है, वह खूब हवादार होना चाहिए, क्योंकि 0.01 मि० ली० ग्राम प्रति लीटर की हाइड्रोजन सल्फाइड सान्द्रता मनुष्य के लिए विषालु है। मन्द सान्द्रता वाले हाइड्रोजन सल्फाइड 75—100 मि० ग्रा० प्रति लिटर का प्रयोग आम तौर पर किया जाता है और अधिक सान्द्रता (150—200 मि० ग्रा०) का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। उपचार प्रारंभ करने पर निम्न सान्द्रता 25 से 50 मि० ग्रा० प्रति लीटर का प्रयोग किया जाता है और इसके बाद सान्द्रता को धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। 34 से 36 सें० वाले जल में स्नान 10 से 15 मिनट तक किया जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड स्नान वाले दिन रोगी को ठंडे वातावरण से बचना चाहिए तथा अन्य भौतिक चिकित्सा या जल क्रिया नहीं करनी चाहिए। (2) **रेडान स्नान में** हल्की विघटनाभिकता वाला जल (10 से 27 माखे इकाई –विघटनाभिकता को नापने की अंतर्राष्ट्रीय इकाई) होना चाहिए। मध्यम रेडान स्नान में (28 से 82 माखे इकाई) और उच्च में (82 से अधिक माखे इकाई) वाला जल होता है। एक स्नान 5 से 15 मिनट तक का होता है। उपचार के लिए 12 से 20 स्नान किये जाते हैं। सोवियत संघ में रेडान स्नान त्स्खल्तूबो, वेलोकूरिखा, प्यातिगोर्स्क, किसेगाच, जेती-ओगूज तथा अन्य खनिज जलीय झरने वाले स्थानों में किया जाता है। कृत्रिम रेडान को विशेष हिदायतों के साथ बनाते हैं। रेडान घोल को बोटल में से स्नान टब्र में वाँछित तापमान पर (बहुधा 34–36° सें०) डाला जाता है। यह स्नान 10 से 20 मिनट तक किया जाता है। (3) सिलिका स्नान, मामूली खनिजीय होते हैं। इन्हें गोर्याचिन्स्क, त्स्वार्चेली, आल्मा-अरासान, कुलदुर, अरासान-कोपल तथा अन्य खनिज जलीय झरणों वाले स्थान पर लिया जाता है। (4) कार्बन डाइआक्साइड जल। ये स्नान किस्लोवोद्स्क और नाल्चिक में खनिज जलीय झरनों में होते हैं।

उपचारार्थ मिट्टियों का प्रयोग, गर्म, प्रतिवर्ती, रासायनिक और विघटनाभिक प्रभाव के लिए चिरकारी शोथज क्रिया में किया जाता है। फर्क किया जाता है कि वह किस प्रकार के त्वक रोग से पीड़ित है और आनुषंगिक रोगों के क्या लक्षण हैं। उदाहरण के लिए यदि छाजन सोरिआसिस या अन्य किसी त्वक रोग से पीड़ित रोगी को साथ में चयापचयी विकार हो या जठर-आंत्र रोग हो तो उसे सही पथ्य अतःस्राव विज्ञानी या कायचिकित्सक के परामर्श से देना चाहिए। सोवियत संघ में उपचारार्थ मिट्टी से उपचार सोची, ओदेस्सा, येव्पातोरिया, प्यातिगोर्स्क, जेल्येज्नोवोद्स्क, लीपेत्स्क, येइस्क, केमेरी, द्रूस्कीनीनकाइ, स्लाव्यान्स्क, उचूम, सेर्नोवोद्स्क में किया जाता है।

रोगी के पथ्य का निर्धारण सही निदान के आधार पर होता है।

छाजन तंत्रिका त्वक शोथ, शीतपिल और कण्डूपिटिका अधिकतर खाद्य पदार्थ की एलर्जी से होती है। बहुधा इनके होने का कारण दीर्घ स्थायी अंडे, दूध, मधु, स्ट्राबेरी, छत्रक नीबू वंश के फल, मछली, कुछ किस्म का माँस, इत्यादि है। कण्डू त्वक रोग से पीड़ित रोगियों को चटपटा और मिर्चवाला भोजन नहीं करना चाहिए, मदिरा पान निषिद्ध है और ऐसा भोजन नहीं लेना चाहिए जिससे त्वचा क्रिया का प्रकोपन हो। एलर्जी त्वक रोग के इतिहास वाली स्त्रियों को गर्भवती होने पर ऐसी खुराक दी जाती है। यदि शिशु को प्रवृत्ति और कण्डू त्वक रोग हो तो उसको दूध पिलाने वाली माँ को सुनिर्धारित नियमित भोजन दिया जाता है।

पूयत्वक रोग और कार्बोहाइड्रेट के चयापचन की गड़बड़ी वाले रोगी को कार्बोहाइट्रेट लेने में संयम बरतना चाहिए। सोरियासिस के रोगी को कोलेस्टेरोल बहुलता वाले खाद्य नहीं लेने चाहिए। तीव्र शोथज विकृति और त्वचा की सतह से निःस्राव होने वाले त्वक रोगों में विषालु पदार्थों के विसंक्रमण के लिए बहुत मात्रा में तरल पदार्थ और मूत्रल औषधियाँ लेनी चाहिए।

यदि रोगी को स्टेरायड हार्मोन दिये जाते हों तो पथ्य का विशेष महत्त्व होता है। उन्हें पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन पदार्थ, और विटामिनों से भरपूर भोजन देना चाहिए (विशेष रूप से विटामिन सी) और भोजन में पोटैशियम भी होना चाहिए।

पूयत्वक रोग

स्टेफाइलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस और कभी-कभी पूयजन्य सूक्ष्म जीवियों के त्वचा में घुस जाने से पूयत्वक रोग होते हैं। त्वक रोगों में पूयत्वक रोग सब से अधिक प्रचलित है और इसका महत्त्व भी बहुत है क्योंकि इससे श्रम उत्पादन क्षमता घट जाती है और रोगी को कई दिन तक बीमारी की छुट्टी लेनी पड़ती है। पूयत्वक रोग युवकों और किसी भी आयु के बच्चों को होता है।

स्वच्छता संबंधी स्वास्थ्य सिद्धांतों के नियमों और आदर्शों का पालन न करने से और कार्य तथा निवास की प्रतिकूल परिस्थितियों से पूयत्वक रोग बढ़ता है। विकृतजन्य पूयत्व सूक्ष्म जीवी स्वच्छ व्यक्ति की त्वचा में होते हैं परन्तु इन से पूयत्वक रोग हमेशा नहीं होता है। इन रोगों का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति की सामान्य हालत और पर्यावरण की स्थिति कैसी है। त्वचा आवरण में चोट तथा रासायनिक और खनिज तेलों से इसका क्षोभ, वायु का उच्च तापमान और विशेष रूप से तब, जब कि आर्द्रता भी बहुत ज्यादा हो, तथा अन्य कारकों से, प्रतिकूल पर्यावरण परिस्थितियाँ बनती हैं। तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की क्रिया में विपर्यय होने से, शरीर में विटामिनों की कमी से, चयापचयी विकास होने (मधुमेह

में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट), इत्यादि से जीव की प्रतिरोधी शक्ति घट जाती है तथा ये पूयत्वकरोग होने का कारण बन जाते हैं।

उपरिस्थ और गहरे स्टेफाइलोकोकल, स्ट्रेप्टोकोकल और मिली-जुली सपूय त्वचा के रोगों में विभद किया जाता है।

स्टेफाइलोकोकल पूयत्वक रोग पाइलोत्व वसीय पुटकों और स्वेद ग्रन्थियों के संकट में जाना जाता है। पूय स्फोटिकाएँ शंक्वाकार या अर्धगोलक होती हैं, इनकी दीवारें मोटी और तनी हुई होती हैं। पस गाढ़ा और पीले हरे रंग का होता है और नीचे की ओर मुड़े हुए बाल बहुधा पूयस्फोटिका के केन्द्र में दिखाई देते हैं।

स्ट्रेप्टोकोकल पूयत्वक रोग में पूय स्फोटिकाएँ चपटी होती हैं, उन की दीवारें पतली और पिलपिली होती हैं तथा इनका निःस्राव सीरम सपूय होता है।

उपरिस्थ पूयत्वक रोग बाह्य त्वचा तक ही सीमित होता है और इस में अस्थाई वर्णकता होती है। पूयत्वक रोग में त्वचा प्रभावित होती है और कभी-कभी अधस्त्वक वसा भी प्रभावित होती है, और सदैव ही व्रण चिन्ह या क्षतांकज शोथ रह जाता है।

पूयत्वक रोगों के बाद विभिन्न प्रकार के कण्डू त्वचा रोग (द्वितीयक पूयत्व रोग) हो सकते हैं।

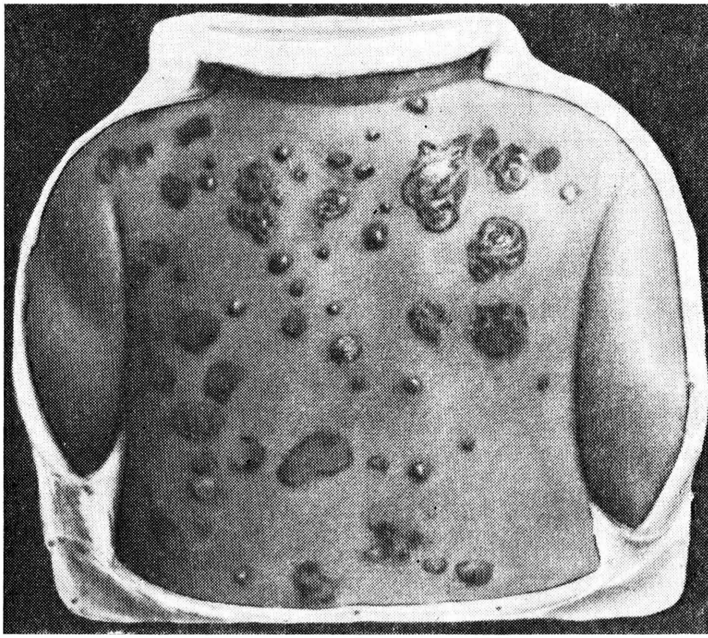
उपरिस्थ पूयत्वक रोग

इम्पेटाइगो, फालिकुलाइटिस, लोम कूप शोथ और नवजात बाह्य त्वचा पैम्फीगस अधिक प्रचलित उपरिस्थ पूयत्वक रोग हैं।

इम्पेटाइगो. स्ट्रेप्टोकोकल इम्पेटाइगो, सामान्य या मिश्रित इम्पेटाइगो और मुख्य फालिकुलाइटिस या स्टैफाइलोकोकल इम्पेटाइगो को पहचाना जाता है।

स्ट्रेप्टोकोकल इम्पेटाइगो बहुधा बच्चों को होता है। विक्षति उपरिस्थ गुहिकामय अ-फालीकुलर चपटी पुटिका होती है, जिसकी भित्तियाँ पतली और पिलपिली होती हैं और इसमें सीरमी पदार्थ होता है। यह अतिरक्तता के आधार पर होता है। यह बाजरे के आकार से लेकर अखरोट के आकार तक बड़ा हो सकता है। पुटिका का पदार्थ धब्बेदार होने के बाद सीरस सपूय हो जाता है। पुटिका सूख जाती है और पीली पपड़ी सी बन जाती है। यह क्रिया चेहरे की पतली और कोमल त्वचा पर तथा धड़ और अंगों के आस-पास स्थानिक रूप से होती है। खुजली होने की वजह से रोगी और विशेषकर बच्चे पुटिकाओं और पूयस्फोटिकाओं के आवरण को फाड़ देते हैं और उसकी जगह विस्फोट बन जाता है तथा उसके ऊपर पीली पपड़ी का आवरण बन जाता है। पपड़ी गिर जाती है और वर्णक धब्बा पड़ जाता है। यह अति सांसर्गिक रोग बहुधा बच्चों के समूह में तेजी से फैलता है और इसीलिए इसे सांसर्गिक इम्पेटाइगो कहते हैं।

होंठों के कोणों पर होने वाले स्ट्रेप्टोकोकल इम्पेटाइगो को परलेश (सृक्कशोथ) कहते हैं। चपटी फैली हुई पुटिका (जलस्फोट) मुँह के एक या दोनों कोनों पर



चित्र 46. बाह्य त्वचीय नवजात पेम्फीगस।

विस्फोट बन जाता है। जलस्फोट मुँह, नाक, जननेंद्रियों और आँखों की श्लेष्मलकला पर भी बन जाते हैं। बच्चा प्रायः रोता रहता है और बेचैन रहता है। नींद ठीक नहीं आती है और शरीर का तापमान बढ़ जाता है।

गहन पूयत्वक रोग

फुन्सी, फुन्सी रोग, कारबंकल, स्वेद ग्रन्थिशोथ, कूट फुन्सी रोग या बच्चों में बहु विद्रधि पूयस्फोटिका आदि अधिक होने वाले गहन पूयत्वक रोग हैं।

फुन्सी और फुन्सी रोग. फुन्सी एक गहन पुटकीय पूयस्फोटिका है जो कि पिलो-त्वकवसीय पुटक में बनती है और त्वचा की क्रिया तथा कोशिका ऊतकों की क्रिया में भाग लेती है। यह मुख रोम कूपशोथ से प्रारंभ होकर धीरे-धीरे गहन होती जाती है तथा कठोर और नर्म पर्त बनाती है जिसका आकार अखरोट के बराबर होता है और इसकी सतह लाल-बैंगनी रंग की होती है। इसके केंद्र में फुन्सी का मुँह होता है जिससे पीला-हरा सा पस निकलता है। व्रण के तले में मृत ऊतक होते हैं जो बाल पुटिका को घेरे रहते हैं और 'फरिगलित कोर' बनाते हैं जो कि एक या दो दिन में अलग हो जाती है। व्रण के किनारे अतिरिक्त और सूजे हुए होते हैं और

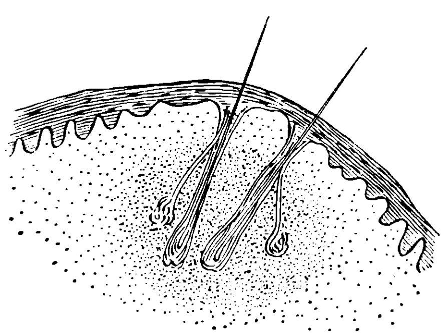
इसके तले में लाल रसदार कण होते हैं। फुन्सी के ठीक होने पर निशान पड़ जाता है। इस रोग का कारक स्टेफाइलोकोकस है।

फुन्सी रोग ऐसी हालत है जिसमें एक से अधिक फुन्सियाँ एक समय पर निकलें या एक के बाद एक फुन्सी होती रहे। ये अधिकतर ऐसे निर्बल रोगियों में होती हैं जिसमें कार्बोहाइड्रेट चयापचय की गड़बड़ी (मधुमेह) हो या जठर-आंत्र विकार हों। इस रोग को स्थानिक फुन्सी रोग कहते हैं; फुन्सियाँ एक सीमित क्षेत्र में होती हैं, लेकिन फुन्सी रोग में ये त्वचा के विभिन्न भागों में होती हैं।

तीव्र और चिरकारी (हफ्तों और महीनों तक चलने वाला) फुन्सी दो अलग-अलग रोग होते हैं।

कारबंकल स्टैफाइलोकोकस से होता है। यह पास-पास की दो या अधिक पिलो-त्वकवसीय पुटिकाओं का सपूय शोथ है। ऐसा लगता है कि कारबंकल में कई फुन्सियाँ हों, जिन्होंने एक अंत:संचरित संलयन का रूप ले लिया हो। कारबंकल सघनता में ठोस सा होता है। इसके चारों ओर की त्वचा सूजी हुई और लाल-बैंग़नी रंग की होती है। कारबंकल में पीड़ा बहुत होती है और इसके साथ-साथ शरीर का ताप बढ़ जाता है (40° सें० तक), सिर में पीड़ा होती है, भूख नहीं लगती तथा अनिद्रा हो जाती है। कारबंकल के खुलने के बाद गलित ऊतकों को निकाल देते हैं। व्रण रह जाता है जिसके ठीक होने पर गहरा दाग बन जाता है। कारबंकल कृश और कमजोर व्यक्तियों को होता है। यह अधिकतर गर्दन के पीछे या कटि प्रदेश में होता है।

स्वेद ग्रन्थि शोथ भी फाइलोकोकस से होता है। यह तीव्र सपूय शोथ है जो कि अंश स्रावी स्वेद ग्रन्थियों और उसके आस-पास की अधस्त्वक वसा में होता है। इसके अनुकूल स्थान बगलें और जननेन्द्रिय का क्षेत्र होते हैं और गुदा में यह विक्षति बहुत कम होती है। रोग की शुरूआत में एक कोमल घुंडी के रूप में होकर यह अधस्त्वक वसा में मटर के दाने के बराबर हो जाता है। यह धीरे-धीरे बढ़ता है और बहुत पीड़ादायक हो जाता है तथा इसके ऊपर की त्वचा लाल पड़ जाती है। इस क्रिया में साथ की अंशस्रावी ग्रन्थियाँ भी शामिल हो जाती हैं और नई घुंडी बन जाती है (चित्र 47)। ये घुंडियाँ विकास के विभिन्न चरणों से गुजरती हुई संलयन बन कर एक अंत:संचरित रूप ले लेती है। इसमें विभिन्न आकार के लाल चूचुक होते हैं जो कि अलग-अलग विद्रधियों के बिन्दु होते हैं। ये घुंडियाँ मुलायम हो कर फट जाती हैं और

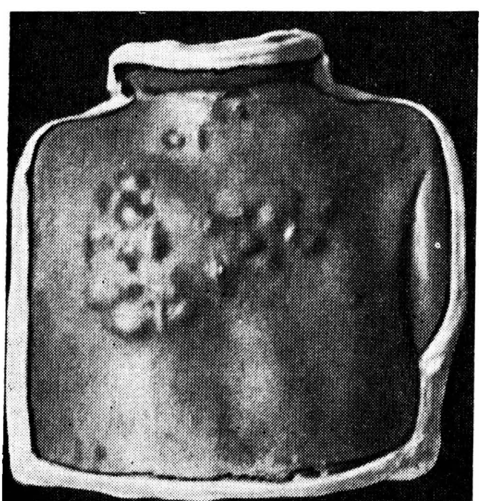


चित्र 47. स्वेद् ग्रन्थिशोथ।

इसमें से ढेर सारा क्रीम की तरह का पस निकल जाता है। प्रत्येक घुंडी दो से तीन सप्ताह में विकसित होती है।

शिशुओं में स्यूडो फुंसी रोग या बहु विद्रधि स्यूडो फुंसी रोग स्वेद ग्रन्थियों के शिकास्त्वक और वाहिनियों की स्टैफाइलोकोकल विक्षति है। यह रोग ऐसे कमजोर और गंदे बच्चों को होता है जिनकी देखभाल नहीं होती है। इधर-उधर होते रहने वाले विद्रधियाँ त्वचा में गहरी हो जाती हैं और वहुत समय तक तेज न होकर त्वचा पर बनी रहती हैं। इसके ऊपर वाली त्वचा का रंग पहले तो सामान्य रहता है और फिर लाल पड़ कर श्याव रंग का हो जाता है (चित्र 48)। इसके मुँह पर परि-गलित कोर नहीं होती है। धड़ के अभिपृष्ठ भाग और शिरोवल्क इस क्रिया के सामान्य स्थान हैं।

वलगैरिस पूयस्फोटिका या स्ट्रेप्टोकोकल पूयस्फोटिका एक सूजे हुए आधार पर होने वाले स्ट्रेप्टोकोकल इम्पेटाइगो का गहरे तल वाला रूप है। वलगैरिस पूयस्फोटिका क्रम पर बनती है तथा जांघों, नितम्बों और पीठ पर कम होती है। यह रोग अधिकतर ऐसे कमजोर कृश लोगों को होता है, जो अस्वास्थ्यकर गंदी परिस्थितियों में रहते हैं। पूयस्फोटिका इसकी विक्षतियों का लक्षण है, जिसका आकार पिंघल के फल के बराबर होता है। ये चपटी और पिलपिली होती हैं



चित्र 48. शिशुओं की त्वचा पर बहु व्रण (स्यूडो फुंसी रोग)।



चित्र 49. वलगैरिस पूय स्फोटिका।

और इनमें सीरस सपूय पदार्थ होता है और यह लाल-स्याह अंतःसंचरण से घिरी होती है। ये पूयस्फोटिका गंदी पीली पपड़ी में बदल जाती हैं और जब यह पपड़ी गिर जाती है तो गहरा व्रण रह जाता है (चित्र 49)। ये पीड़ादायक होती हैं और इनके रसदार तल में पस भर जाता है। ठीक हो जाने के बाद व्रण चिन्ह हमेशा रह जाता है। यह रोग हफ्तों से लेकर महीनों तक चलता रहता है।

पूयत्वक रोग का उपचार

त्वचा के सपूय रोगों के उपचार के सम्मिश्र उपाय हैं। सामान्य और बाह्य कर्म और भौतिक चिकित्सा तथा विधान का कड़ाई से पालन इसके उपाय हैं। चिरकारी और प्रत्यावर्ती पूयत्वकरोगों में आंतरिक अंगों और तंत्रिकातंत्र की जाँच करनी चाहिए, और जिस रोग का पता चले उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

गहन पूयत्वक रोग, रोमकूप शोथ, दीर्घस्थायी और प्रत्यावर्ती रोमकूप शोथ और इम्पेटाइगों के सभी रूपों में **चिकित्सा की प्रतिरक्षित विधियों** का प्रयोग किया जाता है। स्टैफाइलोकोकल एनाटाक्सीन, स्टैफाइलोकोकल एन्टीफागिन, स्टैफाइलोकोकल बेक्टीरियोफेज, स्ट्रेप्टोकोकस और स्टेफाइलोकोकस वैक्सीन (बहु संयोजक और आटो-वैक्सीन) आदि विशिष्ट प्रतिरक्षा चिकित्सा के साधन हैं। उपचार के साथ रोगी को ठंड लगती है या शरीर का ताप बढ़ जाती है, तबियत खराब हो जाती है तथा रोगी भाग में प्रकोपन हो सकता है तथा औषधि लगाने की जगह पर पीड़ा, लाली और सूजन हो सकती है। दूसरा इंजेक्शन पहले इंजेक्शन से होने वाली स्थानिक प्रक्रिया से बिलकुल स्वस्थ होने के बाद दिया जाता है। अविशिष्ट प्रतिरक्षा चिकित्सा में स्वरक्त चिकित्सा, दूध के इंजेक्शन (लैक्टोथिरैपी) और गामाग्लोब्यूलिन, मूल प्लाज्मा और रक्त का आधान सम्मिलित हैं। (प्रतिरक्षा चिकित्सा की चर्चा विस्तार पूर्वक 'त्वक रोगियों के उपचार के सामान्य सिद्धांत, प्रतिरक्षा चिकित्सा' में की गई है)।

प्रतिजैविक पदार्थ. प्रतिजीवी चिकित्सा करने से पूर्व रोगी के पस से स्ट्रेप्टोकोकल या स्टैफाइलोकोकल संवर्ध को वियुक्त करके प्रयोगशाला जाँच करना सर्वोत्तम होता है क्योंकि इससे विभिन्न प्रतिजैविक पदार्थों के प्रति संवेदनशीलता का पता चलता है। यदि सूक्ष्मजीव समूह की संवेदनशीलता का पता न चल सके, तो विस्तृत स्पैक्ट्रम वाले प्रतिजैविक पदार्थों से उपचार करना चाहिए।

पेन्सिलीन की 100 000 से 200 000 इकाई (जल के धुलित खेदार संयोग) की खुराक दिन में तीन से चार बार तक अंतरपेशीय इंजेक्शन द्वारा दी जाती है या एक्मोनोवोसिलीन (बेन्जाइल पेन्सिलीन प्रोकेन का एक्मोलीन के जलीय घोल में निलंबन, ट्रिप्रोटामीन सल्फेट घोल) (24 घंटे में 600 000 इकाई), अथवा बाइसि-

लिन (बेन्जाथीन पेन्सिलीन) 3, 4, 5, या 6 (600 000 इकाई खुराक को चार या पाँच दिन में एक बार प्रत्येक नितम्ब में इंजेक्शन लगाते हैं)। कुल खुराक 2 000 000 से 5 000 000 इकाई की होती है। कभी-कभी पेन्सिलीन को स्ट्रेप्टो-माइसिन में मिलाकर लगाते हैं (24 घंटों में दो बार 500 000 इकाई की प्रति खुराक इंजेक्शन से दी जाती है)।

एराइथ्रोमाइसीन और लेवोमाइटीसीन (क्लोरमफेनिकल) की 0.5 ग्रा० की खुराक दिन में तीन से चार बार दी जाती है। (कुल खुराक 8 = 15 = 20 ग्रा० की होती है)।

क्लोरटेट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड, ग्राक्सीटेट्रासाइक्लीन डिहाइड्रेट और टेट्रासा-इक्लीन 0.2 ग्रा० की खुराकों में दिन में चार या पाँच बार देते हैं (कुल खुराक 5 – 10 ग्रा०)।

सिग्मामाइसीन और नियोमाइसीन सल्फेट कैप्सूल या घोल (शर्बत) के रूप में बनती है और इसलिए बच्चों के लिए अधिकतर इसका औषधि-निर्देश दिया जाता है।

ओलिएनडोमाइसीन की दैनिक खुराक 1 000 000 – 2 000 000 इकाई की होती है जो बराबर भागों में बाँट कर दिन में चार से छः बार तक दी जाती है।

अल्बोमाइसीन, रोन्डोमाइसीन (मेथासाइक्लीन) तथा अन्य विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजैविक पदार्थ हैं। विटासाइक्लीन में टेट्रासाइक्लीन और विटामिन 'सी' 'बी$_1$' और 'बी$_2$' होते हैं। कुछ लोगों को प्रतिजैविक पदार्थ सहन नहीं होते और इससे बहुत से उपद्रव और एलर्जी हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में अल्पसुग्राहीकरण चि-कित्सा और प्रतिहिस्टामिनिक औषधियों का निर्देश दिया जाता है। क्योंकि प्रतिजैविक पदार्थों का प्रतिरक्षा क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं होता है, इसलिए इन्हें प्रतिरक्षा चिकित्सा से मिलाकर दिया जाता है। संश्लिष्ट यौगिक (औक्सासिलीन, मेथिसिलिन तथा अन्य) का भी प्रयोग किया जाता है।

सल्फानिलामाइड. सुस्पष्ट एलर्जी गुण और विषालुता के कारण आजकल सल्फा-निलामाइड का प्रयोग बहुत कम हो गया है। रक्त, जिगर और गुर्दे के रोगों में तथा औषधि के असहनीय होने तथा अति सुग्राहिता होने पर सल्फानिलामाइड प्रति-दिष्ट है।

सल्फाथायोजोल, सल्फाडिमेजीन (सल्फामेथाजीन) और एटाजोल (सल्फाए-थीडोल) खाने के लिए 1 ग्रा० की खुराक दिन में तीन चार बार दी जाती है (यह औषधि पाँच से दस दिन के लिए दी जाती है)। सल्फापिरीडामीन (सल्फामेथा-क्सीपेरीडाजीन) और सल्फाडाइमेथाक्सीन (मेड्राबान) 1.00 से 2.00 ग्रा० दिन में एक बार सात से चौदह दिन तक दी जाती है।

सामान्य शक्ति प्रदायक प्रभाव वाले पदार्थ पूयत्वक रोग वाले रोगियों की व्यवस्था के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। इन रोगियों को एसकार्बिक एसिड, रुतिन तथा लौह और फासफोरस वाले यौगिक दिये जाते हैं। उनके भोजन में नमक नहीं होना चाहिए। उन्हें मद्यपान नहीं करना चाहिए।

पूयत्वक रोग का बाह्य (स्थल) उपचार

पूयत्वक रोग के सभी उपरिस्थ स्थानिक रोगों की बाह्य स्थल चिकित्सा की जाती है। विक्षति के चारों ओर की त्वचा को 1–2 प्रतिशत बोरोसैलसिलिक या 1–2 प्रतिशत मैलसिलिक कर्पूर स्पिरिट से धोते हैं। स्नान शरीर के अन्य भागों को भी इन्हें घोलों मे उपचारित किया जाता है। बच्चों की उँगलियों की दूरस्थ अंगुल्यस्थियों पर 2 प्रतिशत आयोडीन घोल का लेप किया जाता है।

इम्पेटाइगो, रोमकूप शोथ, पेम्फीगस एपीडेमीक्स नीयोनेट्रम, इत्यादि में जलस्फोट के शीर्ष भाग को कैंची से काट कर निकाल देते हैं और पस को रुई के टैम्पन से निकाल देते हैं। मुख के रोमकूप शोथ में पुटिका को विसंक्रामित सुई से छेद दिया जाता है और इसके आवरण को विसंक्रामित कैंची से काट कर निकाल दिया जाता है। मजबूती से लगी हुई सपूय पपड़ी वनस्पति तेल लगाकर मुलायम की जाती है और 15–20 मिनट के बाद चिमटी से हटा दी जाती है। विस्फोट का उपचार 1–2 प्रतिशत अनीलीन रंजक (जनशियन वायलेट, मेथाइल वायलेट या चमकीला हरा) के घोल में 70 अंश अल्कोहल मिलाकर किया जाता है। इसके बाद निम्नलिखित में से किसी एक संक्रमणहारी मलहम को लगाते हैं, 5 प्रतिशत कोलीमाइसीन (नीयो-माइसिन) या डाइक्लोरोटेट्रासाइक्लीन, 0.5 से 1.5 प्रतिशत एराइथ्रोमाइसिन, 2–5 प्रतिशत पोलीमिक्सीन, 3 प्रतिशत क्लोरोटेट्रासाइक्लीन और 1–3 प्रतिशत टेट्रा-साइक्लीन मलहम, 2–3 प्रतिशत पीला मरक्यूरिक आक्साइड मलहम, 3–5 प्रतिशत एमोनिया वाला मरकरी मलहम और 2–3 प्रतिशत बोरिकएसिड का लेप और टार मलहम भी प्रभावशाली होते हैं। हाल में ऐसे क्रीम और मलहम जिनमें कार्टिकोस्टे-रायड और प्रतिजीवी (प्रतिजैविक पदार्थ) होते हैं, प्रयोग में लाये जाते हैं (आक्सी-कोर्ट जियो कार्टन, लोकार्कोटेन, डेरसोसोलोन)।

दीर्घ स्थायी लोम कूप शोथ के रोगियों का उपचार सामान्य और स्थानिक औष-धियों द्वारा किया जाता है तथा रोमोच्छेदन चिमटी से इनके बाल निकाल दिये जाते हैं। हजामत बनाने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। आस-पास की स्वस्थ त्वचा को 70 प्रतिशत अंश अल्कोहल या वोदका से साफ किया जाता है।

पूयस्फोटिका या चिरकारी व्रणक पूयत्वक रोग में जलीय सल्फानिलामाइड लेप को व्रण पर लगाते हैं। पूयस्फोटिका विक्षति जिससे होती है उस अलजी को छेद दिया जाता है जिससे इसका निःस्राव निकल जाता है तथा इसकी पपड़ी सैलसिलिक, जेरोफोर्म या इच्छथेमाल मलहम की पट्टी करने से उतर जाती है।

बच्चों की फुन्सियों, कारबंकल, स्वेद ग्रन्थि शोथ और स्यूडो फुंसी रोग में बहुधा शुद्ध इच्छथेमाल का प्रयोग किया जाता है। इसकी एक मोटी तह लगाकर रूई की पतली सी तह से इसे ढक दिया जाता है। इसके बाद औक्सीकोर्ट, जियोकार्टन, डसोसोलोन या बोरिक एसिड और टार का मलहम या अन्य कोई मलहम लगाया जाता है। फुन्सियों का उपचार करने में इसके चारों ओर की त्वचा को अल्कोहल

ईथर या बेन्जोल से विसंक्रामित करते हैं तथा इच्छथेमाल लगाने से पहले बालों को सावधानीपूर्वक चिमटी से निकाल देते हैं।

पूयत्वक रोग में भौतिक चिकित्सा. फुन्सियों और रोमकूपशोथ (विशेषकर पतझड़ और शीत काल में) के रोगियों के उपचार में क्वार्ट्ज मरकरी लैंप द्वारा सामान्य विकीरण बहुत ही प्रभावकारी है। फुन्सियों या स्वेद ग्रन्थिरोग में त्वक रक्तिमा और अधित्वक रक्तिमा के प्रथम चरण में पराबैंगनी किरणों या परा उच्चतंरग धारा की खुराक दी जाती है।

पूयत्वक रोग की रोक थाम

पूयत्वक रोग से पीड़ित व्यक्तियों तथा स्वस्थ व्यक्तियों का निजी स्वास्थ्य सिद्धांत इस सपूय त्वचा रोग को बढ़ने से रोकने में निर्णायिक महत्व का होता है। रोगी की त्वचा और पस में रोगजनक गोलाणु प्रचुर मात्रा में होते हैं। पूयत्वक रोग से पीड़ित रोगी का बिस्तरा और तौलिया अलग होना चाहिए। प्रयोग में लाने के बाद इन कपड़ों को धोने के पहले उबालना चाहिए। रोगी द्वारा प्रयुक्त सभी पट्टियों को जला देना चाहिए।

व्यक्तिगत रोग-निरोधी उपायों के साथ-साथ सामूहिक रोग निरोधी ढंग, सामान्य स्वच्छता तथा स्वच्छता के तकनीकी उपाय और इस विषय पर स्वास्थ्य शिक्षा कार्य भी करना चाहिए।

शिशु संस्थानों में पूयत्वक रोग विशेष रूप से भयानक होता है। यहाँ से रोगी शिशु को फौरन अलग कर देना चाहिए और उसे पूर्णतः स्वस्थ होने तक अन्य शिशुओं से मिलने-जुलने नहीं देना चाहिए।

चिकित्सा कर्मियों को हर कार्य स्थल पर स्वच्छता अभियान चलाना चाहिए और जहाँ आवश्यक हो, इसे प्रशासनिक और जन सहयोग मिलना चाहिए। स्वच्छता चौकियाँ स्थापित करनी चाहिए जहाँ छोटी-मोटी चोटों का उपचार करने के लिए प्राथमिक सहायता के उपकरण उपलब्ध हों। ये चौकियाँ ऐसी हों कि स्नानगृहों की स्वच्छता, सफाई कर्मचारियों के कपड़ों की सफाई और उन्हें बदलने पर भी निगाह रखें।

औद्योगिक मजदूरों, मैकेनिकों और फार्म मजदूरों के मामलों में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन्हें कोई चोट न लगे, क्योंकि ये छोटी चोटें ही पूयत्वक रोग का मुख्य कारण होती हैं। सभी छोटी चोटों का फौरन 1–2 प्रतिशत एनीलीन रंजक से या आयोडीन से उपचार करना चाहिए। त्वचा को खनिज तेलों और रासायनिक पदार्थों के संदूषण से बचाना चाहिए। शरीर को अतिशीतन, त्वचा को आक्लेदन और अधिक प्रस्वेदन से बचाना चाहिए।

उत्पादन संस्थानों में पैकिन विधि का सर्वत्र प्रयोग होता है। काम खत्म करने पर फव्वारे का स्नान लिया जाता है। हाथों को एमोनिया स्पिरिट घोल (2 लिटर गर्म पानी में 10 मि० ली० एमोनिया स्पिरिट) से पाँच मिनट तक साफ किया

जाता है, इसके बाद त्वचा को तौलिये से पोंछा जाता है (रगड़ा नहीं जाता) और फिर वैसलीन लगाई जाती है।

शारीरिक अभ्यास, खेल कूद, खुली हवा में सैर करने से, अच्छी नींद से, विवेकशील दैनिक विधान और पथ्य से शरीर स्वस्थ रहता है। इन्हीं सामान्य बलवर्धक उपायों को बरतना चाहिए।

पूयत्वक रोग नियंत्रण के लिए स्वास्थ्य शिक्षा कार्य, सैनिटरी हाइजीन सूचना का प्रचार-प्रसार, व्याख्यान तथा वार्ताओं, स्वास्थ्य विषयों पर पुस्तकों और पोस्टरों का प्रकाशन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उपचारिकाओं को उत्पादक उद्यमों, फार्मों, स्कूल, क्लबों और शयनशालाओं में स्वास्थ्य संबंधी वार्ताएँ आयोजित करनी चाहिए। ऐसी वार्ताओं का विषय होना चाहिए: पूयत्वक रोग के कारण; स्वास्थ्य पर इसका हानिकारक प्रभाव तथा कर्मचारियों की अस्थायी अक्षमता से उत्पादन पर हानिकर प्रभाव। स्वास्थ्य जीवन के नियमों की आदत डालनी चाहिए। सभी अवस्थाओं में तत्काल चिकित्सा सहायता की आवश्यकता पर जोर देना चाहिए। चिकित्सक की सलाह के बिना उपचार करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

कवक रोग (कवकता)

त्वचा और इसके उपांगों पर परजीवी के रूप में रहने वाले रोगजनक कवकों से कवक रोग होते हैं। कवकों से संदूषित पदार्थों और वस्त्रों के द्वारा तथा रोगी पशु और जीवों के द्वारा रोग का संक्रामण होता है। कवक रोगों के चार समूह हैं: स्वच्छ पटल कवकता, त्वचा कवकता, कैंडिड रुग्णता और गहन कवकता। अंतिम समूह (गहन कवकता) का रोग बहुत कम होता है।

स्वच्छपटल कवकता

इस समूह में तुषाभ शल्कन (टीनिया), शबल (रंगविरंगा) और एरिथ्रैस्मा शामिल हैं। ये रोग बहुत संक्रामक नहीं होते। ये रोग उपरिस्थ भागों में त्वचा की ऊपरी सतह पर विक्षति करते हैं और त्वचा पर शोथीज घटना नहीं होती है।



चित्र 50. एरिथ्रास्मा।

तुषाभ शल्कन शबल में धड़ के ऊपरी भाग में पीले और भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। ये आयोडीन टिंचर को जल्दी सोख लेते हैं (आयोडीन टेस्ट)।

एरीथ्रेस्मा में भूरे रंग का पर्पटीकरण होता है या पीले-लाल धब्बे होते हैं। ये विक्षतियाँ बहुधा उरमूल, जांघों की अग्र सतह, छातियों के नीचे और काँखों में होती हैं (चित्र 50)। कुछ लेखकों का विचार है कि एरीथ्रेस्मा का कारण कोरीने-बैक्टीरियम है।

दोनों रोगों का दौर लंबा और चिरकारी होता है।

रोग से प्रभावित भागों को 3–5 प्रतिशत सैलीसिलिक एसिड या रिसार्सिनोल मिले हुए अल्कोहल घोल से रगड़ कर या 10–20 प्रतिशत सल्फर वाले मलहम को लगाकर रोग का उपचार किया जाता है। एरीथ्रेस्मा का प्रभावी उपचार 5 प्रतिशत एराइथ्रोमाइसीन मलहम से होता है।

त्वचा कवकता

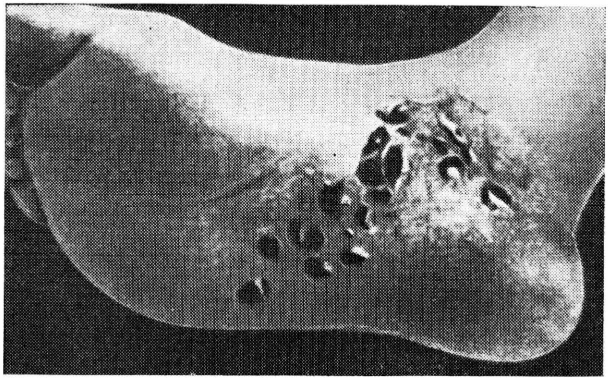
त्वचा कवकता रोग-समूह में एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता, लालकवकता, ट्राइकोफाइटोनता, माइक्रोबीजाणुकता और फेवस शामिल होते हैं। ये त्वचा की स्वच्छ मंडलीय पर्त, बालों और नाखूनों को प्रभावित करते हैं। त्वचा और शोथज प्रक्रिया होती है।

पैरों की एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता (पैरों में दाद, तलवे के माँसल भाग में द्रदु, पंजे का द्रदु)। यह एपीडर्मोफाइटोन के कारण होता है। इसका प्रभाव अंतरा गुलियों के पुटकों, तलवों और पंजे के नाखूनों पर पड़ता है। एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता एक संक्रामक रोग है। इसका संक्रामण जन स्नान गृह, फव्वारागृह, तैरने के तालाबों से होता है, जहाँ फंगस से संक्रमित शल्क रोगियों के पैरों में से निकलकर गिर जाते हैं तथा चटाई और कालीन पर बैठ जाते हैं या खड़े पानी में रह जाते हैं। इनकी संक्रामकता काफी समय तक रहती है। घर में रहने वाले व्यक्तियों में भी संक्रामण हो सकता है (यदि वे रोगी व्यक्तियों के जूते, बिस्तर, मोजे आदि प्रयोग करते हैं)। पैरों में अत्यधिक प्रस्वेदन, चपटे पैर, व्रण, त्वगवलिशोथ और ठीक न बैठने वाले जूते से भी यह संक्रामण हो जाता है।

पैरों की एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता लम्बे समय वाला रोग है जिसका वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रकोपन होता है (ज्यादा प्रस्वेदन के कारण)। इस रोग के कई नैदानिक रूप पहचाने गये हैं।

स्क्वेमीय रूप में प्लेट की तरह की पर्पटी पैरों के चाप में हो जाती है, जिनमें हल्की खुजली होती है। इसका निदान तभी हो सकता है जब प्रयोगशाला में सूक्ष्म-दर्शी में कवक दिखलाई दे। त्वग्वलिशोथीय रूप में पंजे की चौथी और पाँचवीं उंगली के बीच या चौथी और तीसरी उंगली के बीच शतक हो जाते हैं, वे चटख जाती हैं या उनमें नमी रहती है जिससे बाह्य त्वचा में उपरिस्थ विस्फोट होता है जिसके

चारों ओर सफेदी जम जाती है। रोगी तीव्र खुजली और जलन की शिकायत करता है। दुःस्वेदलता रूप में पैरों के चाप में सरल गहरी पुटिकाएँ बाजरे या मटर के आकार की हो जाती हैं। ये मिलकर खुल जाती है और विस्फोट का रूप ले लेती हैं जिसके परिसर को सफेद ममूणित बाह्य त्वचा घेरे रहती हैं (चित्र 51)।



चित्र 51. दुःस्वेदल एपीडरमोफाइटान रुग्णता।

नाखून (पंजे के अंगूठे और धंगुनी) गहरे पीले, मोटे होते हैं और जल्दी जीर्ण हो जाते हैं। एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता का पता बहुधा हाथों, पैरों और धड़ पर शल्क, धब्बे, पुटिका और पर्विका के रूप में प्रकट होने वाले एलर्जी विस्फोट से चलता है। इन सबको एपीडर्मोफाइटिड कहते हैं। सहगामी द्वितीयक संक्रमण के परिणामस्वरूप द्वितीयक पूर्वत्वक रोग, विसर्प और लसीका वाहिनी शोथ हो सकता है।

उपचार. एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता के इंटर ट्राइगोनस और उपस्वेदन रूपों में सामान्य अल्पसुग्राहीकरण उपचार दिया जाता है। पैरों का पोटैशियम परमैंगनेट वाला उष्ण स्नान लेने की सलाह दी जाती है। स्नान के बाद पुटिकाओं को कैंची से काट दिया जाता है और फिर रिवानोल (एथोडिन) या रिसोर्सिनोल घोल लगाया जाता है। जब रोग की तीव्रता घटती है तो मलहम (उन्डेसिन, जिन्कुन्डेन, डाइमेजोल) लगाया जाता है। इसमें नाइट्रोफन्जिन प्रभावकारी होता है।

बेरेझनोई घोल को पट्टकी के रूप में लगाते हैं। इस घोल में 2 ग्रा० शुद्ध आयोडीन, 2 ग्रा० सोडियम आयोडाइड, 20 मि० ली० ग्लीसरीन होती है। इसमें 20 प्रतिशत या 40 प्रतिशत ऐसेटिक एसिड घोल को मिलाकर 100 मि० ली० घोल बना लेते हैं। रोगी भाग पर इस घोल का लेप 15–20 दिन तक किया जाता है। इसके बाद के महीने में इन भागों पर 2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का निरोधक उपाय के रूप में लेप किया जाता है।

रोगी के जूतों को विसंक्रामित किया जाता है। जूते के अंदर की सतह को 10 प्रतिशत फारमलडिहाइड से धोया जाता है और इन्हें मोटे कागज में लपेटकर एक या दो दिन तक रखते हैं, फिर उनमें 12–24 घंटे तक हवा लगाई जाती है।

रोग को रोकने के लिए पैरों को हमेशा साफ रखना चाहिए। पैरों के अत्यधिक प्रस्वेदन का और चपटे पैर का उपचार करना चाहिए। इंटरट्राइगो और व्रणों से बचना चाहिए। व्यक्तिगत स्वास्थ्य सिद्धांतों का पालन करना चाहिए (अलग बिस्तर, अपने-अपने अलग जूते, मोजे आदि रखने चाहिए) तथा जन स्नानगृह, फव्वारों और स्विमिंग पूल में स्नान के वक्त विशेष जूते पहनने चाहिए। एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता का सामान्य रोग-निरोध जन स्नानगृह, फव्वारों के कमरों और स्वीमिंग पूलों में किया जाता है (चटाइयों, कालीनों का विसंक्रामण किया जाता है)। स्वास्थ्य शिक्षा का कार्य चलाया जाता है।

रुब्रोमाइकोसिस अभी हाल में एक अलग रोग के रूप में पहचाना गया है। इसमें केवल पैरों की त्वचा ही नहीं, बल्कि हाथों की त्वचा भी प्रभावित होती है। त्वचा की सतह का कोई भी भाग रोगग्रस्त हो सकता है (चित्र 52) (सामान्य रूप



चित्र 52. नितम्बों की लालकेन्द्रक रुग्णता (रुब्रोमाइकोसिस)।

से यह बहुधा अंतःस्रावी विकारों वाले रोगियों को होता है)। हाथ-पैर के सभी नाखून भी रोगग्रस्त हो सकते हैं। हथेलियों और तलवों की शृंगी सतह मोटी होकर गुलाबी हो जाती है। त्वचा की खातिकाएँ गहरी हो जाती हैं और उनमें आंटे की तरह महीन शल्क भर जाते हैं। नाखून पीले पड़ जाते हैं, उनकी चमक खत्म हो जाती है तथा ये मोटे होकर भंगुर हो जाते हैं।

उपचार में खाने को ग्राइसेफल्विन सारणी के अनुसार दिया जाता है और स्थल-विशल्कन तथा निःसंक्रामक मलहम (जिनमें सैलीसीलिक और लैक्टिक एसिड तथा रिसोर्सिनोल का अधिक प्रतिशत होता है) लगाये जाते हैं। नाखूनों के उपचार का वर्णन "डेरमाटोमाइकोसिस के रोगियों के उपचार" के खंड में किया गया है।

ट्राइकोफाइटानता, माइक्रोस्पोरोसिस, फैवस

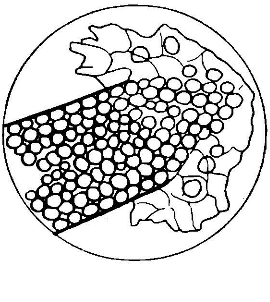
इस समूह के कवक त्वचा की शृंगी परत, नाखूनों और बालों को प्रभावित करते हैं (दूसरे समूहों के कवकों के बीच इनकी पहचान बालों पर इनके रोगकारी प्रभाव से होती हैं)। त्वचा पर सदैव ही शोथज प्रक्रिया होती है। यह शोथ बहुत तीव्र होता है, यदि इस कवक का मुख्य परिपोषी कोई जानवर होता है। यदि यह कवक मनुष्य या उसके उपांगों पर रहने वाला परजीवी है तो शोथ कम होता है। ट्राइकोफाइटानता के कई रूप हैं: उपरिस्थ, चिरकारी (इन रूपों के कारण कवक मनुष्य पर ही रहने वाले परजीवी होते हैं) और जूफिलिक या गहन (ये कवक जानवरों की त्वचा पर रहने वाले परजीवी होते हैं। ऐसे जानवर अधिकतर गायें और उनके बछड़े होते हैं तथा ये घोड़े, चूहे, मूषक की त्वचा पर कम होते हैं तथा कृंतक प्राणियों पर ये परजीवी बहुत ही कम होते हैं)। कभी-कभी ये परजीवी मनुष्य की त्वचा पर भी होते हैं। माइक्रोस्पोरोसिस बिल्ली के बच्चों की त्वचा पर और कभी-कभी मनुष्य और कुत्तों की त्वचा पर पाये जाने वाले माइक्रोस्पोरूम लोनोसम द्वारा होता है, तथा केवल मनुष्य की त्वचा में पाये जाने वाले परजीवी एम० फेरुजीनियम से भी होता है। फैवस का प्रभाव मनुष्यों और कुछ जानवरों और चिड़ियों पर होता है।

महामारी विज्ञान. डेरमेटोमायकोसिस में, जिनमें त्वचा और इसके उपांगों में रोग-जनक कवक (एम० फेरुजिनियन और फैवस के द्वारा होनेवाले उपरिस्थ और चिर-कारी ट्राइकोफाइटोसिस, माइक्रोस्पोरोसिस) पाये जाते हैं। दूषण या तो रोगी व्यक्ति से सीधे संपर्क होने पर या आम प्रयोग में आने वाली वस्तुओं द्वारा या ऐसे घरेलू सामान (कंघी, टोपी, रूमाल, कपड़े, चादरें, रेजर आदि) के द्वारा होता है जो रोगी के संक्रामित बालों या शल्कों और पपड़ियों के द्वारा संदूषित होता है, जिनमें कवकजालिक तंतु और कवक के बीजाणु होते हैं। उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता का संक्रमण विशेषकर परिवार के रोग से पीड़ित लोगों के सम्पर्क में आने से होता है। फैवस रोगी व्यक्तियों के ऐसे परिवार के अन्य स्वस्थ सदस्यों के दीर्घकालिक संपर्क से फैलता है, जिन परिवारों में स्वच्छता और हाइजीन के प्रति लापरवाही बरती जाती है।

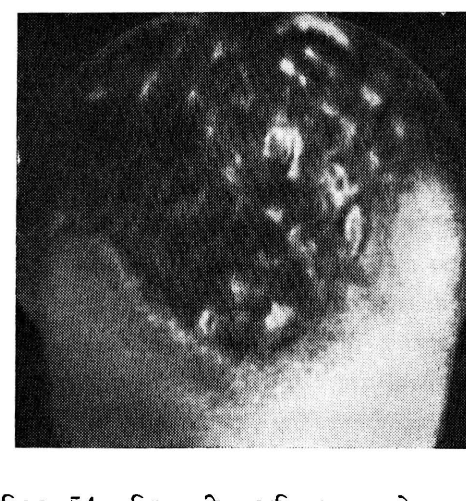
डरमेटोमाइकोसिस में रोग पैदा करने वाले कवक मनुष्य या जानवरों की त्वचा पर परजीवी होते हैं (एम० लैनोसम के द्वारा होने वाली जूफिलिक या गहन ट्राइ-

कोफाइटानता और माइक्रोस्पोरोसिस)। इनमें संदूषण रोगी जानवरों (बछड़ों, बिल्लयों इत्यादि) से या तो सीधे संपर्क से आता है या यह ऐसे पदार्थों के माध्यम से होता है जिन पर जानवरों के विसंक्रामित बाल और शल्क रह जाते हैं। यह संदूषण रोगी व्यक्तियों से सीधे संपर्क या नित्य प्रयोग में आने वाले पदार्थों के द्वारा होता है। कोई भी व्यक्ति परजीवी लोम कूपशोथ से संक्रांत हो सकता है, यदि वह ऐसे हजाम के यहाँ हजामत बनवाये जिसके यहाँ स्वच्छता के नियमों का ठीक तरह से पालन न होता हो।

उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता ट्राइकोफाइटोन एन्डोथ्रिक्स कवकों से होता है। इनका यह नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि इनके बीजाणु और कवक जालिक तंतु बालों में पाये जाते हैं। इसका सही पता बालों की सूक्ष्मदर्शी से जाँच करने से लगता है (चित्र 53)। ये बीजाणु बड़े होते हैं और लंबाईवत् कड़ी में स्थित होते हैं। उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता का रोग स्कूल या स्कूल-पूर्व उम्र के बच्चों को होता है। पर कभी-कभी बहुत ही कम उम्र के बच्चों को भी यह रोग हो जाता है। किशोरावस्था (16-17 वर्ष) व वयस्कावस्था में यह रोग सिर्फ अपवाद हो सकता है। रोग का विकास स्थान छोटा, गोल या अंडाकार होता है। इसका रंग गुलाबी होता है तथा शल्क रोग सदृश शल्कों से घिरा रहता है और शिरोवल्क बनाता है। रोग स्थान पर बाल खराब हो जाते हैं। ऐसे रोगी के बाल त्वचा से 1–3 मि० मी० से बड़े होते ही टूट जाते हैं। इसका चित्र कीड़ों द्वारा खाये गये फर के समान होता (चित्र 54)। यह रोग काफी समय तक बना रहता है। यदि कोई उपचार न किया जाय तो लैंगिक परिपक्वता होने पर रोग पुनः हो जाता है तथा यह चिरकारी ट्राइकोफाइ-



चित्र 53. ट्राइकोफाइटान एन्डोथ्रिक्स (आरेख)।



चित्र 54. सिर की उपरिस्थ ट्राइकोफाइटान रुग्णता (दद्रु)।

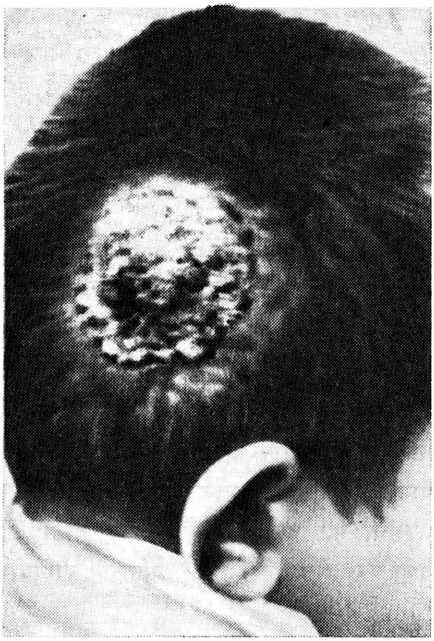
टानता होती है। चिकनी त्वचा या तो अकेली प्रभावित होती है या शिरोवल्क के साथ। त्वचा पर गुलाबी, लाल और सीमांकन किये हुए धब्बे दिखते हैं। धब्बों का केन्द्र घेरा डाल लेता है तथा शल्क रोग सदृश शल्कों से ढक जाता है। रोगी स्थान के चारों ओर के परिसर में अतिरक्तता का घेरा बन जाता है जिसमें पिन के आकार की पुटिकाएँ होती हैं और पपड़ी जम जाती है। ये धब्बे बड़े हो जाते हैं और मिल-कर बड़ा विकार स्थान बनाते हैं, जिसके किनारे शल्की होते हैं। शरीर के खुले भाग पर अधिक असर होता है। 2 प्रतिशत बच्चों के नाखून इस रोग से प्रभावित होते हैं। ये खुरदुरे, गंदे भूरे रंग के हो जाते हैं और आसानी से जीर्ण होकर टूट जाते हैं।

चिरकारी ट्राइकोफाइटानता विशेषकर महिलाओं को होती है। इस रोग के कारण वही हैं जो ट्राइकोफाइटानता के होते हैं। तंत्रिका तंत्र और अंतःस्रावी ग्रन्थियों के रोग, मासिक धर्म के विकार इत्यादि होने से उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता चिरकारी रोग का रूप ले लेती है। खल्वाटता के छोटे विकार स्थान के साथ शल्क रोग सदृश शल्क, काले चिन्ह (रोगी बालों के चिकनी त्वचा के स्तर पर पहुँच कर टूट जाने से) और छोटे शोथीय व्रण चिन्ह सिर के पिछले भाग और कनपटियों पर पड़ जाते हैं। चिकनी त्वचा पर संतुलित विकार स्थान रक्ताधिक्य श्याव रंग के होते हैं। इनकी बाहरी रेखाएं अस्पष्ट होती हैं तथा त्वचा पर हल्का सा विशल्कन होता है (यह अधिकतर नितम्बों और जांघों की त्वचा पर होता है)। 20 प्रतिशत रोगियों के कुछ या सभी नाखून रोगी हो जाते हैं।

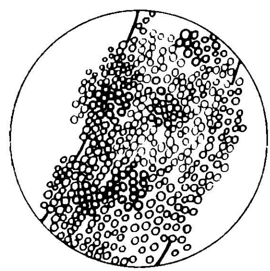
पशुरतिक या अंतःसंचरण-सपूय या गहन ट्राइकोफाइटानता रोग के इस रूप को पहले गहन-सपूय ट्राइकोफाइटानता कहते थे। परन्तु हाल में पता लगा है कि इस प्रकार के रोग से पीड़ित रोगी (लगभग एक तिहाई रोगियों) में रोग का विकार स्थान उपरिस्थ और अंतःसंचरित (लगभग एक तिहाई रोगियों में) है; तबसे इसे पशु रतिक ट्राइकोफाइटानता या अंतःसंचरण सपूय के नाम से बहुधा जाना जाता है, यानी दूसरे शब्दों में, यह कवक द्वारा की हुई ट्राइकोफाइटानता है जो अधिकतर त्वचा की परजीवी हैं। पशुरतिक ट्राइकोफाइटानता टी॰ एक्टोथ्रिक्सकवक द्वारा होती है [ग्रीक शब्द एक्टोस (बाहर), थ्रिक्स (बाल)], अर्थात् ऐसे कवक के द्वारा होती है जिसके बीजाणु और कवक जालिक तंतु मुख्य रूप से बालों की ऊपरी सतह पर होते हैं। बड़े बीजाणु टी॰ एकोथ्रिक्स, जो कि गाय, बछड़े और घोड़ों के पर-जीवी हैं; तथा छोटे बीजाणु जो चूहे और मूषकों के परजीवी हैं, में भेद किया जाता है। छोटे बीजाणुओं से भी संक्रामित होना सभंव है, जो ऐसे गाय, घोड़ों और भेड़ों तथा अन्य पशुओं पर होते हैं, जो छोटे बीजाणुओं, ट्राइखोफाइटान से संदूषित हों। यह संदूषण कृंतक प्राणियों के बालों से इन पशुओं में होता है। ये बीजाण बालों के बाहर लंबाईवत (अनुतीरी) कड़ी में होते हैं।

रोग के पृथक-पृथक विकार स्थान शिरोवल्क पर बनते हैं। ये बहुत बड़े अति-

रक्तित अंत:संचरित होते हैं तथा बहुत बड़ी संख्या में सपूय रसदार पपड़ियों से ढके होते हैं (चित्र 55)। जब पपड़ियों को हटाया जाता है तो यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक पृथक पुटक (पुटक विद्रधि) से पस किस प्रकार निकलता है। ऐसा लगता है कि यह पस छत्ते में से मधु की तरह निकल रहा है। इसलिये इस विकार-स्थान को कभी-कभी केरियोन (ग्रीक केरियोन-मधुमक्खी का छत्ता) कहते हैं। यह रोग तीव्र रूप लेता है, जिससे शरीर का ताप बढ़ जाता है, सिर दर्द होता है तथा विकार-स्थान पर जलन और पीड़ा



चित्र 55. सिर की गहरी ट्राइकोफाइटान रुग्णता।



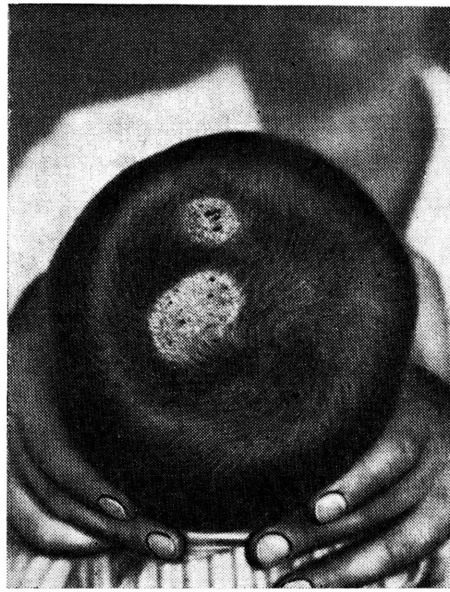
चित्र 56. माइक्रोस्पोरम (आरेख)।

होती है, तथा सबसे निकट की लसीका पर्व बड़ी हो जाती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि जूफिलिक ट्राइकोफाइटान के विकार केन्द्र में तीव्र शोथ नहीं होता है, बल्कि विकार स्थान में सपूय पपड़ी के बिना छोटा अत:संचरण होता है। बालों में कवक की स्थिति के अनुसार निदान किया जाता है। गले और चेहरे के दाढ़ी वाले भाग में पशुरतिक ट्राइकोफाइटानता को परजीवी लोमकूपशोथ कहते हैं, जो परजीवीहीन लोमकूपशोथ (स्टेफाइलोकोकल) से भिन्न होती है। उपचार न करने पर रोग कुछ महीनों में खत्म हो जाता है तथा व्रण चिन्ह रह जाते हैं और पूर्ण या आंशिक खल्वाटता हो जाती है।

चिकनी त्वचा के खुले भागों में रोग के पृथक-पृथक विकार स्थान होते हैं। इनका नैदानिक चित्र शिरोवल्क में होनेवाले विकार स्थानों से भिन्न नहीं होता।

माइक्रोस्पोरोसिस माइक्रोस्पोरस कवक से होता है। इसके छोटे बीजाणु अनियमित रूप से स्थित होते हैं, जिससे बालों के बाहरी भाग की श्रृंखला नहीं बनती है, जैसे कि यह आवरण हो (चित्र 56)।

एम० लैनोसम बिल्ली और बिल्ली के बच्चों की त्वचा पर पाये जाने वाले परजीवी होते हैं। यह कुत्तों में कम होता है। एम० फेरुजीनियम ऐसा परजीवी होता है जो कि केवल मनुष्य की त्वचा पर पाया जाता है।



चित्र 57. सेल की माइक्रोस्पोरम रुग्णता।

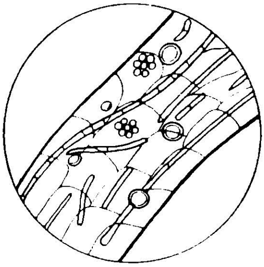
एम० लैनोसम से होने वाला माइक्रोस्पोरोसिस अधिकतर 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को प्रभावित करता है। शिरोवल्क पर एक (विरले ही ज्यादा) बड़ा विकार स्थान बनता है, जो गोल या अंडाकार होता है, जिसकी परिरेखायें स्पष्ट होती हैं (चित्र 57) और यह शल्क रोग सदृश शल्कों से ढका रहता है। इसकी विशेषता यह है कि विकार-स्थान के सारे बाल रोगग्रस्त हो जाते हैं। ये त्वचा की सतह से 5 से 8 मि० मी० की दूरी पर टूट जाते हैं तथा मूलाधार पर सफेद आवरण दिखाई देता है। ये रोग के गोलाणु होते हैं जो बाल को कलाइबंद की तरह घेर लेते हैं।

एम० फेरुजिनियम केवल मनुष्यों को ही रोगग्रस्त करते हैं। यह रोग बहुत ही संक्रामक होता है। इसका प्रकोप सामूहिक रूप से बच्चों पर होता है। विकार-स्थान से विशल्कन विभिन्न आकार-प्रकार का होता है। यह विशल्कन एक-दूसरे से मिलकर शिरोवल्क बनाता है। इस विकार केन्द्र की सीमाएँ अस्पष्ट होती हैं। यह विकार-स्थान बहुधा शिरोबल्क को ढक लेता है (वलय के अंदर वलय, चाप और मालाएँ)। विकास स्थान के बाल बड़े (त्वचा की सतह से 5 से 8 मि० मी० ऊँचे) होकर गिर जाते हैं।

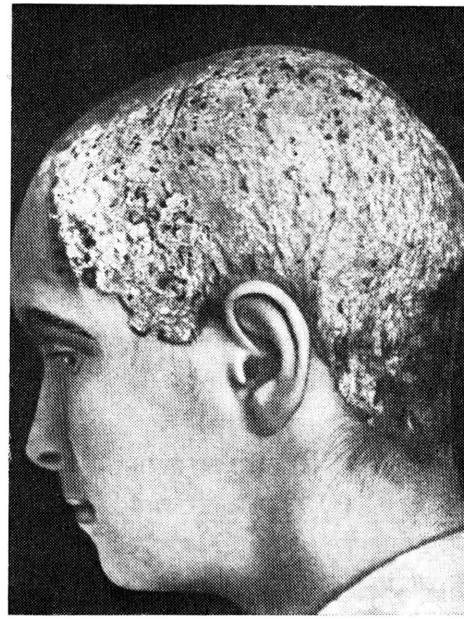
चिकनी त्वचा की माइक्रोस्पोरोसिस बहुधा चिकनी त्वचा की उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता से मिलती-जुलती है। लेकिन एम० लैनोसम के संक्रामण में विकार स्थान की संख्या कई दर्जन तक होती है, जबकि एम० फेरुजीनियम से होने वाले रोग में अपरूप आकृतियाँ (वलय के अंदर वलय) बनती हैं।

माइक्रोस्पोरम समूह के कवक से प्रभावित बालों का डार्क रूम में मरकरी क्वार्टज लैंप से किरणन करने पर हरा प्रतिदीप्त प्रकाश उत्सर्जित होता है, यदि लैंप में माइक्रोस्पोरोसिस के निदान हेतु संदीप्तिशील फिल्टर लगाया गया हो।

फैवस का रोग एखोरियन शोएनलिनी (ट्राइकोफाइटोन शोए-नलिनी) से होता है। यह मनुष्य और उसके उपांगों की त्वचा पर परजीवित होता है और यह बालों के अंदर (एन्डोथ्रि-क्स) में पाया जाता है। बालों में कवक जालिक तन्तु और गोला-



चित्र 58. ट्राइकोफाइटान शोएनलिनी (आरेख)।



चित्र 59. शिरोवल्क का फैवस।

णुओं (चित्र 58) के विभिन्न आकार-प्रकार से इसको पहचाना जाता है।

माइक्रोस्पोरोसिस या ट्राइकोफाइटानता की अपेक्षा फैवस कम संक्रामक होता है। मनुष्य बचपन में ही फैवस से संक्रामित हो जाता है, पर यह रोग जीवनपर्यन्त बना रह सकता है।

शिरोवल्क और चिकनी त्वचा पर रामरज कप की शक्ल की पपड़ी बन जाती है। बाल स्कुटुलम (चषकी पीतपर्पटी) के केन्द्र से होकर गुजरता है। स्कुटुलम जब जीर्ण होकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, तो स्थाई शोथ का क्षेत्र छोड़ जाता है (यहाँ पर नये बाल नहीं उगते हैं)। रोगी बाल टूटते नहीं हैं, पर रूखे और भूरे हो जाते हैं, जैसे धूल मिट्टी से ढक गये हों, और विग (बालों की टोपी) जैसे लगते हैं। यदि संपूर्ण शिरोवल्क प्रभावित हो, तो परिसर में स्वस्थ बालों की पट्टी फिर भी बच जाती है (चित्र 59)। रोगियों से चूहे जैसी या मुसौरी जैसी गंध आती है। प्रभावित नाखूनों का रंग गंदा-पीला होता है। ये मोटे, खुरदरे और भंगुर होते हैं।

प्रयोगशाला कार्य में विशेष रूप से प्रशिक्षित चिकित्सकों और उनके सहायकों द्वारा रोगजनक कवक द्रव्य का सूक्ष्मदर्शी और संवर्धक निदान किया जाता है।

प्रयोगशाला अध्ययन (विशेष रूप से सूक्ष्मदर्शी निदान) के लिए विकृतिजन्य कवक द्रव्य बहुधा उपचारिकाओं को जमा करना पड़ता है। प्रयोगशाला परीक्षण के परिणाम काफी हद तक नमूने के द्रव्य के सही ढंग पर एकत्रित करने पर निर्भर करते हैं तथा इस बात पर भी निर्भर करते हैं कि साथ का फार्म सही ढंग से भरा गया है।

उपचारिकाओं को यह मालूम होना चाहिए कि इस या उस प्रकार की कवकता में कौनसा द्रव्य इकट्ठा करना है। प्रतिदर्श (नमूने) को कवक विज्ञानी प्रयोगशाला में उसी प्रकार भेजा जाता है, जैसे नमूने किसी अन्य प्रयोगशाला में जाँच के लिए फार्म के साथ भेजे जाते हैं। इस फार्म में रोगी का नाम, उसके रोगी वृत की संख्या (वार्ड और विभाग), द्रव्य का नाम प्रयोगशाला अध्ययन का प्रयोजन और संभावित निदान लिखना चाहिए।

शिरोवल्क के उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता में छोटे टूटे हुए बाल (आधी चूल) को सूक्ष्मदर्शीय अध्ययन के लिए लिया जाता है। यदि चूलें शल्कों के नीचे ढकी हुई हों, तो शल्क को रोमलुंचक चिमटी द्वारा झटके से निकाल लेना चाहिए। फिर रोगी चूल (टूटा हुआ बाल) शल्क के दूसरी ओर या शिरोवल्क में मिल जायेगा।

शिरोवल्क की चिरकारी ट्राइकोफाइटानता में चिकनी त्वचा के स्तर के टूटे हुए बाल (काले चिन्ह) जाँच लिए लेते हैं। यह कोई मामूली काम नहीं है। काले चिन्ह को सुई के द्वारा या बाल के तले को दबा कर निकालना आवश्यक है। जब बाल रोम कूप के बाहर कुछ मि० मी० ऊपर दिखने लगता है तो इसे रोमलुंचक चिमटी से पकड़ कर पुटक से बाहर खींच लेते हैं और जाँच के लिए भेज देते हैं।

यदि शिरोवल्क में पशुरति अंतःसंचारित सपूय वाली ट्राइकोफाइटानता होने का अंदेशा हो तो जाँच के लिए बाल को विकार-स्थान की वाह्य सतह से लेना चाहिए, क्योंकि विकार-स्थान के केन्द्र में पस कवक का लयन कर सकता है।

शिरोवल्क की माइक्रोस्पोरोसिस में त्वचा से (5–8 मि० मी०) ऊपर के टूट हुए बाल परीक्षण के हेतु लिये जाते हैं। इन बालों की तली पर बहुधा छोटा सफेद आवरण होता है। ये रोगी बालों के आसपास के कवक के बीजाणु हैं जो कि कलाई-बंद के रूप में स्थित होते हैं।

शिरोवल्क के फैवस के परीक्षण के लिए टूटे हुए बाल नहीं लेते, बल्कि तेजी से बदलते हुए (रूखे, भूरे, जैसे कि उनमें धूल भरी हो और जिनकी प्राकृतिक चमक खत्म हो गयी हो; जैसे पुराने सन जैसे) बालों को लिया जाता है।

यदि यह प्रक्रिया चिकनी त्वचा तक ही सीमित हो, तो कवक जाँच के लिए

नमूना विकृत स्थान की बाह्य सतह से खरोंच कर निकाला जाता है। कभी-कभी इस क्षेत्र पर नमूना लेने के एक या दो दिन पहले चिपकने वाली पट्टी चिपका देते हैं।

यदि नाखून रोगी हों तो नख प्लेट की ऊपरी पर्तों में से छुरी से खरोंच कर जाँच के लिए नमूना लिया जाता है (ट्राइकोफाइटानता और ईस्ट रोगों में), नख के दूसरे रोगों में नमूना बीच के भाग से लेते हैं। इसके लिए ड्रिलिंग मशीन का इस्तेमाल किया जा सकता है। यदि नख का स्वतंत्र किनारा रोगी हो तो इसे कैंची से काट कर नमूना लेते हैं।

त्वचा कवकता से पीड़ित रोगियों का उपचार

विकार स्थान, शोथ की गंभीरता और रोगी की आयु को ध्यान में रखते हुए योजना के अनसार त्वचा कवकता का उपचार किया जाता है।

यदि शिरोवल्क रोगी हो, तो ग्राइसो फल्विन का प्रयोग किया जाता है। यह कवक रोधी प्रतिजीवी 0.125 ग्रा० की टिकियों में बनाया जाता है। इसे 21–22 मि० ग्रा० 1 प्रति कि० ग्रा० की दैनिक खुराक में दिया जाता है। दैनिक खुराक को तीन भागों में बाँटा जाता है। प्रत्येक खुराक को भोजन के बीच में एक चम्मच वनस्पति तेल या कोडलिवर आयल के साथ लेते हैं। उपचार के दौरान बालों को हफ्ते में एक बार हजामत की जाती है, क्योंकि प्रतिजीवी त्वचा से 2–3 मि० मी० की दूरी पर बालों में जम जाते हैं। बाह्य उपचार भी साथ ही साथ किया जाता है। त्वचा पर सुबह 2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का लेप किया जाता है और शाम को गन्धक-टार (10 प्रतिशत गंधक और 3 प्रतिशत टार) मल्हम को चुपड़ दिया जाता है या फिर बालों को प्रतिदिन सुबह साबुन से धोकर ब्रश किया जाता है और शाम को 2 प्रतिशत आयोडीन और शाम को विल्किन्सन मलहम चुपड़ दी जाती है। ग्राइसोफल्विन रोज ली जाती है, जब तक कि कवक के लिए पहली दो जाँचें नकारात्मक न हों। इसके बाद एक दिन छोड़ कर दो सप्ताह तक ग्राइसोफल्विन दी जाती है और तत्पश्चात अगले दो सप्ताहों तक इसे हफ्ते में दो बार दिया जाता है। यदि ग्राइसोफल्विन चिकित्सा प्रतिदिष्ट हो (रक्त, गुर्दे या जिगर की बीमारी में तथा पोर्फिरीनता में) तो बालों को पहले 4 प्रतिशत एपिलीन (रोमलुंचक) प्लास्टर से हटाया जाता है, फिर सिर को मुंड कर विक्षति के विकार स्थानों पर प्लास्टर की पतली सी परत लगा दी जाती है। प्लास्टर 15 से 18 दिन में एक बार लगाया जाता है। छः साल तक के बच्चों का प्लास्टर उतारा नहीं जाता है। इस अग्र से बड़े बच्चों और युवकों में प्लास्टर आठ से दस दिन के अंतर पर दो बार उतारा जाता है। प्लास्टर की मात्रा रोगी के भार के अनुसार होती है।

बच्चों को एपीलीन प्लास्टर से उपचार केवल अंतरंग रोगी के रूप में किया जाता

रोगी के शरीर के भार के अनुसार एपिलीन प्लास्टर की खुराक

रोगी के शरीर का भार (किलोग्राम में)	एपिलीन प्लास्टर की मात्रा (ग्राम में)
10 — 11	2.0 — 2.5
12 — 13	3.0 — 3.5
14 — 15	3.5 — 4.0
16 — 17	4.0
18	4.5
19 — 25	5.0
26 — 30	5.5
31 — 35	6.0
36 — 40	7.0 — 8.0

है। औसतन 20 दिन में सारे बाल झड़ जाते हैं। बालों के उगने तक शिरोवल्क पर 2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का लेप सुबह किया जाता है और शाम को त्वचा पर 10 प्रतिशत सल्फर में 2–3 प्रतिशत सैलीसिलिक मलहम या 10–15 प्रतिशत सल्फर को 3–5 प्रतिशत टार के मलहम के साथ रगड़ा जाता है। बहुत सी दशाओं में एरियेविच विशल्कन की विधि का प्रयोग बालों के गिर जाने के बाद या रोमलुंचक चिमटी से बाल हटाने के बाद किया जाता है। शिरोवल्क को 12 प्रतिशत सैलीसिलिक और 6 प्रतिशत लैक्टिक (या 3 प्रतिशत बेन्जोइक) एसिड के मलहम की मोटी पर्त से ढक दिया जाता है। छः वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए इस मलहम की सांद्रता घटा कर आधी कर दी जाती है। सिर को फिर मोमिया कागज से ढक कर रूई लगाकर दो दिन के लिए पट्टी से बाँध देते हैं। इसके बाद 24 घंटे के लिए वसी ही पट्टी 3 प्रतिशत सैलिसिलिक वैसलीन के साथ लगाते हैं। इसके बाद ढीली हुई शृंगी पर्त को कैंची के फल से उखाड़ देते हैं और बाकी बचे हुए बालों को और उनकी चूल को चिमटी से हटा दिया जाता है। जब कभी आवश्यक हो तो विशल्कन को दस दिन के अंतर पर एक या दो बार फिर किया जाता है। इस कीच शिर को रोज धोकर 2–3 प्रतिशत आयोडीन टिंचर प्रतिदिन सुबह लगाया जाता है और विल्किन्सन मलहम रोज शाम को मला जाता है।

जब ग्राइसोफल्विन और एपीलीन प्लास्टर उपलब्ध न हों तो शिरोवल्क के रोगी भाग का उपचार चार क्षेत्र पद्धति के अनुसार एक्सरे रोमलुंचन के आंशिक खुराकों द्वारा किया जाता है। किरणन के ग्यारह-बारह दिन के बाद से सिर को प्रतिदिन उष्ण

जल या साबुन से धोया जाता है। अठारवें दिन से बालों की बची हुई सारी चूलों को रोमलुंचक चिमटी से निकाल दिया जाता है। हाथ से रोमलुंचक करने में बालों को उनके उगने की दिशा में उखाड़ा जाता है जिससे कि वे टूटे नहीं। रोमलुंचन तीन से पाँच दिन में पूरा हो जाना चाहिए। इसके बाद उपचार की विधि वही है जो एपिलीन प्लास्टर के द्वारा बाल निकालने के बाद की जाती है।

चिकनी त्वचा की स्थानिक विक्षति पर 2–3 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का लेप सवेरे किया जाता है और 10 प्रतिशत गंधक-टार या विल्किनसन मलहम शाम को मला जाता है। यह उपचार सात से दस दिन तक किया जाता है। त्वचा पर बहु-विकार स्थान होने पर या मुड़े हुए बाल होने पर ग्राइसोफल्विन दी जाती है।

यदि नाखून प्रभावित हों, तो केराटोलाइटिक 50 प्रतिशत प्लास्टर (20 प्रतिशत यूरियाप्लास्टर*, 10 प्रतिशत ट्राइक्लोरएसेटिक, 50 प्रतिशत सैलिसिलिक) पहले लगाया जाता है। नख प्लेटों के मुलायम हो जाने पर इन्हें निकाल दिया जाता है तथा नख शय्या नखाधार को कवक नाशक प्लास्टर (5% फेनाल, 5% बेटा-नैप्थोल, 5% थायमोल, 20% पाइरोगैलिक) से 48 घंटे के लिए ढक देते हैं। और ग्राइसोफल्विक प्रति मुँह देते रहते हैं (पहले दो हफ्ते तक रोज और अगले आठ सप्ताह तक हफ्ते में दो बार)। नख प्लेटों को शल्य चिकित्सा द्वारा भी निकाला जा सकता है।

चिकनी त्वचा और शिरोवल्क के पशुरतिक या अंतःसंचरण सपूय ट्राइकोफाइटानता का उपचार अलग ढंग से किया जाता है। एक्सरे किरणन, एपीलीन प्लास्टर, 'विशल्कन', आयोडीन और मलहमों से क्रिया ज्यादा प्रकोपित हो सकती है। विकार स्थान और उसके 1 से० मी० के आसपास के बालों को रोमलुंचक चिमटी से निकाल कर 5–10 प्रतिशत इश्तमोल घोल, 0.1 प्रतिशत रिवेनाल (एथोजाइडाई अमीनो-अक्रोडीन लैक्टेट) घोल, 1 : 5 000 फ्यूरासिन (नाइट्रोफ्यूरल) घोल लगाया जाता है। तीव्र शोथ के शांत होने पर 10 प्रतिशत गंधक-टार या विल्किन्सन मलहम लगाया जाता है। इस प्रकार की ट्राइकोफाइटानता के उपचार के लिए आजकल ग्राइसोफल्विन का औषधि-निर्देश दिया जाता है।

यदि कवक के लिये तीन जाँचों के परिणाम नकारात्मक हों, तो बच्चे को किंडर गार्डन या स्कूल में जाने की अनुमति दी जा सकती है। ये जाँचें उपचार खत्म होने के बाद सात से दस दिन के अंतर पर की जाती हैं। बच्चे के घर का त्रैमासिक विसंक्रामण भी एक आवश्यक विधि है। बच्चे को कुछ समय तक टोपी पहननी चाहिए।

---

*सोवियत संघ में निर्मित यूरिया प्लास्टर: 20 ग्रा० यूरिया, 10 ग्रा० जल, 5 ग्रा० बीवक्स, 20 ग्रा० लैनोलीन, 45 ग्रा० लेंडप्लास्टर।

समय से रोग को पहचानना, रोगी व्यक्तियों का उपचार ग्रौर पृथक्करण, संक्रामण के स्रोत का पता करना, रोगी के संपर्क में ग्राने वाले लोगों का परीक्षण करना, चादर, जंघिया ग्रौर ग्रन्य वस्त्र ग्रौर रोगी की व्यक्तिगत वस्तुग्रों का विसंक्रामण, नाइग्रों की दूकान पर स्वास्थ्य संबंधी नियंत्रण इत्यादि त्वचा कवकता की रोकथाम के उपाय हैं। माइक्रोस्पोरोसिस (विशेष कर जब कारक एम० फेरूजीनियम हो) ग्रौर ट्राइकोफाइटानता तथा चिरकारी ट्राइकोफाइटानता ग्रौर फैवस से पीड़ित रोगियों की व्यवस्था में कठिनाई होने पर, ग्रौर इनकी संक्रामकता होने पर इनका उपचार ग्रंतरंग विभाग में करना चाहिए। बहिरंग रोगी जिंक-जिलेटिन की टोपी पहनते हैं, जिससे संक्रामण के फैलने का खतरा कम हो जाता है।

यदि किसी शिशु में उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता का निदान किया जाता है, तो बहुत संभव है कि परिवार के किसी बड़े सदस्य (बहुधा माँ, दादी या उपचारिका) को या किंडरगार्डन, स्कूल, परिवार या घर में किसी ग्रन्य बच्चे को चिरकारी ट्राइकोफाइटानता का रोग हो। इसलिए परिवार के सभी सदस्यों ग्रौर बच्चों का परीक्षण करना चाहिए। एम० लैनोसम से होने वाले माइक्रोस्पोरोसिस रोग में रोगी द्वारा दुलारे हुए बिल्ली ग्रौर कुत्तों का भी पशु चिकित्सालय में परीक्षण होना चाहिए। पशुरतिक बड़े जीवाणुग्रों वाली ट्राइकोफाइटानता में पशुचिकित्सकों को चाहिए कि वे बीमार गाय, बछड़ों ग्रौर घोड़ों का उपचार करें तथा पशुशालाग्रों ग्रौर भुसौरियों को विसंक्रामित कर दिया जाना चाहिए। पशुरतिक छोटे बिजाणुग्रों वाली ट्राइको-फाइटानता होने पर चूहे ग्रौर मूषकों को नष्ट कर देना चाहिए।

उपचार के दौरान रोगी के जंघिये ग्रौर चादर को 1 प्रतिशत क्लोरामीन घोल में भिगो कर या 15 मिनट तक कास्टिक सोडा से उबाल कर विसंक्रामित करते हैं ग्रौर फिर धोये जाते हैं। उपचार के बाद सारी चादरें ग्रौर जंघिये फरमलडीहायड वाष्प कक्ष में रखकर विसंक्रामित किये जाते हैं।

शिशु संस्थानों के सभी सदस्यों का रोगनिरोधी निरीक्षण महीने में एक बार किया जाता है। इन विद्यालयों में प्रवेश के समय तथा छुट्टियों के बाद बच्चों की मासिक जाँच की जाती है तथा काम के लिए प्रार्थियों की भी जाँच की जाती है। जिन वच्चों के संक्रामित होने का भय होता है उन्हें पृथक किया जाता है। त्वचा कवकता के रोगियों को चिकित्सालय भेज दिया जाता है।

विद्यालय में बच्चों के बाल काटे जाने के नियम. सब बच्चों का पहले निरीक्षण किया जाता है। स्वस्थ शिरोवल्क वाले बच्चों के बाल सबसे पहले काटे जाते हैं। उनके बाद उन बच्चों के बाल काटे जाते हैं, जिनकी त्वचा लाल हो ग्रौर जिनके शिरोवल्क में पपड़ी या शल्क हों, हर बाल-कटाई के बाद उपकरणों को बर्नर की लौ पर रखा जाता है। जिन बच्चों के संक्रामित होने का भय हो, उनकी बाल-कटाई

के बाद औजारों को खोलकर उसके पुर्जों में फँसे बाल साफ करके उन्हें लौ पर रखा जाता है।

यह पता लगने पर कि कुछ बच्चों को त्वचा कवकता का रोग हो गया है, संस्थान के अन्य सभी बच्चों का दो या तीन सप्ताह तक साप्ताहिक निरीक्षण किया जाता है और किसी को माइक्रोस्पोरोसिस होने पर छः सप्ताह तक चार या पाँच दिन में एक बार निरीक्षण किया जाता है।

कैंडिड रुग्णता

कैंडिड रुग्णता त्वचा और श्लेष्मल कला का रोग है जो यीस्ट की तरह के कैंडिडा प्रजाति के कवक द्वारा होता है।

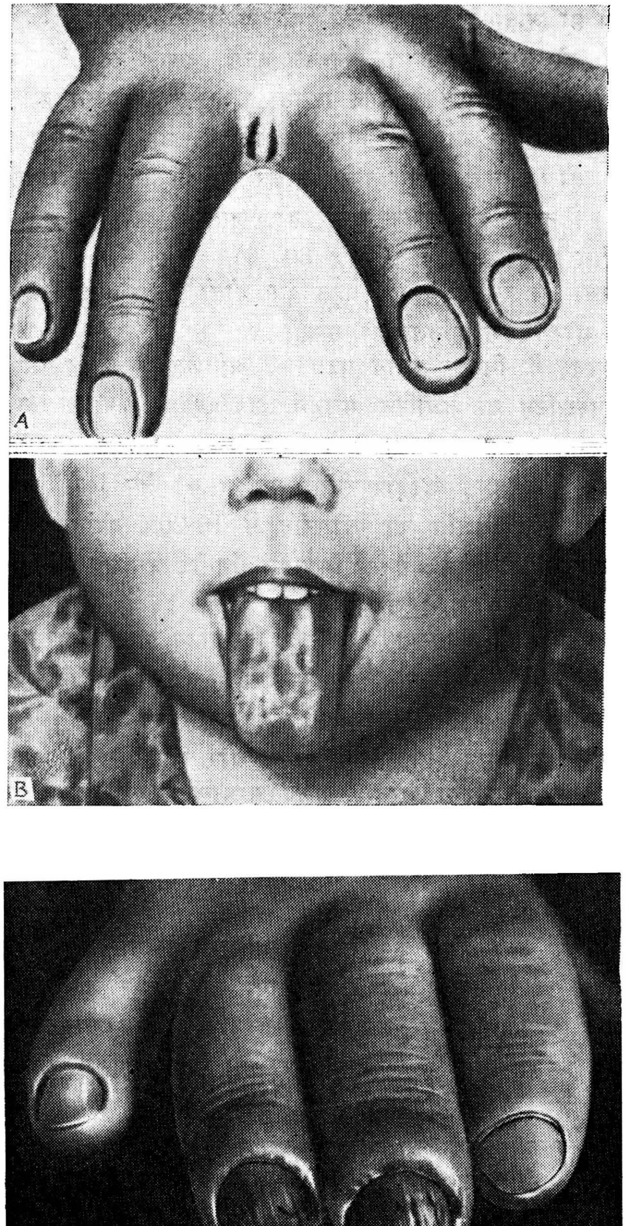
कैंडिडा प्रजाति की यीस्ट कोशिकाएँ स्वस्थ व्यक्तियों की श्लेष्मल कलाओं और जठर-आंत्र पथ में मौजूद होती हैं। इस दशा में गलितभोजी (मृत जैव पदार्थों पर जीवन-निर्वह करने वाले) होते हैं और इनसे किसी प्रकार का रोग नहीं होता। ये फल और सब्जियों में भी, विशेष रूप से जब वे खराब होने लगते हैं, पाये जाते हैं।

कुछ प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियों (अम्ल और क्षार इत्यादि के प्रभाव से, आक्लेदन के प्रभावाधीन होने पर) और शरीर के आंतरिक कारणों से (अल्पविटामीनता, कार्बोहाइड्रेट के चयापचयी विकार होने पर, अर्थात् मधुमेह मेलिटस, इत्यादि में), जीव क्रियाओं के तलोच्छेदन में यीस्ट रोगजनक हो जाते हैं और तेजी से प्रजनित हो कर रोग पैदा करते हैं। जठर-आंत्र में सूक्ष्मजीवियों के संतुलन बिगड़ जाने से भी यीस्ट का संक्रामण हो सकता है। ऐसा प्रतिजीवियों (विशेष रूप से विस्तृत स्पेक्ट्रम) और कार्टिकोस्टेरायड हारमोन का प्रयोग करने से होता है।

यीस्ट कवक त्वचा, श्लेष्मलकला, नखों और आंतरिक अंगों को रोगग्रस्त बनाता है।

बड़ी सलवटों के क्षेत्र में (स्तन ग्रन्थियों, उरु मूल और कक्षा में), मोटे आद-मियों में या मधुमेही रोगियों में त्वक विक्षति होती है। बड़ा सा लाल विकार स्थान बनता है जिसमें बाह्य त्वचा से सफेदी सी झड़ती है और इसके आस-पास छोटे विकार स्थान हो जाते हैं। उंगलियों के बीच में बहुधा मोतियों सी सफेद झिल्ली से ढका हुआ विस्फोट (हाथों का अंतरांगुलि यीस्ट विस्फोट) (चित्र 60 A) पाया जाता है, जो मद्यशाला के परिचारकों, गृहणियों तथा फल और सब्जी को कनस्तर-बंद करने वाले कर्मचारियों को होता है।

किसी भी अंग की श्लेष्मल कला रोगग्रस्त हो सकती है, लेकिन अधिकतर थ्रश कैंडिड इस रुग्णता का रूप है। यह रोग अधिकतर कमजोर बच्चों को और ऐसे गंभीर रोग से पीड़ित रोगियों को होता है जिन्हें प्रतिजीवी और कार्टिकोस्टेरायड औषधियाँ बड़ी खुराकों में दी गई हों। जिह्वा की श्लेष्मल कला पर मसूर की दाल के बराबर सफेद झिल्ली बन जाती है (चित्र 60 B)। यह गालों, तालू और



चित्र 60. त्वचा का कैन्डिडा रुग्णता (A) त्वचा श्लेष्मल कला (B) और नाखून पर (C)।

टोन्सिल में भी हो जाती है तथा ये सब मिल जाती हैं। जब इस झिल्ली को हटाया जाता है, तो चमकीली लाल श्लेष्मल कला दिखाई देती है, जो कभी-कभी अपक्षरित होती है और उसमें से रक्त रिसता रहता है। नाखूनों के रोगी होने के साथ-साथ इनके मुड़े हुए भाग भी रुग्ण हो जाते हैं, जो मोटे होकर फूल जाते हैं, त्वचा से] ढीले हो जाते हैं और इनको दबाकर पस निकाली जा सकती है (यीस्ट परिनख शोथ)। नखों की चमक खत्म हो जाती है और ये भूरे या भूरे-काले (यीस्ट नखशोथ) हो जाते हैं (चित्र 60 C)।

आंतरिक अंगों की कैंडिड रुग्णता बहुत कम होती है पर यह तीव्र रोग के बाद हो सकती है और इससे पूतिता हो सकती है।

उपचार. त्वचा के विकार स्थान पर 1–2 प्रतिशत अल्कोहल घोल (अनीलीन रंज का), निस्टाटिन या लेवोरिन मलहम 200000–500000 यू० प्रति ग्रा० आधार), गंधक-टार मलहम, कैस्टेलानी पेन्ट, 0.5–1.0 प्रतिशत डेकामीन (डेक्वालीनियम क्लोराइड) मलहम, नाइट्राफ्यूरीलेन मलहम का लेप किया जाता है।

श्लेष्मल कला की विक्षति का ग्लीसरीन में 10-20% बोरेक्स घोल, अनीलीन रंजक (प्योक्टानिन, डहलिया बैंगनी, मिथाइल बैंगनी, जेनशियन बैंगनी) के 1-2% जलीय व अल्कोहलिक घोल से उपचार किया जाता है।

सामान्य क्रियाओं की व्यवस्था प्रतिजीवी निस्टाटिन या लेवोरिन (1 000 000 यू०, दिन में चार से आठ बार), डेकामिन या लेवोरिन की टिकिया 0.15 ग्रा० कैन्डी (दो कैन्डी चूसने के लिए दिन में तीन या चार बार दी जाती है), विटामिन ग्रुप बी, विटामिन ए सान्द्र, एसकार्बिक एसिड और रूटिन से की जाती है।

कैंडिड रुग्णता की व्यवस्था करने के लिए सामान्य शक्ति प्रदायक उपाय, आनुषंगिक रोगों का उपचार, सीमित कार्बोहाइड्रेट और अधिक प्रोटीन और विटामिन वाला भोजन महत्वपूर्ण है। अन्य प्रतिजीवी और कोर्टिकोस्टेरायड कैंडिड रुग्णता के केवल उन रोगियों को देते हैं जिनके लिए यह जन्म-मृत्यु का प्रश्न हो।

सोवियत संघ में कवक रोगों का नियंत्रण चिकित्सा के उच्च विद्यालयों और शोध संस्थानों की देख-रेख में त्वचा और रतिज रोगों का उपचार करने वाले औषधालयों के कुशल तंत्र के अनुसार किया जाता है। त्वचा विज्ञानियों, बाल रोग विशेषज्ञों, बाल विद्यालयों के चिकित्सकों, स्वच्छता निरीक्षकों, महामारी विज्ञानियों तथा अन्य विशेषज्ञों द्वारा नियंत्रण का काम किया जाता है। सोवियत जन स्वास्थ्य सेवा के कुशल कार्य से त्वचा कवकता की घटनाएँ बहुत कम हो गयी हैं।

त्वचा कवकता की कुशल रोक थाम के लिए स्कूल, किंडर गार्डन और बोर्डिंग स्कूलों में स्वच्छतास्वास्थ्य शिक्षा अनिवार्य है।

कवक रोगों के नियंत्रण में उपचारिकाओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इन रोगों के उपचार की सफलता बहुत कुछ उपचारिकाओं द्वारा बरती गई कर्तव्यनिष्ठ सावधानी और सही विधि की कुशलता पर निर्भर करती है। बच्चों का रोग-निरोधी परीक्षण करना भी उपचारिकाओं की जिम्मेदारी है। ये बच्चों और बड़ों के बीच स्वच्छता प्रचार में भी भाग लेती हैं।

पशु-परजीवियों से होने वाले त्वचा रोग

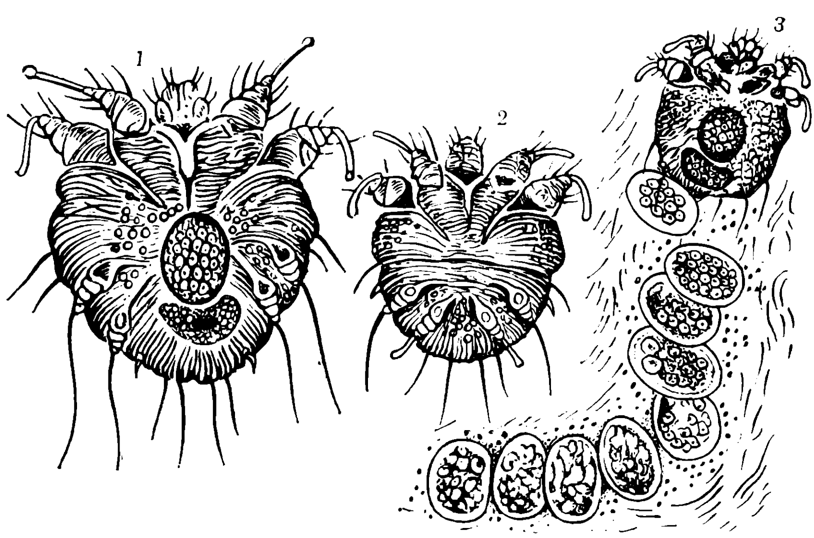
खाज (स्कैबीज) और जूँओं का आक्रमण (पैडीकुलोसिस) रोगी व्यक्ति या उसके उपयोग की वस्तुओं के साथ संपर्क का परिणाम है। आखिरी स्थिति में आक्रमण परोक्ष रूप से होता है।

ये रोग बहुधा युद्ध, अकाल, बरबादी और आबादी के जनसमूह के अभिगमन के समय में होते हैं। भीड़-भाड़, अनियमित सफाई की आदतों, गंदी चादरों और जंघियों इत्यादि से यह रोग फैलता है।

सोवियत संघ में जूँकोप के उन्मूलन और स्कैबीज की घटनाओं को कम करने की सारी व्यवस्था कर दी गई है।

स्कैबीज

स्कैबीज पशु-परजीवी, खुजली-कुटकी के द्वारा होता है। मादा कुटकी नर की अपेक्षा बड़ी होती है और इसकी चौड़ाई 0.25–0.35 मि० मी० होती है। यह देखने में कछुए सी लगती है। सामने की ओर कुटकी के दो जोड़ी जुड़ी हुई टांगें होती हैं जिनके सिरे पर चूषक होते हैं। पीछे की ओर भी दो जोड़े पैर होते हैं, पर इनमें कड़े बाल होते हैं (चित्र 61)। गर्भाधान करने के बाद नर मर जाता



चित्र 61. खुजली (स्कैब) सूक्ष्मकीट। 1- मादा, 2- नर, 3- कुनीलोकुलस, जिसमें सूक्ष्म कीट और इसके अण्डे और मल होता है।

है जबकि मादा त्वचा की उपरिस्थ पर्त में छेद करके पहुँच जाती है और चक्करदार बिल (माँद) बनाती है, जिसमें वह 50 अंडे छः से आठ सप्ताह के दौरान देती है। परिपक्व कीट अंडों से करीब चार सप्ताह में विकसित हो जाते हैं। एक मादा द्वारा जमा किये हुए अंडों में से तीन महीनों में 15 करोड़ सूक्ष्मकीट बन जाते हैं।

पर्याक्रमण के सात से बारह दिन बाद स्कैबीज के **लक्षण** प्रकट होते हैं। इसका मुख्य लक्षण तीव्र खुजली है जो कि विशेष कर शाम को या रात को सोते समय अधिक तीव्र हो जाती है। ऊपरी अंगों की आकोचनी पेशियों की सतहों, सीने, पेट, तिंबों, जांघों, पुरुष की जननेन्द्रियों और स्त्रियों की स्तन ग्रन्थियों पर युग्मित और विसरित बिन्दुकित पिटिका, वायु कोशीय फोड़ाफुन्सी हो जाते हैं। स्केबीज बिल की विशेषता (चक्करदार भूरी लाइन, 2-3 मि० मी० लंबी) को आवर्धनी शीशे से देखा जा सकता है। रेखा में पास-पास काले चिन्ह होते हैं, जो सूक्ष्म जीवी द्वारा बनाये छेद के मुहानों की श्रेणियाँ हैं। सूक्ष्मजीवी यह मुँह छोटे सूक्ष्मजीवियों को सतह पर निकालने के लिए तथा उन तक हवा पहुंचाने के लिए बनाते हैं। ये मुहाने कलाई, उंगलियों की अंतरांगुलीय झिल्ली की आकुंचनी सतह पर होते हैं। पुटिकाओं की जगह पर पिन की नोक के बराबर रक्तीय पपड़ी जम जाती है। तीव्र खुजली होने के कारण रोगी अपनी त्वचा को गहराई तक खरोंच लेता है जिससे अन्य उपद्रव होते हैं–पूयत्वक रोग, त्वक शोथ, लसीकापर्वशोथ आदि।

सूक्ष्मदर्शिकी के लिए द्रव्य संग्रह. मादा सूक्ष्मकीट बिल के संगुप्त छोर पर रहती है जो एक पुटिका के रूप में उठा हुआ होता है। सूक्ष्मकीट को निकालने के लिए ऊतक विज्ञानी सुई, स्कैलपेल या तेज नोक वाली जेनर निब को पुटिका के तले तक घुसाकर बिल की दिशा में आगे बढ़ाते हैं। नोक को थोड़ा-सा उठा कर उपकरण को बाहर निकाल लेते हैं। इस हस्तोपचार के समय आवर्धनी शीशे का प्रयोग करना अच्छा है। सूक्ष्मकीट होने पर वह उपकरण की नोक पर नंगी आँखों से भी एक सफेद बिंदु के रूप में दिख जाता है। कभी-कभी पूरे बिल को तेज़ धार वाले रेजर से काट दिया जाता है। बिल को अच्छी तरह इंद्रियगोचर होने के लिए आयोडीन टिंचर लगाया जाता है।

लिये गये द्रव्य को सूक्ष्मदर्शी से कम आवर्धन शक्ति पर देखा जाता है। इस प्रयोजन हेतु द्रव्य को कांच पट्टिका पर रख कर शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल या क्षार हाइड्रोक्साइड की एक बूंद ऊपर से डालकर शीशे के कवर से ढक देते हैं। शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल में निरीक्षण के समय तक सूक्ष्मजीवी जीवित होते हैं।

उपचार. स्कैबीज के उपचार के लिए ऐसे पदार्थ प्रयोग में लाये जाते हैं जो शृंगी परत को ढीला करें तथा सूक्ष्मजीवियों को नष्ट कर दें। उपचार से पूर्व रोगी अपने घर पर गर्म पानी और साबून से स्नान करता है। बेन्जोयल बेन्जोएट इमल्शन, गंधक के मलहम और डेम्यानोविच घोल का प्रयोग करता है। रोगी भाग के विकार स्थान पर दो दिन तक दस मिनट प्रति दिन के हिसाब से बेन्जोयल बेन्जोएट का 20-

25% जल-साबुनी घोल मला जाता है। 33–20 प्रतिशत सल्फर घोल या विल्किन्सन मलहम (15 प्रतिशत गंधक, 15 प्रतिशत टार, 10 प्रतिशत चाक, 30 प्रतिशत मुलायम साबुन और 30 प्रतिशत वैसलीन) लगाया जा सकता है। रोगी इन मलहमों में से एक को सोने से पहले 20—30 मिनट तक अपनी त्वचा पर लगाता है। यह क्रिया चार से छः दिन तक की जाती है। सातवें दिन रोगी स्नान कर के अपने भीतरी तथा अन्य कपड़े बदल कर चिकित्सकीय परीक्षण के लिए जाता है। डेम्यानोविच विधि में दो घोलों का प्रयोग किया जाता है: घोल 1–60 प्रतिशत सोडियम हाइपोसल्फाइट घोल; घोल 2–6 प्रतिशत सान्द या 18 प्रतिशत तनु हाइड्रोक्लोरिक एसिड का विलयन। प्रथमतः घोल न० 1 को 5 मिनट तक प्रभावित त्वचा के प्रत्येक भाग पर दो बार (कुल समय 25 मिनट) लगाते हैं और फिर घोल न० 2 को भी इसी प्रकार लगाया जाता है। रोगी अपने भीतरी तथा बाहरी कपड़े बदलता है। और यही विधि बार-बार दुहराई जाती है तथा 24 घंटे बाद रोगी स्नान करता है।

बच्चों के उपचार के लिए निम्न सांद्रता की औषधियों का प्रयोग किया जाता है: 10 प्रतिशत सल्फर घोल, विल्किन्सन मलहम में बराबर मात्रा में जिंक पेस्ट, 10 प्रतिशत बेन्जोयल बेन्जोएट का जलीय-साबुनी इमलशन, 40 प्रतिशत सोडियम हाइपोसल्फाइट घोल, 4 प्रतिशत सान्द्र हाइड्रोक्लोरिक एसिड का घोल (या 12 प्रतिशत तनु विलयन हाइड्रोक्लोरिक एसिड का घोल)।

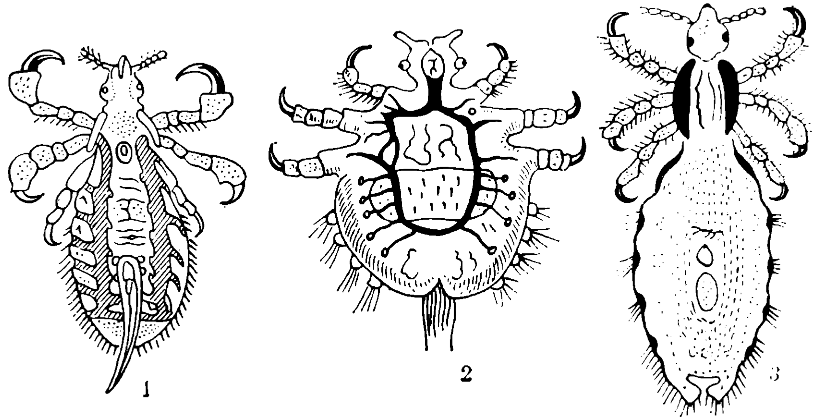
स्कैबीज की रोकथाम के अंतर्गत रोगी व्यक्ति का कारगर उपचार तथा परिवार के सभी सदस्यों का ध्यानपूर्वक परीक्षण तथा अन्य सभी ऐसे लोगों का परीक्षण, जो कि रोगी के निकट संपर्क में आये हों, पूरी तरह से कीट नाशन (रोगी के कपड़ों और चादरों पर डी डी टी से छिड़काव, और कीट नाशक बिस-इथाइल हैन्थोजन वाले साबुन से धलाई करके), ड्राइ-हीट या आर्द्र कक्ष में विसंक्रमण बहुत जरूरी होते हैं। इन वस्त्रों की धुलाई भी कपड़ों को उबालकर करनी चाहिए और फिर इन पर इस्त्री (लोहा) करनी चाहिए। वस्त्रों का विसंक्रामण एक कक्ष में या डी० डी० टी० के छिड़काव से किया जाता है।

यूकोप सर्ग (पैडीकुलोसिस)

सोवियत संघ में जनता के कल्याण और सांस्कृतिक स्तर का उत्तरोत्तर विकास होने पर जूं (**यूका**) का पर्याक्रमण (या **यूकोपसर्ग**) विरले ही होता है।

तीन प्रकार की यूकाएँ मानव की परजीवी हैं: शीर्ष यूका (पेडिकुलस कैपिटिज), शरीर युका (पी० कारपोरिस) और जघन यूका (पी०प्यूबिस) (चित्र 62)।

शीर्ष यूका अधिकतर एक व्यक्ति से दूसरे का सीधे संपर्क से और टोपी, रूमाल और कंघे के द्वारा पहुँचती है। मादा यूका अपने जीवन काल में 150 अंडे जमा



चित्र 62. जूं (यूका)।
1- शीर्ष यूका, 2- जघन यूका, 3- शरीर यूका।

करती है जो बाल से चिपके रहते हैं। पाँच या छः दिन में इस अंडे से यूका निकलती हैं और तीन सप्ताह बाद ये स्वयं भी कीट पैदा करने लगती हैं। यूका केवल शिरोवल्क के बालों ही में नहीं वरन् भौं, दाढ़ी, मूछों के बालों में भी पाई जा सकती हैं। इन से बहुत तेज खुजली होती है जिससे खरोंचें पड़ जाती हैं और पूयत्वक रोग हो सकता है।

उपचार. बालों और शिरोवल्क पर मिट्टी के तेल तथा वनस्पति तेल को बराबर मात्रा में मिलाकर खूब अच्छी तरह मालिश करते हैं और इस पर कपड़ा लपेट देते हैं तथा पूरी रात ऐसे ही कपड़ा लिपटा रहता है। दूसरे दिन प्रातः बालों को उष्ण जल और साबुन से धोकर दंत कंकत से कंघी की जाती है। दंत कंकत को पहले गर्म सिरके में भिगोते हैं। बालों का उपचार 10 प्रतिशत बेन्जोयल बेन्जोएट के जलीय साबुन इमल्शान से भी किया जा सकता है। इसे 10–25 मिनट तक लगाने के बाद गर्म पानी और साबुन से धो डालते हैं।

शरीर-यूका कपड़ों (वस्त्रों) की सलवटों में रहती है तथा खून चूसती है। यह अपने अंडे कपड़ों की सलवटों और सीवन पर जमा करती है। यूकाओं के काटने से तेज खुजली होती है जिसके फलस्वरूप शरीर पर खरोंचों के निशान पड़ जाते हैं। गले पर, कंधों पर बहुत दिनों तक भूरी वर्णकता रह जाती है। गला, कंधे, इनके बीच का भाग, पीठ इत्यादि का भाग यूका के रहने के प्रिय स्थान होते हैं।

उपचार. साबुन से अच्छी तरह नहाने तथा कपड़े बदलने चाहिए। गंदे भीतरी व बाहरी वस्त्रों और बिस्तरों को भली-भाँति विसंक्रामित करना चाहिए।

जघन यूका जांघों; जननेंद्रियों, पेट, गुदा के चारों ओर तथा बालों से ढकी हुई अन्य त्वचा पर परजीवी होती है। जघन यूका की जगह पर बहुधा गोल धब्बे पाये

जाते हैं। यह मटर के आकार के होते हैं तथा इनका रंग फीके नीले से लेकर फीके भूरे तक होता है। इसका संचरण अधिकतर संभोग से होता है।

उपचार. प्रभावित भागों के बाल साफ कर देने चाहिए तथा इन्हें उष्ण जल और साबुन से धोना चाहिए और फिर इसमें नीला मलहम या 10 प्रतिशत सफेद घनाभूत मलहम रोज दो तीन दिन तक लगाना चाहिए तथा त्वचा पर उदान्त सिरके को लगाना चाहिए।

यूकोपसर्ग (पेडीकुलोसिस) की रोकथाम. व्यावसायिक स्कूलों, छात्रावासों और शिशु संस्थानों में नियमित रूप से निरोधक परीक्षण करने चाहिए।

यक्ष्मा

त्वक यक्ष्मा इस बात का सबूत है कि शरीर में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में यक्ष्मा का प्रक्रम है। यह त्वचा में तब होती है, जब वैसील ट्यूबरकुलोसिस रोगी ऊतकों और अंगों (विशेषकर फेफड़ों, लसीका पूर्व और हड्डियों) से होते हुए त्वचा पर पहुंचते हैं। माइको बैक्टीरिया से संक्रमित त्वचा के इस पथ को विक्षेप या अन्तर्जात कहते हैं। माइको बैक्टीरिया रक्त में लसीका स्थान और वाहिकाओं के द्वारा त्वचा तक पहुँचते हैं और प्रसार से बढ़ते हैं।

अंतरिक अंगों की सक्रिय यक्ष्मा में माइक्रो बैक्टीरिया मूत्र, थूक, मल और शरीर से विसर्जित अन्य पदार्थों में बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। ये शरीर के प्राकृतिक द्वारों की श्लेष्मल कला और त्वचा में पहुंच जाते हैं और इन स्थानों पर यक्ष्मा रोग पैदा करते हैं (इसे स्वोपसर्ग या स्व संरोपण कहते हैं)।

त्वचा यक्ष्मा से बहुत कम ही प्रभावित होती है (बूचड़खाने और मांस पैक करने वाली मशीनों पर काम करने वाले लोगों को यक्ष्मा का संक्रमण हो सकता है जो यक्ष्मा रोगी पशुओं के कंकाल को काटते समय घाव होने से हो जाता है)।

टुबरकल वैसिलस के त्वचा में घुस जाने से यक्ष्मा का विकार स्थान होना जरूरी नहीं है। मनुष्य की कायिक स्थिति का बहुत महत्त्व है। निर्बल काया (संक्रमण या मदात्यय इत्यादि में) पर यक्ष्मा जल्दी हो सकती है।

त्वक यक्ष्मा के नैदानिक रूप बहुत असमान हैं।

त्वचा-यक्ष्मा (ल्यूप सवल्गैरिस) . यह सबसे अधिक होने वाला त्वचा रोग है (त्वचा की यक्ष्मा से पीड़ित 75 प्रतिशत लोगों को यही रोग होता है)। त्वचा यक्ष्मा अधिकतर 5 और 15 वर्ष की आयु में होती है। यह अधिकतर मुँह और विशेष रूप से नाक पर होती है। ल्यूपोमा, ल्यूपस पर्विका मुख्य रूप से आकृतिक विक्षति है। यह पहले सुई की नोक के बराबर होती है। यह सीमांकित, चपटी और नीला-लाल तथा पीलापन लिए होती है। यह अर्धपारभासी होती है। यह धीरे-धीरे बढ़ती है और बहुधा शल्क से ढक जाती है। उंगली से छूने पर ल्यूपोमा नरम मालूम

होता है। पर्विका को कांच पट्टिका से दबाने पर इसका रंग बदल कर पीला-भूरा हो जाता है और सेब की जेली की तरह यह अर्धपाराभासी होता है (सेब-जेली लक्षण)। कंदीय सिरे को आसानी से ल्यूपोमा के ऊतक तक दबाया जा सकता है (प्रोबलक्षण)। यदि दबाव को बढ़ाया जाय तो तेज दर्द होता है और खून निकलने लगता है। यक्ष्मीय पर्विका के ये तीन मुख्य लक्षण होते हैं।

पर्विका बढ़ती है और सेलीन होकर अंतःसंचरित चकत्ता बनाती है। अंततः पर्विकाएं परिगलित होकर बिना खुले अवशोषित हो जाती हैं और संतोकज शोथ या व्रण हो जाता है जो क्षतांकित हो जाता है। पहले प्रकार में यह चपटा ल्यूपस होता है जिसमें शोथ हल्का होता है तथा क्षतांकित शोथ भी हल्का होता है और त्वचा टिशू पेपर सी लगती है और इसमें आसानी से सलवटें पड़ जाती हैं। यक्ष्मिक पर्विका क्षतांकित शोथ की जगह नये रूप से बन जाती है (यह यक्ष्मिक मूल के ल्यूपस का चिन्ह होता है)। यदि इसका उपचार न किया जाय तो यह रूप दशाब्दियों तक चलता रह सकता है। इस रूप के अतिरिक्त अन्य सूखे प्रकार के ल्यूपस होते हैं: अतिशोथीय, अर्बुद की तरह और कीलकी (मुहासे जैसे)।

ल्यूपस चकत्ते से व्रणोत्पत्ति हो सकती है, जिससे ल्यूपस वल्गैरिस का व्रणीय रूप विकसित होते हैं। इन रूपों को अधिक सक्रिय शोथ से पहचाना जाता है। ये व्रण उपरिस्थ तथा आकार में असमान होते हैं; इनसे रक्त आसानी से निकलने लगता है। ये बहुधा विलीन हो जाते हैं और बहुत धीरे-धीरे ठीक होकर उपरिस्थ चिकना व्रण चिन्ह छोड़ जाते हैं, जिसमें से नई पर्विका निकलती है। यदि व्रणीय प्रक्रम में मांस-पेशी, हड्डियां और उपास्थियां आलिप्त हैं तो इसके परिणामस्वरूप उग्र विनाश होता है (विकृति करने वाला ल्यूपस, चित्र 63)। ल्यूपस वैल्गैरिस से चेहरा विकृत हो जाता है, मुंह संकरा हो जाता है और आँखों की पलकें बाहर की ओर हो जाती हैं (बहिर्वर्तन) और नाक चिड़िया की चोंच की शक्ल की हो जाती है।

रोग के अधिक कालिक होने पर और चेहरे पर बार-बार ल्यूपस वैल्गैरिस होने से चेहरा विकृत हो जाता है, जिससे रोगी में अवसाद होता है।

यक्ष्मज-त्वगलन या यक्ष्मज त्वक द्रवणशीलता—त्वचा की यक्ष्मा का एक आम रूप है। यह रोग बच्चों और किशोरों को होता है। यक्ष्मज जोड़ों और हड्डियों के प्रक्रम के फैलने से यह द्वितीयक प्रकार से विकसित होता है। यह प्राथमिक रूप से बहुत कम होता है, क्योंकि यक्ष्मज वैसिलस त्वचा पर फेफड़ों या अन्य अंगों के विकार स्थान से रक्त और लसीका के साथ पहुँचता है। यक्ष्मज त्वक गलन गर्दन, उप-ऊर्ध्वहनु, उरोस्थि, उपजत्रुक और अधिजत्रुक भागों में अधिक होता है। अधस्त्वक कोशकीय ऊतक में अखरोट के आकार की कठोर, पीड़ारहित पर्विका बन जाती है। यह धीरे-धीरे बढ़ती है और गलकर त्वचा से जुड़ जाती है तथा इसका रंग नीलिमा लिए लाल हो जाता है। पर्विका बीच में मुलायम होकर खुल जाती है (एक या अधिक नाल व्रण बन जाते हैं, चित्र 64) और इसमें से गाढ़ा पस निकलता है।



चित्र 63. हाथ को छिन्न-
-भिन्न करने वाली ल्यूपस।



चित्र 64. यक्ष्मज त्वक द्रवणशीलता।

यक्ष्मज त्वक गलन के व्रण में पीड़ा नहीं होती और इसका पथ नालव्रणीय हो (इसका पता नाल व्रण में बल्बाकार सिरा वाला प्रोब डालने से होता है)। व्रण की सतह खुरदरी होती है, रक्त निकलता है और इस पर सपूय परिगलित झिल्ली होती है। व्रण के किनारे मुलायम और अपरदित होते हैं। व्रण भर जाते हैं तथा अंकुरक वाले व्रणचिन्ह, सेतु और विलक्षण आकार के बहि:सरण छोड़ जाते हैं।

त्वचा की यक्ष्मा के अन्य प्रकार, जैसे पिटिका-परिगलित, व्रणीय त्वचा और श्लेष्मलकला की व्रणीय यक्ष्मा बहुत कम होती है।

उपचार. सामान्य स्वास्थ्यवर्धक उपचार (एसकार्बिक एसिड, ग्रुप बी विटामिन, कोडलिवर आयल, लोह और फासफोरस के योग) और कार्य तथा विश्राम के सही विधान (दैनिक टहलना, जिम्नास्टिक, पर्याप्त नींद, उच्च कैलोरी वाला भोजन, जिसमें प्रोटीन, वसा और विटामिन बहुत हों तथा कार्बोहाइड्रेट और नमक, इत्यादि कम हो) की पृष्ठभूमि में रोगी को विशिष्ट पदार्थ (स्ट्रेप्टोमाइसिन, फ्थीवाजीड जिसमें आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्रोजाइड व्युत्पन्न, पी० ए० एस० ए० इत्यादि) औषधि के रूप में दिये जाते हैं।

स्ट्रेप्टोमाइसीन और डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन की 0.5–1.0 ग्रा० की खुराक प्रति-दिन पेशी में इंजेक्शन द्वारा दी जाती है (कुल खुराक 40 से 80 ग्रा० या 40 000 000 से 80 000 000 यू० औषधि)। इसे यक्ष्मा के सभी रोगों में, विशेषकर फेफड़ों के ल्यूपस वल्गैरिस में, सक्रिय प्रक्रम में देते हैं। इन औषधियों से इतर-प्रभाव और उपद्रव (बधिरता) हो सकते हैं।

प्थीवाजीड, सल्यूजिड (आइसोनियाजिड योग) आइसोनियाजाइड (ट्यूबाजिड) रोज खाई जाती है। दैनिक खुराक 1.0–2.0 ग्रा० है, जो कि तीन या चार भाग में बांटी गई है। पूरी खुराक 150 से 200 ग्रा० होती है। ल्यूपस वल्गैरिस, यक्ष्मज त्वक गलन, तथा त्वचा के अन्य प्रकार की यक्ष्मा में ये औषधियाँ दी जाती हैं।

ल्यूपस वल्गैरिस और यक्ष्मज त्वक गलन के उपचार के लिए कई महीनों तक विटामिन डी$_2$ को स्पिरिट घोल या तेल इमल्शन के रूप में 50 000–100 000 यू० की दैनिक खुराक में दिया जाता है। इसे स्ट्रेप्टोमाइसिन और पी० ए० एस० ए० के साथ औषधि निर्देशित किया जाता है।

पी० ए० एस० ए० को मुँह द्वारा भोजन के तीस मिनट बाद लिया जाता है। पी० ए० एस० ए० की दैनिक खुराक 8.0–12 ग्रा० तक है, जिसे चार भागों में बांटा जाता है। इसकी पूरी खुराक 800 से 1000 ग्रा० तक है, जिसका विशेष रूप से यक्ष्मज त्वक गलन में औषधि-निर्देश दिया जाता है।

अधिकतर दो या तीन यक्ष्मा रोधी पदार्थ एक साथ दिये जाते हैं और यह उपचार कई बार दोहराया जाता है। शरीर के अन्य अंगों में यक्ष्मा न होने पर त्वचा की यक्ष्मा में रोगी को स्पा उपचार (सोवियत संघ में क्रीमिया के काला सागर तट पर और उत्तर काकेशस में) और सूर्य स्नान की सलाह दी जाती है।

अलग-थलग मामलों में समशल्य-डायाथर्मी, शल्यीय उच्छेदन और आखुरण द्वारा विकार स्थान को निकाल देते हैं।

सोवियत संघ में त्वचा की यक्ष्मा के नियंत्रण के लिए एकरूप प्रतिमान लागू किया जाता है जो यक्ष्मा औषधालयों के त्वचा विभाग की योजना के अनुसार होता है। ये त्वचा की यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों का उपचार करते हैं तथा उनकी नियमित रूप से पूरी डाक्टरी जाँच की जाती है तथा सही जीवन विधान की व्यवस्था की जाती है।

सामान्य रूप से सोवियत संघ में यक्ष्मा के नियंत्रण में काफी प्रगति की गई है और विशेषकर त्वचा की यक्ष्मा के रोग को नियंत्रण में कर लिया गया है।

कुष्ठ

कुष्ठ एक दुःसाध्य चिरकारी रोग है जो माइकोबैक्टीरियम लिप्रे (हैन्सेन बैसिलस) से होता है। यह देखने में टुबरकिल बैसिलस जैसा होता है।

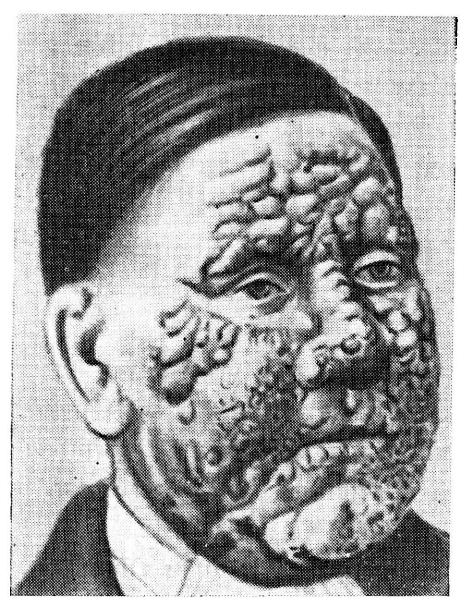
रोग के प्रथम चिन्ह संक्रमण के चार से छः साल बाद, और उससे भी अधिक साल (10 से 20 वर्ष) प्रकट होते हैं। कुष्ठ के कारक पदार्थ मनुष्य के शरीर में नासाश्लेष्मा, ऊपरी श्वासपथ या परिवार के सदस्य रोगी या परिचित के निकट और अधिक समय तक संपर्क में रहने से पहुँचते हैं। प्रतिकूल स्वच्छ-स्वास्थ्य परिस्थितियों तथा रहने के निम्न स्तर से संक्रमण बढ़ता है। यह रोग मुख्य रूप से

बचपन में हो जाता है। इस रोग में त्वचा, श्लेष्मलकला, तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंग सम्मिलित होते हैं।

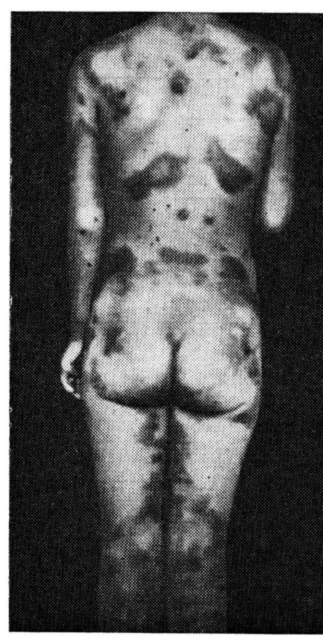
कुष्ठ की दो मुख्य किस्में पहचानी गई हैं: लेप्रोमैटस या दुर्दम, दुसाह्य और गुलिकाभ या मुदम हल्की किस्म की। इनके भी दो उप समूह हैं: अनिर्धारित लक्षण रहित, अनिश्चित, और द्विरूपी या मिश्रित किस्म का कुष्ठ।

लिप्रोमैटस किस्म में बैंगनी या गहरे लाल वर्ण या काले चकत्ते, पिटिका और पर्विका (लेप्रोमा) होते हैं और लाल-भूरे अंतः संचरण विसरित होते हैं। बहुधा चेहरा प्रभावित होता है और चेहरे पर सिंहवत भाव रहता है (चित्र 65) लेप्रोमा व्रणित होता है या अवशोषित हो जाता है। नाक, मुँह और स्वर यंत्र की श्लेष्मल कला तथा हड्डियाँ, जिगर, आंखें और लसीकापर्व बहुधा संबद्ध होते हैं। हाथ और पैर छिन्न-भिन्न होने लगते हैं (अस्थि का पुनः शोषण होता है)। चकत्तों के भाग से संवेदन कम हो जाता है, जो कुष्ठ का लक्षण है और यह आगे चलकर कुष्ठ का रूप ले लेता है। लिप्रोमैटस किस्म का रोग आस-पास के लोगों के लिए एक भारी संकट होता है, क्योंकि रोगी के व्रणों के स्राव तथा नासा श्लेष्मा में लेप्राबैसिली होते हैं।

गुलकाभ किस्म के कुष्ठ रोग में त्वचा पर चकत्ते और पर्विकाएँ होती हैं और कभी-कभी गुलिकाएँ होती हैं (चित्र 66), जिनकी सतह पर कम संवेदन होता है



चित्र 65. कुष्ठ (लेप्रोमायुक्त कुष्ठ)।



चित्र 66. सार्वदैहिक गुलकाभ कुष्ठ।

(स्पर्श , पीड़ा , गर्मी) । ये व्रण नहीं बनते हैं और विवर्णकता और कभी-कभी शोथ रह जाते हैं। इसका विशिष्ट लक्षण यह है कि धड़ की तंत्रिकाएँ मोटी हो जाती हैं। आंशिक घात या पक्षाघात हो सकता है। ये रोगी बहुत संक्रामक नहीं होते हैं, क्योंकि लेप्रेबैसिली नाक की श्लेष्मा में बहुत कम पाये जाते हैं।

अनिर्धारित किस्म में कुष्ठीय विस्फोट फोड़ा-फुन्सी नहीं होते हैं। त्वचा पर विवर्णक और वर्णकित चकत्ते होते हैं, जिसमें संवेदनशीलता लुप्त होती है और कुछ फीके से चकत्ते होते हैं जिनकी रूपरेखा साफ नहीं होती है। बहुतंत्रिका शोथ और धड़ की तंत्रिकाएँ मोटी और व्यपजनित हो जाती हैं। इससे पेशियों में व्रण और शोथ हो जाते हैं। जोड़ों में विकार आ जाता है। अंगघात हो जाता है और प्रसारित क्षेत्र में संवेदनशीलता का लोप हो जाता है।

द्विरूपी या मिश्रित कुष्ठ का लक्षण यह है कि इस रोग में ऊपर बताये गये तीनों प्रकार के रोगों की विक्षति एक साथ होती है।

कुष्ठ के प्रयोगशाला निदान हेतु द्रव्य नासा श्लेष्मा, कुष्ठीय चकत्तों में से छीलन तथा उस स्थान का ऊतक-तरल, लसीका पर्व से लिये गये नमूने, जैव निदर्श के आलेप एकत्रित किये जाते हैं।

नासा श्लेष्मा कला के स्राव को सूखी रूई के टैम्पन को चिमटी में लपेट कर उससे लिया जाता है। नासा श्लेष्मा को विशेषकर पटों वाले को, 30–40 सेकेन्ड तक टैम्पन में जोरों से रगड़ते हैं, जब तक कि खून न छलक आये। फिर टैम्पन शीशे की पुट्टिका को कई बार तेजी से खींचा जाता है।

कुष्ठीय पर्विकाओं और लसीका पर्व से द्रव्य को सख्त चलने वाली सिरिंज (पिचकारी) से लिया जाता है, जिसकी सुई ठीक लगी हुई हो। रक्त आलेप की तरह इस चूषण से भी आलेप तैयार किया जाता है।

कुष्ठीय चकत्तों को स्कैलपेल से खरोंचा जाता है, जब तक कि ऊतक तरल न देखने लगे। इसी तरल से आलेप तैयार किया जाता है।

आलेप की छाप को इस प्रकार से तैयार किया जाता है : बाइआप्टिक पर्विका या अंकुरक की अन्दरूनी सतह को काँप पट्टिका पर खींचा जाता है। लेप को सुखा कर धब्बा बनाते हैं।

उपचार जितनी ही जल्दी प्रारंभ किया जाय, उसके परिणाम उतने ही अच्छे होंगे। सल्फोनयोग (डी० डी० एस० ; सोलासल्फोन, सल्फेट्रोन सम्मिश्र, सल्फाटीन, सल्फोन-3), चौल मुग्रा के योग (चौलमुग्रातेल और मुग्राल), थायोयूरिया के व्युतपन्न (सीबा-1906, एथोक्सीडम), एथियोनामाइड इत्यादि का प्रयोग किया जाता है।

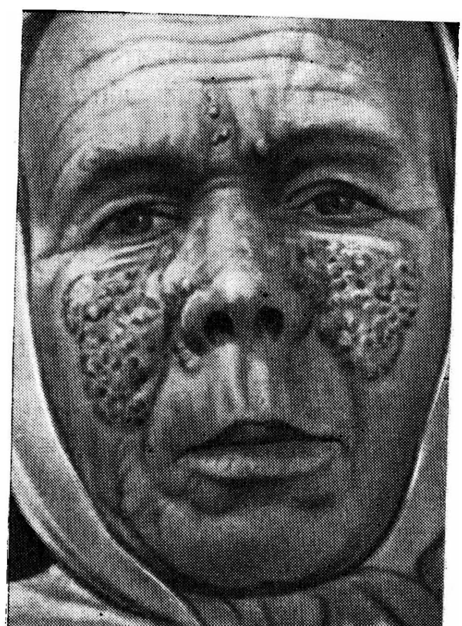
सोवियत संघ में कुष्ठ नियंत्रण. कुष्ठ के संक्रामक रूप से पीड़ित रोगियों को कुष्ठ आश्रमों में रखा जाता है, जहाँ वे सही उपचार, पौष्टिक भोजन और ठीक विधान के बारे में निश्चिंत होते हैं। रोगी के परिवार के सदस्य तथा उसके निकट संपर्क

में रहने वाले व्यक्तियों की भी काफी समय तक निगरानी रखी जाती है। कुष्ठ निरोधक के सुनियोजित उपायों से सोवियत संघ में कुष्ठ रोग की घटनाएँ बहुत कम हो गई है।

रक्तिम ल्यूपस (एराइथेमाटोसिस)

रक्तिम ल्यूपस की हेतुकी अज्ञात है। अंतःस्रावी विकारों, संयोजी ऊतकों की अशांत प्रक्रिया, परावैंगनी किरणों के प्रति व्यक्ति की अति संवेदनशीलता, और चिरकारी संक्रमण के विकार स्थानों से यह रोग बढ़ता है।

एराइथेमाटोसिस एक चिरकारी रोग है, जिसका प्रभाव चेहरे पर होता है। लाल, गोल या अंडाकार चकत्ते बनते हैं जो अंतःसंचरित विकास स्थान का रूप ले लेते हैं जो कि मजबूत शल्कों से ढके होते हैं। इस क्रिया के परिणामस्वरूप त्वचा पर शोथ हो जाते हैं। कभी-कभी चेहरे के रोगी विकार स्थान तितली की शकल के हो जाते हैं (चित्र 67)। शिरोवल्क में एराइथेमाटस विकार स्थान वाले क्षतांकित शोथ स्थायी गंजेपन का रूप ले लेते हैं। निचले ओठ के सिंदूरी किनारे पर क्षतांकित शोथ और काले-नीले चकत्तों पर घने शृंगी शल्क हो जाते हैं।



चित्र 67. रक्तिम ल्यूपस।

दैहिक रक्तिम (एराइथेमाटस) ल्यूपस (तीव्र और अति तीव्र) बहुत कम होता है तथा इससे गुर्दे, जिगर, हृदय और जोड़ों पर प्रभाव पड़ता है। यह बहुत ही गंभीर रूप ले सकता है और बहुधा घातक होता है।

उपचार. चिरकारी रक्तिम ल्यूपस का उपचार चिंगामिन (क्लोरोक्विन, डेलाजिल, रेसोक्विन) से किया जाता है। 0.25 ग्रा० (एक गोली) दिन में दो बार 40 दिन तक दी जाती है (कुल 20 ग्रा० या 80 गोलियाँ)। मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड (क्विनाक्रीन) की 0.1 ग्रा० की खुराक दिन में तीन बार 10 दिन तक दी जाती है। इस उपचार को 5 या 6 बार 10 दिन के कालान्तर पर दोहराया जाता है। साथ ही, निकोटिनिक एसिड (0.1 ग्रा० दिन में दो बार भोजन के बाद) खाने

को दिया जाता है या 1 प्रतिशत घोल के अंतःशिरा इंजेक्शन (2 से 10 मि० ली० प्रतिदिन के कुल 10 से 15 इंजेक्शन) लगाये जाते हैं। कुछ रोगियों को विटामिन बी$_{12}$ का इंजेक्शन रोज या एक दिन छोड़ कर (दैनिक खुराक 100–200 माइक्रो ग्राम तथा कुल इंजेक्शन 20) देने से आराम मिलता है या 2 मि० ली० वायोक्विनोल (उदासीन वनस्पति तेल में क्विनान) का इंजेक्शन सप्ताह में दो बार दिया जाता है। कुल खुराक 40 मि० ली० है। स्थल उपचार में 10 प्रतिशत क्विनाक्रीन प्लास्टर या 10 प्रतिशत वनाक्रीम का मलहम, सिनाइए मलहम और सूखी बर्फ का उपयोग किया जाता है। इसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए 5–10 प्रतिशत क्विसाइस या फिनाइल सैलिसिलेट (सैलोल) का मलहम या क्रीम लगाने की सलाह दी जाती है, ताकि सूर्य की किरणों से त्वचा की रक्षा की जा सके। तीव्र या अनुतीव्र रक्तिम ल्यूपस होने पर कार्टिकोस्टेरायड हारमोन प्रभावी औषधि है।

त्वक शोथ और विषालु त्वक रोग

त्वक शोथ त्वचा का तीव्र शोथ है जो बाह्य क्षोभक के प्रभाव से होता है। बाह्य क्षोभकों को दो भागों में बाँटा जाता है–संक्रामित (जब कि ये त्वचा पर क्रिया करते हैं और सभी लोगों को त्वकशोथ करते हैं; ऐसे बाह्य क्षोभक तेज अम्ल और क्षार होते हैं या 50° सें० से अधिक गर्म पानी इत्यादि) और सोपाधि क्षोभक या एलर्जक (इनसे केवल कुछ ऐसे लोगों को ही त्वक शोथ होता है जो कि इनके प्रति अति संवेदनशील होते हैं)। अक्रमित क्षोभकों के प्रभाव से होने वाले त्वक शोथ को साधारण या कृत्रिम त्वकशोथ कहते हैं, जबकि एलर्जक से होने वाले त्वक शोथ को एलर्जिक त्वक शोथ कहते हैं।

टाक्सीकोडर्मी (विषालु त्वक रोग) में त्वचा का क्षोभक के द्वारा तीव्र शोथ होता है। यह क्षोभक शरीर में श्वास पथ या भोजन पथ अथवा शिरा, त्वचा या पेशी में इंजेक्शन के द्वारा पहुँचता है।

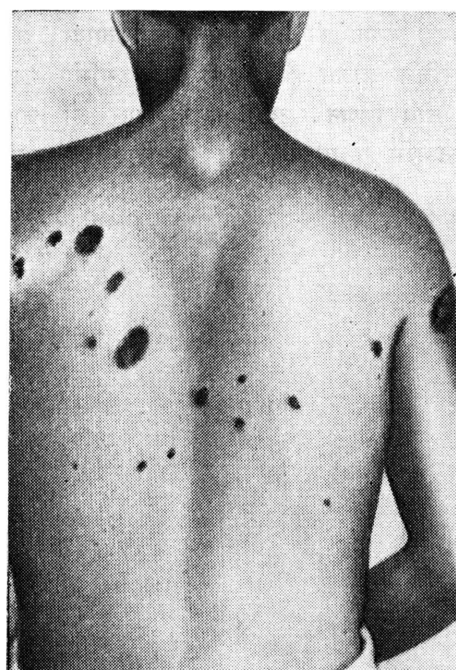
साधारण या कृत्रिम त्वक शोथ क्षोभक के प्रभाव से एकाएक होता है। इसमें त्वचा गहरे लाल रंग की हो जाती है तथा सूज जाती है। क्षोभक की मात्रा पर निर्भर करते हुए त्वचा पर पुटिका, जल स्फोट या परिगलन होता है। रोगी को गर्मी, जलन, पीड़ा और खुजली की अनुभूति होती है। एक या दो सप्ताह के बाद जब क्षोभक खत्म होता है तो त्वक शोथ ठीक हो जाता है और इसका कोई चिन्ह नहीं रह जाता। ऊतकों के परिगलन से होने वाले व्रण भी भर जाते हैं और इनका व्रण चिन्ह रह जाता है।

एलर्जिक त्वक शोथ ऐसे लोगों को होता है जो किसी विशेष एलर्जक (रासायनिक पदार्थ, जैसे क्रोमियम या निकेल के लवण, रेजिन; रंजक, जैसे उरसोल; कुछ पुष्प, पौधे इत्यादि) के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। अति संवेदनशीलता जन्मजात

हो सकता है (संवेदन वैशिष्ट्य, अंडे, स्ट्राबरी इत्यादि के प्रति)। परन्तु अधिकतर यह एलर्जक के संपर्क में बार-बार आने से धीरे-धीरे विकसित होता है। त्वचा में अति रक्तता तथा सूजन हो जाती है और पिटिका, जलस्फोट और पुटिका बन जाती है। जब एलर्जन का प्रभाव खत्म होता है तो शोथज प्रक्रिया शांत हो जाती है, पर एलर्जक का प्रभाव फिर से होने से शोथ दुबारा हो सकता है। एलर्जक के दीर्घकालिक और पुनः प्रभाव होने से एलर्जिक त्वक शोथ छाजन का रूप ले सकता है।

विषालु त्वक शोथ में फोड़ा-फुन्सी सममित होता है। रोगी की सामान्य हालत गंभीर और एलर्जिक त्वकशोथ की अपेक्षा गंभीरतर होती जाती है। फोड़ा, फुन्सी विसरित, बिन्दुकित और गुलाबी लाल या पीला होता है। ददौड़ा, पुटिका, पिटिका और जलस्फोट बन सकते हैं।

औषधीय द्रव्य त्वक शोथ को कभी-कभी पहचाना जाता है। यह साधारण या एलर्जिक हो सकता है। साधारण सैलिसिलिक एसिड, पोटैशियम परमैंगनेट इत्यादि की अति सांद्रता के प्रभाव से होता है और एलर्जिक मेडिकल स्टाफ में होता है जो स्ट्रेप्टोमाइसिन और एमिनाजीन की व्यवस्था करते हैं। पर अधिक प्रचलित रूप विषालु त्वक शोथ का है जब कि औषधि खिलाई जाती है या त्वचा में पेशी या शिरा द्वारा पहुँचाई जाती है। औषधीय त्वकशोथ निश्चित स्थान पर होता है, अर्थात औषधि का इंजेक्शन लगने के स्थान पर होता है। यह अधिकतर पेन्सिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, सल्फानिलामाइड और सल्कामेथाजीन से होता है और एमिनोपाइरीन, क्विनाक्रीन, प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड, ब्रोमाइड, आयोडीन, पारा, न्यूमिनल (फेनावार विटल), तथा अन्य औषधियों से कम होता है (चित्र 68)।



चित्र 68. सल्फानिलामाइड से होने वाली त्वग्रक्तिमा।

उपचार. क्षोभक और एलर्जन के हटा लेने से त्वक शोथ में जल्दी से आराम आ जाता है और इसका कोई चिन्ह नहीं रह जाता। साधारण त्वक शोथ का उपचार विभिन्न लोशनों, शेक लोशनों, पेस्टों और मलहमों से किया जाता है।

एर्लिजक त्वकशोथ और विषालुत्वक शोथ में रोगियों को अति सुग्रहीकरण और प्रति हिस्टामिन चिकित्सा (देखिये अध्याय "त्वक रोगियों की चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त") का निर्देश दिया जाता है। शरीर से एलर्जन को निकालने के लिए विरेचक, मूत्रल और प्रचुर मात्रा में तरल द्रव्य लेने की सलाह दी जाती है।

छाजन

छाजन—एक एलर्जी वाला त्वचा रोग है जो कि तीव्र और चिरकारी हो सकता है। छाजन के मूल कारणों में तंत्रिका तंत्र की क्रिया में विभिन्न प्रकार के उपद्रव मुख्य हैं। छाजन वाले रोगी एक एलर्जक ही नहीं (ऊपर देखिए जैसे, एलर्जिक त्वक शोथ), बल्कि कई एलर्जक के प्रति अल्पसुग्राही हो सकते हैं। एक ही रोगी को बाह्य एलर्जेन (रासायनिक कारक, सूर्य की किरणों, जल, साबुन, पौधे, भोजन और औषधि) और साथ ही आंतरिक एलर्जेन (जिगर या जठर-आंत्र पथ रोग, कृमिरुग्णता, चिरकारी फोकस संक्रमण) के प्रति अधिक संवेदनशीलता हो सकती है। फोड़े-फुन्सियां अधिकतर चेहरे तथा हाथों और पैरों में होती हैं। सूक्ष्मजीवी जीव-विष, कवक की जीवन-गति के उत्पादों, अंतःस्रावी विकारों, तथा अन्य कारणों से एलर्जिक हालत हो सकती है। इसलिए छाजन का रोगजनन बहुत ही जटिल है।

तीव्र छाजन. त्वचा गहरी लाल हो जाती है और सूज जाती है। इसकी पृष्ठभूमि में पुटिका और पिटिकाएँ हो जाती हैं। इनका आकार पिन की नोक के बराबर होता है तथा इनमें स्वच्छ तरल भरा होता है। पुटिकाएँ फूट जाती हैं और एक बिन्दु-सा बन जाता है। इस फुन्सी से स्वच्छ तरल पदार्थ निकलता है। इन फुन्सियों का संलयन हो जाता है और इनकी सतह रिसने वाली हो जाती है (चित्र 70)। जब इनका रिसना कम हो जाता है तो पपड़ी पड़ जाती है और शल्कन शुरू हो जाता है। फिर नई पुटिका, पिटिका और स्रावी (रिसने वाले) क्षेत्र बन सकते हैं। इनसे पस निकलता है और पीली सपूय पपड़ी बन जाती है तथा साथ ही पूयजन्य संक्रमण हो जाता है। तीव्र और चिरकारी दोनों ही प्रकार के छाजन में विक्षतियों (त्वक रक्तिमा,



चित्र 69. सूक्ष्मजीवी छाजन।

पिटिका, पुटिका, पपड़ी, शल्क) की बहुरूपता होती है और विकार स्थान सममित होते हैं। इसमें तेज़ खुजली और जलन होती है। कुछ ही दिनों में फोड़े-फुन्सी लुप्त हो जाते हैं और रोग जल्दी ही फिर हो जाता है: बहुधा तीव्र छाजन चिरकारी रूप ले लेता है।

चिरकारी छाजन. त्वचा मोटी हो जाती है और इसका प्रतिरूप अतिशयित हो जाता है। विकार स्थान का रंग बैंगनी हो जाता है तथा यह पपड़ी और शल्कों से ढक जाती है और तेज खुजली होने लगती है। रोग का नियमित अवधि पर प्रकोप होता है (प्रकोपित चिरकारी छाजन)। यह कई करणों एलर्जन के कारण होता है। चिरकारी छाजन कई वर्षों तक और कभी-कभी दसियों साल तक बना रहता है।

छाजन कई प्रकार का होता है। सूक्ष्मजीवी छाजन संदूषित घाव, व्रण और पूयस्फोटिका के चारों ओर असममित रूप से होता है। यह बहुधा जांघों में होता है (चित्र 69)। ऐसे छाजन का सुस्पष्ट सीमा-निर्धारण होता है। त्वक स्रावी छाजन में फोड़े-फुन्सियां अधिकतर शिरोवल्क चेहरे, उरोस्थि भाग, अंतःशिरोवल्क भाग और त्वचा की सलवटों (कक्षा, उरु मूल, कानों के पीछे) में होती हैं। त्वक स्रावी छाजन के विकार स्थान पीलापन लिए हुए लाल होते हैं और इन पर चिकने और पीले रंग के वल्क होते हैं। छाजन के अन्य रूपों की अपेक्षा इसमें खुजली कम होती है। शिशुछाजन में शिरोवल्क, चेहरे और नितंबों की त्वचा पर लाली पहले आती है। स्कन्ध के अन्य भागों तथा हाथों, पैरों में लाली बहुत कम आती है और फिर पर्विका व पुटिकाएँ और रिसने वाली पपड़ी बन जाती है (चित्र 71)। इस प्रक्रम में बहुत



चित्र 70. तीव्र छाजन



चित्र 71. स्रावी छाजन

तेज खुजली होती है। इस रोग से पीड़ित बच्चे मुश्किल से सो पाते हैं। वे रोते रहते हैं, उनकी भूख खत्म हो जाती है तथा वे बैचैन रहते हैं। यदि उन्हें सही खुराक न मिले (कम अवस्था में इतर दुग्ध पोषण, बार-बार और अत्यधिक पोषण) या कुछ खाद्य पदार्थों (गाय का दूध, अंडे की सफेदी, बेरी, सिट्रन-फल, इत्यादि) के प्रति अल्प-सुग्राहिता और जठर-आंत्र विकार (कब्ज, प्रत्याबनहन) हो तो शिशु छाजन अधिकतर 3 वर्ष से कम आयु के बच्चों को हो जाता है।

उपचार. रोगी की पूरी तरह जाँच की जाती है तथा सभी आनुषांगिक रोगों का उपचार किया जाता है। शरीर में एलर्जी पैदा करने वाले सभी कारकों से छुटकारा दिलाया जाता है।

सामान्य उपचार में ऐसी औषधियाँ दी जाती हैं, जिनका तंत्रिका तंत्र पर सुखद प्रभाव हो और अति सुग्राहीकरण करने वाले कारणों पर भी प्रभाव पड़े। प्रतिहिस्टामिन और विटामिन का अधिक प्रयोग किया जाता है। छाजन के तीव्र रूपों में कार्टिकोस्टेरायड हारमोन दिये जाते हैं (देखिये अनुच्छेद "त्वकरोगियों के उपचार के सामान्य सिद्धांत ")।

बाह्य उपचार में शोथ की मात्रा (रोग के तीव्र लक्षण), इसकी स्थिति और इसकी सीमा पर विचार किया जाता है। तीव्र विक्षति में ठंडे लोशन और जलीय शेक लोशन का अच्छा प्रभाव होता है। चिरकारी छाजन में या शोथीय प्रक्रम के शांत होने पर तेलीय शेक लोशन, लेप और मलहम लगाने के निर्देश दिये जाते हैं और इनमें औषधीय कारकों (गंधक, टार, नैथ्थलेन, पेट्रोलियम, इत्यादि) की सान्द्रता धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है। बहुधा कार्टिकोस्टेरायड मलहम लगाते हैं।

व्यवसायपरक त्वचा-रोग

उत्पादन की क्रिया से संबन्धित कुछ कारकों के हानिकर प्रभाव से व्यावसायिक रोग होते हैं। इन रोगों के अपने वृत्तिक चिन्ह होते हैं, जैसे वर्कमेन के कठोर हाथ, खान में काम करने वालों के हाथों में कालिख या शोथ रहित धब्बे, शल्क जलने से धातुकर्मियों को होने वाले व्रण-चिन्ह।

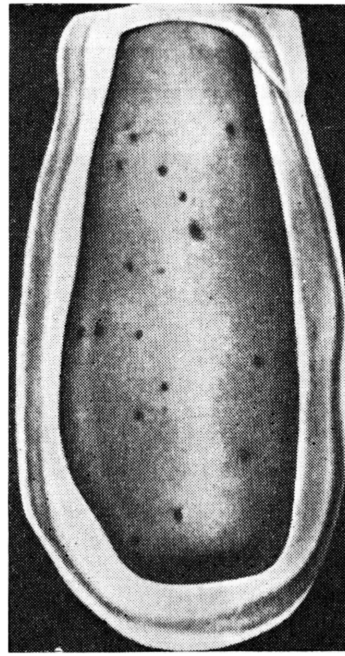
उत्पादन में प्रयुक्त क्षोभकों के गुण, कार्य-स्थल पर स्वच्छता और स्वास्थ्य संबंधी परिस्थितियां तथा कर्मचारी की सामान्य हालत व्यावसायिक त्वक रोगों के विकास को प्रभावित करते हैं।

बहुत से कारण और पदार्थ व्यावसायिक क्षोभक हो सकते हैं, जैसे उच्च या निम्न पर्यावरण-तापमान, आर्द्रता, धूल, कठोर कण, अम्ल, क्षार, रंजक, प्लास्टिक पदार्थ, औषधियाँ (चिकित्सा कर्मियों और उत्पादक मशीन पर काम करने वालों का आपस में संपर्क), इत्यादि। इनकी वजह से साधारण एलर्जिक त्वकशोथ, व्यवसायिक छाजन

पूयत्वक रोग, होते हैं। स्नेहक तेल के संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को रोम कूपशोथ या एकनीत्वक रोग हो जाता है (चित्र 72)।

उपचार. सबसे पहले रोग के कारण का पता लगाया जाता है और उसे दूर किया जाता है। सामान्य उपाय और बाह्य उपचार उन्हीं सिद्धांतों पर किया जाता है, जिन सिद्धांतों पर अव्यावसायिक रोगों का उपचार किया जाता है।

रोकथाम. व्यावसायिक रोगों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर को पुष्ट करने वाले शक्तिदायक उपाय किये जायें (जिमनास्टिक, व्यायाम इत्यादि), हानिकर व्यावसायिक कारकों को यथासंभव कम कर देना चाहिए (जैसे स्वचालित यंत्रों के प्रयोग से) तथा हानिकर पदार्थों के संपर्क में आने से त्वचा की रक्षा करनी चाहिए (जैसे सुरक्षावस्त्रों, दस्तानों का पहनना तथा त्वचा की रक्षा करने वाले मलहम का लेप)। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सभी श्रमिक व्यक्तिगत स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का पालन करें तथा अपने काम के बाद अपनी त्वचा को ठीक तरह से साफ करें और सभी छोटी मोटी चोटों का इलाज करा लिया करें (2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर या 1–2 प्रतिशत अनीलीनरंजक घोल वाले अल्कोहल से)। बड़े पैमाने पर स्वास्थ्य शिक्षा देना भी जरूरी है।



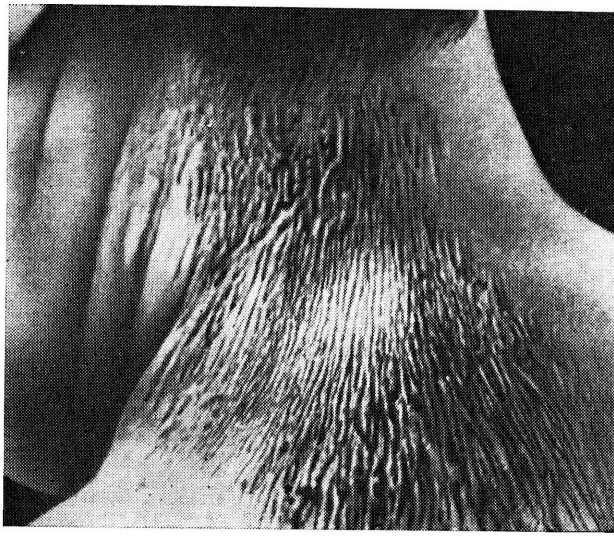
चित्र 72. व्यावसायिक तेल से होने वाला रोमकूप शोथ।

त्वचा के कण्डू रोग

खुजली के मुख्य लक्षण के रूप में होने वाले रोग कण्डू रोग समूह में आते हैं। ये रोग हैं तंत्रिका त्वक शोथ, त्वचा कण्डू रोग, पित्ति, कण्डू पिटिका (शिशुओं और वयस्कों में)।

तंत्रिका त्वकशोथ. जिन कारणों से छाजन होता है (जैसे तंत्रिका तंत्र के विकार, अंतःस्रावी ग्रन्थियों और आंतरिक अंगों के विकार) वही कारण तंत्रिका त्वक शोथ के मूल में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनमें अधिक प्रचलित रूप हैं—परिगत तंत्रिका त्वक शोथ। गर्दन के पिछले भाग में, कफोणि और जानुपृष्ठ खातों में अधिक खुजली होती है तथा अन्य भागों में कम होती है और फिर चपटी लाल रंग की

पिटिका दिखने लगती है जिसके संलयन से त्वचा मोटी हो जाती है और धब्बे बन जाते हैं तथा प्रतिरूप का अतिशयन हो जाता है (शैवाकीभवन)। इसे खुजाने से निस्त्वचन होकर पपड़ी बन जाती है (चित्र 73)।



चित्र 73. स्थानिक तंत्रिका-त्वकशोथ।

विसरित त्वकशोथ त्वचा की पूरी सतह पर दीर्घकालिक खुजली होने से होता है। त्वचा सूख जाती है, वर्णकमय और मोटी हो जाती है, तथा उस पर खून भरी पपड़ी जम जाती है। तंत्रिका त्वक शोथ बहुत ही अधिक समय तक चलता है।

उपचार. अनुषंगी रोगों का उपचार किया जाता है। तंत्रिका तंत्र के उपचार पर विशेष ध्यान दिया जाता है (निद्रा चिकित्सा, सम्मोहन, ब्रोमाइड योग, प्रोकेनहाइड्रोक्लोराइड), कार्टिकोस्टेरायड, मलहम के रूप में लगाने को दिया जाता है। स्वास्थ्य स्थलों पर उपचार लेने की सलाह दी जाती है। बाह्य चिकित्सा के रूप में लेप और मलहम लगाते हैं, जिसमें टार (2–10 प्रतिशत), 10–20 प्रतिशत ACD योग (यह पशुओं की ऊतकों का उत्पाद है जिसका प्रभाव टार की तरह होता है), पैराफिन का प्रयोग, निस्रावी रोगी भाग में एक्सरे चिकित्सा शामिल है।

त्वचा का कण्डू रोग. स्थाई खुजली होना ही इस रोग का एक मात्र लक्षण है। यह स्थानिक (अधिकतर गुदा भाग में तथा बाह्य जननेन्द्रियों में) हो सकता है या विसरित भी, जिसमें संपूर्ण त्वचा प्रभावित होती है।

यह रोग तीव्र तंत्रिका-तनाव, दीर्घकालिक आवेश, चिरकारी विषालुता (कृमिरुग्णता), चचयापचयी विकार (जराजन्य कण्डू रोग) के कारण होता है।

उपचार. खुजली होने के कारण का उन्मूलन करते हैं। औषधि के रूप में खाने को प्रतिहिस्टामिन, मेन्थाल वाले अल्कोहली घोल, संज्ञाहरक, कारबोलिक एसिड या डाइफिनाइलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड औषधि के रूप में निर्देशित किये जाते हैं।

शीतपित्ती. एक एलर्जी वाला रोग है, जिसमें ददौड़े पड़ जाते हैं और तेज खुजली होती है। यह रोग बहुत से आंतरिक या बाह्य कारकों से हो सकता है, जैसे: कुछ भोज्य पदार्थों (अंडे केंकड़े, स्ट्राबेरी इत्यादि), या कुछ औषधियों (पेन्सिलीन, सीरम, क्विनाइन इत्यादि), जठर-अंत्र विकार, गुर्दे और जिगर के रोग, कृमिरुग्णता, मच्छरों, खटमलों तथा मक्खियों और पिस्सू के काटने से, प्रिमरोज या बिच्छू बूटी के सीधे संपर्क में आने से, गर्म या ठंडे तापक्रम के प्रभाव से। या कभी तीव्र मनोतंत्रिका दबाव पड़ने से भी शीतपित्ती हो सकती है। शीतपित्ती के ददौड़े लाल, बैंगनी या सफेद हो सकते हैं (चित्र 74) और इनमें खुजली और जलन महसूस होती है। तीव्र (कई दिनों तक रहने वाली) और चिरकारी (महीनों और सालों तक रहने वाली) शीतपित्ती में भेद है।

उपचार. तीव्र शीतपित्ती का उपचार विरेचक, अल्पसुग्राही कारक और प्रतिहिस्टामिन औषधियों से किया जाता है। चिरकारी छाजन के कारण को यदि पहचाना जा सके तो इसे दूर करना चाहिए। स्थल उपचार के लिए प्रतिकण्डू औषधियों का प्रयोग किया जाता है।



चित्र 74. पित्ती. यांत्रिक क्षोभ के स्थान पर होने वाला विस्फोट।

शिशुकण्डू पिटिका (स्ट्रोफुलुस). यह शिशु के जीवन के पहले या दूसरे वर्ष में होता है। इसका कारण पाचन क्रिया का विकार है जो कि रुग्णता या अति दुग्ध पोषण से होता है। इसके अन्य कारण हो सकते हैं, जैसे रोगी को मिठाई, अण्डे और कभी-कभी गाय का दूध माफिक न हो या पिस्सू, खटमल और मच्छरों के काटने के प्रति शिशु अति संवेदनशील हो। त्वचा पर ददौड़े पड़ जाते हैं जिनके बीच में बाजरे के आकार की गहरी और बहुत खुजली करने वाली पिटिका होती है। कभी-कभी पिटिका के ऊपर पुटिका (जलस्फोट) बन जाती है। थोड़ी देर में ददौड़ा लुप्त हो जाता है पर पिटिका दो-तीन सप्ताह तक बनी रहती है। तेज खुजली से बच्चे को नींद में विघ्न पड़ता है और वे चिड़चिड़े हो जाते हैं। फिर पूयत्वक रोग हो जाता है।

उपचार. अल्पसुग्राही कारक और प्रतिहिस्टामिन औषधियाँ दी जाती हैं तथा रोग

के कारण को दूर किया जाता है। बाह्य चिकित्सा में प्रतिकण्डू अल्कोहली घोल तथा कार्टिकोस्टेरायड क्रीम और मलहम दिये जाते हैं।

वयस्कों की कण्डू पिटिका. यह रोग स्ट्रोफुलुस की तरह बाल्यकाल में होता है लेकिन बच्चे के तीसरे और चौथे वर्ष की आयु में यह वयस्कों के कण्डूपिटिका का रूप धारण कर लेता है। इनमें से बहुतों पर खून भरी पपड़ी पड़ जाती है। पिटिकाओं में वहुत तेज खुजली होती है और रोगी इन्हें तब तक खरोंचता रहता है, जब तक कि इनमें से खून न निकलने लगे। इसके फलस्वरूप रक्तभरी पपड़ी और व्रणचिन्ह पड़ जाते हैं। त्वचा पर वर्णक हो जाते हैं, तथा शैवाकीभवन होता है तथा लसीका पर्व बड़ी हो जाती है।

कण्डू पिटिका रोग विशेषकर ऐसे परिवार के बच्चों को होता है जिनके रहने-सहने का स्तर निम्न श्रेणी का है और जो खराब स्वास्थ्य स्थितियों में रहते हैं। यह अधिकतर यौवनारंभ के समय होता है। यह रोग सोवियत संघ में बहुत कम है।

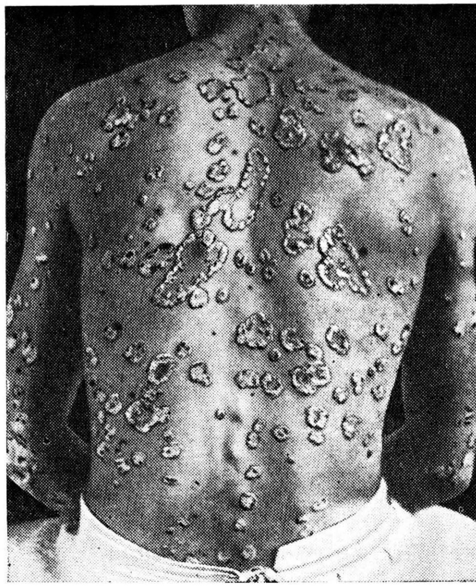
उपचार. उचित विधान संस्थापित किया जाता है, निद्रा को सामान्य किया जाता है तथा खुली हवा में अधिकतर समय बिताया जाता है। भोजन में दूध, सब्जी और पर्याप्त मात्रा में फल और विटामिन होने चाहिए। सामान्य स्वास्थ्यवर्धक पदार्थ (लोहा, फासफोरस) दिये जाते हैं तथा प्रतिकण्डू पिटिका योग स्थानिक रूप से प्रयुक्त होते हैं।

सोरियासिस

सोरियासिस एक ऐसा फैला हुआ रोग है, जिसकी हेतुकी का अभी तक पता नहीं है। इसके मूल के बारे में कई मत हैं: तंत्रिका, वाइरस, अंतःस्रावी संक्रामक एलर्जी संबंधी दूसरे।

सोरियासिस में फोड़े-फुन्सी एकरूपीय होते हैं। पिटिकाएँ बैंगनी और गोल रेखाओं में और चपटी होती है। इनका आकार भिन्न-भिन्न होता है। इन पर चाँदी की तरह सफेद शल्क होते हैं, जिनमें परिसरीय वृद्धि होती है और इनमें संलयन होने की प्रवृत्ति होती है। जब शल्क को उखाड़ा जाता है तो पिटिका की सतह स्टीरिन धब्बे सी होती है। बहुत सी शल्कों को उखाड़ने से पता लगता है कि शल्कों के नीचे सोरियाटिक झिल्ली है। जब इस झिल्ली को हटाया जाता है तो ओस की बूंदों की तरह का खून पिटिका की लाल सतह पर मिलता है। यह सोरियाटिक पिटिका का निश्चित लक्षण है। पिटिकाएँ संलयित होकर सोरियाटिक पैच बनाती हैं, जो कि चांदी-से रंगवाले शल्क से ढके होते हैं (चित्र 75) सोरियाटिक फोड़े-फुंसी त्वचा की किसी भी सतह पर हो सकते हैं, पर यह विशेषकर शिरोवल्क और अंगों की प्रसारित सतह पर होते हैं। इसमें जोड़ और नाखून भी रोगी हो सकते हैं। सोरियासिस की निम्न अवस्थाएँ अलग-अलग हैं: प्रगामी अवस्था (बहुत छोटी नई पिटिकाएँ जिनके चारों ओर लाल गोल बन जाता है और जिसमें बहुधा बहुत खुजली होती है), अचल अवस्था (जिसमें

और नई फुन्सियाँ नहीं होती हैं और न ही खुजली होती है) प्रतिक्रमी अवस्था (पिटिकाएँ पुनः शोषित हो जाती हैं)। सोरियासिस रोग दसियों वर्ष तक बना रह सकता है।



चित्र 75. सोरियासिस

उपचार. सामान्य और बाह्य उपचार रोगी की हालत पर निर्भर करता है। प्रगामी अवस्था में उपचार बहुत सतर्कता से करना चाहिए। इसमें अल्प सुग्राही कारक पदार्थ (कैल्शियम योग, विटामिन बी$_{12}$ और बी$_{1}$, सोडियम हाइपोसल्फाइट इत्यादि) दिये जाते हैं और विभिन्न प्रकार के स्थल उपचार किये जाते हैं। तीव्र दशा में (सामान्य प्रक्रियाओं, सन्धिविकृत, त्वग लालिमा में) कार्टिकोस्टेरायड मेथोट्रेक्सेस और दूसरे साइटोस्टैटिक पदार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं। लिपायड चयापचयी विकारों में 0.25-0.5 ग्रा० मेथियोनाइन दिन में तीन बार या चार बार दी जाती है। 0.3 विटामिन बी$_{15}$ और 0.025-0.05 ग्रा० विटामिन बी$_{13}$ दिन में तीन बार दिये जाते हैं। गलतुंडिका उच्छेदन या क्वार्ट्ज-दयूब चिकित्सा की जाती है। शिशुओं को गामा ग्लाब्युलिन के इंजेक्शन लगाये जाते हैं।

अचल और प्रविक्रामी अवस्था में एमिनोटटेरिन और 6-मेरकाप्टोप्युरिन 0.05 ग्रा० की टिकिया (कायचिकित्सक के नियंत्रण में) दी जाती हैं। स्वरक्त चिकित्सा, आर्सेनिक योग (एशियाटिकी गोलियां, फाउलर घोल) और पाइरोजेनल तथा प्रोडीजियोसिन के इंजेक्शन दिये जाते हैं। बाह्य उपचार में सैलसिलिक मलहम (2 प्रतिशत) और, इच्छथेमाल और नैप्थालैनिक पेट्रोलैटम वाले मलहम का प्रयोग किया जाता है। रयाकोव मलहम, सोरियासीन का प्रयोग, किया जाता है। कार्टिकोस्टेरायड मलहम (सिनालार, अल्ट्रालान, फ्लोत्सिनार तथा अन्य) का भी प्रयोग किया जाता है।

समतलशैवाक

यह एक चिरकारी त्वक रोग है जिसे शोथ रहित पिटिकाओं तथा खुजली द्वारा जाना जाता है। बहुत से वैज्ञानिक तंत्रिका तंत्र विक्षोभित क्रिया को ही इसका मूल कारण मानते हैं।



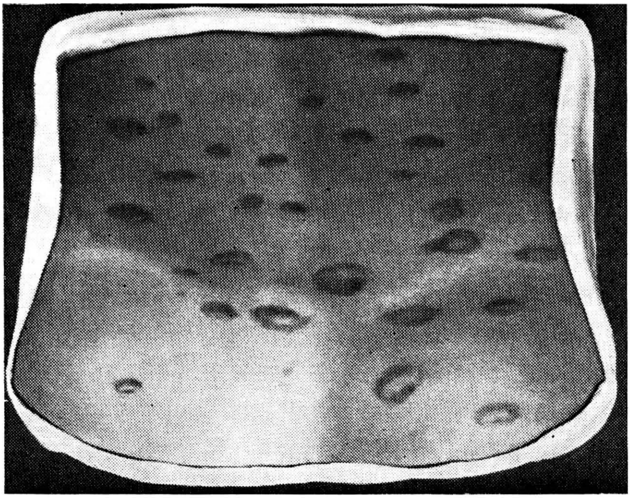
चित्र 76. र्यूवर प्लानस शैवाक।

इसके फोड़े-फुन्सियों में बहुकोणीय पिटिकाएँ होती हैं जिनका आकार बाजरे के दाने से लेकर मसूर के दाने के बराबर होता है। इनका रंग बैंगनी लाल से लेकर बैंगनी होता है बहुत सी पिटिकाओं का केन्द्रीय नाभिवन होता है (चित्र 76)। पार्श्व प्रकाश में पिटिकाओं की चमक मोम जैसी होती है। फोड़े-फुन्सियों के साथ तीव्र खुजली होती है। इनकी अनुकूल स्थिति होती हैं: कलाइयों की आकोचनी सतह, कफोणिघादत, कक्षा, जानु पृष्ठघात और रोग के अनुभाग में। पिटिकाएँ संलयित हो जाती हैं और धब्बे बन जाते हैं। फुन्सियाँ अधिकतर मुंह की श्लेष्मलकला में (सफेद पिटिकाएँ छोटे जाल के रूप में व्यवस्थित होती हैं) और जननेंद्रियों पर होती हैं।

उपचार. निकोटिनिक एसिड (मुँह से या इंजेक्शन द्वारा अंतरशिरा में), प्रोकेन (अंतरपेशीय इंजेक्शन), विटामिन बी$_1$ (6 प्रतिशत घोल) ब्रोमाइड योग, डाइफिनायलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड, डायजोलीन, ट्रायआक्वाजीन, डायजेपाम तीव्रकाल में दिये जाते हैं। पेन्सिलीन (200 000 इ० दिन में दो बार) या विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवी (टेट्रासाइक्लीन, आक्सी टेट्रासाइक्लीन एराइथ्रोमाइसीन, ओलेटेट्रीन, मेटासाइक्लीन 100 000–200 000 इकाई दिन में तीन या चार बार) द्वारा 10 से 14 दिन का उपचार किया जाता है। निद्रापक चिकित्सा और परोक्ष सुझाव का भी अच्छा प्रभाव होता है। बाह्य रूप में मलहम (कार्टिकोस्टेरायड) का लेप, 5–10 प्रपिशत एनास्थेसिन का घोल, 1–2 प्रतिशत मेन्थाल या कारबोलिक एसिड लगाये जाते हैं। अचल अवस्था में आरसेनिक, लौह, विटानिम ए सान्द्र, विटामिन बी काम्प्लेक्स, एसकार्बिक एसिड और माइडाकाम के औषधि निर्देश दिये जाते हैं। अंत:संचरित धब्बों का उपचार एक्सरे से किया जाता है। रोग के दीर्घकालिक होने पर उपचार स्वास्थ्यप्रद स्थानों (सोवियत संघ में सोची-मात्सेस्ता और प्यातीगोर्स्क) में आवास के साथ लेने की सलाह दी जाती है।

गुलाबी तुषाभ शल्कन

गुलाबी तुषाभ शल्कन एक ऐसा रोग है, जिसकी हेतुकी का पता नहीं है। इसमें गुलाबी शल्क, धब्बों वाले फोड़े-फुन्सी होती हैं। वक्ष, पीठ और पेट की पार्श्व और पश्च सतहों पर अंडाकार गुलाबी और लाल प्रतिरूप विभिन्न आकारों के बन जाते



चित्र 77. गुलाबी तुषाभ शल्कन।

हैं। यह गर्दन, बाहों और त्वचा की समानान्तर रेखाओं में कम होता है (चित्र 77)। सबसे पहले बनने वाले बड़े चकत्तों को प्राथमिक चकत्ता या अग्रसूचक धब्बा कहते हैं। चकत्तों के बीच का भाग पीला पड़ जाता है तथा छोटे शल्कों से ढक जाता है और यह सलवटों वाले टिशू पेपर की तरह हो जाता है। रोगी खुजली की शिकायत करता है। दो से चार सप्ताह के बीच ये चकत्ते फीके पड़ जाते हैं और कण्डू रोग शांत हो जाता है। रोग शुरू होने के दो से आठ सप्ताह के बाद रोगी ठीक हो जाता है। गुलाबी तुषाभ शल्कन हेमंत और वसंत ऋतुओं में होता है।

उपचार. रोगी भागों को साबुन और पानी से धोने की अनुमति नहीं दी जाती है। विभिन्न प्रकार के शेक लोशन और लेपों का प्रयोग किया जाता है। कैल्शियम पैन्टोथिनेट की 0.5 ग्रा० की खुराक दिन में तीन बार ली जाती है।

छालेदार और जलस्फोटी त्वक रोग

अधिक प्रचलित छालेदार त्वकरोगों में हरपेक्स सिम्प्लेक्स, हर्पीस जोस्टर, हर्पेटी-फौर्मस (हर्पीसम) त्वकशोथ (ड्यूरिंग रोग) और पेम्फीगस शामिल हैं।

हर्पीस सिम्प्लेक्स. यह रोग निस्यन्दी विषाणुओं से होता है जो गुप्त रूप से शरीर में मौजूद रहते हैं। सर्दी-जुकाम, विषालुता और जठर-आंत्र विकारों से विषाणुओं की सक्रियता बढ़ जाती है।

फुन्सियाँ अधिकतर होठों, नथुनों के सिरे, मुँह और जननेन्द्रियों पर होती हैं। बाजरे के आकार वाली पुटिकाओं का समूह सामान्य या अतिरक्तित और शोथीय त्वचा पर या श्लेष्मल कला पर बनता है। पुटिकाओं में स्वच्छ तरल भर जाता है और इसमें खुजली और जलन होने लगती है। थोड़े दिनों में ये फट जाती हैं, और इनके स्थान को महीन पपड़ी ढक लेती है। चिरकारी और बार-बार होने वाली प्रत्यावर्ती हर्पीस सिम्प्लेक्स, जो बहुधा ओठों और जननांगों पर होते हैं, रोगी को विशेष रूप से बहुत कष्ट देते हैं।

उपचार. हर्पीस सिम्प्लेक्स के विकार स्थान पर अनीलीन रंजक का लेप करते हैं तथा बोरिक एसिड (3 प्रतिशत) और टार (2 प्रतिशत) वाला मलहम और कैस्टेलानी पेन्ट लगाते हैं। चिरकारी और प्रत्यावर्ती हर्पीस में कभी-कभी चेचक के तीन या चार वैक्सीन (टीके) देने से भी असर होता है। वैक्सीनेशन की प्रक्रिया स्वीकारारात्मक होने पर प्रभाव अधिक होता है। एक दिन छोड़कर गामाग्लोब्यूलिन और स्टैफाइलोकोकल वैक्सीन के इंजेक्शन (अंतरात्वचीय 0.2–0.3–0.5–1.0 मि० ली० एक दिन बीच दे कर) दिये जाते हैं। डी० डी० एस० योग 0.005–0.01 ग्रा० की खुराक में दिन में दो बार दिये जाते हैं। बाह्य उपचार में इंटरफेरोन को लोशन या पेस्ट के रूप में (इंटरफेरोन और पोषक क्रीम बराबर मात्रा में) लगाया जाता है और स्थानिक स्नान में 0.25 प्रतिशत पोटैशियम परमैंगनेट घोल डाला जाता है।

हर्पीस जोस्टर. तंत्रिका प्रेरित निस्यन्दी विषाणुओं से होता है। हर्पीस जोस्टर पुटिकाएँ एक या दूसरी तंत्रिका पर व्यवस्थित होती हैं। ये गुच्छों के रूप में या अपूर्ण मेखला जैसी होती है और इसीलिये इसे यह नाम दिया गया है (ग्रीक 'जोस्टर'- मेखला)। पुटिकाएँ और फफोले बहुधा सपूय या रक्तस्रावी रूप ले लेते हैं। इन में तीव्र पीड़ा होना एक सामान्य बात है। यह रोग भी अधिकतर वसन्त और शरद ऋतुओं में होता है।

उपचार. हर्पीस जोस्टर से पीड़ित व्यक्तियों को स्नान नहीं करने दिया जाता। स्वस्थ्य त्वचा के भागों को बोरिक एसिड से साफ किया जाता है। तीव्र विस्फोट होने पर विभिन्न प्रकार के छिड़कने वाले पाउडर लगाये जाते हैं। सोडियम सैलीसिलेट और प्रतिहिस्टामिन औषधियां खाने को दी जाती हैं। तंत्रिकार्ति पीड़ा के हरण के लिए अनाल्जिन और एमिडोपायरीन 0.25 ग्रा० की खुराक में दिन में तीन बार दिया जाता है। तीव्र लक्षणों के शांत होने पर पराबगनोकिरणन तथा स्वरक्त चिकित्सा की जाती है। विटामिन बी$_{12}$ (400–500 माइक्रोग्राम, एक दिन छोड़कर) और बिटामिन बी$_{1}$ (50 मिलिग्राम प्रतिदिन) दिया जाता है। कुल 20 इंजेक्शन लगते हैं। प्रतिजीवी चिकित्सा गैंगरीन (कोथ) और सामान्य रूप में दिये जाते हैं। बाह्य उपचार के रूप में अनीलीन रंजक, इंटरफेरोन घोल के लोशन और कैस्टेलानी लेप दिये जाते हैं।

हर्पीसम त्वकशोथ (ड्यूरिंग रोग). इस रोग की हेतुकी और रोगजनकता अज्ञात है। बहुत से वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस रोग के कारक अति सूक्ष्मविषाणु हैं। यह रोग अधिकतर वयस्कों को होता है। इसकी फुंसियां बहुरूपीय (चकत्ते, पिटिका, ददोड़े, पुटिकाएँ और कभी-कभी पूयस्फोटिका) तथा सममितीय होती हैं। तीव्र खुजली का अनुभव होता है। इसकी बहुधा पुनरावृत्ति होती है। इसकी विक्षति का दौर होता है। ये समूह में माला के रूप में और मुद्रिका के रूप में होते हैं। इनके वर्णक क्षेत्र में रह जाते हैं।

रोग लक्षण के चित्र से निदान में सहायता मिलती है। इसके विशेष लक्षण हैं, तीव्र कण्डू रोग, रक्त में इओसिन रोगी कोशिका की बहुलता और इसकी पुटिकाओं में 40 से 50 प्रतिशत तरल पदार्थ का होना। आयोडीन टेस्ट स्वीकारात्मक होते हैं (50 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड वाले मलहम को त्वचा पर लगाने से 24 घंटे में नई फुन्सियां बन जाती हैं। यही असर 5–10 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड घोल के पीने से होता है)। यह रोग दीर्घकालीन स्थाई होता है (पांच से दस वर्ष तक रहता है) और फिर चिरकारी रूप ले लेता है।

उपचार. बड़े ददौड़ों को निष्क्रमित कैंची से काट दिया जाता है। पस और पपड़ी को गाज टैम्पन से हटा कर इस पर टैल्कम पाउडर लगाते हैं। छोटी पुटिकाओं पर कैस्टलानी पेन्ट लगाया जाता है। मुँह से खिलाने वाली औषधि में डी० डी० एस० होता है, जिसे 0.005 ग्रा० की खुराकों में दो बार प्रतिदिन चार से आठ सप्ताह तक दिया जाता है। रेशोचिन 0.25 ग्रा० दिन में तीन बार दस दिन तक दी जाती है और फिर उपचार को पाँच दिन के अंतराल पर दोहराया जाता है। यह पूरा उपचार चार से छः सप्ताह तक चलता है। तीव्र दशा में स्टेरायड हार्मोन छोटी खुराकों में दिये जाते हैं। पूय स्फोटिकता में प्रतिजीवी चिकित्सा दी जाती है।

पेम्फीगस वल्गैरिस. यह एक तीव्र चिरकारी रोग है जो कार्टिकोस्टेरायड हार्मोन को प्रयोग में लाने से पूर्व एक जानलेवा रोग था (अब कार्टिकोस्टेरायड के प्रयोग से बहुत से रोगियों का जीवन बचा लिया जाता है)।

पेम्फीगस की हेतुकी का अभी तक पूरी तरह से पता नहीं चला है। तंत्रिका रोग-जनक, चयापचयी, विषाणुज तथा रोग की उत्पत्ति के अन्य तथ्यों को बताया गया है।

पेम्फीगस वल्गैरिस फफोलों में स्वच्छ नीबू के रंग वाला तरल होता है। ये फफोले सामान्य त्वचा और श्लेष्मलकला पर होते हैं। ये पहले मुँह, गलतोरणिका और नाक पर होते हैं और उसके बाद त्वचा पर। ये फफोले जल्दी ही पिलपिले हो जाते हैं और इनका द्रव्य पपड़ी के ऊपर आने लगता है या अधिकतर ये विदारित होकर फोड़े का रूप ले लेते हैं। यदि कोई उपचार न किया जाय तो फफोला बना रहता है और नये फफोले भी बन जाते हैं और रोगी के भोजन करते समय इसमें बहुत पीड़ा होती है। पैम्फीगस के रोगी से अरुचिकर फफुंदी जैसी गंध आती है। उनकी सामान्य हालत बहुत कमजोर होती है।

निकोल्स्की चिन्ह के स्वीकारात्मक होने का रोग के निदान में बहुत महत्व है। इसमें पुटिका के पास की त्वचा और दूर की त्वचा को आसानी से अलग किया जा सकता है। और फिर इनके आलेप की छाप से एकेन्थोलिटिक कोशिकाओं (बड़े के केन्द्रक वाली) को पहचाना जाता है।

उपचार. जिन फफोलों को निष्क्रमित सुई से विदारित या छेदा नहीं गया है उनके द्रव्य को निष्क्रमित गाज या रूई टैम्पन से निकाल दिया जाता है। पपड़ियों को हटाने के लिए सुर्यमुखी के तेल वाली पट्टी की जाती है। जेरोफोर्म, प्रेडनी सोलोन या 1 प्रतिशत हेलियोमाइसीन मलहम फुन्सियों पर लगाया जाता है।

कार्टिकोस्टेरायड हारमोन्स औषधीय प्रयोग सामान्य चिकित्सा की मुख्य विधि है। यह पहले बड़ी खुराकों में दिया जाता है (60–120 मि० ग्रा० प्रेडनीसोलोन, 6–10 मि० ग्रा० डेक्सामेथाजोन, 20–60 मि० ग्रा० ट्राइएमसिनोलोन)। पर बाद में स्टेरायड पदार्थ की मात्रा धीरे-धीरे घटाकर निम्नतम खुराक तक पहुँचाते हैं, जिससे फिर नई फुन्सियाँ नहीं बनतीं। लाक्षणिक चिकित्सा (हृदयक्रिया उद्दीपकों, निर्विषीकरण उपाय, विटामिन) का बहुत महत्व होता है। विशालुता से (त्वग लालिमा और विषालुत्वक रोगों में) छुटकारा पाने के लिए शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल का अंतरशिरा आधान किया जाता है। शुरू में प्रत्येक आधान 10 मि० ली० का किया जाता है। यदि धमनी चाप बढ़ा हुआ हो तो आधान नहीं किया जाता।

खुराक में प्रोटीन, सब्जियाँ और फल तथा विटामिन प्रचुर मात्रा में होने चाहिए।

त्वचा ग्रन्थियों के रोग

त्वक स्रावी एक ऐसी स्थिति है जिसमें त्वकवसीय ग्रन्थियों का स्राव घटा या बढ़ा होता है। इससे त्वकवसा की भौतिक और रासायनिक संरचना में परिवर्तन होता है। त्वक स्रावी बहुधा यौवनारंभ के समय होता है, क्योंकि इस समय अंतःस्रावी, विशेषकर लिंग ग्रन्थि की क्रिया में गड़बड़ी मचती है।

त्वक वसा स्रावी और **शुष्क त्वक स्राव** के अलग-अलग प्रकार होते हैं।

त्वक वसा स्रावी से त्वचा चिकनी लगती है और यह खुरदरी मोटी और छिद्र वाली होती है। शिरोवल्क, नाक मत्थे के बीच का भाग, गाल, चिबुक तथा पीठ और छाती के बीच के भाग त्वक वसा स्रावी क्षेत्र होते हैं। सूखे त्वक स्राव में केराटीकरण की क्रिया में गड़बड़ी होती है और भूसी सा शल्क (फेहास) होता है तथा साथ में सिर का कण्डू रोग हो जाता है। धूल और गंदगी बालों के लोमकूप छिद्रों में भर कर त्वक वसीय ग्रन्थियों के स्राव से मिलकर त्वक (काले बिन्दु) बनाते हैं। शिरोवल्क के त्वक स्राव से पुरुष गंजे हो जाते हैं और स्त्रियों के केश पतले हो जाते हैं।

उपचार. सही सामान्य विधान बनाना चाहिए और अनुषंगी रोगों का उपचार करना चाहिए। शुद्ध गंधक के योग (0.5 ग्रा० दिन में तीन बार चार सप्ताह तक) और लौह, विटामिन बी$_{12}$ तथा विटामिन ए लिए जाते हैं। बाह्य चिकित्सा के लिए अल्कोहलीय घोल, मलहम, जिनमें गंधक (3–5 प्रतिशत), रेसार्सिनाल (1–2 प्रतिशत), कपूर (2–5 प्रतिशत) और सैलीसिलिक एसिड (1–2 प्रतिशत), प्रयुक्त होते हैं।

ऐकनी वलगैरिस या सामान्य ऐकनी त्वक वसीय ग्रंथियों का सपूय शोथ है। यह रोग त्वक स्रावी से पीड़ित 14 से 22 वर्ष की अवस्था वाले लोगों को होता है। त्वकवसीय और बाल के लोम कूप त्वक वसा से बन्द हो जाते हैं, जिससे त्वचा की पेशियों का तान घट जाता है और इसके फलस्वरूप ग्रन्थियों का उत्सरण कम हो जाता है। धूल और गंदगी से त्वक कील बन जाती है, जबकि अनुषंगी स्टैफिलोकोकस संक्रमण से त्वकवसीय ग्रन्थियों और आस-पास के ऊतकों में शोथ हो जाता है। ऐकनी वल्गैरिस अधिकतर चेहरे, छाती और पीठ पर होता है। इसकी पूय स्फोटिकाएँ नुकीली होती हैं और ये मटर के दाने के बराबर हो सकती हैं। इनके नीले गुलाबी धब्बे पड़ जाते हैं। गहरी ऐकनी विक्षति का क्षत चिन्ह रह जाता है।

उपचार. इसका उपचार वही है जो कि त्वक वसा स्राव में दिया जाता है, पर पूयत्वक रोग को बढ़ने से रोकने के उपाय करने चाहिए। इनमें प्रतिरक्षा चिकित्सा, प्रतिजीवी, विटामिन, लिंगी हारमोन (साइनोएस्ट्राल, हेक्सेस्ट्राल, फौलीकुलाइन, इस्ट्रोन) सम्मिलित हैं।

त्वचा के दुर्दम गुल्म (अर्बुद)

त्वचा का कैंसर उपकला कोशिकाओं से होता है (दुदर्म उपकला अर्बुद) और वर्णक कोशिकाओं से (मेलानोमा) बहुत कम होता है।

दुर्दम उपकला अर्बुद त्वचा के पूर्व कैंसर के रूप में विकसित होता है (अर्थात त्वचा के केराटीकरण के परिगत विकारों से)। लगातार मशीनी क्षोभन, विकिरण, ऊर्जा के प्रभाव, एक्सरे इत्यादि कैन्सर होने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। त्वचा के आधारी कोशिका कार्सीनोमा और पट्टकी कोशिका कार्सीनोमा को अलग-अलग पहचाना जाता है।

आधारी कोशिका कार्सीनोमा एक या अधिक छोटी पीड़ा-रहित पिटिकाओं के रूप में प्रकट होता है तथा नाक, पलकों तथा मत्थे पर मोती सा बन जाता है। यह त्वचा के अन्य भागों में कम होता है। इन पिटिकाओं का धीरे-धीरे संलयन हो जाता है जैसे पालिश की हुई हो, यह पपड़ी से ढकी होती है। व्रण के चारों ओर पिटिकाओं का दृढ़ीभूत किनारा होता है (चित्र 78)। आधारी कोशिका कार्सीनोमा धीरे-धीरे बढ़ता है और यह अपेक्षातः सुदम होता है और इसमें बहुधा विक्षेप उत्पन्न नहीं होता है।



चित्र 78. बसाल कोशिका दुर्दम उपकला अर्बुद (आधार कोशिका दुर्दम उपकला अर्बुद)।

पट्टकी कोशिका कार्सीनोमा अधिकतर निचले होंठ, जननांगों और प्राकृतिक छिद्रों के स्थान पर होता है। यह बहुत तेजी से दुर्दम रूप ले बढ़ता है। श्लेष्मल कला पर होने वाली पिटिकाएँ या अधिमासी और अंकुरक वृद्धि कुछ ही महीनों में व्रण का रूप ले लेती हैं। व्रण की किनारी दृढ़ीभूत होती हैं और इसमें से रक्त रिसता है। व्रण तेजी से बढ़ता है और ऊतकों (नाक, होंठ, इत्यादि पर) के बड़े भाग को नष्ट कर देता है तथा इस क्रिया (विक्षेप) में पास की लसीका पर्व भी प्रभावित होता है। यदि मूलभूत उपचार न किया जाय तो रोगी की मृत्यु 12 से 18 महीनों में हो जाती है।

उपचार. आधारी कोशिका कार्सिनोमा को शल्य चिकित्सा से निकाल दिया जाता है या एक्सरे, विघटनाभिक आइसोटोप या गोरदीव घोल के अंत:संचरण से इसकी चिकित्सा की जाती है। छोटे दुर्दम उपकला अर्बुद को क्रोयो चिकित्सा या शल्यीय डायथर्मी से निकाल दिया जाता है। पट्टिका कोशिका का उपचार अर्बुद प्रकरण चिकित्सालयों में किया जाता हैं।

मैलेनिन कोशिका अर्बुद बहुधा ऐसे न्यच्छ से शुरू होता है, जो उद्दीप्त हो। वर्णक धब्बा बनना शुरू हो जाता है। रक्तस्राव होता है, व्रण बनता है और चारों ओर लाल गोला बन जाता है। आंतरिक अंगों का विक्षेप तेजी से बढ़ कर मृत्यु का कारण बन जाता है।

उपचार. मैलेनिन कोशिका अर्बुद का उपचार शल्य चिकित्सक और विघटनाभिक द्वारा अर्बुद प्रकरण चिकित्सालयों में किया जाता है।

समय से मैलेनिन कोशिका अर्बुद का निदान हो जाना आवश्यक है।

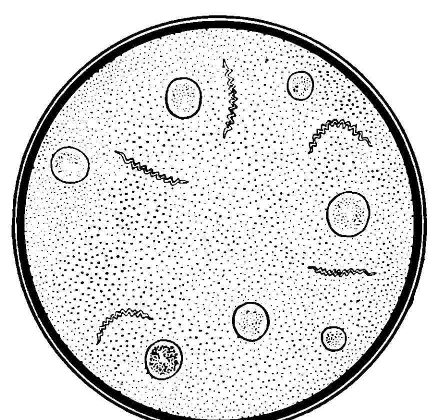
त्वचा के मैलेनिन रोगों की रोकथाम कैंसर से पूर्व की स्थितियों के सही और ठीक समय पर उपचार से की जाती है। सारी आबादी की पूरी डाक्टरी जाँच की जानी चाहिए तथा विस्तृत रूप से स्वास्थ्य शिक्षा दी जानी चाहिए।

रतिज रोग

रतिज रोग (रति–प्यार की देवी) अधिकतर लैंगिक संभोग से संचरित होते हैं। रोग के इस समूह में सिफिलिस, सूजाक, शैंकराभ, और विकार स्थिति का चौथा रतिज रोग सम्मिलित है। सोवियत संघ में अंतिम दो रोगों का सफाया किया जा चुका है।

सिफिलिस

सिफिलिस एक चिरकारी संक्रामक रोग है जो ट्रेपोनेमा पैलेडम (स्पाइरोखेट) से होता है। मनुष्य के शरीर के सभी अंग और ऊतक, त्वचा, श्लेष्मल कला, आंतरिक अंग, तंत्रिका तंत्र इस रोग की लपेट में आ जाते हैं। टी० पैलेडम की खोज 1905 में हुई थी। इसे यह नाम इसलिए दिया गया कि रंजक के साथ इसका निशान हल्का होता है (एल० पैलेडम फीका)। जीवित अवस्था में इसका अध्ययन बहुधा सूक्ष्मदर्शी की काली पृष्ठभूमि में किया जाता है। सिफिलिस स्पाइरोखेट एक कोमल तन्तु है जिसमें 8 से 14 समरूप कुंडलियाँ होती हैं (चित्र 79)। मनुष्य शरीर से बाहर होने पर यह सूक्ष्मजीवी सूखने से 60° सें० की गर्मी विसंक्रामकों और साबुन से जल्दी मर जाता है, पर आर्द्र वातावरण में और निम्न ताप पर यह प्रतिरोधी होता है। जमा किये हुए रक्त में यह तीन से पाँच दिन तक जीवन क्षम होता है इसलिए रक्त दान करने वालों की सिफिलिस के लिए ध्यानपूर्वक जाँच करना आवश्यक है।



चित्र 79. अंधक्षेत्र सूक्ष्मजीवी में दिखाई देने वाला ट्रेपोनेमा पैलेडम।

यह साबित हो चुका है कि शरीर में टी० पैलेडम का रूप कुंडलीकार होने

की अपेक्षा गोलीय भी हो सकता है। सूक्ष्मजीवी के जीवित रहने की प्रतिकूल परिस्थितियों में यह रूपान्तरण होता है। अभिघात टी० पैलेडम के कुंडलीय रूप में रूपान्तरण के लिए सहायक है, जिसका प्रकोप सिफिलिस के संक्रमण के रोग लक्षण होते हैं। शारीरिक, मानसिक और चिकित्सकीय अभिघात के अलावा तीव्र गंभीर रोग, चिरकारी संक्रमण और विषालुता से उत्क्रमण में आसानी होती है।

सिफिलिस के संक्रमण के पथ स्वस्थ्य मनुष्य के संक्रमण का मूल कारण वह रोगी व्यक्ति है जिसमें रोग के सक्रिय संसर्गन की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। चोट लगी हुई त्वचा या श्लेष्मल कला के ऐसे पदार्थों के संपर्क में आने से सिफिलिस हो सकती है, जिनमें टी० पैलेडम सूक्ष्मजीवी हों। अक्षत त्वचा या श्लेष्मल कला में ये सूक्ष्मजीवी प्रवेश नहीं कर सकते हैं, पर इनमें तनिक टूट (चोट होने) के द्वारा ये शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

सिफिलिस का संक्रमण विशेषकर लैंगिक संभोग से, चुंबन से या सिफिलिस वाले रोगी के शिशु को स्तनपान कराने से होता है। रोगी व्यक्ति द्वारा त्यागे गये संसर्गन पदार्थों से संदूषित वस्तुओं के द्वारा यह संक्रमण कम होता है: जैसे सार्वजनिक प्रयोग के लिए चम्मच, छुरी-काँटे, बिना धुले प्याले, रोगी व्यक्ति से सिगरेट की साझेदारी, इत्यादि। यदि चिकित्सा कर्मी संक्रमित और विसंक्रमण-रहित उपकरणों (दंतचिकित्सा उपकरण, योनिवीक्षक, इत्यादि) का इस्तेमाल करते हैं तो अन्य रोगियों को यह रतिज रोग हो सकता है। यदि डाक्टरी जाँच के दौरान सभी सावधानियाँ न बरती जायें तो एक रोगी से दूसरे रोगी को सिफिलिस का संक्रमण हो सकता है। ऐसी घटनाएँ प्रसूति सहायकों, स्त्री रोग विशेषज्ञों, मुखरोग विज्ञानियों, रतिजरोग विशेषज्ञों और टी० पैलेडम इत्यादि वाले पदार्थों का परीक्षण करने वाले प्रयोगशाला कर्मियों के मामले में होती हैं। ऐसे संक्रमण से बचने के लिए अपने हाथों का ध्यान रखना चाहिए और त्वचा चोट रहित होनी चाहिए तथा हाथों में 1 : 1000 करोसिब सब्लीमेंट का घोल मलना चाहिए। रोगी का परीक्षण करने के बाद हाथों को साबुन से धो लेना चाहिए (सिफिलिस के संसर्गी अवस्था वाले रोगी के परीक्षण के बाद यह अत्यन्त आवश्यक है)। सिफिलिस से पीड़ित रोगी के रक्तदान का सीधा आधान करने से सिफिलिस के संक्रमण की घटनाएँ बहुत काम होती हैं।

सिफिलिस की सामान्य प्रक्रिया

पशुओं पर प्रयोग करने से यह निश्चित हो गया है कि टी० पैलीडम संक्रमण के प्रथम कुछ मिनटों और घंटों में ही इनका जनन सक्रिय रूप से होने लगता है और ये ऊतकों की गहराइयों में तथा साथ ही लसीका पर्वों में प्रवेश कर जाते हैं और फिर लसीका तथा रक्त के द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों और ऊतकों में आ जाते हैं। रोग के प्रथम लक्षण की अभिव्यक्ति तीन से चार सप्ताह में होती है। संक्रमण और

प्रथम लक्षण दिखने के अंतराल को उष्मायन काल कहते हैं। इस समय शरीर में रोग प्रतिरक्षा का पुनर्गठन होता है। अंतरालों के परिवर्तन से सिफिलिस की सामान्य प्रक्रिया लक्षित होती है : सक्रिय अभिव्यक्ति के बाद रोग का गुप्त काल होता है। रोग के सक्रिय काल प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक अवस्थाओं में होते हैं। यदि उपचार न किया जाय तो ये एक के बाद एक अवस्थाएँ आने लगती हैं। इनके अतिरिक्त सिफिलिस की देर वाली अवस्था में तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की सिफिलिस हो जाती है। रोग का एक दीर्घ स्थाई लक्षण-रहित काल होता है, जिसमें संक्रमण के बाद सिफिलिस के कोई बाह्य लक्षण नहीं होते और कई वर्षों के बाद तंत्रिका तंत्र या आंतरिक अंगों की सिफिलिस का रक्त की सीरमी प्रक्रिया से पता लगता है। यह संभव है कि उन लोगों में सिफिलिस बिना लक्षणों के हो, जिनके शरीर में टी० पैलेडम सिस्ट या एल-रूप में हो।

सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था

सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था के विशिष्ट लक्षण हैं—**कठोर शैंकर**, क्षेत्रीय श्वेत पटल त्वक और कभी-कभी लसीका शोथ।

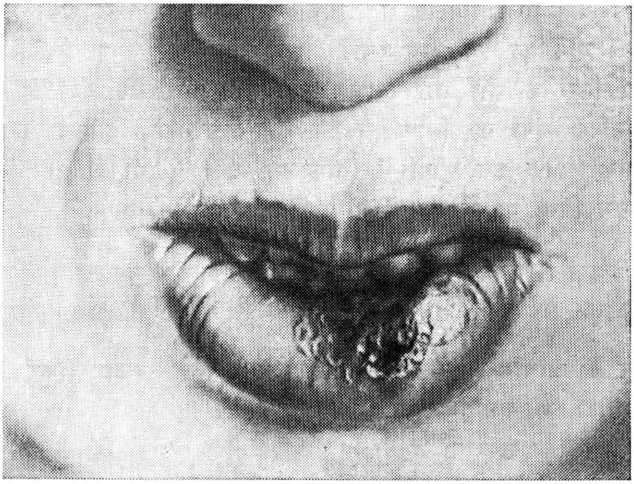
उष्मायन काल के उपरान्त बहुधा तीन या चार सप्ताह में कठोर शैंकर विकसित होता है और यह उस स्थान पर होता है, जहाँ से टी० पैलेडम ने शरीर में प्रवेश किया है। कठोर शैंकर बहुधा जनाना जननांगों की त्वचा और श्लेष्मल कला पर होते हैं तथा जंघाओं, जघनास्थियों और पेट में बहुत कम होते हैं। जननांगेतर कठोर शैंकर होठों, जिह्वा, टौंसिल, पलकों और उंगलियों इत्यादि में हो सकते हैं।



चित्र 80. प्राथमिक सिफिलिसी व्रण।

कठोर शैंकर का रोग लक्षण चित्र बड़ा विलक्षण होता है। यह एक निर्धारित सीमा वाली फुंसी होती है, जो ठीक गोलाकार या अंडाकार या छोटी तश्तरी जैसी शक्ल की होती है तथा इसका आकार छोटी उंगली के नाखून के बराबर तक हो

सकता है। इसका रंग लाल मांस या दूषित गोवसा जैसा होता है। यह फुंसी अपने परिसर में कुछ ऊपर उठी होती है और धीरे-धीरे फर्श की ओर ढाल लिए होती है (तश्तरी के आकार में)। अपर्याप्त सीरमी स्राव होने से शैंकर चमकीला वार्निस किया जैसा हो जाता है (चित्र 80 और 81)। फुन्सी की जड़ में गाढ़े लोचदार सघनता वाले



चित्र 81. निचले होंठ का कठोर शैंकर

परिस्पर्शन अंतःसंचरण का होना कठोर शैंकर का विशेष लक्षण है (इसीलिए इनका नाम कठोर शैंकर और प्राथमिक काठिन्य है)। व्रण युक्त कठोर शैंकर बहुत कम होता है। इसके किनारे थोड़े उठे हुए होते हैं और अंतःसंचरण अधिक स्पष्ट होता है। व्रण युक्त कठोर शैंकर के ठीक हो जाने पर व्रण चिन्ह पड़ जाता है (जब कि अपरद शैंकर के ठीक हो जाने पर कोई चिन्ह नहीं रहता)। अंधक्षेत्र परीक्षा से कठोर शैंकर के स्राव में टी० पैलीडम जीवाणु आसानी से दिखाई देते हैं।

अरूपी कठोर शैंकर (एमाइग्डेलाइटिस शैंकर, दृढ़ताभूत शोथ और बिसहरी शैंकर) का रोग बहुत कम पाया जाता है। जब पूयजन्य संक्रमण में कठोर शैंकर होता है तो लाली बहुत होती है तथा शोथ हो जाता है। इसका स्रवण प्रचुर और सपूय होता है और यह मुलायम लगता है। फाइमोसिस (जब शिश्न मुंड के ऊपर की त्वचा शोथ और सूजन के कारण सरलता से शिश्न से हटाई नहीं जा सकती) हो जाने से कठोर शैंकर और जटिल हो जाता है। पैराफाइमोसिस (शिश्नमुंड की त्वचा की सलवट पर अवरोधन से) तथा आसपास के ऊतकों में कोथ (गैंग्रीन) होने से भी कठोर शैंकर जटिल रोग बन जाता है।

कठोर शैंकर के शुरू होने के बाद सात से दस दिन में **श्वेत पटल डेनाइटिस या** गिल्टी बन जाती है। कठोर शैंकर के सबसे निकट का लसीका पर्व (अधिकतर वंक्षण पर्व) मटर या पिंघल के आकार का हो जाता है और गाढ़ी लोचदार सघनता से युक्त हो जाता है। ये पड़ोस के ऊतकों और त्वचा से लगे नहीं रहते हैं तथा पीड़ा-रहित होते हैं। इसके ऊपर की त्वचा सामान्य होती है।

सिफिलिसी लसीका वाहिनी शोथ (लसीका वाहकों का शोथ), जो सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था का तीसरा लक्षण है, बहुत कम होता है। लसीका वाहिका (जो कि बहुधा शिश्न के पृष्ठ पर होती हैं) कठोर, पीड़ा-रहित डोरी की तरह परस्पर्शित होती है।

सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था के दो चरण होते है: 1) **प्राथमिक ऋण सीरमी सिफिलिस**—कठोर शैंकर बनने से ले कर रक्त में धनात्मक सीरमी प्रतिक्रिया (वासरमान और अवसादी परीक्षणों में) प्राप्त होने तक का अंतराल और; 2) **प्राथमिक धन सीरमी सिफिलिस**—धनात्मक सीरमी प्रतिक्रिया प्राप्त हौनै के क्षण से ले कर प्राथमिक सिफिलिस की अभिव्यक्ति के लोप हो जाने (जैसा की अक्सर होता है) और सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था शुरू होने तक का अंतराल। यदि प्राथमिक अवस्था के लक्षण लुप्त हो जाते हैं और द्वितीयक अवस्था के लक्षण अव्यक्त रहते हैं (ऐसा विशेषत: खास इलाज के कारण होता है), तो **प्राथमिक अव्यक्त सिफिलिस** रोग होता है। द्वितीयक अवस्था की विक्षतियाँ कठोर शैंकर होने के पाँच से सात सप्ताह में, या संक्रमण शुरू होने के क्षण से आठ या दस सप्ताहों के बाद, प्रकट होती हैं। कुछ रोगियों में इसके पूर्व कमजोरी, अस्वस्थता, सिरदर्द, हड्डियों और जोड़ों में दर्द, आदि हो जाता है।

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था

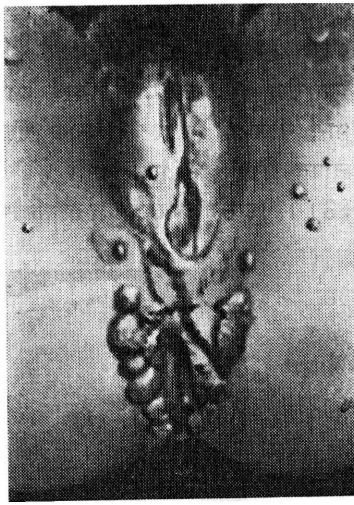
सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था में त्वचा और श्लेष्मल कला पर बहुरूपी आकृतिक विक्षति वाली फुन्सियाँ हो जाती हैं। सिफिलिस को द्वितीयक अवस्था के दो भागों में बाँटा जाता है: **द्वितीयक अभिनव सिफिलिस**, जिसमें फुन्सियाँ पहली बार होती हैं; और **पुनरावर्ती द्वितीयक सिफिलिस**, जिसमें फुन्सियां बार-बार कुछ समय के पश्चात होती रहती हैं। यदि उपचार न किया जाय तो सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था की पुनरावृत्ति दो से चार वर्ष में कई बार होती है। फुन्सियों के द्वारा होने से पहले **द्वितीयक गुप्त (अव्यवत) सिफिलिस** का निदान किया जाता है। द्वितीयक काल में विक्षति का होना, इसका लुप्त होना, इनकी संख्या और इनके आकृतिक गुण टी० पैलीडम की सक्रियता की अवधि और रोगी के शरीर की प्रतिरोग क्षमता से संबधित होते हैं। द्वितीयक अवस्था (**द्वितीयक सिफिलाइड**) की फुन्सियों की आम बातें निम्नलिखित हैं: ये एक क्षेत्र पर स्थानिक होती हैं, इनकी बहिर्रेखाओं की गोल

ग्रौर साफ निश्चित सीमा होती है, इनकी फुंसियों में गल कर जुड़ने की प्रवृत्ति नहीं होती, ये गुलाबी-लाल रंग की तथा नीली वर्ण ग्राभा वाली होती हैं, स्वप्रत्यय विकार नहीं होते ग्रौर विक्षति सुदम्य स्वभाव की होती है (ये ग्रपना कोई चिन्ह छोड़े बिना लप्त हो जाती हैं)। द्वितीयक सिफिलिस में (रसोली) रक्तधर चकत्ते, पिटिका ग्रौर कभी-कभी पूय स्फोटिका होती हैं। द्वितीयक ग्रभिनव सिफिलिस में सिफिलाइड छोटी-छोटी तथा प्रचुर मात्रा में होते हैं तथा सममितीय रूप से व्यवस्थित होते हैं। पुनरावृत्तिक द्वितीयक सिफिलिस में सिफिलाइड इससे बड़े, संख्या में कम होते हैं ग्रौर बहुधा सममितीय रूप से व्यवस्थित नहीं होते हैं ग्रौर इनकी प्रवृत्ति एक समूह बनाने की होती है (विभिन्न प्रकार की ग्राकृतियों, माला या चाप के रूप में)। द्वितीयक सिफिलिस में वासरमान ग्रौर ग्रवक्षेपन जाँच सदैव ही सुस्पष्ट, धनात्मक (4 + ग्रौर 3 +) होती है।

सिफिलिस की द्वितीयक ग्रवस्था सबसे ज्यादा होने वाली ग्राकृतिक विक्षति **रोजेला या चित्तिक सिफिलाइड** है। ये गुलाबी लाल होती हैं ग्रौर चकत्ते नीली वर्ण ग्राभा के होते हैं जो दबाने से लुप्त हो जाते हैं ग्रौर इनकी बहिर्रेखाएँ गोल होती हैं। चकत्ते मसूर के बराबर होते हैं ग्रौर ये त्वचा के स्तर से ऊपर उठे नहीं होते (प्लेट II) (कभी-कभी उभरी हुई शीतभित्ति रोजेला होती है)। इनमें शल्कन नहीं होता है। जब ये उपशमित होते हैं तो ये बिना कोई चिन्ह छोड़े लुप्त हो जाते हैं। रोजेला ग्रधिकतर धड़, सीने, पेट ग्रौर ऊपरी ग्रंगों की पार्श्व सतह पर स्थित होते हैं। ये विक्षति फुन्सियां धीरे-धीरे एक दो सप्ताह तक होती हैं, फिर एक से तीन सप्ताह तक इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसके बाद ये हल्की पड़ कर लुप्त हो जाती हैं।

सिफिलिस पिटिका या पिटिका सिफिलाइड भी द्वितीय ग्रवस्था का ग्राम विस्फोट है। पिटिकाएं त्वचा की ग्रंकुरक सतह पर स्थित होती हैं। इनका ग्राकार भिन्न-भिन्न होता है। ग्रधिकतर मसूर के ग्राकार वाली पिटिका होती है (**मसूरपादक पिटिका**)। सुई की नोक के ग्राकार वाली पिटिका (**विकिरित पिटिका या सिफिलिसी शैवाक**) बहुत कम होती है। मसूर पादपीय पिटिकाएं ग्रर्धवृत्तीय ग्राकार की होती हैं। इनका सीमांकन साफ होता है, इनकी बहिर्रेखाएं सम होती हैं तथा रंग सूखे मांस जैसा होता है। ये एक दूसरे से गल कर जुड़ती नहीं हैं (प्लेट III)। इनमें बहुधा शल्कन होता है। ग्रौर ये शल्क इसके परिसर पर व्यवस्थित हो जाते हैं। विकिरित पिटिका रोमकूप के छिद्रों के चारों ग्रोर स्थित होती हैं। ये वहुधा निर्बल रोगियों में पायी जाती हैं, ग्रर्थात ऐसे रोगियों में जो यक्ष्मा से भी पीड़ित हों। 1.5 से 2.0 से० मी० व्यास वाली बड़ी पिटिकाग्रों को **नाणकाभ पिटिका** कहते हैं। रगड़ या विभिन्न स्रावों के साथ होने वाले क्षोभ से त्वचा की सलवटों में स्थित पिटिकाएं तथा गुदा ग्रौर जननेंद्रियों के ग्रास-पास होने वाली पिटिकाएं **अतिवृद्ध पिटिका** का रूप ले लेती हैं। जब ये गलकर जुड़ जाती हैं तो (कौन्डिलोमेटा सिफिलिसी) बड़ी कान्डीलोमा या

अधिमास सदृश पिटिका बन जाती है (चित्र 82)। सिफिलिसी कान्डीलोमेटा, अतिवृद्ध पिटिका, त्वचा की सलवटों में होने वाली पिटिकाएँ अधिकतर अपरदन होने से (**अपरदक पिटिका**) और आर्द्र होने से **आर्द्र पिटिका**) होती हैं। अपरदक और आर्द्र पिटिकाओं तथा कान्डीलोमा से होने वाले स्राव में टी० पैलीडन सूक्ष्मजीवी अत्यधिक मात्रा में होते हैं और इसीलिए ऐसे रोगी बहुत ही छूत होते हैं।



चित्र 82. सिफिलिस पिटिका या सिफिलिसि काण्डिलोमा।

चित्तिक या पिटिका सिफिलाइड की अपेक्षा **पूय-स्फोटी सिफिलाइड** बहुत ही कम होता है। पूय-स्फोटी सिफिलाइड केवल निर्बल या मद्यपी रोगियों को होता है। देखने में यह उपरिस्थ या पूयत्वक रोग सा लगता है, लेकिन पूय स्फोटी सिफिलाइड में अतिरक्तता बहुत होती है। इसका आधार पर अंतःसंचरण कठोर होता है, इसमें तनिक भी दाब वेदना नहीं होती।

श्लेष्मल कला द्वितीयक सिफिलाइड अक्सर देखने को मिलता है। सिफिलिसी पिटिकाएँ बहुधा मुँह में होती हैं या वृहत भगोष्ठ या लघु भगोष्ठ की श्लेष्मल कला और गुदा में होती हैं। मसूणीकरण होने के कारण यह सफेद रंग की होती है तथा ढीली हुई त्वचा में शल्कन आसानी से हो जाता है और फुन्सियाँ बन जाती हैं (प्लेट IV)। पिटिकाएँ अधिकतर संलयित हो जाती हैं। श्लेष्मल कला की अपरदक पिटिकाएँ (विशेषकर सिफिलिसी पिटिका की गलार्ति) अत्यधिक सांसर्गिक होती हैं और रोग का संक्रमण केवल लैंगिक संभोग से ही नहीं, वरन रोजमर्रा के संपर्क से भी हो जाता है।

चित्तिक सिफिलाइड श्लेष्मल कला में **एरिथेमाटोस सिफिलिटिक एंजीना** के रूप में होता है। तीव्र सीमांकित लालिमा, और सूजन में पीड़ा न होना इसे आम प्रतिश्याय (जुकामी) अंगीना से अलग करते हैं।

सिफिलिसी गंजापन या खल्वाटता का रोग सूक्ष्म विकार स्थानिक, विसारित या मिश्रित होता है। सूक्ष्म विकार स्थानिक खल्वाटता में शिरोवल्क पर पतले बालों वाले छोटे गोल विकार स्थान होते हैं, पर इनमें कोई शोथ या शल्कन नहीं होता। कुछ ही महीनों में बाल दुबारा फिर पूरी तरह उग आते हैं। विसारित खल्वाटता में पूरे शिरोवल्क के बाल नियमित रूप से झड़ते रहते हैं, लेकिन कनपटियों पर यह अधिक होता है। द्वितीयक पुनरावर्ती सिफिलिस वाले रोगियों में खल्वाटता अधिक होती है।

श्वेत त्वक रोग (श्वित्र) या वर्णक सिफिलाइड. यह रोग संक्रमण होने के पांच या छः महीनों से पहले प्रकट नहीं होता, अर्थात यह द्वितीयक पुनरावर्ती सिफिलिस का रोग है। गर्दन की पार्श्व और पश्च सतहों पर, काँखों में और छाती के आस-पास गोल या अंडाकार वर्णक चकत्ते पड़ जाते हैं, जिनके चारों ओर की त्वचा पीलापन लिए हुए भूरी होती है। श्वित्र फीता या जाल से मिलता-जुलता है (चित्र 83)। इसके साथ बहुधा प्रमस्तिष्क मेरु तरल में अपसामान्यता हो जाती है।



चित्र 83. सिफिलिस श्वित्र।

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था में तंत्रिका तंत्र में परिवर्तन होता है (विशेषकर प्रमस्तिष्क मेरु तरल में)। इससे परिवर्तन आंतरिक अंगों और हड्डियों में भी होता है। यह रोग नियमतः सुदम होता है और कुछ समय के बाद पूरी तरह ठीक हो जाता है (विशेष रूप से उपचार किये जाने पर)।

अपरदक पिटिकाओं (त्वचा और श्लेष्मल कला पर), कोन्डाइलोमेटा लाटा (सिफिलिसी) तथा अन्य विक्षतियों के अति सांसर्गिक होने के कारण सामाजिक दृष्टिकोण से यह रोग एक महान संकट है।

सिफिलिस की तृतीयक अवस्था

सिफिलिस की तृतीयक अवस्था बहुत कम रोगियों में होती है। यह केवल एसे रोगियों में होती है, जिन्होंने ठीक ढंग से उपचार न लिया हो या उपचार बिल्कुल ही न किया हो। उपचार-रहित रोगियों में भी यह अवस्था जरूरी नहीं कि विकसित हो ही। वृद्धावस्था और युवावस्था, अभिघात चिरकारी रोग, विषालुता, मदात्यय इस अवस्था के विकसित होने को पूर्वानुकूलित करते हैं। संक्रमण के बहुधा तीन या चार वर्ष बाद और कभी-कभी कई दशाब्दियों के बाद सिफिलिस की तृतीयक अवस्था आती है।

सोवियत संघ में सिफिलिस की तृतीयक अवस्था बहुत कम प्रेक्षित होती है, यद्यपि जार के समय में यह रोग, विशेषकर गाँवों में, बहुधा होता था।

तृतीयक सिफिलाइड (यक्ष्मज और लसदार) त्वचा पर, अधस्त्वक वसा पर, पेशियों, हड्डियों, आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र पर होते हैं। विक्षति फुन्सियां कम संख्या में होती हैं (दर्जनों की संख्या में यक्ष्मिका, लसदार फोड़ा, बहुधा अकेला ही) और ये दुर्दम रूप ले लेती हैं। इनके विक्षति चिन्ह सदैव के लिये रह जाते हैं (यदि ये शरीर के प्राणाधारी महत्त्वपूर्ण अंग पर होते हैं, तो ये जीवन के लिए संकट पैदा करते हैं) और चिकित्सा न करने पर रोगी बहुत धीरे-धीरे मरते हैं। इनकी सांसर्गिकता कम होती है, क्योंकि टी० पलीडम की संख्या बहुत कम होती है और ये, अंतःसंचरण में बहुत गहरे होते हैं। विक्षति पर सिफिलिस-रोधी उपचार का प्रभाव तेजी से होता है। यह याद रखना चाहिए कि तृतीयक सिफिलिस वाले 25 से 35 प्रतिशत रोगियों में सीरमी जाँच का परिणाम नकारात्मक होता है।

यक्ष्मज सिफिलाइड त्वचा के थोड़े से भाग में होती है और बहुधा असममितीय होती है। गुलिकाएँ अर्द्धवृत्तीय या चपटी होती हैं। इनका रंग तांबे जैसा होता है और वर्णाभा नीली होती है। इनका आकार चेरी की गुठली के बराबर होता है, ये कठोर होती हैं और इनका सीमांकन स्पष्ट होता है। सिफिलिस की गुलिका के अंतःसंचरण में सदैव ही परिगलन होता है या यह गुलिका सूखी किस्म की होती है (जिसमें त्वचा पर शोष बना रह जाता है) अथवा इसमें व्रण हो जाते हैं, जिनके व्रण-चिन्ह रह जाते हैं। गुलिकाएँ रुक-रुक कर होती हैं, और इसीलिए ये उपशमन की विभिन्न स्थितियों में होती हैं। इसके परिणामस्वरूप खानेदार व्रण चिन्ह बन जाते हैं (प्लेट V)। इन व्रण चिन्हों को देखकर कई वर्षों के बाद भी इस बात का पता करना संभव है कि रोगी को तृतीयक अवस्था की सिफिलिस हुई थी। सामूहिक गुलिका सिफिलाइड अधिकतर होती है (इसमें गुलिकाएँ समूह या झुंड के रूप में

होती हैं तथा इनका संलयन नहीं होता)। यक्ष्मज सिफिलाइड में गुलिकाएँ संलयित होती हैं। विकार स्थान के बीच की गुलिकाओं का विरोहण होता है जबकि परिसर पर नई गुलिकाएँ बन जाती हैं। यक्ष्मज सिफिलाइड गुलिकाएँ संलयित होकर एक धब्बा बनाती हैं और कभी-कभी वामन सिफिलिसी गुलिकाएँ (बाजरे के बराबर) बन जाती हैं। यक्ष्मज सिफिलाइड से कोई स्वप्रत्यय विकार नहीं होता।

गम्मा सिफिलाइड या सिफिलिसी गम्मा. इसमें अधस्त्वक ऊतक पर अखरोट के बराबर पीड़ारहित पर्विका बन जाती है। पहले यह त्वचा और आस-पास के ऊतकों से जुड़ी नहीं होती पर आगे चलकर बढ़ जाती है और त्वचा से चिपक जाती है (प्लेट VI) और इसमें दाब वेदना होती है। पर्विका बीच में नरम हो कर फूट जाती है और इसमें छोटा सा छेद हो जाता है जिसमें से गाढ़ा चिपचिपा-सा पदार्थ निकलता है (इसीलिए इसका नाम गम्मा है)। यह छेद बड़ा होता जाता है और व्रण बन जाता है। इसके किनारे सख्त होते हैं और फर्श की तरफ ढालू होते हैं। परिगलित ऊतक, गम्माटस कोर व्रण के फर्श पर होते हैं तथा गहरा ताराकार व्रणचिन्ह रह जाता है। बहुधा एक गम्मा होता है और इससे अधिक बहुत ही कम होते हैं।

गम्मा के सर्वथा अनुकूल स्थान टांगो, मत्था और कलाई की अग्र सतह होते हैं।

तृतीयक अवस्था वाला सिफिलाइड (गम्मा और गुलिकाएँ) बहुधा नाक, कोमल तालू और काकलक (युवुला) की श्लेष्मा कलाओं पर होता है। जब इसका प्रभाव नाक की हड्डियों पर होता है तो नासा-सेतु गिर जाता है तथा पर्याण नासा हो जाता है और नासा-पट के अस्थि भाग में छिद्र हो जाता है। मृदु और कठोर तालू में छिद्र हो जाने से और काकलक (युवुला) के क्षतिग्रस्त होने से भोजन करते समय अन्न मुंह से नाक में पहुँच जाता है। रोगी की आवाज नकसुरी हो जाती है।

बहुधा कपाल की हड्डियों और अंतर्जंघिका में गम्मा अस्थि-पर्यास्थि शोथ और अस्थि मज्जाशोथ हो जाते हैं। अंतःसंचरण में या तो अस्थिभवन हो जाते हैं और हड्डियाँ मोटी हो जाती हैं या इसका विघटन होकर व्रण हो जाता है। अंततः व्रण का दाग रह जाता है।

तृतीयक सिफिलिस में **आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र के आवेष्टन** के परिणाम गंभीर हो सकते हैं।

आंतरिक अंगों के सिफिलिसी रोग में सर्वाधिक प्रचलित रूप है, सिफिलिस महाधमनी शोथ। यह संक्रमण के 10 से 20 वर्ष बाद होता है और इससे महाधमनी कपाट तथा महाधमनी ऐन्यूरिज्म में अपर्याप्तता हो जाती है। सिफिलिसी हृदपेशीशोथ और यकृत, गुर्दे, मस्तिष्क तथा अन्य अंगों में शोथ और गम्मा हो सकते हैं।

सिफिलिसी तानिका शोथ तथा मस्तिष्क और मेरुरज्जु की वाहिकाओं में सिफिलिस होने के फलस्वरूप आंशिकघात, संवेदन विकार, इत्यादि हो सकते हैं।

मस्तिष्क या मेरु रज्जु पदार्थ के प्रकोपित होने पर (तंत्रिका तंत्र की सारऊतकी सिफिलिस होने पर) प्रगामी पक्षाघात और टेबीज डोर्सेलिस हो जाता है।

जन्मजात सिफिलिस

बीसवीं सदी के प्रारंभ में यह सिद्ध हो गया था कि सिफिलिस रोग से पीड़ित माँ की अपरा पार कर के टी० पैलीडम सूक्ष्मजीवी उसके गर्भ में प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि यह सूक्ष्मजीवी शुक्राणुओं के सिर में फिट नहीं होते हैं, इसलिए पिता के द्वारा शिशु पर सिफिलिस का संक्रमण होने की धारणा निर्मूल साबित हुई है। स्वस्थ अपरा टी० पैलीडम के लिये अबेध्य मानी जाती है, पर इसके संपर्क में आने से इसमें परिवर्तन होने लगते हैं और अपरा इन सूक्ष्मजीवियों को गर्भ में प्रवेश करने से रोक नहीं पाती है। चार महीने का गर्भ होने पर नाभि रज्जु की शिराओं और लसीकाओं के द्वारा टी० पैलीडम गर्भ के ऊतकों में पहुँच जाता है।

महिलाओं में सिफिलिस का उपचार न होने से उनके गर्भवती होने के बाद पाँचवें या छठे महीने में गर्भपात हो जाता है, या मृत जन्म होता है अथवा काल-पूर्व प्रसव हो जाता है। काल-पूर्व या पूर्णकालिक शिशु में सिफिलिस हो जाती है। माँ में सिफिलिसी संक्रमण जितना ही ताजा हो, उतनी ही अधिक इसके गर्भ में संचरण की संभावना होती है। समय के साथ-साथ संक्रमण की तीव्रता घटती जाती है।

माता या पिता के सिफिलिस से पीड़ित होने के बावजूद भी जब कभी टी० पैलीडम गर्भ में प्रवेश नहीं कर पाते हैं तो ये लिंग कोशिकाओं को, भ्रूण और गर्भ को (गर्भवती होने के बाद चार महीने तक), क्षति पहुँचाते हैं। ऐसी दशाओं में जन्मे शिशुओं में विभिन्न प्रकार के मानसिक विकार (मंदबुद्धिता, मनोविकृतियां) हो जाते हैं। इन शिशुओं में तंत्रिका तंत्र की कायिक विक्षति के लक्षण तथा अस्थि अपविकास के लक्षण होते हैं। वास्तविक जन्मजात सिफिलिस (जिसमें सूक्ष्मजीवी गर्भ में प्रवेश कर जाते हैं) से भिन्न इस रोग को **पैरासिफिलिस** कहते हैं। जन्मजात सिफिलिस को गर्भस्थ, शिशु और पूर्वबाल्यकाल की सिफिलिस (एक से चार वर्ष की आयु में) तथा पश्च बाल्यकाल जन्मजात सिफिलिस में विभाजित किया जाता है। सोवियत संघ में महिलाओं में पूर्व-कालिक निदान के फलस्वरूप, गर्भवती होने से पूर्व या गर्भवती होने पर सक्रिय उपचार से तथा महिला परामर्श कक्ष वाले चिकित्सालयों के कार्य से स्वास्थ्य शिक्षा, इत्यादि से शिशुओं में जन्मजात सिफिलिस की सक्रिय अभिव्यक्ति बहुत कम हो गयी है।

गर्भ में सिफिलिस होने से आंतरिक अंगों में समग्र अपसामान्यता हो जाती है। यकृत और तिल्ली बहुत बढ़ जाती है तथा कठोर हो जाती है तथा इनमें टी० पैलीडम जीवाणु अत्यधिक संख्या में पाये जाते हैं। फुप्फस ऊतक भी दृढ़ीभूत हो जाता है (सफेद न्यूमोनिया)। लंबी नलिकाकार अस्थियों और पसलियों में सिफिलिसी उपास्थि व्यपजनन और अस्थि पर्यास्थिशोथ होता है। गर्भस्थ शिशु की मृत्यु छठे और सातवें महीने के बीच हो जाती है।

जन्मजात शिशु सिफिलिस की अभिव्यक्ति या तो जन्म के समय और अधिकतर जीवन के पहले दो महीने में या दो से चार महीने की अवस्था में होती है। त्वचा,

श्लेष्मल कला, अस्थियों, आंतरिक अंगों, तंत्रिका तंत्र और ज्ञानेन्द्रियों पर इस अवस्था में बहुरूपी विक्षतियां होती हैं। ऐसे शिशुओं का विकास कम होता है, उनकी लंबाई और वजन सामान्य से कम होता है तथा वे निर्बल और बेचैन होते हैं।

विसरित अंतःसंचरण (त्वचा का मोटा और दृढ़ीभूत होना, शल्कन होने के बाद गहरे विदर होना, जो जीवन भर के लिए मुँह के आस-पास विक्षति चिन्ह छोड़ जाते हैं; (दे० प्लेट VIII) चेहरे पर (गालों, होंठों, चिबुक और मत्थे पर), साथ ही हथेलियों, पैर के तलवों तथा नितंबों पर विकसित होता है। कभी-कभी हथेलियों, तलवों, टांगों और कलाइयों पर सिफिलिस पेम्फीगस, मसूर या मटर के आकार के फफोले पड़ जाते हैं, जिनमें सीरमी सपूय द्रव्य होता है और यह अंतःसंचरित बोर्डर से घिरा रहता है। शिशु की जन्मजात सिफिलिस में होने वाली **सिफिलिस पिटिका** उपार्जित द्वितीय अवस्था की सिफिलिस के समान होती है। इसमें सिफिलिसी नासा शोथ होता है, जिसमें सीरमी सपूय स्राव की जमकर पपड़ी बन जाती है और नाक से सांस लेना कठिन हो जाता है। नाक से सीटी सी बजती है, आवाज होती है या सांस लेना एकदम असंभव हो जाता है। बच्चे माँ का दूध मुश्किल से पी पाते हैं और इसके परिणामस्वरूप कुपोषण हो जाता है।

लंबी नलिकाकार हड्डियों का **सिफिलिसी अस्थिउपास्थि व्यपजनन** बहुधा होता है। इसकी प्रारंभिक अवस्था को रेडियो चित्रण में पहचाना जाता है। रोग के अधिक बढ़ जाने पर ऐपीफिसिस और डाइफिसिस पृथक-पृथक हो जाते हैं। बच्चा रोगी हाथ को धड़ में दबाता है। रोगी पैरों को घुटनों और कुल्हों के जोड़ों पर आंकुचित करता है, सक्रिय संचलनों से बचता और निष्क्रिय संचालनों से रोता है। यकृत, तिल्ली, गुर्दे, फेपड़ों और अंडकोशों में काठिन्य के साथ-साथ विसरित अंतःसंचरण होता है। तानिकाशोथ, तानिका-मस्तिष्कशोथ और जलशीर्ष रोग हो जाते हैं।

शिशुओं के जन्मजात सिफिलिस रोग में उनका विकास घट जाता है। वे बहुधा बीमार रहते हैं, तथा अन्य संक्रमणों से मर जाते हैं।

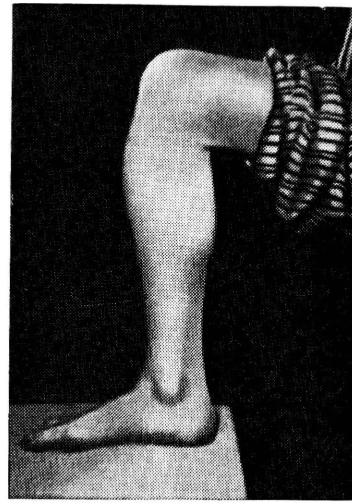
प्रारंभिक बाल्यकाल की जन्मजात सिफिलिस का पता एक से चार वर्ष की आयु के बीच लगता है। इसमें विक्षतियां कम संख्या में होती हैं। अधिकतर आर्द्र और अपरदक पिटिकाएं होती हैं तथा ऐनोजेनिटल भाग में बड़े कान्डीलोमा होते हैं। इस काल को बहुधा कान्डीलोमाटस अवस्था कहते हैं। कभी-कभी बांहों की हड्डियों का पर्यास्थि शोथ और आखों में पटल रोगी हो जाते हैं।

पश्च (देर वाले) बाल्यकाल जन्मजात सिफिलिस का निदान छः से 15 वर्ष की आयु या इसके बाद किया जाता है। इस दौर में यह तृतीयक अवस्था की सिफिलिस से मिलती-जुलती है, क्योंकि त्वचा, श्लेष्मल कला, हड्डियों, आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र में गम्मा बन जाते हैं। तंत्रिका तंत्र में गम्मा होने वाले रोग को गम्मा तानिका शोथ कहते हैं। देर वाली जन्मजात सिफिलिस के विशिष्ट लक्षण अकेले भी होते हैं। ये लक्षण हैं—हचिन्सन ट्रियाड और साब्रेशिन। **हचिन्सन ट्रियाड** में पारऊतकी

स्वच्छ पटल शोथ (कार्निया का लाल और अपारदर्शक होना, प्रकाश असह्यता तथा दृष्टि तीक्ष्णता में कमी होने के साथ अश्रु-स्रवण होना) सिफिलिसी गहन शोथ होना (कम सुनाई पड़ना, कर्णश्वेण), हचिन्सन दांत होना इत्यादि सम्मिलित हैं।

साब्रेशिन के लक्षण हैं टिबिया की उन्नतोदरता (चित्र 84), जो अस्थि उपास्थि-व्यपजनन के बाद होती है, और रात्रि में पीड़ा होना।

कुछ रोगियों में टेबीजडार्सेलिस और प्रगामी पक्षाघात होता है।



चित्र 84. अंतर्जंघिका सेबर।

सीरमी जाँच

सिफिलिस के निदान के लिए और सिफिलिस प्रतिरोधी चिकित्सा के परिणामों को नियंत्रित करने के लिए रोग लक्षण के अलावा टी० पैलीडम पदार्थ की जाँच के परिणाम, रोग वृत्त, लैंगिक संपर्कों व खून की सीरमी जांच (वासरमान और अवक्षेपण जांच) इत्यादि बहुत महत्वपूर्ण है। यह सदैव याद रखना चाहिए कि सिफिलिस रोगियों में सीरमी प्रक्रिया बहुधा नकारात्मक होती है (अर्थात 25 से 35 प्रतिशत रोगी सक्रिय तृतीयक सिफिलिसी अवस्था में होते हैं)। आश्चर्य की बात है कि ऐसे लोगों में सीरमी जाँच के परिणाम स्वीकारात्मक होते हैं, जिन्हें कि सिफिलिस नहीं होती है। ऐसी हालत में इन्हें विशिष्टता रहित या नकली सिफिलिसी सीरमी जाँच की पहचान के लिए टी० पैलीडम इममोबिलाइंजेशन रिएक्शन TPI से सहायता मिलती है। TPI रिएक्शन ऐसे लोगों में कभी स्वीकारात्मक नहीं होता है, जिन्हें सिफिलिस का रोग न हो।

सिफिलिस का उपचार

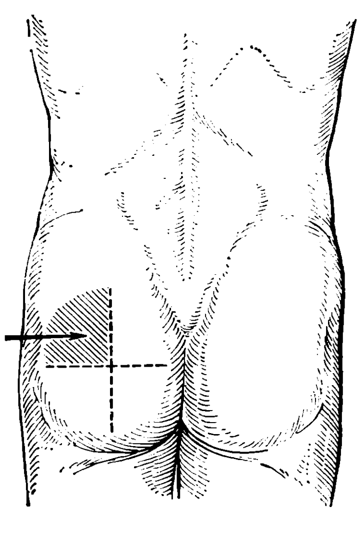
सिफिलिस के निदान की पुष्टि होते ही यथासंभव जल्दी से जल्दी उपचार शुरू कर देना चाहिए (रोग के सक्रिय रूप में पुष्टि होने के 24 घंटों के अंदर)। जितना ही जल्दी उपचार शुरू किया जाता है, उसकी सफलता की संभावना उतनी ही अधिक होती है। सिफिलिस का उपचार योजनानुसार अंतराल देकर किया जाता है। इस अंतराल में रोगी को चिकित्सा से आराम मिल जाता है और शरीर में से सिफिलिस प्रतिरोधी औषधियाँ निकल जाती हैं। ऐसे उपचार को चिरकारी सविरामी कहते हैं।

प्रत्येक रोगी के लिए उपचार की विधि कायचिकित्सक द्वारा निश्चित की जाती है। सिफिलिस के उपचार में पेन्सिलीन (जल में घुलनशील या अधिक समय तक कारगर

रहने वाली) के कोर्स बार-बार दिये जाते हैं। या एक पेन्सिलीन कोर्स के बाद बिस्मथ योग देकर फिर पेन्सिलीन (बारी-बारी) से दी जाती है। अनुषंगी प्रभाव तथा उपद्रव पैदा होने के डर से आरसेनिकल (नियोआर्सफेनामीन, सल्फार्सफेनामीन, ऐसीटारसोन) और मरक्यूरियल का प्रयोग सिफिलिस के उपचार में बहुत कम हो गया है। केवल सिफिलिस के देर वाले रूप में नीला मलहम लगाया जाता है। उपचार के कोर्स में अंतराल होने पर आयोडीन योग दिये जाते हैं। कोर्सों की संख्या रोग की अवस्था और उसकी प्रगति पर निर्भर होती है।

आजकल सिफिलिस के उपचार में प्रयुक्त मुख्य औषधि पेन्सिलीन है, क्योंकि इसका शक्तिशाली प्रभाव टी० पैलीडम पर अन्य सिफिलिस प्रतिरोधी औषधियों की अपेक्षा अत्यधिक होता है। इसका प्रभाव गुप्त रूप के सिफिलिस की अपेक्षा सक्रिय सिफिलिस में बेहतर होता है।

तीन-तीन घंटे के अंतर पर लगातार (चौबीसों घंटों में) 50 000 इ० पेन्सिलीन (जल में घुलनशील) के अंतरपेशी रूप में इंजेक्शन लगाते हैं। बहिरंग रोगी विभाग में अधिक समय तक सक्रिय रहने वाली पेन्सिलीन, जैसे एकमोनोवोसिलीन (बेंजाइल पेन्सिलीन प्रोकेन का एकमोलीन में निलंबन, ट्राइप्रोटामीन सल्फेट घोल), बाइसिलीन-1 (बेन्जाथीन बेन्जाइल पेन्सिलीन), बाइसिलीन-3, बाइसिलीन-4, बाइसिलीन-5, दी जाती हैं। एकमोनोवोसिलीन की दिन में 600000 ई० की एक खुराक दी जाती है। बाइसिलीन-1 की 1200000 ई० की एक खुराक अंतरपेशीय रूप में छः दिन में एक बार दी जाती है या दस दिन में एकबार 2400000 ई० की खुराक अंतरपेशीय रूप में देते हैं। बाइसिलीन-3 और बाइसिलीन-4 की 1200000 ई० की एक खुराक पाँच दिन में या 2400000 ई० की एक खुराक आठ दिन में अंतरपेशीय इंजेक्शन से देते हैं। बाइसिलीन-5 की 1500000 ई० की एक खुराक दस दिन में एक बार दी जाती है। हर बार इस एक इंजेक्शन को दो बराबर भागों में बाँट कर एक भाग को दायें नितंब पर दूसरे भाग को बायें नितंब पर लगाते हैं।



चित्र 85. अतंरर्पेशीय इंजेक्शन लगाने के लिए नितम्ब का भाग।

अंतरपेशीय इंजेक्शन (बाइसिलीन, बाइयोचिनोल, बिस्मोवेराल, इत्यादि) को लंबी सुई (5–6 सें० मी०) से नितंब के ऊपरी पार्श्व के चतुर्थांश में लगाते हैं (चित्र 85)। पहले सुई को तेजी से त्वचा में घुसा देते हैं और दुबारा गति देकर पेशी में

बढ़ाते हैं। यदि एक-दो मिनट तक सुई से रक्त न बहे तो इसे (सुई) को मजबूती से पकड़े रहते हुए इसमें औषधि से भरी हुई पिचकारी फिट की जाती है और औषधि का इंजेक्शन लगा दिया जाता है। यदि सुई से रक्त निकलने लगे तो इसे बाहर निकालकर नितंब के ऊपरी पार्श्व भाग के चतुर्थांश में फिर से लगाना चाहिए।

सिफिलिस की अवस्था के अनुसार ही पेन्सिलीन या अधिक समय तक क्रियाशील रहने वाले योग की मात्रा उपचार के कोर्स के लिए निश्चित की जाती है। औषधि की मात्रा शरीर के भार के अनुसार भी निश्चित की जाती है। सीरम नकारात्मक सिफिलिस रोगी को पेन्सिलीन 100000 ई० प्रति किलो भार के हिसाब से दी जाती है। प्राथमिक सीरमी स्वीकारात्मक जाँच या ताजी द्वितीयक सिफिलिस में यह 120000 ई० प्रति किलो के हिसाब से दी जाती है। द्वितीयक पुनरावर्ती या तृतीयक सिफिलिस के रोगियों में या आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र की सिफिलिस में प्रतिजीवी औषधि 140000 ई० प्रति किलो के हिसाब से दी जाती है।

पेन्सिलीन चिकित्सा के पहले 24 घंटों में प्रकोपन क्रिया होती है: शरीर का ताप बढ़ जाता है, सिर दर्द और कमजोरी तथा हड्डियों और जोड़ों में दर्द महसूस होता है। फुन्सियों के रंग में तीव्रता आ जाती है। प्रकोपन प्रक्रिया से रोगी के शरीर में टी० पैलीडम के सामूहिक विघटन का पता लगता है। सिफिलिस के प्राथमिक रूप में इस अभिक्रिया से बचने के लिए कोई उपाय नहीं करना चाहिए। परन्तु रोग की बाद की अवस्था (तृतीयक सिफिलिस, तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की सिफि-लिस) में इस अभिक्रिया को रोकने या बढ़ाने के उपाय करने चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखते हुए आयोडीन और बिस्मथ के योग से उपचार प्रारंभ करके बाद में पेन्सिलीन दी जाती है।

पेन्सिलीन असह्य होने पर इसके योगों की जगह पर एराइथ्रोमाइसिन देते हैं। इसका इन्जेक्शन तीन-तीन घंटे के अंतर पर दिन में पाँच बार 300000 ई० की खुराक में देते हैं तथा रात में नहीं देते हैं। इस प्रकार एक दिन की पूरी खुराक 30000000 ई० है।

ऐसे बच्चों और वयस्कों का उपचार, जिन्हें पेन्सिलीन योग या एराइथ्रोमाइसिन नहीं दी जा सकती है, फेनाक्सीमेथिल पेन्सिलीन से करते हैं। इसकी खुराक जल में घुलनशील पेन्सिलीन (100000 ई० दिन में आठ बार) की अपेक्षा दुगुनी होती है।

बिस्मथ योग के समूह में बायोचिनाल (उदासीन परसिक तेल में क्विनाइन बिस्मथ का 8 प्रतिशत निलंबन), बिसमोवेराल (उदासीन परसिक तेल में मोनोबिस्मथ टारटैरिक एसिड के भस्मीय बिस्मथ लवण का निलंबन) और पेन्टाबिसमोल (बिस्मथ का जल में घुलनशील योग) आदि सम्मिलिति हैं।

बायोक्विनाल का 2 मि० ली० का इंजेक्शन एक दिन छोड़ कर दिया जाता है या 3 मि० ली० का इन्जेक्शन तीन दिन के अंतर पर (24 घंटे में 1 मि० ली०) दिया जाता है। कुल खुराक 40 से 50 मि० ली० होती है।

बिस्मोवेरोल की 1.5 मि० ली० की खराक हफ्ते में दो बार 0.5 मि० ली० प्रति 24 घंटे की दर से) दी जाती है। कुल खुराक 20 मि० ली० है।

पेन्टाबिस्मोल की 2 मि० ली० की खुराक एक दिन छोड़ कर दी जाती है। कुल खुराक 40 से 50 मि० ली० है।

इन्जेक्शन लगाने से पूर्व बाइक्विनाल या बिस्मावेराल की छोटी बोतल 40–45° सें० उष्ण जल में रखते हैं। इसके गर्म हो जाने पर इसे सावधानी से हिलाकर एकसार निलंबन बना कर इंजेक्शन देते हैं। ऊपर बताये गये दो चरणों में बिस्मथ योग का इंजेक्शन ग्रंतरपेशीय रूप में नितंब के ऊपरी पार्श्व भाग में लगाते हैं।

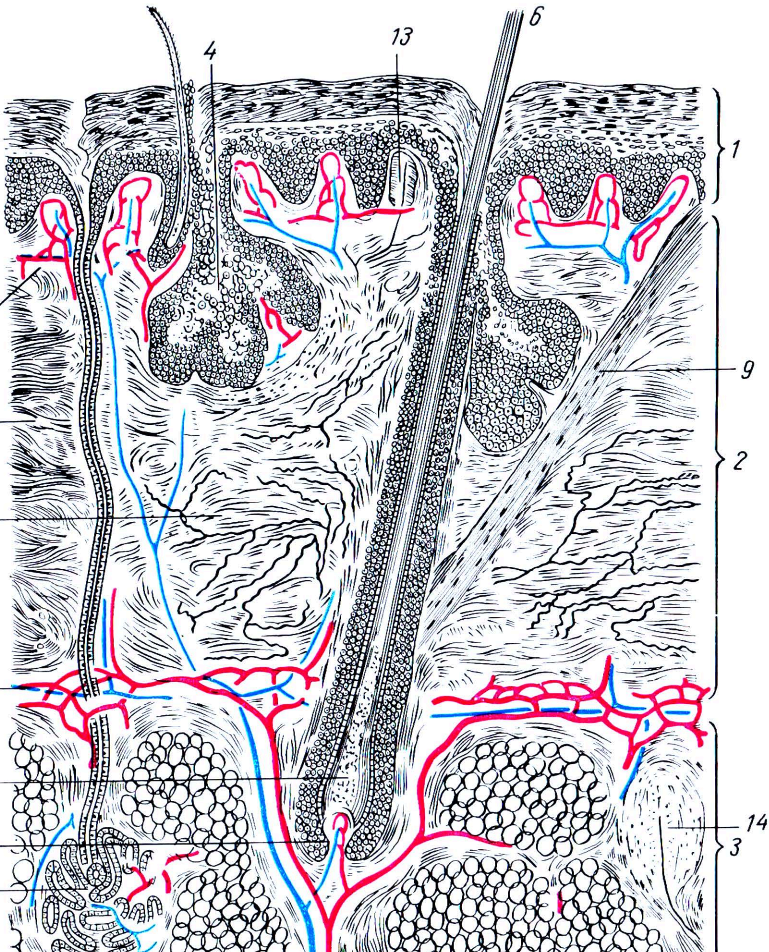
ग्रायोडीन के योग को पोटैशियम ग्रायोडाइड या सोडियम ग्रायोडाइड के घोल के रूप में दिन में तीन बार भोजन के बाद ग्राधा गिलास दूध में एक बड़ा चम्मच मिलाकर लेते हैं। घोल की सांद्रता को धीरे-धीरे बढ़ा कर 2–3 प्रतिशत से 7–8 प्रतिशत कर देते हैं। यह उपचार तीन से चार सप्ताह तक चलता है।

निरोधक या रोग निरोधी उपचार ऐसे लोगों को दिया जाता है जिन्होंने सिफिलिस के सक्रिय रूप से पीड़ित रोगी के साथ या तो संभोग किया हो या जो उसके, रोगी व्यक्ति के, रोज-ब-रोज निकट संपर्क में रहे हों, ग्रौर विशेष रूप से ऐसे बच्चों को, जिनके माता-पिता सक्रिय सिफिलिसी विक्षति से पीड़ित हों। काय चिकित्सक के ग्रादेशानुसार उपचार किया जाता है।

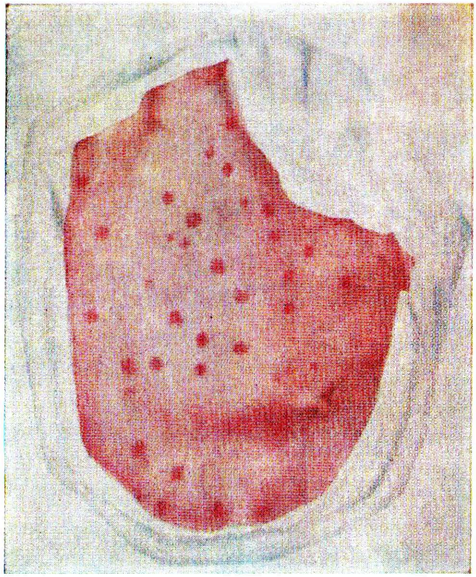
सिफिलिस प्रतिरोधी उपचार पूरा होने के बाद रोगी को बहिरंग रोगी विभाग में दो से दस वर्ष तक निगरानी में रखा जाता है (समय काल इस बात पर निर्भर करता है कि उपचार सिफिलिस की किस ग्रवस्था में शुरू किया गया है)। इस ग्रवधि में रोगी चिकित्सालय में डाक्टरी जाँच के लिए तीन से छ: महीने में एक बार ग्राता है ग्रौर उसकी सीरमी जाँच की जाती है। निश्चित ग्रवधि के पूरा होने पर रोगी की पूर्णरूपेण डाक्टरी जाँच ग्रौर प्रयोगशाला जाँच करके इस बात का निश्चय किया जाता है कि उसे रोगी होने के रिकार्ड से हटा दिया जाय।

सिफिलिस प्रतिरोधी उपचार में होने वाले उपद्रव. पेन्सिलीन योग से एलर्जी ग्रभिक्रिया (जैसे तीव्रग्राही धक्का, विषालुत्वक रोग, तीव्र शोथ, विभिन्न प्रकार की फुन्सियाँ) ग्रौर विषालुता के लक्षण (सिरदर्द होना या रक्तोत्पत्ति होना) हो सकते हैं। कोक्कल सूक्ष्मजीवियों ग्रौर एश्चेरीचियाकोली की क्रिया के ग्रवरोधन करने से कैंडिडरूग्णता हो सकती है। बिस्मथ योग से वृक्कीय उपद्रव हो सकते हैं (मूत्र में "बिस्मथ कोशिकाएँ" ग्रौर प्रोटीन जाने लगते हैं) ग्रौर श्लेष्मा में शोथ (मसूड़ाशोथ, मुखपाक ग्रौर बिस्मथ बार्डर) हो सकता है। ग्रायोडीन योग से नासाशोथ, नेत्रश्लेष्मलाशोथ ग्रौर "ग्रायोडीन एकनी" हो सकती है।

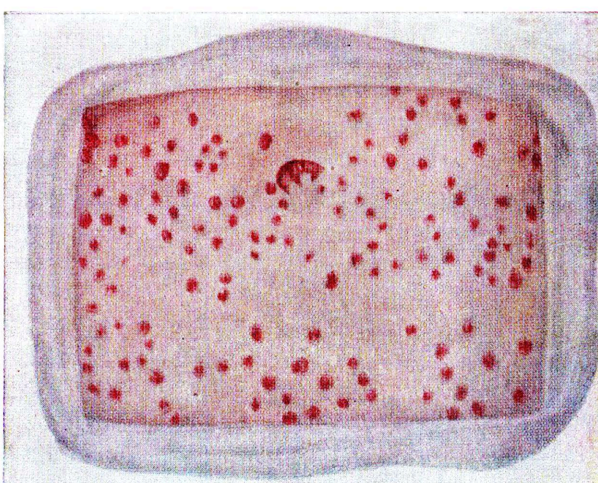
इन उपद्रवों को रोकने के लिए यह ग्रावश्यक है कि सिफिलिस प्रतिरोधी उपचार देने से पूर्व रोगी की ध्यानपूर्वक जाँच की जाय, उसके चिकित्सा वृत्त का विस्तार से ग्रध्ययन किया जाय, ताकि उसकी प्रतिजीवी सहन करने की क्षमता संबंधी सूचना



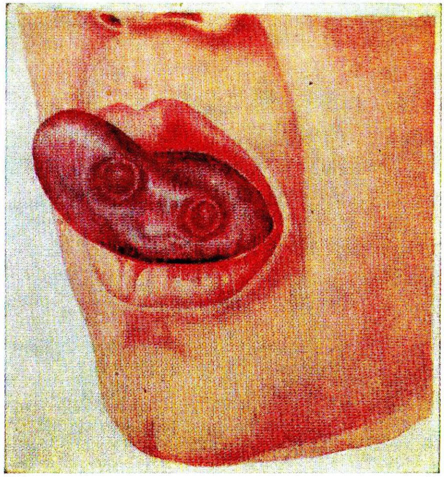
प्लेट 1. त्वचा की संरचना :
1. बाह्य त्वचा, 2. वास्तविक त्वचा, 3. अधस्त्वग्वसा, 4. त्वग्वसीय ग्रन्थि, 5. श्वेद ग्रन्थि, 6. रोम, 7. लोमकन्द, 8. रोम अंकुरक, 9. पेशी को सीधा करने वाला रोम, 10. रक्तवाहिकाएँ, 11. कोलेजन उत्पादी तन्तु, 12. लचीले तन्तु, 13. माइसनर कणिका, 14. फेटर-पासनी कणिका।



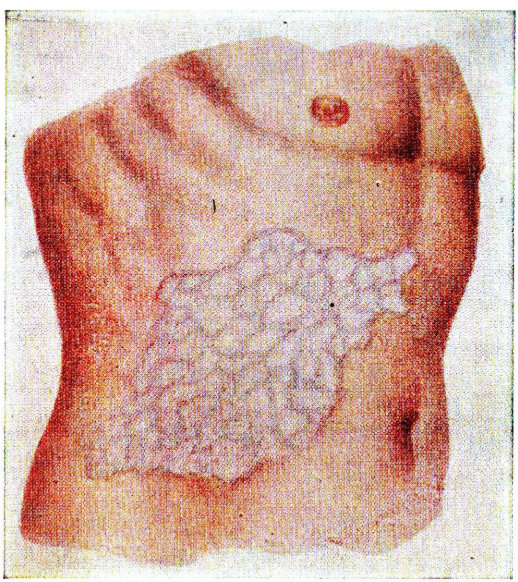
प्लेट II. सिफिलिसी रोजियोला (दरोरा)



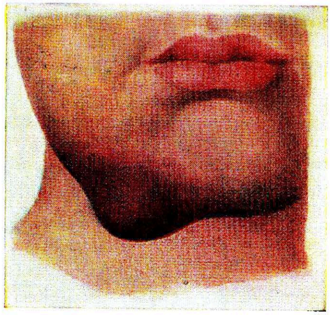
प्लेट III. मसूराकार सिफिलिसी पीटिका



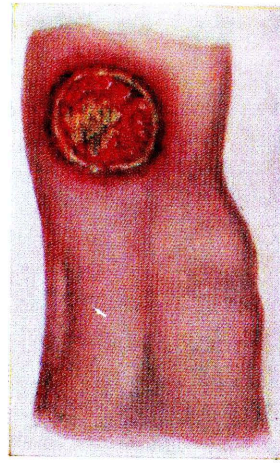
प्लेट IV. जिह्वा पर अपरदन पीटिका



प्लेट V. यक्ष्मज सिफिलिस के बाद खानेदार क्षतचिन्ह



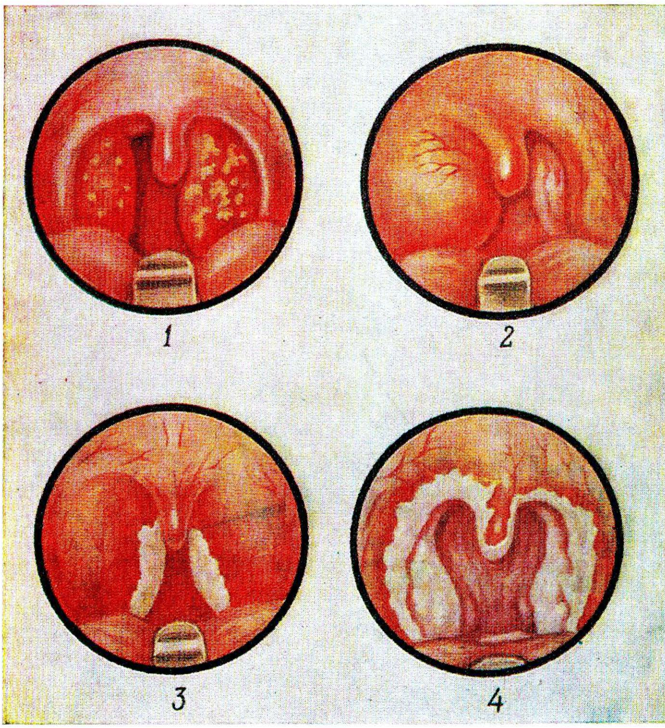
प्लेट VI. निचले जबड़े का गम्म



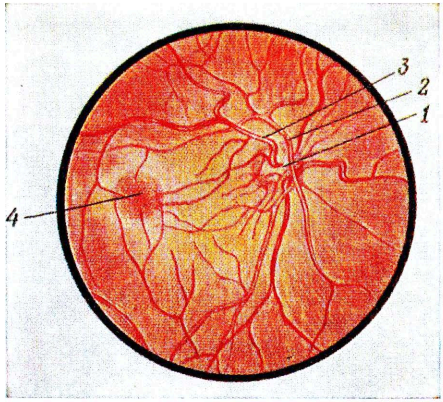
प्लेट VII. गम्मायुक्त व्रण



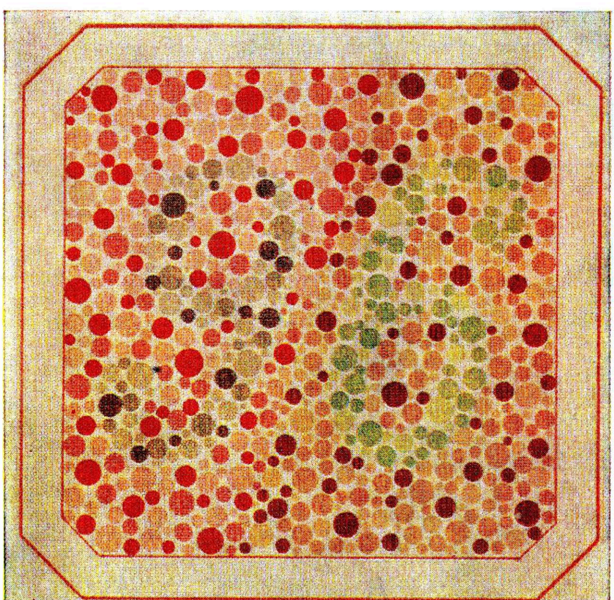
प्लेट VIII. त्वचा का विसरित सिफिलिसी अंतःसंचरण



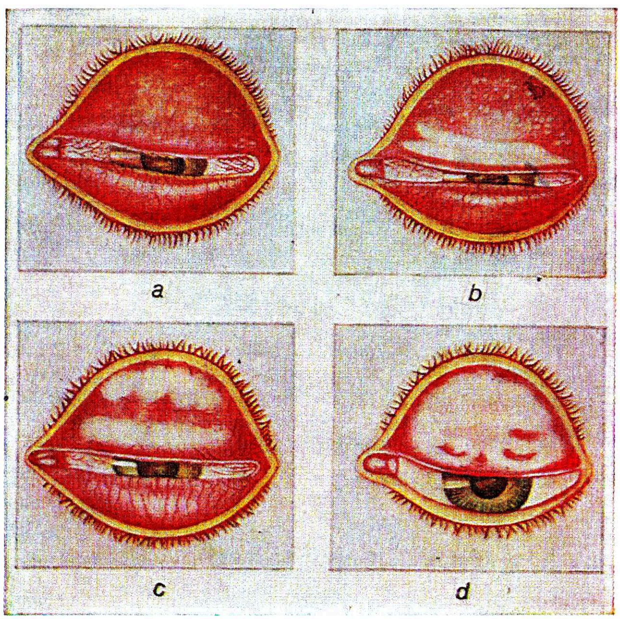
प्लेट IX. गलतोरणिका की संक्रामक विक्षतियां:
1. पुटिकीय (दाहिनी ओर) और रिक्तिका (बाईं ओर) गलतुण्डिका शोथ, 2. दाहिना फलेग्मोनी गलतुण्डिका शोथ, 3. गलतोरणिका डिफ्थीरिया का स्थानिक रूप, 4. गलतोरणिका डिफ्थीरिया का विसरित (विषालु) रूप



प्लेट X. सामान्य नेत्रवुध्न :
1. अक्षिबिम्ब, 2. धमानी, 3. शिरा, 4. पीतबिन्दु

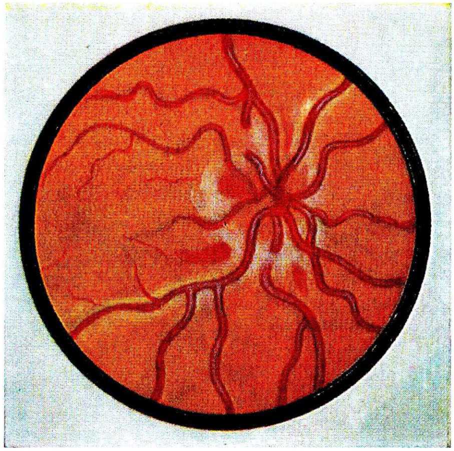


प्लेट XI. रंगबोध की जाँच करने वाली एक सारिणी

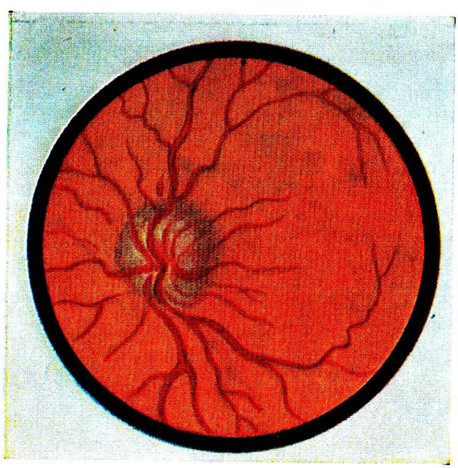


प्लेट XII. रोहे के चार चरण

A. ट्रेकोमा या रोहे 1, B. रोहे 2, C. ट्रेकोमा 3, D. रोहे 4



प्लेट XIII. दृष्टि तंत्रिका शोथ

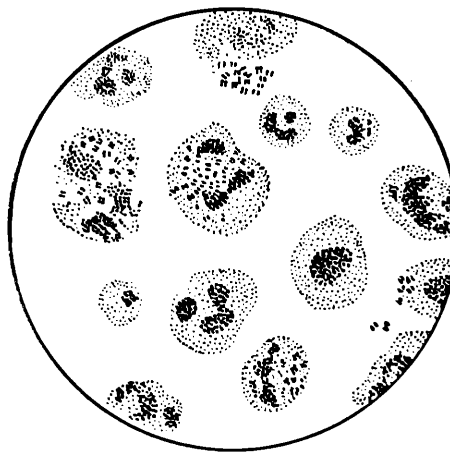


प्लेट XIV. अक्षिबिम्ब शोफ

मिल सके तथा उपचार के समय इस बात की ध्यानपूर्वक सावधानी बरती जा सके कि वह औषधि को कैसे सहन करता है। रोगियों को नियमित विधान का पालन करना चाहिए, विटामिन से पूर्ण ज्यादा कैलोरी वाली खुराक लेनी चाहिए तथा अपने दाँतों और मसूड़ों की सही देखभाल करनी चाहिए।

सूजाक (गोनोरिया)

सूजाक एक ऐसा संक्रामक रोग है जिसमें मनुष्य के मूत्र-प्रजनन अंग मुख्य रूप से संबद्ध होते हैं। यह संक्रमण बहुधा मैथुन से होता है। लड़कियाँ इस रोग को बहुधा जननांगेतर पथ से ग्रहण करती हैं। इसका कारक गोनोकोकस है (चित्र 86)। इसकी खोज 1879 में हुई थी।



चित्र 86. कार्यप्रदर्शी विलण के लिए गोनोकोकस का विन्यास।

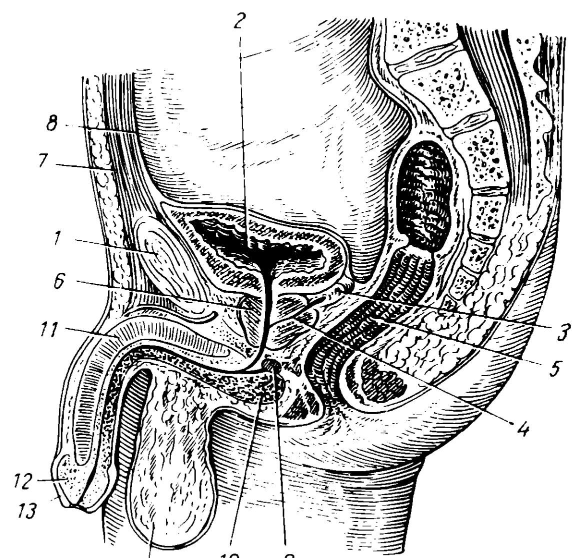
इसका उष्मायन काल तीन से पाँच दिन तक है, पर कभी-कभी यह दो से तीन सप्ताह तक भी हो सकता है। इसमें हृदय और जोड़ कभी-कभी आवृत्त होते हैं और गोनोकोकल पूत्तिका हो जाती है। इसलिए गोनोरिया पूरे शरीर का सामान्य संक्रमण है, यद्यपि अधिकतर रोगियों में मूत्र प्रजनन अंगों की श्लेष्मल कला संक्रमित होती है। गोनोरियल या ब्लेनोरियल नेत्र श्लेष्मलाशोथ तब हो जाता है, जब हाथों के द्वारा पस का संक्रमण आंखों में हो जाता है या यह रोग माता की जन्म कैनाल में संक्रमित शिशु में होता है।

पुरुषों में सूजाक

रोगी महिला से मैथुन करने से पुरुष संक्रमित हो जाता है। मूत्र पथ के अग्रभाग के संक्रमित होने से रोग (एक्यूट यूरेथ्राइटिस) की शुरूआत होती है। उष्मायन काल के पूरा होते ही मूत्रपथ में जलन और खुजली महसूस होती है और मूत्रण पीड़ायुक्त होता है। मूत्रपथ से पीलापन लिए हुए हरा पस स्रवित होता है और कुहर (द्वार) पर लाली और सूजन हो जाती है। यदि कोई उपचार न किया जाय तो यह प्रकम दो-तीन हफ्तों में मूत्रपथ के पीछे वाले भाग तक फैल जाता है और पश्च गोनोरियल

मूत्रमार्ग शोथ हो जाता है। इसमें बार-बार पीड़ादायक मूत्रण की इच्छा होती है। मूत्रण के बाद तेज पीड़ा होती है और मूत्र की आखिरी बूंदों में खून के धब्बे होते हैं। मूत्रपथ में संवरणी के द्वारा मूत्रपथ का अग्रभाग पश्च भाग से अलग हो जाता है और इसलिए शुरू में पस पश्च भाग में नहीं पहुँच पाता है। दो-ग्लास मूत्र-जाँच इसी पर आधारित है। रोगी दो गिलासों में पेशाब करता है। अग्रभाग के मूत्रपथ का मूत्र पस मिले होने के कारण मलिन होगा, जबकि पश्च भाग के मूत्रपथ से आया हुआ मूत्र स्वच्छ होगा।

यदि तीव्र यूरेथ्राइटिस का उपचार न किया जाय तो शोथज ठीक होने पर रोगी व्यक्ति को सवेरे के मूत्रण में मूत्रपथ से श्लेष्मपूयी स्राव की कुछ बूंदें दिखती हैं तथा हल्की खुजली और जलन होती है। इसे चिरकारी गोनोरियल यूरेथ्राइटिस कहते हैं। इस रोग में दो गिलास जाँच करने में पहले भाग में पस के धागे और पत्रक होते हैं और दूसरे गिलास में मूत्र साफ होता है। अल्कोहल और संभोग से चिरकारी गोनोरियल यूरेथ्राइटिस का प्रकोप होता है: मूत्रण पीड़ादायक होता है। स्राव सपूय होता है और मूत्र मलिन होता है। चिरकारी गोनोरियल यूरेथ्राइटिस की तरह पुरस्थ में शोथ हो जाता है। शुक्राणु पुटिकाएँ और अधिवृषण (एपीडिडीमिडेस) हो जाते हैं (चित्र 87)।



चित्र 87. मनुष्य के मूत्र-प्रजनन अंग।
1. जघन संधानक, 2. मूत्राशय, 3. शुक्राशय, 4. शुक्रप्रसेचक वाहिनी, 5. मलाशय, 6. पुरस्थ, 7. उदरीय भिजत्ति, 8. पर्युदर्या, 9. कुपरिग्रंथि, 10-12. मूत्र-पथ और शिश्न के रक्तधर पिण्ड, 13. शिश्नमुण्डच्छद, 14. वृषण कोश।

नई जड़ वाले गोनोरिया में शुरू में हल्का शोथ होता है : मूत्र मार्ग से थोड़ा श्लेष्मल सपूय या श्लेष्मा स्राव आता है। मूत्रण पीड़ा-रहित होता है या हल्की पीड़ा होती है। मूत्रण का पहला भाग कुछ मलिन होता है और उसके बाद का मूत्र स्वच्छ होता है। गोनोरिया की ऐसी प्रक्रिया को ऐसे समझाया जा सकता है कि गोनोकोकस के गुण बदल जाते हैं या रोगी के शरीर की क्रियाशीलता घट जाती है। जानपदिक दृष्टिकोण से नई जड़ वाला गोनोरिया महत्वपूर्ण है क्योंकि इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों को इस बात का आभास ही नहीं हो पाता है कि वे रोग से पीड़ित हैं तथा वे अपना लैंगिक संभोग जारी रखते हैं और महिलाओं को गोनोरिया से संक्रमित करते रहते हैं।

गलत उपचार से या उपचार न होने से, अल्कोहल (मद्यपान) से, रोग-प्रतिरोधी शक्ति घट जाने से (उदाहरण के लिए अन्य अनुषंगी रोग), लैंगिक उत्तेजना, इत्यादि से जटिल (सम्मिश्र) गोनोरिया हो जाता है। पुरुषों में गोनोरिया संबंधी पुरस्थ शोथ, अधिवृषण शोथ, शुक्राशयशोथ गोनोरिया के उपद्रव (जटिलता) में सम्मिलित हैं।

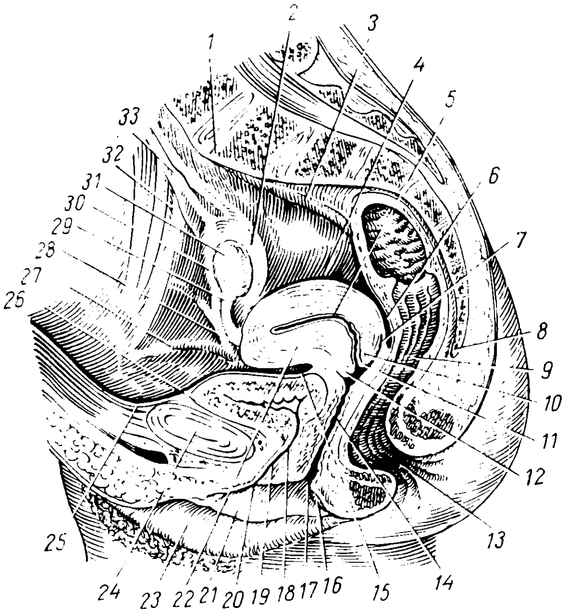
गोनोरिया पुरस्थशोथ तीव्र या चिरकारी हो सकता है। जब यह प्रक्रिया ग्रन्थि की शुक्रप्रसेचक वाहिनी में होती है तो श्लेष्मास्रावी पुरस्थशोथ होता है। यदि पुरस्थ के पृठक खण्डक रोगी होते हैं तो पुटकीय पुरस्थशोथ होता है। यदि ग्रन्थि के सारे ऊतक प्रभावित हों तो पार-ऊतकी पुरस्थरोग होता है। पुरस्थ (या इसके खण्डक) आकार में बढ़ जाते हैं और स्पर्श असह्य होते हैं। शौच के समय पीड़ा होती है और मनष्य को बार-बार मूत्रण की इच्छा होती है।

गोनोरिया अधिवृषण शोथ (अधिवृषण का शोथ) में वृषण में पीड़ा होती है, आकार बढ़ जाता है, अधिवृषण में मोटाई आ जाती है और दाब वेदना होती है, वृषण कोश की त्वचा में शोफ और लाली हो जाती है। अधिवृषण से विभिन्न वाहिकाओं में अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा द्विपार्श्वीय वृषण शोथ के परिणामस्वरूप बाँझपन हो जाता है।

गोनोरिया शुक्राशय शोथ (शुक्र पुटिकाओं का शोथ) बहुधा पुरस्थशोथ और अधिवृषण शोथ के साथ होता है।

महिलाओं में गोनोरिया रोग

गोनोरिया से महिलाओं में हल्की-सी स्वप्रत्यय संवेदना होती है और अधिक समय तक उन्हें इस रोग का आभास नहीं होता है। इसलिए वे चिकित्सकीय परामर्श भी नहीं लेती हैं। इस प्रक्रिया में एक साथ बहुत से अंग प्रभावित होते हैं : गर्भाशय की ग्रीवा, मूत्र-पथ, ब्राथोंलिस ग्रन्थियाँ (चित्र 88)। ऐसी हालत को उपद्रव-रहित गोनो-



चित्र 88. स्त्री के जननांग।

1. सेक्रमी उत्सेध, 2. और 30, फैलोपी नलिका, 3, पर्युदर्या, 4, 22 और 28, गर्भाशय, 5. आंतरिक गर्भाशय द्वार, 6, 15. डोगलस अवकाश, 7. पश्च तोरणिका, 8. अनुत्रिक, 9. मलाशय, 10 और 12, गर्भाशय तोरणिका, 13. गुदा, 14. योनि, 16 व 17. योनि का प्रवेश द्वार और योनिच्छद, 18, 19, 20. मूत्रमार्ग, 21. लघुभगोष्ठ, 23. वृहदभगोष्ठ, 24. जघन संधानक, 25. नाभि स्नायु, 26. मूत्राशय, 27, 29, 33. गर्भाशय स्नायु, 31. डिम्ब ग्रंथियाँ, 32. श्रेणि शिरा।

रिया कहते हैं। शोथज जब गर्भाशय गुहिका, इसके उपांगों, परिमितीय वसा या छोटी श्रोणि की पर्युदर्या तक फैल जाता है तो इसे **आरोही गोनोरिया** कहते हैं।

गोनोरिया में गर्भाशय की ग्रीवा के शोथ को गोनोरिया का **अन्तर्गर्भाशय ग्रीवा शोथ** कहते हैं। यह रोग सभी तीव्र चिरकारी या नई जड़ वाले गोनोरिया से पीड़ित पहिलाओं को होता है। गर्भाशय की ग्रीवा में जलशोथ और लाली होती है, गर्भाशय के छिद्र के चारों ओर चमकीली लाल फुंसिया हो जाती हैं और छिद्र से श्लेष्मा सपूय पदार्थ स्रवित होता रहता है। रोगी महिला कभी-कभी छोटी श्रोणि में भारीपन की शिकायत करती है और पीठ में कभी-कभी पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त और कोई शिकायत नहीं होती है।

महिलाओं के **गोनोरिया मूत्र मार्ग शोथ** में मूत्रमार्ग के छिद्र के आस-पास के ऊतकों में लाली और सूजन आ जाती है। मूत्रमार्ग से पस जाता है। मूत्रण के समय हल्की पीड़ा और जलन की संवेदना होती है।

गोनोरिया बार्थोलिनशोथ में केवल बार्थोलिम ग्रन्थि वाहिनी के छिद्रों में शोथ हो सकता है।

महिलाओं में **गोनोरिया मलाशय शोथ** अधिकतर योनि से गुदा में पस चले जाने से हो जाता है।

आरोही गोनोरिया उपचार न होने से, या गलत उपचार करने से हो जाता है। लैंगिक संभोग, मद्यपान, घटी हुई प्रतिरोधी शक्ति और मासिक धर्म से भी आरोही गोनोरिया बढ़ जाता है। शरीर का ताप बढ़ जाता है, पेट के निचले भाग में तथा पीठ में पीड़ा महसूस होती है। गर्भाशय ग्रीवा से स्राव बढ़ जाता है। श्रोणि पर्युदर्या क्षोभ में (जो कि उपांग शोथ में होता है अर्थात गर्भाशय के उपांगों में शोथ होता है) इन लक्षणों के साथ निम्न भी मिलती हैं: मिचली, उलटी, कब्ज और पेट की मांसपेशियों में कठोरता।

लड़कियों में गोनोरिया जननांगेतर पथ से होता है, जब वे किसी रोगी महिला के साथ उसी बिस्तर में सोती हैं या एक ही शौचालय का प्रयोग करती हैं अथवा एक ही अंतरवस्त्र और स्पौन्ज आदि इस्तेमाल करती हैं। योनि के प्रवेशद्वार या योनि का रोग होना सबसे प्रचलित रोग है। इसे **गोनोरिया भग-योनिशोथ** कहते हैं। मूत्रमार्ग और गुदा श्लेष्मा भी बहुधा प्रभावित होती है। इसे **गोनोरिया मलाशय शोथ** कहते हैं। लड़कियों में अन्तगर्भाशयग्रीवाशोथ और आरोही गोनोरिया बहुत कम होता है। नयी जड़ वाले गोनोरिया में थोड़ा स्राव होता है। हल्की-सी लाली और जलशोथ (शोफ) होता है और स्वप्रत्यय संवेदना होती है। शिशुओं में इसके संक्रमण और ठंड, इत्यादि के प्रभाव में रोग का लघुकालिक प्रकोपन होता है।

पुरुष रोगियों में द्रव्य का एकत्रीकरण और आलेपन बनाना

तीव्र शोथ (तीव्र गर्भाशय शोथ, और पुरस्थ शोथ) में मुक्त रूप से प्रवाहित स्राव का परीक्षण किया जाता है। दूसरे रोगों में गर्भाशय की गहरी पर्तों में से द्रव्य लेते हैं या पुरुष में शुक्राणु पिटिकाओं और पुरस्थ से विशेष विधि द्वारा द्रव्य का एकत्रीकरण करते हैं।

मूत्रमार्ग में से आलेप तीव्र मूत्रमार्ग शोथ में मूत्रमार्ग से मुक्त रूप से निकलने वाली प्रथम बूंद को साफ गाज टैम्पन से अलग कर लेते हैं और सपूय स्राव को काँच पट्टिका के कोने पर ले कर एक दूसरी साफ काँच पट्टिका पर एक दिशा में चला कर आलेप बनाते हैं। सूक्ष्मदर्शी के लिए एक सरल तथा उत्तम आलेप तब मिलता है, जब द्रव्य वाली पट्टिका को साफ पट्टिका के ऊपर $30^\circ–40^\circ$ के कोण पर पकड़ कर किनारे से मिला कर स्पर्शित कराते हैं। यदि स्राव कम हो को रोगी के प्रातःकाल मूत्रण से पूर्व द्रव्य लेना चाहिए या हल्के से शिश्न मुंड को दबाकर मूत्र मार्ग के द्रव्य को निकाल लेना चाहिए। जब कभी मूत्रमार्ग से कोई स्राव न हो तो प्लैटिनम लूप की

सहायता से मूत्र पथ के श्लेष्मा से खुरचन को एकत्रित करते हैं (प्लैटिनम लूप को प्रयुक्त करने से पूर्व उसे बर्नर की लौ में थोड़ी देर रखने के बाद ठंडा करके मूत्रमार्ग में 2–4 से० मी० अंदर तक प्रवेशित किया जाता है)। खुरचने का काम बहुत सावधानी से करना चाहिए, जिससे श्लेष्मा को क्षति न पहुचे। प्लैटिनम तार के सिरे को तेजी से बहिर्विष्ट नहीं करना चाहिए। प्लैटिनम लूप पर आये द्रव्य को काँच पट्टिका पर स्थानान्तरित कर देते हैं।

मूत्रपथ ग्रन्थियों और मूत्रपथ शिरानाल से आलेप लेने से पूर्व मूत्र पथ की सीधी शलाका पर मर्दन किया जाता है। मर्दन से पूर्व मूत्राशय को खाली किया जाता है और इसमें (मूत्राशय में) 50 मि० ली० अच्छी तरह उबाला हुआ उष्ण जल या 1 : 6000 मरकरी आक्सीसायेनाइड घोल प्रवेशित किया जाता है। मूत्रपथ का मर्दन शलाका पर तीन से पाँच मिनट तक किया जाता है, इसके बाद प्लैटिनम लूप से बड़ी सावधानी से इसे खुरचा जाता है, या स्रवित धोवक जल में उपस्थित सूत्र-खंडों की जाँच करते हैं।

पुरस्थी द्रव का एकत्रीकरण रोगी केहुनों को टेबुल पर रख कर बैठने की मुद्रा में खड़ा रहता है। इस स्थिति में उसके पुरस्थों की मालिश की जाती है (इसके पहले मूत्राशय खाली करा के उसमें 50-60 मि० लि० उबले गुनगुने पानी में पारद आक्सी-सायनाइड का 1 : 6000 घोल प्रविष्ट करा देते हैं)। वाह्य मूत्र-द्वार से प्रकट दूधिये बूंद को काँच की पट्टी पर ले कर उसे दूसरी पट्टी से दबा देते हैं। यदि बूंद न निकले, तो धोवक-जल की तलछटी की जाँच करते हैं (इसके लिये धोवक को नचा कर अपकेंद्रित कर लेते हैं)।

महिलाओं के द्रव्य का एकत्रीकरण

ड्रेसिंग संदंश की निर्जीवाणुक धार या स्पैचुला से योनि आलेप तैयार करने के लिए हर स्थान से द्रव्य विभिन्न उपकरणों में लिया जाता है। रोगी को कहा जाता है कि आलेप से पूर्व मूत्राशय को खाली न करे। मूत्रमार्ग से नमूना सबसे पहले लेते हैं। उपस्थीय भगोष्ठ को बायें हाथ की उंगलियों से हटाते हैं कि मूत्रपथ मार्ग दिखने लगे। उपरोक्त वर्णित औजार के द्वारा इसके स्राव को इकट्ठा करते हैं और साफ काँच पट्टिका पर रखते हैं। कभी-कभी चिरकारी मूत्र मार्ग शोथ होने पर मूत्र मार्ग का बड़ी सावधानी से मर्दन करना पड़ता है और दबाकर पेंदे से स्राव लिया जाता है। कस्को स्पेकुलम या, कोई सहायक होने पर, दो सिम स्पेकुलाओं को योनि मार्ग में प्रवेश कराते हैं जिससे कि गर्भाशय ग्रीवा खुल जाती है और इसमें से स्राव को निर्जीवाणुक औजार से एकत्रित करके इसकी पतली पर्त को दो कांच की पट्टियों पर लगाते हैं। इसके बाद द्रव्य को योनि के पश्च कक्ष से दूसरे औजार से निकाल कर इन कांच पट्टियों पर लगाया जाता है। पट्टिका के अनुरूप भाग को अक्षरों से चिन्हित करते हैं: u (मूत्रमार्ग), s (ग्रीवा), और v (योनि)। ये आलेप दो कांच पट्टिकाओं

पर तैयार किये जाते हैं, क्योंकि दो विभिन्न अभिरंजक विधियाँ प्रयोग में लायी जाती है। यदि सभी आलेपों के लिए एक ही कांच पट्टी इस्तेमाल की जाय तो आलेप एक निश्चित प्रक्रम से एक दूसरे से कुछ दूरी पर लेने चाहिए। लेप स्थिरीकरण के लिए कांच पट्टिकाओं को एक या दो बार वर्नर की लौ पर से गुजारते हैं। और फिर सांकेतिक चिन्ह के साथ पट्टिकाओं को प्रयोगशाला में भेज देते हैं।

गोनोरिया का उपचार

गोनोरिया के सामान्य उपचार के लिए **प्रतिजीवी** एक मुख्य उपाय है। जल में घुलनशील पेन्सिलीन (200000 इ०) का प्रति तीन या चार घंटे के अंतर पर इंजेक्शन लगाते हैं, एक्मोनोवोसिलीन (600000 इ०) को प्रत्येक 10 से 12 घंटे के अंतर पर, बाइसिलीन-1 या बाइसिलीन-3 की 1200000 इ० (प्रत्येक नितम्ब में 600000 इ० की) खुराक देते हैं। तीव्र, पर उपद्रव-रहित गोनोरिया में पेन्सिलीन की पूरी खुराक 2000000 इकाई तथा तीव्र, जटिल और ताजी जड़वाली और रोग के चिरकारी रूप में 3000000 इकाई की पूरी खुराक दी जाती है। पेन्सिलीन को रोगी के स्वरक्त में मिलाकर इंजेक्शन दिया जा सकता है (500000 इ० पेन्सिलीन का 1 मि० ली० शरीर वृत्तिक लवण घोल में विलीन करके तथा 5 मि० ली० रोगी का रक्त मिलाकर इस मिश्रण का नितंब की मांसपेशी में इंजेक्शन लगाते हैं)।

स्ट्रेप्टोमाइसीन की 0.5 ग्रा० की खुराक का अंतरपेशीय इंजेक्शन दिन में दो बार लगाया जाता है (उपद्रव-रहित गोनोरिया के तीव्र रूप में कुल खुराक 1.0 ग्रा० तथा दूसरे रूपों में 2.0 से 4.0 ग्रा० तक दी जाती है)। क्लोरोम्फेनिकोल की 0.5 ग्रा० की खुराक दिन में चार बार और उपद्रव-रहित तीव्र गोनोरिया में 5.0 ग्रा० तथा अन्य रूपों में 6.0-7.0 ग्रा० की खुराक दी जाती है। क्लोरटेट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड (बायोमाइसीन), टेट्रासाइक्लीन और आक्सीटैट्रासाइक्लीन डिहाइड्रेट की 0.2 ग्रा० की खुराक दिन में पाँच बार दी जाती है (कुल खराक 3.0–4.0 ग्रा० उपद्रव-रहित तीव्र गोनोरिया में और अन्य रूपों में 5.0–7.0 ग्रा० दी जाती है)। फेनाक्सी-मेथाइल पेन्सिलीन (200000 इ०) की खुराक दिन में छः बार भोजन से एक घंटा पहले दी जाती है (कुल खुराक 4000000-8000000 इ०)। ओलेटेट्रीन योग में ओलिएनडोमाइसीन फास्फेट का एक भाग और टेट्रासाइक्लीन के दो भाग होते हैं। इसकी 1500000 इ० की खुराक पहले दिन (500000 इ० पहली बार और फिर 250000 इ० चार बार) दी जाती है और इसके अगले दिनों में 250000 इ० की खुराक दिन में चार बार दी जाती है। कुल खुराक 4000000-7000000 होती है। एराइथ्रोमाइसिन की कुल खुराक 6000000-8000000 इ० (दो दिन तक 400000 इ० दिन में छः बार और बाकी अगले दिनों तक दिन में चार बार 400000 इ० प्रति खुराक दी जाती है) और मोनोमाइसीन की 2000000–3000000 इ०

(500000 इ० 0.5 प्रतिशत प्रोकेन घोल में) 12 घंटे के अंतर पर दिया जाता है।

सल्फानिलामाइड को प्रतिजीवी के साथ या अकेले ही ऐसे रोगियों को देते हैं जिनके लिए प्रतिजीवी औषधियाँ प्रति-निर्देशित होती हैं। सल्फाथियाजोल और सल्फामेथाजीन 1.0 ग्रा० की खुराक में दिन में पाँच बार दी जाती हैं और कुल खुराक 20 ग्रा० है।

गोनोरिया के तीव्र, पर उपद्रव-रहित रूप को छोड़कर अन्य सभी रोगियों को **प्रतिरक्षा चिकित्सा** दी जाती है।

टीका के रूप में शुरू में 20-30 करोड़ सूक्ष्मजीवी पिंडों की खुराक का अंतरपेशीय इन्जेक्शन दिया जाता है और फिर इस खुराक को बढ़ाकर एक अरब सूक्ष्मजीवी पिंड कर दी जाती है। दो या तीन दिन के अंतर पर चार से छः इन्जेक्शन तक दिये जाते हैं।

दुग्ध चिकित्सा. (दूध का इन्जेक्शन) यह इन्जेक्शन तीन से पांच दिन में एक बार दिया जाता है। पूरा उपचार चार या पाँच इन्जेक्शन का होता है। पहली वार 1-2 मि० लि० का इंजेक्शन दिया जाता है और फिर हर इन्जेक्शन में 2-3 मि० ली० मात्रा बढ़ाते जाते हैं, जव तक कि खुराक 5-10 मि० ली० न हो जाय। खुराक का बढ़ाना शरीर की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। गाय के ताजे दूध को परख नली में डालकर पाँच से दस मिनट तक उबालते हैं और फिर ठंडा करते हैं। फिर दूध की आवश्यक मात्रा को पिचकारी में सुई लगाकर गहराई में से चूषण करते हैं। फिर इन्जेक्शन को नितम्ब के ऊपरी पश्च चतुर्थांश में लगाते हैं।

स्वरक्त चिकित्सा तीन दिन में एक बार करते हैं। 5 से 10 मि० ली० रक्त के चार से छः इन्जेक्शन लगाये जाते हैं।

स्थानिक उपचार की आवश्यकता तीव्र उपद्रव-रहित गोनोरिया में नहीं पड़ती है, पर रोग के अन्य सभी रूपों में यह रोग-मुक्ति में बहुधा महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

शोथ का उपचार पोटैशियम परमैंगनेट (38°-40° सें०) के 1 : 10000-1 : 60000 घोल से एशमार्क धोवक द्वारा मूत्रपथ की धोवन क्रिया से किया जाता है। शोथ जितना ही अधिक तीव्र हो, घोल की सान्द्रता उतनी ही कम होनी चाहिए। धोवक के कांच वाला सिरा विसंक्रमित होना चाहिए। रोगी को किसी कोच या दीवान पर लिटा दिया जाता है। धोवक को जननांगों से 1 से 1.5 मी० की ऊंचाई पर लटकाते हैं। मूत्रपथ छिद्र के आस-पास की त्वचा तथा पुरुषों में शिश्नमुंड के ऊपर की त्वचा को धोवक के घोल की धार से धोते हैं। फिर धोवल के अग्रभाग को मूत्रपथ में घुसा कर घोल को तब तक मूत्रपथ में बहने देते हैं, जव तक कि रोगी यह महसूस न करे कि यह (मूत्रपथ) भर कर फूल गया है। धावक के अग्रभाग को मूत्रपथ से बाहर निकाल लेते हैं और यह घोल मूत्रपथ से बाहर निकलने लगता है। यह विधि 10 से 12 बार दोहराई जाती है।

पहले कुछ दिनों तक मूत्रपथ के अग्रभाग का धोवन किया जाता है पर आगे चल कर मूत्रपथ के पिछले (अन्दर) के भाग का भी धोवन किया जाता है। एशमार्क धोवक से उसी तरह से घोल अन्दर पहुँचाया जाता है, पर धोवक के अग्रभाग को तब तक बाहर नहीं निकालते हैं जब तक कि मूत्राशय में घोल न पहुँच जाय (मूत्राशय में पहुँचने पर मूत्रण की इच्छा होती है)। मूत्राशय में यह घोल कई बार भरा जाता है जब तक कि इसमें से बहने वाले घोल की मलिनता समाप्त न हो जाय।

योनि का धोवन एशमार्क धोवक से करते हैं, जिसका अग्रभाग शीशे का होता है। धोवक को एक मीटर से कम ऊंचाई पर विस्तर के स्तर पर रखते हैं। रोगी महिला अपनी पीठ के बल लेट जाती है। इस स्थिति में योनि की दीवारों की धुलाई बेहतर और अधिक समय तक होती है तथा धोवन के बाद भी कुछ घोल योनि में शेष रह जाता है। धोवक के अग्रभाग को योनि की पिछली दीवार तक घुसा दिया जाता है और साथ-साथ घोल चलता रहता है। 45° सें० तक गर्म जल द्वारा धोवन मे योनि की दीवारों को क्षति नहीं पहुँचती है, पर जननेंद्रिय की बाह्य त्वचा तथा जाघों की त्वचा जल सकती है। इसके बचाव के लिए इस त्वचा पर वैसलीन का आलेप कर दिया जाता है। धोवन के बाद रोगी कम से कम 30 मिनट तक उत्तान स्थिति में रहता है। धोवक के अग्रभाग को विसंक्रमित कर लिया जाता है। धोवक के 60 से 90 मिनट बाद योनि टैम्पन लगाये जाते हैं। एक रूई का टैम्पन (सन्तरे से बड़े आकार की रूई की टिकिया) धागे से क्रास के आकार में बांधी जाती है। और के सिरे ज्यादातर लंबे होते हैं। ये टैम्पन विसंक्रमित तथा किसी औषधीय पदार्थ में (सल्फानिलामाइड घोल, कोडलिवर तेल या ग्लीसरीन, इत्यादि में) भिगोये हुए होते हैं और इन्हें टैम्पन को योनि के पिछले कक्ष तक वीक्षण यंत्र से घुसाया जाता है। वीक्षण यंत्र को बाहर निकालते हैं पर टैम्पन को उंगलियों या लंबी चिमटी से अंदर पकड़े रखा जाता है। योनि के बाहर लटकते हुए धागे को खींच कर रोगी टैम्पन को 8-10 घंटे बाद बाहर निकाल लेता है।

अनुतीव्र और चिरकारी मूत्र मार्ग शोथ में 0.25–1.0 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का 6 से 8 मि० ली० मात्रा का या सिल्वर प्रोटीन घोल के 1.0–2.0 प्रतिशत का मूत्र-मार्ग में बिंदुपात की अनुशंसा की जाती है।

बिन्दुपातक को फारमलडिहाइड की भाप में विसंक्रमित करते हैं या प्रयोग से एक घंटा पूर्व मरकरी आक्सीसायेनाइड घोल में रखा जाता है। इसे मूत्रमार्ग संवरणी से घुमाया जाता है और फिर धीरे-धीरे घोल (पुरुषों में 6-8 मि० ली० और महिलाओं म 3-5 मि० ली०) का बिन्दुपात करते हुए बिन्दुपातक को बाहर निकाल लिया जाता है। रोगी इस औषधि को अपने मूत्र मार्ग में दो से तीन मिनट तक बने रहने देता है। यह क्रिया दो दिन के अंतर पर दोहराई जाती है।

बूजी (शलाका) प्रवेशन. जब मूत्रपथ व्रण चिन्हों के कारण संकरा हो गया हो

तो इसमें शलाका प्रवेशित की जाती है। यह क्रिया अपूतित अवस्था में की जाती है: उपकरण तथा हाथों को वैसे ही उपचारित करते हैं जैसे कि शल्य कार्य से पूर्व। ये शलाकाएं धातुई, मुलायम (रेशम और प्लैटिक के) या मिश्रित होते हैं। धातु-शलाकाओं का विसंक्रमण उबालकर और प्लास्टिक के उपकरणों को सोडा के बिना, कम देर तक पानी में उबाला जाता है।

बूजी (शलाका) प्रवेशन का कार्य चिकित्सक द्वारा किया जाता है। उपचारिका उपकरणों को संभालती है तथा इन्हें विसंक्रमित करती है तथा इस कार्य में चिकित्सक की सहायता करती है और रोगी की हालत देखती रहती है।

मूत्रपथ का धोवन या बिन्तुपातन करते समय या शलाका प्रवेशन से पूर्व रबर के दस्ताने पहनने चाहिए।

तीव्र पुरस्थ शोथ और शुक्राशय शोथ होने पर 10-15 मिनट तक उष्ण (40-42° सें०) सूक्ष्मएनीमा दिया जाता है तथा रोग के चिरकारी होने पर मर्दन और डायाथर्मी करते हैं।

तीव्र अधिवृषण शोथ में पूर्णरूप से शैय्या विश्राम आवश्यक होता है या रोगी को निलंबी पहननी चाहिए। अनुतीव्र और चिरकारी रोग में डायाथर्मी, पैराफीन चिकित्सा तथा स्थानिक उष्ण स्नान की सलाह दी जाती है।

महिलाओं को होने वाले मूत्रपथ शोथ के स्थानिक उपचार में मूत्रमार्ग का धावन, बिन्दुपातन तथा इच्छथेमोल से मूत्र मार्ग का आलेपन किया जाता है। मूत्रमार्ग में 1.0 से० मी० की गहराई तक कांच के अग्रभाग को प्रवेशित कर के धोवन करते हैं। उपयुक्त घोल की 3-5 मि० ली० मात्रा का बिन्दुपातन किया जाता है। योनि स्नान, पोटैशियम परमैंगनेट से धोवन तथा मूत्राशय ग्रीवा पथ का ल्यूगोल घोल से आलेप किया जाता है तथा अंतर गर्भाशय ग्रीवा शोथ में स्थानिक चिकित्सा की जाती है। मलाशय शोथ होने पर गुदा में रबर के गुब्बारे के द्वारा 3 प्रतिशत सिल्वर प्रोटीन घोल की 5 मि० ली० मात्रा का आधान किया जाता है।

चिरकारी रोग से पीड़ित लड़कियों का उपचार योनिधोवन द्वारा (उष्ण पोटैशियम परमैंगनेट घोल की महीन रबर की शलाका के प्रवेशन द्वारा) तथा योनि में 1-2 प्रतिशत सिल्वर प्रोटीन घोल (3-5 मि० ली०) के बिन्दुपातन द्वारा किया जाता है। सिल्वर प्रोटीन घोल (1 प्रतिशत) की कुछ बूंदें आंख वाले पिपेट के द्वारा मूत्र पथ में बिंदुकित की जाती हैं।

गोनोरिया से पूर्णतया रोग-मुक्त होने की पहचान. उपचार के पूरा होने के सात से दस दिन बाद गोनोरिया से पूर्णरूप से रोग मुक्त होने की जांच की जाती है। इस उद्देश्य से मिश्रित प्रोत्तेजन किया जाता है: धातु बूजी को 5 से 10 मिनट तक के लिए मूत्र-पथ में प्रवेशित करते हैं और फिर 0.5 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल के 0.5 प्रतिशत की 10 मि० ली० मात्रा का बिन्दुपात किया जाता है। गोनोवैक्सीन (50 करोड़ सूक्ष्मजीवी पिंड) का अंतरपेशीय रूप से इंजेक्शन दिया जाता है तथा

रोगी को मसालेदार भोजन तथा बियर लेने की सलाह दी जाती है। प्रोत्तेजन के तीन दिन बाद स्राव से ग्रालेप तैयार किये जाते हैं। पुरुषों में नकारात्मक परिणाम मिलने के एक महीने बाद प्रोतेजना फिर की जाती है। महिलाओं में प्रोतेजना मासिक धर्म (तीन मासिक धर्म होने के बाद) होने के बाद की जाती है और सिफिलिस के लिए रक्त की जाँच की जाती है।

प्रोत्तेजना के अनुकूल परिणाम मिलने के बाद ही रोगी को पूरी तरह रोग मुक्त समझा जाता है।

ट्राइकोमोनसता

इस बात की अब पुष्टि हो चुकी है कि ट्राइकोमोनसता एक ऐसा रतिज रोग है जिसका संक्रमण मुख्य रूप से मैथुन करने से होता है। यह संक्रमण जननांगेतर पथ से भी होता है (विशेषकर लड़कियों में), जब लड़कियाँ एक ही स्पन्ज या तौलिये का इस्तेमाल करती हैं या वे संक्रमित महिला के साथ एक ही शैय्या में सोती हैं।

इस रोग का कारण **ट्राइखोमोनस वैजीनैलिस** है, जिसका अन्वेषण 1837 में डाने ने किया था। यह अमीबा की शक्ल वाला गतिशील सूक्ष्मजीवी है, जो गोल, अंडाकार या नाशपाती की शक्ल का होता है, जिसमें चार गतिशील कशाभिकाएं होती हैं। ट्राइकोमोन 7 से 20 माइक्रोन तक के आकार का होता है।

टी० वैजीनैलिस से स्त्रियों और महिलाओं को दीर्घकालिक और कभी-कभी दीर्घ स्थायी रोग (कोलपाइटिस, भग-योनिशोथ इत्यादि) हो सकते हैं। इससे पुरुषों को भी, हालांकि कभी-कभी ही, रोग (मूत्रपथ शोथ, पुरस्थशोथ इत्यादि) हो सकते हैं।

महिलाओं और लड़कियों में इस रोग की अभिव्यक्ति श्वेत प्रदर से होती है, जो बहुधा झाग वाला होता है। श्लेष्मल कला में अतिरक्तता होने से रक्त जल्दी आने लगता है, पीड़ा तथा खुजली होती है तथा मूत्रण के समय जलन। ट्राइकोमोनसता में महिलाओं को स्वप्रत्यय लक्षण अधिकतर नहीं होते हैं। स्वप्रत्यय लक्षण या तो होते नहीं हैं या नाम मात्र को होते हैं, जिनकी वजह से ये रोगी जानपदिक रोग के दृष्टिकोण से विशेष रूप से खतरनाक होते हैं।

यदि गर्भवती महिला के चिकित्सा वृत्त में इस बात का उल्लेख किया गया हो कि महिला ट्राइकोमोनसता से पीड़ित है, तो प्रसूतिगृह में इस वृत्त के मिलते ही सभी संभव उपाय किये जायें कि नवजात शिशु को इसका संक्रमण न हो (भग में प्रति सिल्वर नाइट्रेट घोल की दो-तीन बूंदें डाल दी जाती हैं)। प्रसूतिगृह के बाल – कक्षा में, बालचिकित्सालयों, किन्डरगार्टेनों तथा शिशु गृहों में कार्यरत लोगों में से ट्राइको-मोनसता से पीड़ित लोगों को पहचानने तथा यथासंभव जल्दी से जल्दी उनके उपचार करने के सभी सक्रिय उपाय करने चाहिए। यदि किसी लड़की में ट्राइकोमोनसता का पता चलता है तो उसके परिवार के सभी सदस्यों की अवश्य ही जाँच की जानी चाहिए।

पुरुष में ट्राइकोमोनस संक्रमण से ऐसा रोग होता है जिसके लक्षण चिरकारी गोनोरिया के प्रक्रम से मिलते-जुलते हैं, पर इन रोगियों के मूत्रपथ का स्राव सफेद और झाग वाला होता है, न कि पीतसंपूय। यदि पुरुष में ट्राइकोमोनसता का निदान होता है तो उसकी पत्नी या उससे लैंगिक संपर्क रखने वाली महिलाओं की जांच की जानी चाहिए और उनका उपचार किया जाना चाहिए, भले ही उनमें रोग लक्षण की अभिव्यक्ति न हो।

गोनोरिया के प्रक्रम में रोगी में बहुधा ट्राइकोमोनाड भी होते हैं जो रोग की अपवृद्धि करके उसे विरूपित कर देते हैं तथा रोग की अवधि को बढ़ा देते हैं।

प्रयोगशालिक निदान. विसंक्रमित ग्वातिकायुक्त प्रोब या विसंक्रमित काँच की छड़ से जाँच के लिए विसंक्रमित परखनली में द्रव्य एकत्रित करते हैं। द्रव्य सहित परखनली को उष्ण जल में रखकर फौरन ही प्रयोगशाला में जाँच के लिए भेजते हैं। इस द्रव्य को उष्ण (37° सें०) शरीरवृत्तिक लवण-घोल की एक बूंद में मिलाकर कांच पट्टिका पर लेते हैं। मूत्र मार्ग से स्राव लेने के बाद रोगी को साफ बर्तन में पेशाब कराया जाता है। इस बर्तन में से मूत्र को परखनली में लेकर अपकेन्द्रित किया जाता है और तलछट की जाँच की जाती है। नवजात लड़कियों में यह द्रव्य शीशे की पतली छड़ से लिया जाता है या सिसंक्रमित पिपेट को उनकी योनि में प्रवेश कर के द्रव्य का चूषण किया जाता है।

प्रयोगशाला में इन नमूनों का अध्ययन उच्च आवर्धन वाले सूक्ष्मदर्शी के द्वारा किया जाता है और बेहतर हो कि उदीप्त पृष्ठभूमि में परीक्षण किया जाय। ट्राइकोमोनाड की विशिष्ट प्रतिक्षेपी गतियों से या उनकी कशाभिकाओं की आक्षेपी स्वतः-गतिशीलता से इनके निदान में सहायता मिलती है।

उपचार. खाने की दवाइयों में मेट्रानिडाजील (फ्लैजिल, ट्राइखोपोल, इत्यादि) दी जाती है (ये औषधियाँ चिकित्सक द्वारा निर्देशित की जाती हैं), इसे दिन में 0·25 ग्रा० की मात्रा में चार बार लिया जाता है। कुल खुराक 5 ग्रा० होती है।

भग योनिशोथ के स्थानिक उपचार में योनि का 2 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल से धोवन करने के बाद एसीटारसोन वर्तिका लगायी जाती है। पुरुषों का स्थानिक उपचार 5–10 प्रतिशत एसीटारसोन निलंबन को दैनिक रूप से बिन्दुकित करके किया जाता है। अन्य सभी बातों के लिए स्थानिक उपचार की योजना उन्हीं सिद्धांतों पर बनाई जाती है जो गोनोरिया के रोगी के संबंध में अपनाये जाते हैं।

मृदु शैंकर (उपदंश)

उपदंश का रोग स्ट्रेप्टोसूक्ष्मजीवों द्वारा होता है, जो एक कड़ी के रूप में पस के लेप में जुड़े होते हैं। इसका संक्रमण केवल संभोग के द्वारा होता है, जबकि स्ट्रेप्टोसूक्ष्मजीवी क्षतिग्रस्त त्वचा या श्लेष्मा कला के द्वारा शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं।

सोवियत संघ में इस रोग का सफाया किया जा चुका है, पर अन्य देशों में यह रोग कभी-कभी पाया जाता है।

जिस स्थान से स्ट्रेप्टोसूक्ष्मजीवी शरीर में प्रविष्ट होते हैं उस स्थान पर दो-तीन दिन में गहरे लाल दाग पड़ जाते हैं, जो पिटिका का रूप ले लेते हैं और फिर वहां पूयस्फोटिकाएं बन जाती है। पूयस्फोटिका फूट जाती है और व्रण बन जाता है, जिसका आकार बढ़ते-बढ़ते 1.0–1.5 सें० मी० व्यास वाला या इससे अधिक बड़ा हो जाता है। उपदंश में बहुधा बहुत से व्रण होते हैं, जो रोग के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होते हैं। इनका आकार अनियमित होता है तथा किनारे मुलायम होते हैं। व्रणों का फर्श खुरदरा होता है और इन पर सपूय स्राव जमा होता है। ये व्रण बहुत पीड़ा-दायक होते हैं तथा दो या तीन महीनों में भरते हैं, पर इनका व्रण चिन्ह पड़ जाता है। उपदंश के रोगियों में फाइमोसिर, पैराफाइमोसिस, गैंग्रीन और विनाशीव्रण (पृष्ठ 227-8) हो जाता है। 35 से 40 प्रतिशत रोगियों में वक्षण लसीका पर्व शोथीय, सपूय तथा फटने वाली होती है, और इनके ठीक होने के बाद व्रणचिन्ह रह जाता है।

उपचार. सल्फानिलामाइड तथा प्रतिजीवी औषधियों के परिणाम अच्छे होते हैं। सल्फानिलामाइड और सल्फाथायोजोल को पानी में मिलाकर एक लेप बना लेते हैं, जिसे व्रणों पर लगाते हैं।

सोवियत संघ में रतिज और संक्रामक रोगों का नियंत्रण

रतिज और संक्रामक रोग के नियंत्रण का सोवियत तंत्र सार्वजनिक चिकित्सा सेवा पर आधारित है। इसमें अत्यन्त कुशल विशेषज्ञों की शुल्क-रहित सेवा उपलब्ध है और इस सेवा का गठन औषधालय सेवा के रूप में किया गया है (इसमें सारी आबादी के लिए नियमित, संपूर्ण चिकित्सकीय जांच, रोकथाम के उपाय और उपचार उपलब्ध होते हैं)। औषधालय पद्धति सोवियत जन स्वास्थ्य सेवा की निरोधक प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्थापित हुई है।

सोवियत संघ में रतिज और संक्रामक रोगों का नियंत्रण निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित है।

सभी रोगी व्यक्तियों के नाम निश्चित रूप से दर्ज किये जाते हैं। सभी नये रोगियों के कार्ड और सूचना पत्र उच्च चिकित्सा अधिकारियों को भेजे जाते हैं। प्राप्त आंकड़ों के सांख्यिकीय विवेचन से पूरे देश, गणराज्य, संभाग, नगर और जनपद के पैमाने पर उपचारात्मक और निरोधक उपायों की योजना बनाना संभव हो जाता है।

अंतरंग चिकित्सालयों के विशाल तंत्र (विशेषीकृत प्रतिष्ठानों सहित) के अंतर्गत त्वचा-यौन रोग चिकित्सालयों, ग्रामीण चिकित्सालयों के बहिरंग औषधालयों व विभागों में अतिकुशल विशेषज्ञों द्वारा निःशुल्क सेवा प्रदान की जाती है। संपूर्ण देश के त्वचा-

यौन रोग संबंधी तंत्र का वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली संबंधी मार्गदर्शन और परामर्श संबंधी सहायता का काम चिकित्सा विद्यालयों तथा स्नातकोत्तर चिकित्सा संस्थानों और त्वचा और यौन रोगों की विभागीय पीठों पर, और वैज्ञानिक त्वचा रतिज रोग संस्थानों पर निर्भर करता है।

चिकित्सकीय सलाह की अर्जी देने के 24 घंटों के अंदर ऐसे रोगियों को चिकित्सालय में भरती करना अनिवार्य है जो सिफिलिस के संक्रामक रोग से पीड़ित हों। उपचार का पहला दौर अंतरंग विभाग में ही दिया जाता है।

उपचार के सही होने का नियंत्रण औषधालय सेवा पर निर्भर करता है। रतिज रोग में पहले उन लोगों को पहचाना जाता है जो इस संक्रमण का स्रोत होते हैं तथा रोगी के संपर्क में रहने वाले सभी व्यक्तियों की जाँच की जाती है। सोवियत कानून के अनुसार रटिज रोग के संक्रामक रूप से पीड़ित व्यक्तियों को उपचार से अस्वीकार करने तथा अन्य लोगों में छूत संचारित करने पर दोषी ठहराया जाता है।

निरीक्षक उपचारिका जो रोगियों को उनके घर पर देखती है या पत्र द्वारा रोगियों को अपने पास बुलांती है, रोगियों की नियमित नियंत्रण जाँच करने और संक्रमण के स्रोतों और उनके संपर्कों को पहचानने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

औषधालय-तंत्र बाल सस्थानों और खान-पान संस्थानों के कर्मचारियों की रोगनिरोधी जाँच करता है। बच्चों की सामूहिक रूप से समय-समय पर जाँच करता है। गर्भकाल में जाँच का उद्देश्य जन्मजात सिफिलिस को रोकना होता है।

स्वास्थ्य शिक्षा भी औषधालय तंत्र का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है। इस शिक्षा से इन रोगों के संबंध में जनता का ज्ञान बढ़ता है तथा उन्हें स्वत: उपचार के भयानक परिणाम और चिकित्सक के पास उपचार के लिए देर करने के भयंकर परिणामों का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रति-रतिज सहायता-केंद्रों पर निम्नरूप से व्यक्तिगत रोग निरोधी उपाय किये जाते हैं। पुरुष रोगी अपने मूत्राशय को खाली करके अपने हाथों को अच्छी तरह साबुन और पानी से धोता है। शिश्न, वृषण कोश की त्वचा, जघन और जांघों तथा मूलाधार को बड़ी सावधानी के साथ गर्म पानी और साबुन से धोते हैं। सूखने के बाद इसे कोरासिव सब्लीमेट (1 : 4000) या मरकरा आक्सासायेनाइड (1 : 3000) के घोल से अच्छी तरह पोंछा जाता है। मूत्रपथ के अग्रभाग का पोटैशियम परमैंगनेट घोल (1 : 6000) के 0.5 लिटर से एशमार्क धावक से धोवन करते हैं तथा जननांगों पर (सिफिलिस को रोकने के लिए) 33 प्रतिशत कैलोमल मलहम लगाया जाता है। गंदे अंतरवस्त्रों से जननांगों को बचाने के लिए रोगी को गाज नैपकिन दी जाती है और उसे सलाह दी जाती है कि वह अपने घर पहुँच कर अंतरवस्त्रों को बदल डाले। महिलाएँ भी अपनी मूत्र थैली को खाली करती हैं; बाह्य जननांगों को ध्यानपूर्वक उष्ण जल में साबुन मिलाकर धोती हैं। फिर पोटैशियम परमैंगनेट घोल (1 : 3000) से योनि का धोवन करके मूत्रपथ में 1–2 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट

घोल का बिन्दुपात किया जाता है। गर्भाशय की ग्रीवा, योनि श्लेष्मा और बाह्य जननांगों पर 2–3 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का लेप किया जाता है। महिलाओं में सिफिलिस की रोकथाम के उपाय पुरुष रोगियों के उपायों के समान ही होते हैं।

रतिज और संक्रामक त्वक रोगों के नियंत्रण की बहुत कुछ जिम्मेदारी उपचारिकाएँ संभालती हैं। यह विशेष रूप से ऐसी उपचारिकाओं के साथ लागू होता है जो कि स्वतंत्र रूप से चिकित्सा केंद्रों पर काम करती हैं, जहां रतिज या त्वक रोग का जल्दी निदान करना, चिकित्सा सहायता देना, रोगी को अस्पताल में भर्ती कराना, परिवार तथा संपर्क में आने वाले सभी लोगों की जाँच करना तथा संक्रमण के स्रोत का पता लगाना आदि आवश्यक होता है।

त्वचा और रतिज रोग से पीड़ित लोगों के उपचार की बहुत कुछ व्यवस्था (आधान करना, इन्जेक्शन लगाना, मलहम तथा लेप की मरहम-पट्टी करना, कवक संक्रमण का उपचार करना), प्रयोगशाला जाँच के लिए द्रव्य (रक्त, मूत्र, मूत्रमार्ग का स्राव, कवक से प्रभावित बाल, शल्क इत्यादि) एकत्रित करने तथा विभिन्न प्रकार के चिकित्सा फार्मों को भरने का काम भी उपचारिका ही करती है।

3

नाक, कान और गले के रोग

भूमिका

कर्णनासाकंठविज्ञान नाक, कान ग्रौर गले के रोगों से संबंधित विज्ञान को कहते हैं।

नाक, ग्रसनी ग्रौर स्वर यंत्र के रोगों को चिकित्सा शास्त्र की एक संकुचित विशिष्ट शाखा समझने के पुराने दृष्टिकोण को त्याग देना ग्रावश्यक है। ऊपरी श्वसन पथ के रोगों का प्रभाव संपूर्ण शरीर पर पड़ता है।

सोवियत संघ में जन-स्वास्थ्य सुधार हेतु विशाल सम्मिश्र उपाय किये गये हैं। इनमें ऐसे बहिरंग ग्रौर ग्रंतरंग चिकित्सालयों का विशाल ताना-बाना शामिल है, जिसमें नाक, कान ग्रौर गले की बीमारियों वाले लोगों को कुशल चिकित्सा-सेवा प्रदान की जाती है।

कर्णनासाकंठ विज्ञान में रोग-निरोध का भी ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऊपरी श्वसन पथ के रोग-निरोधी उपचार से सभी प्रकार के रोगों की घटनाएं कम होती जाती है तथा बहुत से चिरकारी दैहिक रोग (ग्रामवात, बहुसंधि शोथ, वृक्कशोथ, इत्यादि) बढ़ नहीं पाते हैं तथा विशेष रूप से बाल्य काल में शारीरिक विकास पर ग्रच्छा प्रभाव पड़ता है

सोवियत ग्रायुर्विज्ञान का यह सिद्धांत कि उपचार रोगी का किया जाता है न कि रोग का, कर्णनासाकंठ विज्ञान का मुख्य नियम है ग्रौर यह नाक, कान ग्रौर गले से संबंधित सभी समस्याग्रों के उपयक्त समाधान को भी सुनिश्चित करता है। उपचारिका विद्यालयों की छात्राग्रों को कान ग्रौर ऊपरी श्वसन पथ की वैकृत ग्रवस्थाग्रों की मौलिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ग्रौर उन्हें इन रोगों से पीड़ित लोगों की देखभाल करने की विशेष बातों का ज्ञान होना चाहिये। सामान्य देखभाल की मौलिक बातों का ज्ञान होने पर उपरोक्त कार्य सरल हो जाता है। नाक, कान ग्रौर गले के रोगियों की व्यवस्था करने के लिए हेतुकी, रोग-संप्राप्ति, रोग-लक्षण चित्र ग्रौर इनके उपचार का समकालीन सैद्धान्तिक ग्राधार पर ग्रध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। उपरोक्त ज्ञान न होने पर उपचारिका चिकित्सक के ग्रौषध-निर्देशपत्र का निष्ठा के साथ पालन नहीं कर सकती। ग्रौर न रोगी की ठीक ढंग से देखभाल या, ग्रावश्वकता पड़ने पर, प्राथमिक चिकित्सा ही कर सकती है।

उपचारिका को ऊपरी श्वसन पथ की रोग-निरोधी समस्याओं की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। इससे विकृति (रोग) को कम करने में सहायता मिलती है।

नाक, कान और गले के रोग-लक्षण बताने से पूर्व उपचारिकाओं को इनकी शरीर-रचना और शरीरक्रिया-विज्ञान का संक्षिप्त ज्ञान दिया जाता है, ताकि रोग के निदान में वे अधिक पारंगत हो सकें।

नाक, कान और गले के रोगियों की देखभाल पर व्याख्यान देने से पूर्व चित्रों, माडलों व प्रसाधनों आदि द्वारा छात्राओं को इन अंगों की शरीर-रचना का समझाया जाना तथा इसकी पुनरावृति की जानी आवश्यक है।

इन अंगों के विकारों में **शोथज रोगों** की संख्या सर्वाधिक है। **गलतुण्डिका-शोथ** अस्थायी अशक्तता का एक आम कारण है। उपद्रव-रहित गलतुंडिका-शोथ होने पर व्यक्ति पाँच से छः दिन तक काम करने योग्य नहीं रहता है, जबकि रोग के फ्लैग्मोनी प्रदाह में तो रोगी 10 से 12 दिन के लिए अशक्त हो जाता है। गलतुण्डिका शोथ में जब-तब होने वाले उपद्रवों से रोग की अवधि और अधिक बढ़ जाती है।

ऊपरी श्वसन पथ का जुकाम बुंदिक संक्रामण (जीवाणु – अंतर्वेशन) है। गलतुण्डिका शोथ की तरह ही जुकाम भी शिशुओं को जल्दी पकड़ लेता है। रोग का संचरण छींकने चुंबन और यहाँ तक कि शिशु से बातचीत करने से भी होता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए रोगनिरोध के उपाय निश्चित किये जाते हैं। सर्दी लगे हुए रोगी को रूमाल लगाकर छींकना चाहिये, चुंबन लेने तथा सार्वजनिक प्याले और तश्तरियों का प्रयोग करने से बचना चाहिए। हाथों को बहुत अच्छी तरह साफ करना चाहिए। किसी से बातचीत करते समय या हँसते समय अपने सिर को दूसरी ओर मोड़ लेना चाहिये या मुंह पर रूमाल लगा लेना चाहिये। अधिक बेहतर हो कि स्वस्थ व्यक्तियों से संपर्क करते समय नाक और मुंह पर जालीदार कपड़े का आवरण डाल लिया जाय। शिशु-प्रतिष्ठानों (शिशुगृह, शिशुपालनगृह तथा शिशु-चिकित्सालयों) के कर्मचारियों के लिए उपरोक्त सावधानियाँ बरतना आवश्यक है। शिशु प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों को ज्वर या गला खराब होने की स्थिति में काम पर नहीं आने देना चाहिये।

यदि किसी अंतरंग रोगी को गलतुण्डिका-शोथ हो जाये तो उसे फौरन पृथक कक्षा में भेज दिया जाना चाहिए।

इन सावधानियों को बरतने के साथ-साथ शरीर को कठोर बनाने तथा संक्रामक रोगों के प्रति प्रतिरोधी क्षमता बढ़ाने के उपायों पर बल देना चाहिये। बच्चों का सही पालन-पोषण तथा तापमान के उतार-चढ़ाव को सहने का प्रशिक्षण सबसे पहली बात है। ठंडे जल से स्पंजिंग करना, स्नान करना, हवा में घुमाना और बजाय इसके कि बच्चे को स्वेटर, मफलर और जाड़े के भारी कोटों से लाद दिया जाय, उसे हल्के कपड़े पहनने की आदत डालना, बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिशुओं में ही नहीं, वरन वयस्कों में भी शारीरिक प्रशिक्षण और खेल-कूद से श्वसन संक्रमण का निरोध होता है।

ऊपरी श्वसन-पथ के वृत्तिक रोगों को रोकने के लिए सामूहिक और वैयक्तिक रोग-निरोध आवश्यक है। धूल, वाष्प, गैस, तापमान का तीव्र उतार-चढ़ाव, शोर और कंपन इत्यादि ऐसे मुख्य वृत्तिक कारण हैं, जिनका ऊपरी श्वसन पथ पर कुप्रभाव पड़ता है। अन्य प्रतिकूल कारणों से मिलकर ये ऊपरी श्वसन पथ की शोथज प्रक्रिया को बढ़ाते हैं, जिससे सारा शरीर और विशेष रूप से निचला श्वसन-पथ और फेफड़े प्रभावित होते हैं। रोग-निरोधी जाँच तथा ऊपरी श्वसन-पथ का उपचार और वृत्तिक परामर्श संबंधी उपाय अब अधिक महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। इन उदयमों में नौकरी के लिए अर्जी देने वाले युवा जनों की डाक्टरी जाँच उनकी शारीरिक स्थिति और क्षमता के अनुकूल उनके व्यवसाय को चुनने में सहायता प्रदान करती है। उदाहरण के लिए, तीव्र नासा-शोथ से पीड़ित युवक धूल भरे वातावरण में काम नहीं कर सकता, क्योंकि इससे श्वसनी और फेफड़ों में रोगोत्पत्ति का भय रहता है। चिरकारी नासा-शोथ और कंठशालूक से पीड़ित रोगी को पहले उपचार कराना चाहिए (कंठशालूक उच्छेदन और नासा शोथ की व्यवस्था) और उसके बाद ही उसे काम करने की अनुमति देनी चाहिए। चिकित्सा कर्मी जब अपने कार्य को केवल एक जाँच तक सीमित न रख कर कामगार की हालत पर बराबर निगाह रखता हो, तो व्यवसाय के चनाव का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

क्रोमियम से सम्बंधित उद्यमों में काम करने वालों को अपनी नासा गुहिका में तेल लगाना चाहिए तथा नाक, ग्रसनी और स्वर यंत्र में अभिश्वसन और धोवन करना चाहिए तथा निजी रोग-निरोधी सावधानी बरतनी चाहिए: धूल वाली कर्मशाला में काम समाप्त करने के फौरन बाद अभिश्वसन बहुत ही महत्त्वपूर्ण साबित होता है। धूल से श्वसनपथ के बचाव के लिए कई प्रकार के श्वसिम मास्क बताये गये हैं। सामूहिक-निरोध उपायों में उत्पादन क्रियाओं में तकनीकी सुधार भी शामिल हैं, जिसके फलस्वरूप हानिकारक चीजों (धूल, वाष्प, गैस इत्यादि) से बहुधा छटकारा मिल जाता है। उद्यमों के मजदूरों के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु वायु संचार की बेहतर व्यवस्था की जाती है। जब नये संयंत्रों और उद्यमों का निर्माण करते हैं और उनका स्वरूप तैयार करते हैं तब इन तकनीकी उपायों को ध्यान में रखा जाता है।

उपचारिका को कान के मध्य भाग के शोथज रोगों का अच्छा ज्ञान हो, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कान से पीप बहने की उपेक्षा करने से भी तीव्र उपद्रव हो सकते हैं, जैसे कर्ण तानिकाशोथ, पूतिता या अनुमस्तिष्की विद्रधि, इत्यादि।

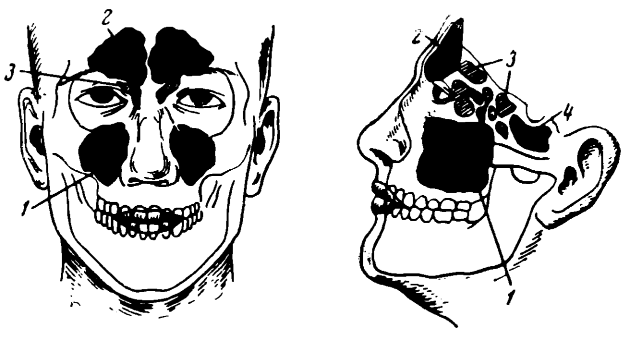
सोवियत स्वास्थ्य-रक्षा व्यवस्था में रोगों के सक्रिय निरोध की और आबादी की नियमित निरोधक जाँच की व्यवस्था है। इसमें 8 घंटे का कार्यदिवस, सप्ताह में दो दिन का विश्राम, नियमित छुट्टियाँ और स्वास्थ्य गृहों तथा सेनोटोरियम में विश्राम के दिन बिताने के अवसर, लोगों के कल्याण और सांस्कृतिक स्तर को ऊचा करना, तथा नशाखोरी पर नियंत्रण, आदि बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

I. नाक के रोग

शरीर रचना

नाक ऊपरी श्वसन पथ का पहला भाग तथा वायु-गुहिकाओं का तंत्र है। इस तंत्र में नासा गुहिकाएँ और परानासा विवर होते हैं, जो एक दूसरे से संकरे द्वार से संयोजित होते हैं। नाक की गुहिका कपाल की गुहिकाओं, नेत्र गुहा और मुँह के बीच स्थित होती है। नासा गुहिका एक पट के द्वारा दो भागों में बंटी होती है, जो बाहर की ओर किंचित तिरछे स्थित **नथूनों** के द्वारा खुली होती है। यह संयोजन दो गोल **पश्चनासा छिद्रों** द्वारा होता है।

नासा गुहिका की पार्श्व दीवार एक अत्यंत जटिल शरीर संरचना है और कार्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण भी। इसके साथ तीन **शुक्तिका** या **नासा शुक्तिकाएँ**



चित्र 89. परानासाविवर के अंतर्सम्बन्ध का कार्यप्रदर्शी चित्रण।
1. ऊर्ध्वहनु विवर, 2. ललाट विवर, 3. झर्झरिका गहन, 4. जतूक विवर।

जुड़ी होती हैं, जिसमें नासा गुहिका तीन नासा पथों में विभाजित हो जाती है : ऊर्ध्व, मध्य और अधः कुहर। नासाश्रु-नलिका के निचले मुँह के सहारे अश्रु प्रवाहित होते हैं। यह अधःशुक्तिका आगे वाले भाग के नीचे स्थित होती है। परानासा विवर छोटे छिद्रों के द्वारा मध्य कुहर में खुलते हैं जो कार्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते

हैं। ये हैं **ऊर्ध्वहन विवर** या **हाइमोर कोहर** – सबसे बड़ा परानासा विवर, जो ऊर्ध्व-हन के शरीर में स्थित होता है। **अग्र विवर** सामने की हड्डी के पट्टक में ग्रौर **झर्झरिकास्थि की कोशिकाओं** में स्थित होता है (चित्र 89)

पश्च झर्झरिका कोशिकाएँ ग्रौर **जतूक-विवर** जतूक-ग्रस्थि के शरीर में स्थित होते हैं। जतूक-ग्रस्थि नासा गुहिका से संयोजित होती हैं। पूरी नासा गुहिका में श्लेष्मा-कला की धारियाँ होती हैं, जो रोमक उपकला से ढकी होती हैं। ये रोमक पीछे की ग्रोर, पश्च नासाद्वार की ग्रोर चलने में सक्षम होते हैं। विशेष घ्राण-उपकला नासागुहिका के ऊपरी भाग की श्लेष्मा में ही होती हैं।

नासा श्वसन का क्रिया विज्ञान

नाक में पर्याप्त ग्रनवरुद्धता होने से ही सामान्य श्वसन संभव होता है। ग्रभिश्वसित वायु संकरे कुहर से गुजरने पर ग्रार्द्र ग्रौर गर्म हो जाती है तथा ग्रार्द्र श्लेष्मा से चौड़ी सतह पर संपर्क में ग्राती है। वायु में लटके हुए धूल के कणों का कुछ भाग नासा-गुहिका में रुक जाता है जो कि नाक साफ करने या कफोत्सारण करने पर बाहर निकल जाते हैं, इसीलिए फेफड़ों में पहुँचने वाली वायु काफी हद तक साफ होती है। मनुष्य ग्रौर जानवरों के ग्रध्ययन से पता चलता है कि ग्रभिश्वसित धूल का 50 प्रति-शत नाक में रह जाता है। पर मुँह से ग्रभिश्वसन करने पर सारी धूल ग्रसनी ग्रौर स्वरयंत्र से होते हुए सीधे श्वसन पथ में प्रवेश कर जाती है तथा उनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार मुँह द्वारा श्वसन की ग्रपेक्षा नासा-ग्रभिश्वसन के प्रत्यक्ष लाभ हैं। नासा-ग्रभिश्वसन के बिल्कुल न होने पर या उसमें विकार होने से दूरस्थ श्वसन-पथ में उपद्रव होते हैं (ग्रसनीशोथ, स्वरयंत्र-शोथ, श्वास प्रणालशोथ, श्वसनी शोथ, इत्यादि)। कुछ उद्यमों में काम करने वाले व्यक्तियों में नासा-ग्रभिश्वसन न होने के ग्रप्रिय परिणाम होते हैं।

वायु के साथ नाक में प्रवेश करने वाले ऐसे जीवाणु, जो धूल के कणों के साथ बाहर नहीं निकलते हैं, नासाश्लेष्मा के संपर्क में ग्राने पर या तो मर जाते हैं या हानि-रहित हो जाते हैं। इसके ग्रतिरिक्त, नासा-ग्रसनी ग्रौर नासागुहिकाएँ स्वर के ग्रनुनादक का काम करती हैं। इन गुहिकाग्रों में वायु के कंपन ग्रावाज की सुस्वनिक को तेज करते हैं ग्रौर व्यक्ति विशेष की ध्वनि-गुणता बनाते हैं। नाक बंद होने पर ग्रावाज बहुधा बदल जाती है तथा इसकी सुस्वनिकता का गुण नहीं रहता है ग्रौर ग्रावाज नकसुरी हो जाती है तथा **अनुनासिकता का दोष** उत्पन्न हो जाता है।

नासा ग्रभिश्वसन के पूर्ण या ग्रांशिक रूप से कमजोर होने का प्रभाव घ्राण-क्रिया पर भी पड़ता है ग्रौर उसकी तीव्रता लुप्त हो जाती है। विशेष रूप से रासायनिक

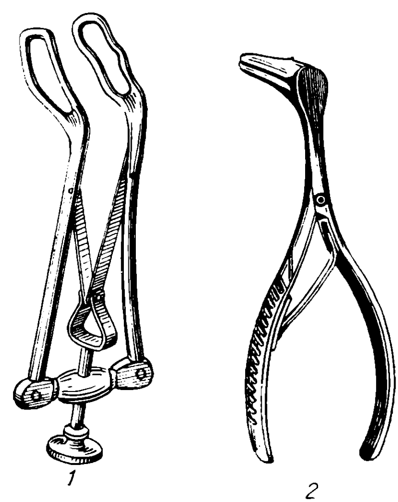
और खाद्य उद्योगों में काम करने वाले कर्मचारियों की घ्राण-शक्ति घट जाने से वे अपने कार्य में असमर्थ हो जाते हैं।

इस बात को बहुत पहले लक्षित किया गया था कि जो लोग नाक से अभिश्वसन नहीं कर पाते हैं, उनके फुफ्फुसी संवातन में गड़बड़ी हो जाती है तथा आक्सीजन का अवशोषण घट जाता है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि मुँह से साँस लेने से शारीरिक विकास में विघ्न तो पड़ता ही है (जैसे चेहरे के पंजर का अपर्याप्त विकास, दाँतों की अपसामान्य व्यवस्थाएँ, रक्त संरचना में परिवर्तन इत्यादि), साथ ही बच्चे की स्कूल में भी प्रगति नहीं हो पाती है।

पहले जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि अभिश्वसित वायु के लिए नाक फिल्टर का काम करती है। इसकी शारीरी संरचना से इसके फिल्टर करने के गुण का पता लगता है। श्लेष्मा में स्थित श्लेष्मा ग्रन्थियों की क्रिया से आर्द्रता बराबर बनी रहती है। नासा श्लेष्मा में आर्द्रता नासाश्रु वाहिका के द्वारा नाक में पहुँचने वाले अश्रुओं से होती है तथा यह शुक्तिका की श्लेष्मा कला में स्थित शिरा तंत्र से निकलने वाले तरल से भीगी रहती है।

नाक की जाँच

नाक के प्रवेश द्वार की जाँच करने के लिए रोगी के सिर को पीछे करके नाक के सिरे को अंगूठे से उठाते हैं। यह जाँच एक्जीमा के लिये की जाती है, जो नयी वृद्धि, त्वचा में दरार आदि उत्पन्न करती है। नाक की गुहिकाओं की जाँच कृत्रिम रोशनी में शीर्शदर्पण और नासा-वीक्षण (चित्र 90) द्वारा की जाती है। पश्च नासा-द्वार का निरीक्षण नासाग्रसनी में से पश्च नासा-दर्शन द्वारा किया जा सकता है।



चित्र 90. नासा विक्षण यंत्र, (1) फ्रेन्कल और हार्टमेन (2)।

देखभाल और उपचार की सामान्य विधियाँ

त्वचा की तरह नासागुहिका की शल्य क्रिया में शल्य क्षेत्र का विसंक्रामण करना असंभव है। विसंक्रामण की क्रिया नासागुहिकाओं के पास और श्लेष्मा की सफाई तक ही सीमित है। इसे विसंक्रामित रूई को प्रोब (शलाका) पर लपेट कर बहुत हल्के से साफ करते हैं। अनुभव से पता चलता है कि श्लेष्मा को सावधानी पूर्वक विसंक्रा-

मित किये बिना ही नासा-गुहिका के घाव भर जाते हैं, लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब अन्य शल्य-चिकित्सा के नियमों का भली-भाँति पालन किया जाय, उचित रूप से विसंक्रामित पदार्थ और उपकरणों का प्रयोग किया जाये और हाथों को भली-भाँति धो लिया जाये, इत्यादि। नासा-गुहिका में मृदुल ऊतकों तथा अस्थियों, दोनों की शल्य-चिकित्सा में श्लेष्मल-कला पर स्थानिक संज्ञाहरक का आलेप किया जाता है। यह संज्ञाहरक एक घोल होता है–5-10 प्रतिशत कोकेन या 1-2 प्रतिशत डिकेन (पर्याय–टेट्राकेन हाइड्रोक्लोराइड)। श्लेष्मा को रक्तहीन करने के लिए एड्रेनैलीन घोल (1 : 1000) की एक–दो बूंदों को संज्ञाहरक की 1 मि० ली० मात्रा में मिलाते हैं जिससे साथ ही साथ कोकेन या टेट्राकेन के शोषण में देर लगती है। कुछ शल्य-क्रियाओं में निस्यंदन-संज्ञाहरक में 0.5 प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल आवश्यक होता है। सार्वदैहिक संज्ञाहरक का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। इसका प्रयोग तभी किया जाता है, जब दुर्दम अर्बुद को निकालना हो या आगन्तुक शल्य को उत्तेजित बच्चे में से निकालना हो।

नासा-श्लेष्मा पर कोकेन घोल का आलेप संज्ञाहरण के लिए किया जाता है या उपचारार्थ औषधि घोल को पेंचदार प्रोब (शलाका) पर रूई लपेट कर लगाते हैं। प्रोब का सिरा रूई से ढका होना चाहिए जिससे नासा श्लेष्मा में चोट न लगे। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि औषधि लगाते समय कहीं रूई प्रोब से खिसक कर नाक गुहिका में न छूट जाये तथा गले या श्वास-प्रणाल के अंदर न चली जाय। इसलिए प्रोब पर रूई को सावधानीपूर्वक लपेटना चाहिए।

कमरे के तापक्रम तक गर्म की हुई औषधि की बूंदें नाक में डाली जाती हैं। नाक में दवाई डालते समय रोगी के खड़े या बैठे होने की स्थिति में सिर पीछे की ओर झुका होना चाहिए तथा जिस नथुने में दवाई डालनी हो, उस ओर झुका होना चाहिए। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है कि इन बूंदों से नाक की पार्श्व दीवार की अधिक से अधिक सतह आर्द्र हो जाये और फिर ये बूंदें कुहर के अंदर प्रवेश कर जायें। यदि सिर को पीछे की ओर सीधा झुका दिया जाये, तो ये बूंदें अधःकुहर से होती हुई सीधे नासा ग्रसनी में प्रवेश कर जाती है, जिसका प्रभाव अधिक नहीं होता है। उपचारार्थ **नासा-प्रधमन** विभिन्न प्रकार के पाउडर पदार्थों से प्रधमनित्र के द्वारा किया जाता है। नासा-प्रधमन शल्य-चिकित्सा के बाद भी किया जाता है। घर पर रोगी नाक को पहले रूई के टैम्पन से या उच्छ्वास के अच्छी तरह साफ करके औषधि की छोटी चुटकी लेकर प्रत्येक नथुने में एक के बाद दूसरे में श्वास से खींच सकता है।

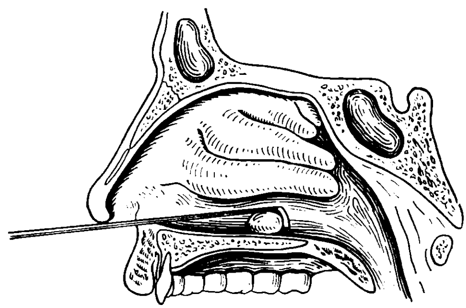
नाक में **मलहम** माचिस की तीली या चिकने प्रोब पर रूई के छोटे टैम्पन को लपेट कर लगाते हैं।

नासा श्लेष्मा का **दहन** उपचारार्थ या विशेष रूप से नाक से रक्त स्राव होने पर किया जाता है। दहन के लिए सिल्वर नाइट्रेट और ट्राइक्लोरोऐसेटिक एसिड और क्रोमिक एसिड का प्रयोग किया जाता है। दागने से पहले श्लेष्मा पर 3 प्रतिशत कोकेन या 1 प्रतिशत टेट्राकेन घोल में एड्रेनेलिन मिला कर आलेप किया जाता है।

नाक में आगंतुक शल्य

आगंतुक शल्य बहुधा उन बच्चों में प्रत्यारोपित हो जाता है, जो खेलते-खेलते नाक में कुछ डाल लेते हैं। दाने, बटन, मटर, चेरी के बीज, सूर्यमुखी के बीज आदि आम चीजें हैं जो बच्चे अपनी नाक में डाल सकते हैं। यदि आगंतुक शल्य अधिक समय तक नाक में बना रहता है, तो इसके चारों ओर कैल्शियम लवण जमा हो जाता है और नासाश्मरी बन जाती है। आगंतुक शल्य बहुधा अंतःकुहर में (नथुने के पास) हो जाता है, पर इसे निकालने का प्रयत्न असफल होने पर यह और अंदर खिसक जा सकता है।

लक्षण. जैसे ही नाक में कोई आगंतुक शल्य पहुँचता है, इसका पथ बंद हो जाता है. बाद में श्लेष्मल-कला का शोथ हो जाता है और नाक के एक ओर से प्रचुर और बहुधा सपूय, तेज गंध वाला और कभी-कभी रक्त मिश्रित स्राव निकलता है। नाक में आगंतुक शल्य होने का यह एक सबसे विशिष्ट लक्षण है।



चित्र 91. कुण्ठित अंकुश की सहायता से नासागुहा ह् से आगन्तुक शल्य को निकालना।

उपचार. यदि आगंतुक शल्य को निकालने के लिए अनुकूल परिस्थिति न हो, तो इसे निकालने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। आगंतुक शल्य को निकालने का काम केवल चिकित्सक द्वारा ही किया जाना चाहिए और इस क्रिया से पूर्व 1 प्रतिशत टेट्राकेन या 2–3 प्रतिशत कोकेन घोल में एड्रेनैलीन मिलाकर स्थानिक संज्ञाहरण या बहुत उत्तेजित शिशु के मामले में सार्वदेहिक संज्ञाहरण किया जाना चाहिए। एक टेढ़ी कंदीय सिरे वाली प्रोब या भुथरे हुक को आगंतुक शल्य की स्थिति से आगे तक डाल कर सावधानी से चीज को नाक से बाहर निकाल लेते हैं (चित्र 91)। उपचारिका बच्चे के सिर को पकड़कर स्थिर रखने में सहायता करती है।

तीव्र नासा-शोथ

तीव्र नासा-शोथ (Rhinitis Acuta) ऊपरी श्वास पथ के सर्वाधिक आम रोगों में से है। यह दोनों रूपों में एक स्वतंत्र रोग के रूप में या संक्रामक रोग के लक्षण के रूप में – जैसे इन्फ्लूएन्जा, ऊपरी श्वास पथ का तीव्र जुकाम (केटार) इत्यादि – हो सकता है। तीव्र नासा शोथ बहुधा संक्रमण के कारण होता है।

लक्षण . पहले नाक में सूखापन, छींकें और गले तथा नासाग्रसनी में जलन महसूस

होती है। इसके बाद नाक बंद हो जाती है और नाक से प्रचुर पानी-सा और बाद में मलिन और श्लेष्मा सपूय स्राव होने लगता है। एक ही समय सिर में भारीपन, सिरदर्द, तंत्रिकाकार्तिक पीड़ा, अनुनासिकता दोष और नेत्रश्लेष्मला शोथ महसूस होता है।

शिशुओं में तीव्र नासा-शोथ गंभीर रूप ले सकता है। जीवन के पहले कुछ वर्षों में (बचपन में) नासा कुहर बहुत संकरे होते हैं और थोड़ी सी सूजन होने से श्लेष्मल कला कुहर को अवरुद्ध कर देती है। इसके परिणामस्वरूप न केवल श्वसन में ही कमी होती है, बल्कि बच्चे को स्तनपान में भी बहुत कठिनाई होती है। नींद गड़बड़ हो जाती है। शोथ कभी-कभी बढ़कर नासा श्लेष्मा से श्वास प्रणाल और श्वसनी तक फैल जाता है, जिसके फलस्वरूप श्वास प्रणाल का शोथ, श्वसनी शोथ और न्यूमोनिया हो सकता है।

निवारण. तीव्र नासा शोथ की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए शरीर का दृढ़ीभवन प्राथमिक उपाय है। नियमित प्रशिक्षण, वायु-स्नान या निश्चित मात्रा में सूर्यस्नान, जल-चिकित्सा तथा विभिन्न प्रकार के खेलों से हृद्वाहिका तंत्र और श्वसन-उपकरण शक्तिशाली बनता है। इन सबसे शरीर में बाह्य उद्दीपकों के प्रति सामान्य अभिक्रिया का विकास होता है। सही ढंग के शारीरिक पालन-पोषण से तथा शरीर के दृढीभवन से शरीर में सर्दी से बचने की आवश्यक क्षमता तथा ऊपरी श्वास पथ सहित अन्य संक्रामक रोगों को रोकने की क्षमता आ जाती है।

उपचार. दो प्रतिशत बोरिक एसिड घोल में एड्रेनेलीन की कुछ बूंदें मिलाकर, दो प्रतिशत एफीड्रीन घोल या 0.5% मेन्थोल आयल या एक प्रतिशत मेन्थोल मलहम से बन्द नाक में आराम आ जाता है।

Rp. Sol. Adrenalini 1 : 1000 guttae X
Sol. Acidi borici 2% 10.0
Sig. शिशु के लिए नासा-बूंद स्तनपान कराने से पूर्व हर नथुने में 1–2 बूंद डाली जाती है।
Rp. Ephedrini hydrochloridi
2% 10.0
Sid. नासा बूंद ; 5 बूंद, दिन में 2–3 बार।
Rp. Ol. Mentholi 0,5% 10.0
Sig. नासा बूंद; 3–5 बूंद दिन में 2–3 बार।
Rp. Mentholi crystallisati 0.1
Acidi borici pulverati
Zinci oxydati ää 0.5
vaselini flavi 10.0
Sig. नाक के लिए मलहम

तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए कोकीन और मेन्थोल वाली औषधि का निर्देश नहीं दिया जाता है, क्योंकि इससे कोकीन विषालुता या स्वरयंत्र का आकर्ष उत्पन्न हो सकता है। इन बच्चों का उपचार नाक में एड्रीनेलीन सहित बोरिक एसिड या 0.5 प्रतिशत एफीड्रीन दिन में कई बार डाल कर किया जाता है। हर बार नाक के प्रवेश द्वार को रूई की गोली से साफ किया जाता है। बच्चे को स्तन पान कराने से पूर्व हर बार नाक की सफाई करके दवा की बूंदें डाली जाती हैं।

चिरकारी नासा-शोथ

अलग-अलग साधारण चिरकारी (श्लेष्मा स्राव) और अति वृद्ध नासा शोथ होते हैं। नासा श्लेष्मा के तीव्र शोथ, संक्रामक रोगों, व्यवसायिक हानिकर कारणों और कंठशालूक इत्यादि के उपशमल रहित रहने के फलस्वरूप चिरकारी नासाशोथ (Rhinitis chronica) होता है।

साधारण चिरकारी नासा-शोथ के **लक्षण** भी तीव्र नासा शोथ के समान हैं, पर इनकी अभिव्यक्ति कम होती है। लेटे हुए होने पर श्वसन बहुत कठिन होता है। नासा स्राव पतला, पानी जैसा या श्लेष्मा सपूय होता है। अतिवृद्ध नासा-शोथ में नाक स्थायी रूप से भरी रहती है तथा सिर और शरीर की स्थिति बदलने पर भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। श्लेष्मा गाढ़ा और श्यान होता है तथा यह मुश्किल से बाहर निकालता है।

उपचार. चिरकारी नासा शोथ के कारण को समाप्त करना चाहिए (कंठशालूक को निकाल देना चाहिए, वायु विवर शोथ का उपचार करना चाहिए, इत्यादि)। कषाय वर्ग का उपयोग स्थानिक रूप से करते हैं: एड्रेनेलीन या प्रोटोर्गल (सिल्वर प्रोटान) घोल की कुछ बूंदों का बिन्दुपात किया जाता है या 1 प्रतिशत सिल्वर-नाइट्रेट घोल का आलेप किया जाता है।

Rp. Sol. Protargoli 2% 10.0

Sig. नाक की बूंदें 5 बूंदों का दिन में 2–3 बार बिन्दूपात किया जाता है।

पृथक-पृथक अतिवृद्ध शुक्तिक क्षेत्र को क्रोमिक एसिड या ट्राइक्लोर एसिटिक एसिड से दागा (दहन) जाता है या गैल्वनो-काटरी द्वारा इसका उपचार किया जाता है। शुक्तिका के उग्र रूप से अतिवृद्ध भागों को शल्य चिकित्सा द्वारा निकाल दिया जाता है।

शोषीय नासाशोथ (पीनस रोग)

यह रोग कम अवस्था में होता है और वर्षों तक चलता रहता है। इसमें नासा श्लेष्मा में शोथ हो जाता है तथा नासा स्राव घट जाता है। यह स्राव श्यान होता है, जो सूख कर पपड़ी बन जाती है।

लक्षण. नाक में खुजली और खुष्की महसूस होती है। श्वसन में कठिनाई होती है, कभी-कभी सिर दर्द होना है तथा घ्राण की अनुभूति कम हो जाती है। अग्र नासा दर्शन से पता चलता है कि नासा गहिका चौड़ी हो गयी है। श्लेष्मा सूख कर पतली हो जाती है और कहीं-कहीं स्राव के थक्के और पपड़ी पड़ जाते हैं। नासा शोथ में श्लेष्मा शोथ की तीव्रता का लक्षण है—इसके स्राव में अरुचिकर गंध का होना (पीनस)। इस रोग की हेतुकी का पता नहीं है। शोथ प्रक्रिया शक्तिक के अस्थि पंजर तक फैल जाती है और गाढ़ा आस्राव दुर्गंधित होता है, जिसकी पपड़ी जमने लगती है। यदि रोगी पपड़ी को जोर से उखाड़ने का प्रयास करता है तो रक्त-स्राव होने लगता है। घ्राण शक्ति आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से लुप्त हो जाती है।

उपचार. क्षारीय (और तैल) अभिश्वसन 1–2 प्रतिशत सोडा और मेन्थोल तेल का निर्देश दिया जाता है। आयोडीन घोल और ग्लीसरीन को नासा-बिन्दु (बूंद) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तथा खुष्की बढ़ने पर नासा श्लेष्मा पर उपरोक्त घोल का आलेप किया जाता है।

Rp. Jodi 0.05
Kalii jodidi 0.2
Glycerini
Aq. destill āā 5.0
Ol. Menthae pip guttae 1
Sig. हर नथुने में 5-5 बूंदें दिन में दो बार डाली जाती हैं।

उपरोक्त औषधियों के अलावा, पीनस रोग के उपचार में ऊतक चिकित्सा, स्वरक्त चिकित्सा और निकोटिनिक एसिड मिली हुई स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग किया जाता है।

दुर्गंध के कारण पीनस के रोगी के साथ रहना असहनीय होता है। उनकी सहायता करना चिकित्सक का कर्तव्य है। पीनस रोगियों को यह समझाना चाहिए कि नाक के आस्राव को साफ करना आवश्यक है और इस बात पर जोर देना चाहिए कि तभी दुर्गंध दूर होगी। रोगी को स्वयं इस दुर्गंध का आभास नहीं होता है और वह समझता है कि आस-पास के लोग उससे घृणा करते हैं।

वाहिका प्रेरक (या तंत्रिका प्रतिवर्त) और एलर्जी जनक नासा शोथ

इन दोनों प्रकार के नासा शोथ के रोगलक्षण एक समान हैं और इनका दौरा सा पड़ता है, जिसमें लगातार छींके आती हैं, नाक अवरुद्ध हो जाती है और प्रचुर मात्रा में नासा स्राव होता है। कुछ रोगियों में इन लक्षणों के साथ-साथ सिर दर्द और नेत्र-श्लेष्मा का शोथ हो जाता है।

चूँकि इन रोगों में बहुधा शोथीय परिवर्तन नहीं होते, या ये परिवर्तन बहुत कम होते हैं, इसलिए बहुत से लेखक इसे नासा-शोथ न मानकर रिनोपैथी कहते हैं।

वाहिका प्रेरक नासा-शोथ

यह रोग बहुधा ऐसे व्यक्तियों को होता है, जिनमें सामान्य वर्धी विकार हो और जिनकी नासा श्लेष्मा के तंत्रिका उपकरण में अत्यधिक अस्थिरता और संवेदनशीलता हो।

रोग की सक्रियता बढ़ जाती है, जिसके कारण विभिन्न कारकों, जैसे शीतन, भौतिक और रासायनिक कारणों, से होने वाले प्रतिवर्त से दौरे पड़ सकते हैं।

निदान. इसका निदान नासा दर्शन और विशेष शिकायतों के आधार पर किया जाता है। शुक्तिक की सूजी हुई श्लेष्मा नीले रंग की होती है और नासा कुहर में पतली श्लेष्मा भर जाती है।

उपचार. इस उपचार का अभिप्राय तंत्रिका-तंत्र की अति अभिक्रियता को घटाना है। इसके साथ-साथ शरीर को धीरे-धीरे दृढ़ीभूत करते हैं (जल चिकित्सा, अधिक समय तक खुली वायु में रहना, खेल-कूद, जलवायु चिकित्सा आदि से)।

वर्धी तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करने वाले टानिक और औषधियों (एट्रोपीन, एफेड्रीन, कैल्शियम क्लोराइड, इत्यादि) का कुछ रोगियों पर लाभकारी प्रभाव होता है।

एलर्जी नासा-शोथ

शरीर में विभिन्न प्रकार के प्रत्यूर्जताजनकों के प्रवेश कर जाने को और विशेष रूप से अभिश्वसन द्वारा इनके प्रवेश कर जाने की, नासा शोथ की हेतुकी में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। एलर्जिक अभिक्रिया की पूर्व प्रवृत्ति ही इस रोग के विकसित होने का मुख्य कारण है। यह प्रवृत्ति वंशानगत भी हो सकती है या प्रत्यूर्जताजनक के संपर्क में बार-बार आने से, अर्थात प्रत्यूर्जताजनक के साथ काम करने वाले लोगों में (जो प्रतिजोवी, रासायनिक रंजक इत्यादि के साथ काम करते हैं) हो सकती है।

निदान. वाहिका प्रेरक नासा-शोथ रोगियों की अपेक्षा एलर्जिक रिनोपैथी में दूसरी प्रकार की एलर्जी की अभिव्यक्ति के पीछे पारिवारिक या व्यक्तिगत इतिहास होता है (जैसे शीतपित्ति, श्वसनिका दमा, अधकपारी और एक्जोमा, इत्यादि) या कुछ खाद्य पदार्थों के प्रति असहनशीलता (गिरोदार फल, चाकलेट, स्ट्राबेरी तथा मांस-मछली की कुछ किस्में, इत्यादि)। नासा श्लेष्मा शोथीय, निलापन लिए हुए पीला और कभी-कभी एकदम सफेद होता है। नाक तथा परानासा विवर से लिए गये पदार्थ में इयोसिनोफीलिया का मौजूद होना एलर्जी नासा-शोथ का आम लक्षण है।

उपचार. इस रोग का उपचार विशेष रूप मे तभी कारगर होता है, जब प्रत्यूर्जताजनक से संपर्क छोड़ा जाये। इन रोगों में अधस्त्वक रूप से इन प्रत्यूर्जता-जनक की छोटी खुराक का इंजेक्शन लेने से इनके प्रति संग्राहिता घट जाती है। दुर्भाग्यवश सभी प्रत्यर्जताजनकों की सदैव पहचान नहीं की सकती है। इसलिए विशिष्टता रहित अतिसुग्राहिता में प्रतिहिस्टामिनिक औषधि (डाइफेनेहाइड्रामीन, सुप्रास्टीन, डिप्राजिन, परनेविन, डाइजोलीन, इत्यादि) का प्रयोग किया जाता है। स्थानिक उपचार में प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का इंजेक्शन (1–2 प्रतिशत घोल के 2.0 मि० ली० को छः से दस दिन तक) दिया जाता है और हाइड्रोकार्टीजोन (12.5 मि० ग्रा० प्रतिदिन और एक दिन छोड़ कर हर नाक में तीन से पाँच इंजेक्शन) अधः शुक्तिका में दिये जाते हैं।

एलर्जी रिनोपैथी का इलाज करने में रोगी व्यक्ति की नियमित जाँच विशेषज्ञ द्वारा होनी चाहिए।

परागज ज्वर एलर्जी नासा-शोथ की एक विशेष किस्म है। यह शुद्ध रूप में मौसमी एलर्जी प्रक्रिया है। यह रोग बहुधा ऐसे लोगों को होता है, जो कुछ पेड़ों, घास और फूलों के प्रति अल्प सुग्राही होते हैं।

पराग नेत्रश्लेष्मा और नासा-श्लेष्मा के संपर्क में आने पर नेत्रश्लेष्मा शोथ और नासा-शोथ हो जाता है जिससे आँखों की पलकों में, नासा गुहिकाओं में और कठोर तालु में खुजली होती है तथा नाक से प्रचुर मात्रा में पानी आने लगता है तथा छींकों का दौरा शुरू हो जाता है। इसके अलावा, बहुधा दमाग्रस्त दौरा भी पड़ता है।

निदान. रोग-लक्षण और चिकित्सा वृत्त के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के परागों से लिए गये सत्व से त्वचा की जाँच करके रोग के निदान में सहायता मिलती है।

उपचार. परागसत्व के अधस्त्वक इंजेक्शन लगाकर अल्पसुग्राहीकरण किया जाता है। इसमें प्रत्यूर्जताजनक पराग संचरण करने वाली घास के पराग का सत्व निकालते हैं और उसका इंजेक्शन लगाते हैं। पहले बहुत ही तनूकरित सत्व का प्रयोग किया जाता है और धीरे-धीरे इनकी सान्द्रता बढ़ाई जाती है। बहुत से लोगों में परागज ज्वर का आक्रमण वार्षिक रूप से वसन्त, हेमन्त और शरद् ऋतु में होता है। इसीलिए प्रतिरोधी सुग्राहीकरण रोगज घास के परागण होने से छः से आठ सप्ताह पूर्व प्रारंभ करना चाहिए।

नासा-शोथ में देखभाल

तीव्र नासा-शोथ से ग्रस्त शिशुओं की उपचर्या देख-रेख की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। नथुनों में बनी पपड़ी को जतून के तेल से मुलायम किया जाता है या फिर गर्म सोडे के घोल से। इसके बाद बड़ी सावधानीपूर्वक नाक के प्रवेश द्वार को श्लेष्मा और पपड़ी को हटाने के लिए भीगी हुई रूई या गाज से पोंछ कर साफ करते हैं। बच्चा आसानी से स्तनपान कर सके, इस उद्देश्य से एड्रेनेलीन की एक बूंद का दो प्रतिशत बोरिक एसिड में 1 : 10000 के अनुपात में तनूकरण करके, या

एफीड्रीन घोल के 0.5 प्रतिशत घोल की एक बूंद का, स्तनपान से पूर्व बिन्दुपात किया जाता है। वयस्क रोगियों को पहले ही निर्देश दे दिये जाते हैं कि नाक को सही ढंग से कैसे साफ करते हैं और हर नथुने को अलग-अलग कैसे साफ किया जाता है। इस क्रिया को सही ढंग से करने से कान के ऐसे रोग होने का भय नहीं रहता जो संक्रामित श्लेष्मा की श्रवण-नलिका के द्वारा कान के मध्य में पहुँचने से हो सकता है। जहाँ तक सम्भंव हो नाक की धोवन क्रिया नहीं करनी चाहिए। परन्तु आवश्यकता हो तो, जैसे कि पीनस रोग में, धोवन क्रिया बहुत ही सावधानी से करनी चाहिए।

नासा धोवन के लिए विशेष नासा संसेचक का प्रयोग किया जा सकता है। रोगी को अपना सिर आगे की ओर लटकाने को, तथा थोड़ा सा एक तरफ झुकाने को कहा जाता है। नासा संसेचक की टोटी को उपरिस्थ नासा गुहिका में थोड़ा अंदर की ओर बढ़ाते हैं और धीरे-धीरे जल को प्रवाहित होने देते हैं, जिससे इसका दबाव न बढ़े। धोवन-जल को श्रवण-नलिका के द्वारा मध्यकान में पहुँचने से रोकने के लिए रोगी को धोवन के समय और इसके थोड़ी देर बाद तक निगरण और नाक साफ करने की अनुमति नहीं दी जाती है। नासा गुहिका को साफ करने के लिए विभिन्न प्रकार के फुहारित्रों का प्रयोग किया जा सकता है। बहुधा सोडे का 1–2 प्रतिशत घोल प्रयुक्त होता है। हर नथुने में अलग-अलग गर्म किये हुए नासा-बिन्दु का नेत्र-पिपेट द्वारा बिन्दुपात किया जाता है (एक दो से पाँच बूंद तक)। रोगी को थोड़ा सा पीछे की ओर लटका देते हैं और नाक के सिरे को उंगली से उठा कर उसमें बिंदुपात करते हैं। पर नासा विवर के तीव्र और चिरकारी रोगों में वयस्कों का उपचार 1 से 2 प्रतिशत कोकीन की 10 बूँदों तक की मात्रा का दिन में चार से पाँच बार बिन्दुपात करके किया जाता है। (फारमूला देखिये)। बिन्दुपात के समय रोगी का सिर पीछे की ओर लटका दिया जाता है और रोगी को कान की तरफ झुकाकर बिन्दुपात करते हैं। औषधि का बिन्दुपात मध्य कुहर में किया जाता है।

Rp. Cocaini hydrochloridi
Ephedrini hydrochloridi āā 0.2
Sol. Acidi borici 3% 10.0
Sig. हर नथुने में 5 से 6 बूंद तक दिन में 3–4 बार डालते हैं।

नासा श्लेष्मा में पेंचदार प्रोब पर रूई लपेट कर मलहम लगाया जाता है। प्रयुक्त रूई को प्रोब पर से चिमटी या सूखी रूई की सहायता से हटाते हैं। नाक में जमी पपड़ियों को पहले उष्ण सोडा-घोल या वैसलीन से भिगो कर निकालते हैं।

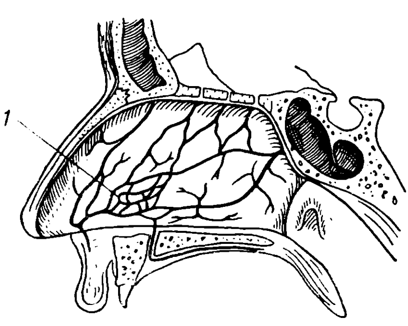
नासा-गुहिका के आदाहन (दागने) और शल्य संबंधी औजारों की तैयारी करना उपचारिका का कर्तव्य है। क्रोमिक एसिड क्रिस्टल को आदाहन हेतु प्रोब के उष्ण चपटे सिरे पर रखते हैं और बर्नर की लौ के ऊपर थोड़ी देर पकड़े रखते हैं, जिससे क्रिस्टल पिघल जाये। क्रिस्टल को ज्यादा गर्म नहीं करना चाहिए, नहीं तो क्रोमिक एसिड

भरा हो जायेगा और इसका दाहण-गुण खत्म हो जायेगा। नाक में बचे क्रोमिक एसिड को उदासीन करने के लिए 2 प्रतिशत सोडा घोल मौजूद होना चाहिये। आदाहन के बाद सोडा घोल में भिगोई हुई रूई को प्रोब पर लपेट कर नाक में बचे हुए क्रोमिक एसिड को साफ करते हैं।

उपचारिका नासा गुहिका की शल्य चिकित्सा (शुक्तिका उच्छेदन, नासापट के उच्छेदन, पीली पस को निकालने) हेतु शल्य चिकित्सक के निर्देशानुसार चुने हुए उपकरणों को विसंक्रामित करती है तथा संज्ञाहरण के लिए कोकीन का घोल तैयार करती है (शल्य-कर्म के समय वह कोकीन को आवश्यक मात्रा को विसंक्रामित काँच के गिलास में डालकर उस में एड्रेनेलीन की एक बूंद प्रति 1.0 मि० ली० घोल की दर से मिलाती है तथा आवश्यकता पड़ने पर फिर से गिलास में भर देती है)। उपचारिका ही शल्य-चिकित्सा के नियमों के अनुकूल शस्त्रकर्मशाला में व्यवस्था करती है। वह विसंक्रामित वस्तुओं को तैयार करती है, जैसे नाक से रक्त बहने की हालत में नाक की टैम्पोनेड के लिए लंबी गाज पट्टी या नाक के शस्त्र कर्म के बाद पैकिंग की टैम्पन। शस्त्र कर्म के समय वह शल्य चिकित्सक के निर्देशानुसार उसे उपकरण देती है। शस्त्रकर्म के बाद वह इस बात का ध्यान रखती है कि रोगी गर्म भोजन न करे, अन्यथा रक्त स्राव हो सकता है। शस्त्रकर्म के एक दिन बाद टैम्पन को हटाकर उपचारिका नाक के प्रवेशद्वार को हाइड्रोजन पर आक्साइड में भिगोई हुई रूई से साफ करती है।

नासा रक्तस्रवण

नासा रक्तस्राव का कारण सार्वदैहिक या स्थानिक हो सकता है। वाहिका तंत्र और रक्त-संरचना में परिवर्तन होना, जैसे रक्ताल्पता, होमोफीलिया, एथिरोकाठिन्य, हृदय, गुर्दे और जिगर के रोग इत्यादि नासा-रक्तस्राव के सार्वदैहिक कारण हैं। बहुत से संक्रामक रोगों (आन्त्र रोग, पुनरावर्ती ज्वर, स्कारलेट ज्वर, इन्फ्लूएंजा, मलेरिया) से ग्रस्त लोगों के साथ बहुधा प्रचुर नासा रक्तस्राव होता है। इस रक्तस्राव का कारण विषालुता या शरीर की ज्यादा गर्मी होती है। अंततः सिर में स्थिरता, गले में अर्बुदन और कूकर खाँसी से भी नासा रक्तस्राव हो सकता है।



चित्र 92. नासापटिका वाहिकाएँ।
1. पट का वह भाग जहाँ से बहुधा रक्तस्राव होता है।

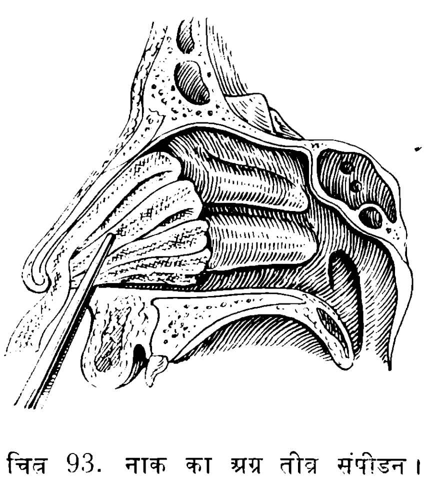
नासा रक्तस्राव के स्थानिक कारण नाक पर अभिघात, गहरी चिपकी हुई पपड़ी को उंगली से उखाड़ना, रक्तस्रावी अर्बुद और व्रण हो सकते हैं।

नासा-रक्तस्राव अधिकतर नासा पट के अग्रभाग में नासा-द्वार से 1 से० मि० की दूरी पर होता है (चित्र 92)। शक्तिका तथा श्लेष्मल कला के अन्य भागों में रक्तस्राव बहुत कम होता है। नासा रक्तस्राव बहुधा एकाएक और बिना किसी स्पष्ट कारण के प्रारंभ हो जाता है। कभी-कभी रक्तस्राव स्वतः ही रुक जाता है। लेकिन कभी-कभी यह बहुत समय तक चलता रह सकता है, जिसके फलस्वरूप रक्ताल्पता हो सकती है, नाड़ी की गति कम हो जाती है। सर्वदैहिक कमजोरी महसूस होती है और मूर्छा आ जाती है।

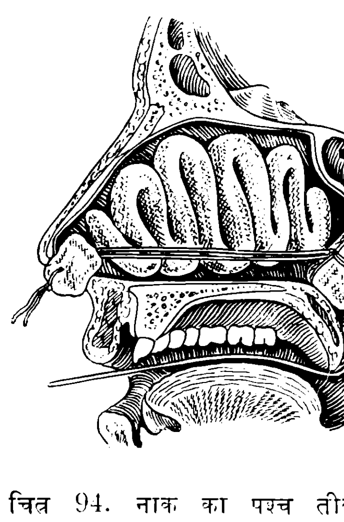
उपचार. सामान्य परिस्थितियों में नासा के रक्तस्राव को रोकने का सबसे आसान तरीका यह है कि विसंक्रामित रूई या गाज के फाहे को हाइड्रोजन पैराआक्साइड में भिगो कर उसकी गोली को नाक में लगाया जाय (चित्र 93)। रोगी कुछ देर तक इस रूई की गोली को स्वयं ही अपनी उंगली से नथुने में दबाये रहता है। खासकर पुनरावर्ती नासा-रक्तस्राव में परावर्तक और नासा-वक्षीण यंत्र से रक्तस्राव के स्थान की जाँच करके उस पर 3 प्रतिशत कोकीन (जिसमें एड्रेनेलीन हो) से आलेप करके क्रोमिक एसिड से या गैल्वनोकाटेर से दाग दाग देना इस से बेहतर उपाय है।

अपवादात्मक मामलों में, विशेषकर नासा या नासाग्रसनी के शस्त्र कर्म के बाद तथा नाक में चोट लगने के बाद, इन उपायों से रक्तस्राव बंद नहीं होता है तथा पश्च भाग में टैम्पोनेड लगाना पड़ता है।

पश्च भाग टेम्पोनेड में रबर की एक पतली शलाका को अधःनासाकुहर के द्वारा ग्रसनी में घुसाते हैं और जैसे ही शलाका का सिरा मृदुल तालु के पीछे दिखाई देता है, उसे ड्रेसिंग चिमटी से पकड़कर मुंह से बाहर खींच लेते हैं।



चित्र 93. नाक का अग्र तीव्र संपीडन।



चित्र 94. नाक का पश्च तीव्र संपीडन (अंतिम चरण)।

नासाग्रसनी के आकार की पहले से बनाई हुई गाज-टैम्पन को मज़बूत रेशम के धागे से एक पैक के समान तिर्यक बाँधते हैं। शलाका के मुख वाले सिरे पर इस पैक को दो धागों से बाँधा जाता है और फिर शलाका को नाक के द्वारा फिर बाहर निकालते हैं। इस तरह से दोनों धागे नथुनों से बाहर निकाल लिये जाते हैं और इस पैक को मुँह के द्वारा नासाग्रसनी में खींचते हैं। इस क्रिया में उंगली की सहायता लेते हैं। नासाग्रसनी में इस पैक को धागों से रोक कर नाक में टैम्पन लगाते हैं और धागे के सिरों को नथुनों पर रूई का पैड लगाकर बाँध देते हैं। धागे के तीसरे सिरे को गाल से चिपका देते हैं या मृदुल तालु से एक से० मी० नीचे करके काट देते हैं (चित्र 94)। पश्चनासा में प्रयुक्त टैम्पन को 24 घंटे से पहले निकाल देना चाहिए, क्योंकि नासाग्रसनी में जमे रक्त के थक्के जीवाणुओं के अच्छा पोषक भोजन हैं और श्रवण नलिका के सहारे ये मध्य कान तक पहुँच सकते हैं।

तीव्र दशा में रक्त स्कंदन के उद्दीपकों का प्रयोग किया जाता है। कैल्शियम क्लोराइड (10 प्रतिशत घोल को) अंतरशिरा में इंजेक्शन द्वारा देते हैं या मुँह से इसके कई चम्मच खिलाये जाते हैं। विटामिन K दिया जाता है। छोटी खुराकों में रक्त-आधान (50 – 100 मि० ली०) किया जाता है और मुख्य रोग का उपचार किया जाता है। नासा सेतु पर शीत सेक करते हैं या सिर के पीछे बर्फ की थैली रखते हैं।

रोगी की देख-रेख. नासा रक्तस्राव के रोगी को सहायता देने के लिए उपचारिका को स्वयं सक्षम होना चाहिए। क्योंकि रक्तस्राव बहुधा पट के अग्र भाग से होता है, इसलिए हाइड्रोजन पैरॉक्साइड में भिगोये हुए टैम्पन को फौरन अधःकुहर में लगा देना चाहिए और पट तक नाक को कस कर दबाये रखना चाहिए। रोगी को उत्तान-पाद स्थिति में करके सिर को थोड़ा-सा उठा देते हैं तथा उसे न तो उठने देते हैं और न ही उसे गर्म भोजन करने दिया जाता है। रूई में लपेटकर बर्फ की थैली को सिर के पीछे रखते हैं। चतुष्पुच्छी पट्टी को नाक पर लगाते हैं ताकि टैम्पन बाहर न निकल सके। टैम्पन को हटाने के बाद रोगी को चेतावनी दी जाती है कि वह नाक के अंदर उंगली न डाले या जोर से नाक साफ न करे।

परानासा शिरा नालिकाओं का शोथ (तीव्र और चिरकारी वायु विवर शोथ) (Sinuitis Acuta Chronica)

परानासा शिरानलिकाओं के तीव्र शोथ से इन्फ्लूएंजा, तीव्र नासा-शोथ, खसरा, स्कारलेट ज्वर व अन्य संक्रामक रोग और भी बिगड़ जाते हैं।

लक्षण और अवधि. रोगी प्रभावित विवर-क्षेत्र में खिंचाव व दबाव के संवेदन की शिकायत करता है। एकपार्श्वीय या द्विपार्श्वीय श्लेष्मा सपूय या सपूय नासा स्राव और सिरदर्द होता है। बहुधा रोगी शिरानाल (सामने के, ऊर्ध्वहनु) में दबाव महसूस

करता है। कभी-कभी मत्थे, कपाल, गंडास्थि, नासामूल, जबड़ों और दाँतों में तीव्र-कार्ति संबंधी पीड़ा होती है। इसकी तीव्र प्रक्रिया होने पर शरीर का ताप 38–39° सें० हो जाता है। उर्ध्वहनु विवर के शोथ में गाल में स्पर्शसह्य सूजन हो जाती है। मत्थे में सूजन और पीड़ा होती है। ऊपरी नेत्रच्छद सूज जाता है तथा प्रकाश असह्यता हो जाती है और सामने के विवर से अश्रुश्रवण होता है। झर्झरिका गहन की कोशिकाओं में शोथ के साथ-साथ उर्ध्वहनु, सामने के और जतूक-पार्श्विक शिरानाल भी प्रभावित हो जाते हैं।

चिरकाली शोथ में आत्मगत लक्षण हल्के होते हैं। बहुधा रोगी व्यक्ति की घ्राण-शक्ति घट जाती है। चिरकारी वायु विवर शोथ के फलस्वरूप नासा और परानासा में पोलिप बन जाते हैं। ये सफेद-भूरे या कभी-कभी पीले-लाल, जेली के माफिक होते हैं और इनकी सतह चिकनी होती है। कुछ-कुछ रोगियों में पूरी नासा गुहिका में छोटे पोलिप भर जाते हैं और कुछ में एक बड़ा पोलिप गुहिका को घेर लेता है और कभी-कभी नथुने से बाहर तक बढ़ जाता है। पोलिप बहुधा मध्य और ऊर्ध्व नासिका कुहर में होते हैं।

निर्णायक निदान और उर्ध्वहनु, सामने के और जतुक शिरानाल तथा झर्झरिका गहन की कोशिकाओं को पहचानने के लिए विशेषज्ञ द्वारा की जाने वाली अतिरिक्त जाँच की आवश्यकता होती है। शिरानाल के पारप्रदीपन, एक्स-रे जाँच और अन्वेषणात्मक वेधन के साथ विवर का धोवन आवश्यक होता है।

उपचार. शरीर का ताप बढ़ जाने पर रोगी को या तो चिकित्सालय में भेजा जाता है या शय्या विश्राम की सलाह दी जाती है। एन्टी पायरिटिक (एसेटोसैलो० सिलिक एसिड के 0.5 ग्रा० और कैफीन के 0.1 ग्रा०) का औषधि-निर्देश दिया जाता है। एक पाउडर को दिन में दो या तीन बार लेते हैं। श्लेष्मा सूजन में आराम के लिए, विशेष रूप से विवर के चारों ओर, तथा विवर के द्रव्य को बहाने के लिए मध्य नासा कुहर में 1–2 प्रतिशत कोकीन घोल और 3 प्रतिशत एफीड्रीन घोल का आलेप करते हैं या 2–3 प्रतिशत एफेड्रीन या कोकीन घोल में एड्रेनेलीन मिलाकर नाक में डालते हैं। रोगी को क्षैतिज स्थिति में उसके सिर को पीछे करके तथा रोगी भाग की ओर घुमाकर औषधि का बिन्दुपात किया जाता है। ऐसे में बिन्दु ऊर्ध्व या मध्य कुहर में पहुंचते हैं। सोलक्स लैम्प और पराबैंगनी किरणों से विकिरणन, अति उच्च तरंग चिकित्सा, उष्मा पैड और उष्ण सेंक से परनासा विवर के तीव्र शोथ में आराम मिलता है।

डायाथर्मी[1] (10 से 15 मिनट वाली 12 से 15 सत्र, दैनिक या एक दिन के अंतर पर) से लंबे अर्से वाले शोथ में आराम मिलता है। सार्वदैहिक विषालुता वाले

---

[1] गहराई में स्थित ऊतकों को कम वोल्टता वाली उच्च आवृति की विद्युत-धारा द्वारा गर्मी देना। – स०

तीव्र रोग में तेज सिर-दर्द और प्रचुर नासा-स्राव का उपचार प्रतिजीवी औषधियों द्वारा तीन से पाँच दिन तक किया जाता है। लंबे अर्से वाले रोग में प्रचुर मात्रा में पस का स्राव होने पर या प्रतिकूल शारीरी संबंध होने पर विशेषज्ञ द्वारा लघु शस्त्रकर्म किया जाता है। पालिपों को निकालना, मध्य नासा-शुक्तिका का उच्छेदन, ऊर्ध्वहनु शिरा-नाल में बार-बार बेधन और प्रतिजीवी घोल का आधान किया जाता है। सिरदर्द में आराम के लिए एसीटील सैलीसीलिक एसिड, अनाल्जिन और एमिडोपाइरीन दी जाती है।

परनासा शिरानाल का चिरकाली शोथ होने पर रोगी का उपचार तीव्र प्रक्रम वाले रोगी की तरह किया जाता है। इसके असफल होने पर शस्त्र कर्म किया जाता है। रोगी विवर का मुँह खोल कर नाक के रास्ते इसे साफ कर देते हैं। शल्य-क्रिया इस क्षेत्र के विशेषज्ञ द्वारा की जाती है। प्रतिजीवी औषधियों के व्यापक प्रयोग के कारण वायु विवर शोथ के रोगियों में शल्य कर्म की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है।

शस्त्रकर्म पूर्व तथा पश्च उपचार

शल्य कर्म के सामान्य नियमों के अनुसार उपचारिका रोगी को शस्त्रकर्म करने के एक दिन पहले तैयार करती है। पेट और आंतें खाली करा दी जाती हैं तथा रोगी को स्नान भी कराया जाता है। उपचारिका यह भी देखती है कि रोगी ने अपना मुँह साफ कर लिया है तथा उसे अपने दाँतों में ब्रश करने और मुंह साफ करने को कहती है (मुँह की सफाई बोरिक एसिड, हाइड्रोजन परआक्साइड इत्यादि के घोल से की जाती है)। नासा श्लेष्मा के लिए संज्ञाहरण की तैयारी करना, इंजेक्शन का घोल (प्रोकेन) बनाना, शस्त्रकर्म के लिए उपकरण तैयार करना इत्यादि उपचारिका की जिम्मेदारियाँ हैं। शस्त्रकर्म के बाद उर्ध्वहनु शिरानाल को खोलने के लिये तौलिये में लपेटी हुई बर्फ की थैली को गाल के पास सूजन कम करने के लिए छः से आठ घंटे तक लगाये रखना पड़ता है। हर 30 मिनट के बाद बर्फ की थैली को 10 से 15 मिनट के लिए हटा देते हैं। रोगी को तरल और उष्ण भोजन चार या पाँच दिन तक दिया जाता है। शस्त्रकर्म के पाँचवें, छठे या सातवें दिन चिकित्सक ऊर्ध्वहनु विवर का धोवन करता है। धोवन हेतु उष्ण शरीरवृत्तिक लवण घोल, रबर नल सहित प्रवेशिनी और रबर के गुब्बारे की आवश्यकता होती है। इन सब को पहले से उबाल कर विसंक्रामित कर लेते हैं। अगली धोवन-क्रिया उपचारिका कर सकती है, पर चिकित्सक की देख-रेख में ।

नाक का दुर्दम अर्बुद (कर्सीनोमा और सार्कोमा)

लक्षण और अवधि. नाक का एकपार्श्विक अवरुद्धन होना, गंधयुक्त और रक्त मिश्रित पदार्थ का उस नथूने से स्राव होना, नासा या ग्रसनी से रक्त-स्राव होना, इत्यादि इसके आम लक्षण हैं। अर्बुद की वृद्धि होने के साथ-साथ चेहरे का अस्थि पंजर

विकृत हो जाता है। नेत्रगोलक विस्थापित हो जाता है और तंत्रिकार्तिक पीड़ा होने लगती है। नासादर्शी से ग्रंथिल अर्बुद का पता चलता है, जिससे प्रोब से छूने पर रक्तस्राव होने लगता है।

निदान. अर्बुद के नमूने की ऊतकशास्त्रीय जाँच से निश्चित हो जाता है। अर्बुद के आकार और प्रसार का एक्सरेचित्रण से पता लगाया जाता है।

उपचार. विकिरण-चिकित्सा के साथ शस्त्र कर्म किया जाता है। उपचारिका आबादी के रोग-निरोधी परीक्षण में सहायता करती है। ऐसा परीक्षण सोवियत संघ में व्यापक रूप से किया जाता है और ऐसे लोगों की अलग से जाँच की जाती है, जो ऊपरी श्वास पथ के कैटार से दीर्घकाल से पीड़ित होते हैं। यह जानना बहुत आवश्यक है कि दुर्दम अर्बुद से पहले बहुधा एक या दूसरा चिरकाली रोग, जैसे परानासा विवर और पुनरावर्ती पोलिपता, तथा नासा प्रवेश द्वार में व्रण होते हैं, जो बहुत समय तक ठीक नहीं होते। इसलिए अर्बुदीय रोग के निरोध हेतु उपचारिका को चाहिए कि ऐसे रोगी को, जिसमें उपरोक्त कोई भी संदेहात्मक चिन्ह मिलें, विशेषज्ञ के पास भेजे, क्योंकि विशेषज्ञ ही इस नवीन वृद्धि के लक्षणों को पहचान सकता है।

नाक और परानासा विवर में चोट

नीलन, (चोट से) मृदुल ऊतकों में चोट और उपस्थिसम व अस्थिसम पिंडों के साधारण व सम्मिश्र अस्थि-भंग में भेद किया जाता है। नाक की अस्थियाँ बहुधा क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। अभिघात से भी नासा पट में विरूपण, उखाड़, विस्थापन या अस्थिभंग हो सकता है। उसी दशा में नाक की चोट से पट का अवश्लेष्मक रक्तगुल्म बन जाता है, जिससे द्वितीयक संक्रामण के कारण बहुधा सपूयन होना रहता है, जो कि आगे चलकर विद्रधि का रूप ले लेता है।

लक्षण. नाक में चोट लगने पर बहुधा नासा रक्तस्राव होता है। अस्थि खंडों के विस्थापित होने से नासा-अवरूद्ध हो जाती है तथा इसमें पीड़ा होती है तथा अभिघात के स्थान पर अनुषंगी सूजन और रक्तस्राव होता है। अस्थिभंग के स्थान पर परि-स्पशन द्वारा अस्थि का विस्थापन, क्रेपीटेशन और स्पर्शसह्यता का पता चलता है। नासा अस्थि के एक्सरे चित्रण द्वारा चोट के लक्षण की पुष्टि होती है।

उपचार. सबसे पहले नासा रक्तस्राव को रोकना आवश्यक है (देखिये भाग "नासा-रक्तस्राव") और फिर अस्थि खंडों को कम करने के लिये उन्हें अग्रटैम्पोनेड से सही स्थिति में स्थिर करना चाहिए। खंडों को कम करने का काम चिकित्सक के द्वारा ही होना चाहिए।

नासा पट के रक्तगुल्म का या तो चूषण करना चाहिए या इसका मुंह खोल देना चाहिए। यदि रक्तगुल्म का यथासमय उत्सारण न किया जाय तो अनुषंगी संक्रामण की वजह से यह विद्रधि का रूप ले लेता है। यदि पट-विद्रधि के मुँह को आवश्यकता होने पर न खोला जाय, तो इससे पट क्षतविक्षत हो जाता है तथा नाक में पर्याप्त विरूपता आ जाती हैं। प्रतिजीवी चिकित्सा से संक्रामण बढ़ने से रुक जाता है तथा अन्य उपद्रव नहीं होते।

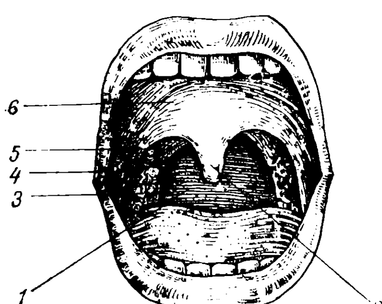
II. ग्रसनी के रोग

गलतोरणिका और ग्रसनी की शरीर रचना

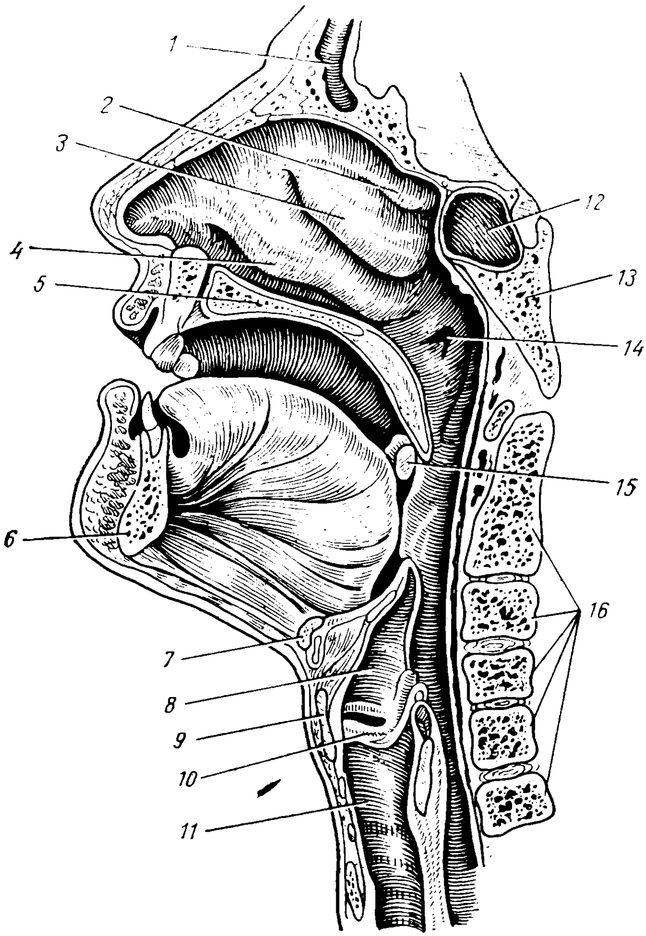
ग्रसनी एक नली है, जो कपाल के आधार से लेकर ग्रासनली तक अखंड **पुच्छक** रूप से फैली हुई है (चित्र 96)। ऊपरी भाग शुक्तिका के द्वारा नासा गुहर तक जाता है, जिसे **नासाग्रसनी** कहते हैं। सतह से लेकर कठोर तालु तक का अखंड भाग नासाग्रसनी को ग्रसनी के मध्य भाग से अलग करती है जिसे **मुखग्रसनी** कहते हैं (चित्र 95)। ग्रसनी के इस भाग का मुँह सामने की ओर होता है और यह गलतोरणिका के द्वारा मुख-गुहा से जुड़ा होता है।

गलतोरणिका ऊपर से मृदुल तालु से और जिह्वा मूल के नीचे से घिरा रहता है और इसके दोनों ओर अग्र और पश्च तालु स्तम्भ होते हैं।

ग्रसनी में लसीकापर्वाभ ऊतक प्रचुर मात्रा में होते हैं, जो बड़ी संख्या में दोनों ओर के तालुस्तम्भ के बीच में स्थित होते हैं तथा इन्हें तालु गलतुण्डिका कहते हैं (प्रथम और द्वितीय)। इन में असंख्य प्रच्छन्न या रिक्तिकाएं होती हैं, जो ग्रसनी के सामने की अबाध सतह पर स्थित होती है। तीसरी गलतुण्डिका ग्रसनी के कक्ष में स्थित होती है और चौथी जिह्वा के मूल में। ये चार गलतुण्डिकाएँ और लसीका पुतिकाएँ श्लेष्मल कला की गहराई में ग्रसनी लसीका रिंग बनाती हैं, जिसे वालडेयर-रिंग कहते हैं। श्रवण (यूस्टेशियन) नलिका नासा-ग्रसनी की पार्श्व सतह पर खुलती है, जो मध्य कान से जुड़ी होती है। ग्रसनी श्लेष्मल कला की सीध में होती है, जिसमें असंख्य श्लेष्मल ग्रन्थियाँ होती हैं। निगरण में संकुचित होने वाली तथा भोजन को ग्रास-नली में धकेलने वाली पेशियों को श्लेष्मल कला ढके रहती है



चित्र 95. ग्रसनी का मध्य भाग। 1. ऊर्ध्व ग्रसनी भित्ति, 2. युवुला, 3. गलतुण्डिका तालु, 4. अग्रगलतुण्डिका स्तम्भ, 5. पश्च तालु स्तम्भ, 6. कोमल तालु।



चित्र 96. नासागुहा, ग्रसनी और स्वर यंत्र का अग्र पश्च भाग।
1. ललाटविवर, 2. ऊर्ध्व शुक्तिका, 3. मध्यनासा शुक्तिका, 4. हनु शुक्तिका, 5. कठोर तालु, 6. अधोहनु, 7. कण्ठिका अस्थि, 8. कण्ठकच्छद, 9. थाय-रायड (अवटु) उपास्थि, 10. स्वरपुटक, 11. श्वासप्रणाल, 12. जतुक विवर, 13. जतुक अस्थि का पिण्ड, 14. युस्तेशियन नलिका का ग्रसनी में द्वार, 15. गलतुण्डिका तालु, 16. ग्रैव कशेरुका।

ग्रसनी के परीक्षण की विधियाँ

मुख-गुहा और ग्रसनी के मध्य भाग का निरीक्षण कृत्रिम प्रकाश में भी किया जा सकता है और दिन की रोशनी में भी।

प्रकाश के स्रोत को रोगी पर ऐसे डालते हैं जैसे कि नाक के परीक्षण में, और उसी प्रकार से शीर्ष-दर्पण का प्रयोग होता है।

ग्रसनी निरीक्षण से पूर्व मुख-गुहा की जाँच की जाती है। इस में ओठों से निरीक्षण शुरू करके मुँह के प्रवेशद्वार का निरीक्षण करते हैं। पहले मुँह के एक कोने से शुरू करके दूसरे को स्पेचुला से खींचकर देखते हैं। ऊपरी और निचले ओठ को बड़ी सावधानी से पलटते हैं। श्लेष्मल कला का रंग, व्रणों का होना, निस्त्वचन, या नालव्रण, मसूड़ों और दाँतों की हालत इत्यादि देखे जाते हैं। जिह्वा और कठोर तथा कोमल तालु का भी परीक्षण किया जाता है।

मुख गुहा के तल का भी निरीक्षण जिह्वा के सिरे को स्पेचुला से उठाकर किया जाता है। इसके बाद जिह्वा के पिछे वाले भाग को स्पेचुला से दबाकर तालव्य गल-तुण्डिका और पश्च ग्रसनी-भित्तिका का परीक्षण किया जाता है। स्पेचुला को मुँह में बहुत अन्दर तक इसलिए नहीं डालते हैं कि कहीं वमन न हो जाय; परीक्षण के समय रोगी को अपनी जिह्वा अन्दर खींचने या श्वास रोकने से मना करना चाहिए।

तालव्य गलतुण्डिका का परीक्षण करते समय श्लेष्मल कला के रंग को ध्यान से देखा जाता है। साथ ही, गलतुण्डिका के आकार, तालव्य खंभ से आसंजन और रिक्तिका के द्रव्य को भी ध्यान से देखा जाता है।

कंठशालुक

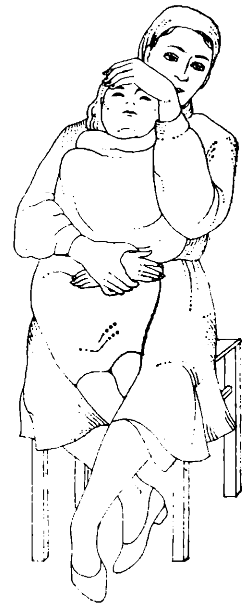
तीसरे (या नासाग्रसनीय) गलतुण्डिका की अतिवृद्धि को कंठशालुक कहते हैं। कंठशालुक वर्धन बहुधा संक्रामक रोगों (खसरा, स्कारलेट ज्वर, रोहिणी, काली खाँसी, इन्फ्लूएंजा इत्यादि) और पुनरावर्ती शोथ के कारण होता है। कंठशालुक का रोग 3 वर्ष तथा 8 से 10 वर्ष की आयु के बीच होता है।

लक्षण और अवधि. नासा अवरुद्ध और स्थाई नासाशोथ इस रोग के लक्षण। शिशु मुँह खोलकर सोता है तथा खर्राटे लेता है। जगने पर भी मुँह आधा खुला रहता है। बच्चे बहुधा सिर दर्द की शिकायत करते हैं तथा मानसिक कार्य में ध्यान नहीं लगा पाते (स्कूल में भी वे पीछे रहते हैं)। कंठशालुक से शारीरिक विकास भी रुक जाता है। ऐसे बच्चे अन्यमनस्क और कभी-कभी नैश असंयत मूत्रता से पीड़ित होते हैं। चिरकारी शोथीय कंठशालुक बहुधा नासा ग्रसनी और मध्यकान के लिए पुनरावर्ती शोथ का कारण होता है। इस रोग में कम सुनाई पड़ता है।

पहचान. कंठशालुक का पता पश्च नासा-दर्शन या नासा ग्रहनी के उंगली से परि-स्पर्शन से लगता है।

उपचार. बहुधा शस्त्र कर्म होता। यदि शस्त्र कर्म प्रतिदिष्ट हो, तो रेडियो कि-रणन या परा-बैंगनी किरणन से उपचार किया जाता है।

कंठशालुक उच्छेदन के शस्त्र-कर्म में उपचारिका की सहायता बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह शस्त्र-कर्म बहुधा बहिरंग चिकित्सालय में किया जाता है। जो बच्चा चिकित्सालय में लाया जाता है, वह अपने को अपरिचित वातावरण में पाता है। उपचारिका को चाहिए कि वह उसे आराम से बिठाकर उसमें अपनत्व का भाव भरे। बहुधा शरीर का तापमान लिया जाता है। आवश्यक निर्देशों की जाँच करके शस्त्रकर्म के कक्ष में उचित परिवेश बनाया जाता है। शस्त्र कर्म के समय उपचारिका बच्चे को परिचारक की गोद में बिठाकर बच्चे के सिर को थाम लेती है, अन्यथा स्वयं ही बच्चे को थाम लेती है, जैसा कि चित्र 97 में दिखाया गया है।



चित्र 97. कण्ठशालुक को निकालने के लिए शस्त्र कर्म करते समय रोगी का आसन।

शस्त्र-कर्म के बाद बच्चे को कोच या बिस्तर पर लिटा कर सिराहना ऊंचा कर देते हैं। रक्त-स्राव होना ही इसका एक आम उपद्रव है। इसलिए बच्चे को शांतिपूर्वक लिटाये रखना चाहिए। बेहतर है कि एक करवट से लेटे। रक्त मिश्रित लार को बेसिन या तौलिये में थूकना चाहिए (लेकिन निगलना नहीं चाहिए)। शस्त्र कर्म के फौरन बाद तथा 60 से 90 मिनट तक बच्चे को सोने नहीं देना चाहिए क्योंकि बच्चे के सोते समय भी रक्तस्राव हो सकता है और अनजाने ही रक्त निगरित हो कर पेट में पहुंच सकता है। रक्तस्राव को यथासमय जान लेना उपचारिका का कर्तव्य है (प्रचुर मात्रा में रक्त का थूकना, रक्त वाली वमन, तेज नाड़ी, इत्यादि) इन लक्षणों के होने पर शल्य चिकित्सक को फौरन सूचित करना चाहिए और इसके नियंत्रण के लिए फौरन ही आवश्यक तैयारी कर लेनी चाहिए। रोगी की शैय्या के पास टेबुल-लैंप तथा उपकरणों वाली चिलमची (स्पैचुला, लंबे फल वाली चिमटी, गोल शुक्तिका यंत्र, रूई और गाज के गोले) रख दी जाती है। शस्त्र कर्म के दो या तीन दिन बाद तक बच्चे को चरफरा रहित भोजन (अनछना सूप, पतला दलिया और दूध, इत्यादि) दिया जाता है।

अतिपाती (तीव्र) गलतुण्डिकाशोथ

अतिपाती गलतुण्डिकाशोथ एक तीव्र सार्वदैहिक संक्रामक रोग है। इस में गलतोरणिका और ग्रसनी के लसीकापर्वाभ ऊतकों में विलक्षण शोथीय परवर्तन होते हैं। इनमें तालु की गलतुण्डिकाओं का आवेष्टन होता है।

यह रोग वयस्कों की अपेक्षा अधिकतर बच्चों में होता है और विशेष रूप से स्कूल जाने से पूर्व की अवस्था में होता है।

हेतुकी. यह रोग विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवों और विषाणुओं, विशेष रूप से स्ट्रेप्टोकोकस और कभी-कभी डिप्लोकोकस, न्यूमोकोकस, स्टैफाइलोकोकस, पर्कुरूपी जीवाणु की स्पाइरोकीट के साथ सहजीविता, इत्यादि कारणों से होता है। गलतुण्डिकाशोथ बिन्दुक संक्रामण के द्वारा भी हो जा सकता है। रिक्तिका और गलतुण्डिका की परतों में स्थाई रूप से रहने वाले सूक्ष्म-जीवियों की रोग जनकता बढ़ जाने से गलतुण्डिका का स्वतः संक्रामण भी संभव है। शरीर के निर्बल होने पर यह संक्रमण अधिक पनपता है।

रोग जी तीव्रता तथा गलतुण्डिका की स्थानिक परत, गुण और लक्षणों के अनुसार गलतुण्डिकाशोथ के पुटिकीय, रिक्तिकीय और श्लेष्मस्रावी रूपों को पहचाना जाता है (प्लेट IX)।

गलतुण्डिका के साथ-साथ बहुधा तीव्र स्थानिक और दैहिक उपद्रव (परागलतुण्डिका शोथ, पुतिता, जोड़ों, हृदय, गुर्दे, इत्यादि के रोग) हो जाते हैं। कभी-कभी इनके साथ विभिन्न मूलों के दैहिक रोग (स्कार्लेट ज्वर, खसरा, रोहणी, सिफिलिस, रक्त के दोष, इत्यादि) हो जाते हैं।

श्लेष्मास्रावी गलतुण्डिकाशोथ (angina catarhalis) स्थानिक लक्षण: शुरू में गले में सूखापन और दाह होता है। इसके बाद निगरण में पीड़ा होती है, जो कान तक बढ़ जाती है। लालास्राव बढ़ जाता है और इसको निगलने की बहुधा आवश्यकता पड़ती है। छोटे बच्चों में इसके कारण बहुधा वमन होता है।

सामान्य लक्षण: व्याकुलता, सिरदर्द, जोड़ों और सारे शरीर में दर्द, ठंड लगना या ज्वर होना। शरीर का तापमान बढ़ जाता है। छोटे बच्चों में तापमान बढ़कर 39° सें० तक हो जाता है। गलतुण्डिका अतिरक्तिता, फूली हुई तथा श्लेष्मा से ढकी सी होती है। रोगी गलतुण्डिका के पास वाली ग्रैवलसीक्त्र बहुधा बढ़ जाती है और स्पर्शासिह्य होती है।

रिक्तिकीय गलतुण्डिकाशोथ (angina lacunaris): श्लेष्मस्रावी गलतुण्डिका शोथ की अपेक्षा इसके सामान्य लक्षण अधिक तीव्र होते हैं। इसकी शुरूआत एकाएक होती है और इसमें ठंड लगती हैं। शरीर का तापमान (बहुधा 39°–40° सें०) बढ़ जाता है। व्याकुलता और सिरदर्द होता है तथा निगरण में पीड़ा होती है। गलतुण्डिकाएँ सूज जाती हैं। तालव्य गलतुण्डिका की लाल और सूजी हुई श्लेष्म कला की रिक्तिका पर पीलापन लिये हुए सफेद झिल्ली उभर आती है। यह झिल्ली धीरे-धीरे बढ़कर गलतुण्डिका के क्षेत्र का ढक लेती है। यह डिप्थोरिया से भिन्न होती है, क्योंकि ये गलतुण्डिका से ग्रसनी श्लेष्मा के क्षेत्र तक नहीं फैलती हैं। इन झिल्लियों को प्रोब पर रूई लपेट कर आसानी से निकाला जा सकता है। इस क्रिया-विधि के दौरान गलतुण्डिका ऊतकों से रक्त-स्राव नहीं होता है। सम्भागीय ग्रैव और अव-

अधोहनु लसीका पर्विकाएं बड़ी और स्पर्शासह्य हो जाती हैं। रिक्तिकाय गलतुण्डिका शोथ बहुधा पाँच से सात दिन तक रहता है।

पुटिकीय गलतुण्डिकाशोथ (angina follicularis) यह रोग भी एकाएक प्रारंभ होता है। इसमें ठंड लगती है। निगरण पीड़ायुक्त होता है। सार्वदैहिक कमजोरी, सिरदर्द, पीठ और शाखाओं में पीड़ा होती है। शरीर का तापमान 39°–40° सें० तक बढ़ जाता है। दोनों खुले हुए तालव्य गलतुण्डिकाओं के लाल पृष्ठ बहुत-सी गोल, पीलापन लिये हुए सफेद विक्षतियों से ढक जाते हैं। इनका आकार सूई की नोक के बराबर होता है तथा ये श्लेष्मा पृष्ठ से थोड़ा-सा ऊपर होते हैं। (सपूय गलतुण्डिका पुटिकाएँ); इन विक्षतियों के कारण गलतुण्डिका का पृष्ठ तारों वाले आसमान की तरह दिखलायी देता है। सम्भागीय ग्रैव और अवअधोहनु लसीकाए बढ़ जाती हैं तथा स्पर्शासह्य हो जाती हैं। यह प्रक्रिया बहुधा पाँच से सात दिन में पूरी होती है।

गलतुण्डिका शोथ की देखरेख और उपचार. रोगियों को शय्या विश्राम, प्रचुर मात्रा में तरल पेय, उष्ण, पौष्टिक, क्षोभकरहित भोजन, मल्टी विटामिन और हल्के कषाय घोल (सेज, मैंट्रीकारिया) व निःसंक्रामक (एक गिलास में आधा चम्मच बोरिक एसिड; पोटैशियम परमैंगनेट 1:2000; तीन प्रतिशत हाइड्रोजन पैराक्साइड घोल, एक गिलास में एक या दो बड़े चम्मच– जल के एक गिलास में; एक गिलास पानी में 2 मि० ली० ग्रामीसाइडीन) से गले में गरारा निर्दिष्ट करते हैं। गले को अल्कोहल (बेहतर हो कि 1/3 आयतन अल्कोहल और 2/3 – पानी) से सेंक देते हैं।

Rp. Acidi borici 20.0
Sig. गरारे के लिए उबले हुए गर्म पानी के एक गिलास में आधा चम्मच।

Rp. Kalii hypermanganatis 1.0
Sig. गरारे के लिए उष्ण उबले हुए पानी के एक गिलास में 2 या 3 दाने

Rp. Hydrogenii hyperoxydati 3% 100.0
Sig. गरारे के लिए उष्ण उबले हुए पानी में एक बड़ा चम्मच।

Rp. Gramicidini 2.0
D. t. d. N 6 in amp.
Sig. गरारे के एक गिलास पानी में एक एम्पुल को घोला जाता है।

सिर के चारों ओर से लपेट कर सेंक को बाँध देते हैं, जिससे यह अपने स्थान पर रहे। इस सेंक को दिन में प्रति दो या तीन घंटे बाद बदलते हैं और फिर दो, तीन, चार घंटे के अंतर पर बदलते हैं। सल्फानिलामाइड (सल्फाडायजीन, सल्फाथायोजोल, सल्फाडिमीडीन) की 0.1 से 0.6 ग्रा० की खुराक (आयु के अनुसार) हर चार घंटे के बाद ली जाती है।

Rp. Sulfadimezini 0.5

D. t. d. N 24 in tabul

Sig. एक गोली दिन में 4–6 बार ली जाती है।

पूतिता रोग तथा अन्य उपद्रवों में सल्फानिलामाइड और प्रतिजीवी औषधि दी जाती है। व्यक्ति को उसके काम पर जाने की अनुमति देने से पूर्व उसके रक्त की जाँच और मूत्र विश्लेषण किया जाता है। किसी भी प्रकार की अपसामान्यता होने पर अंतर्रोग-विशेषज्ञ द्वारा उसका परीक्षण किया जाता है।

गलतुण्डिकाशोथ के निरोध में सामान्य स्वास्थ्यवर्धक उपाय किये जाते हैं, जिनसे शरीर पुष्ट हो तथा पर्यावरणीय कारकों के प्रति प्रतिरोध शक्ति बढ़े। इन उपायों के अंतर्गत हैं: (1) उद्यम में स्वच्छता, श्रम-स्वच्छता की तकनीकी शर्त्तों का पालन करना, गलतुण्डिका शोथ से अक्सर पीड़ित कर्मियों की नियमित रूप से जाँच और उनका उपचार (2) दैनिक जीवन के स्वास्थ्यपूर्ण वातावरण को बनाये रखना, व्यक्तिगत स्वच्छता और शरीर के दृढ़ीभवन के उपाय (3) गलतुण्डिकाशोथ (चिरकारी गलतुण्डिकाशोथ, सपूय उर्ध्वहनु विवरशोथ, कंठशालूक, कीड़े लगे हुए दाँत) विकसित करने वाले रोगों का उपचार आदि।

यद्यपि गलतुण्डिका शोथ का संक्रमण अति साँसर्गिक नहीं है, फिर भी इन रोगियों को अलग वार्ड में रखने की सलाह दी जाती है तथा उन रोगियों को प्याले, प्लेट इत्यादि तथा उनके प्रयोग की वस्तुएँ अलग-अलग दी जाती हैं। रोगियों और स्वस्थ व्यक्तियों के संपर्क को बचाया जाता है। यह सुझाव विशेषकर बच्चों के लिए है, जिन्हें गलतुण्डिका शोथ हो सकता है, इसलिए बच्चों के सामूहिक स्थान (शिशुगृह, किंडरगार्टेन, बोर्डिंग स्कूलों, इत्यादि) के रोगी बच्चे को फौरन ही पृथक किया जाता है। इन स्थापनों के बच्चों के गले का दैनिक निरीक्षण आवश्यक है, जिससे कि रोग का जल्दी पता चल सके। गलतुण्डिका शोथ से बहुधा पीड़ित रहने वाले व्यक्तियों को उपचार हेतु कर्णनासाकंठविज्ञानी के पास भेजना चाहिए। यदि आवश्यक हो, तो गलतुण्डिकाओं को शस्त्र कर्म द्वारा निकाल देना चाहिए।

फ्लैगमोनी गलतुण्डिकाशोथ या परागलतुण्डिका विद्रधि (कंठप्रदाह) (angina phlegmanosa paratonsillitis absendens). यह चिरकाली गलतुण्डिका शोथ के प्रकोपन या तीव्र गलतुण्डिकाशोथ के बाद उपद्रव के रूप में विकसित होती है। संक्रामण गलतुण्डिका ऊतकों में प्रवेश कर जाता है और वहां विसरित शोथ विकसित होता है, जो कि आगे चल कर विद्रधि का रूप ले लेता है।

लक्षण और अवधि. यह रोग तेजी से और बहुधा निगरण के समय पार्श्वीय पीड़ा के अनुभव से प्रारम्भ होता है। यह पीड़ा कान तक पहुँच जाती है। शरीर का ताप (38°–39° सें० तक) ऊँचा हो जाता है और सार्वदैहिक स्थिति बहुधा गम्भीर हो जाती है। कोमल तालु का अनुरूपी आधा भाग लाल हो जाता है और सूज जाता है। और अलिजिह्वा भी सूज जाता है तथा बहुधा प्रतिपक्षी भाग की ओर

विस्थापित हो जाता है। लसीका पर्विकाएँ (ग्रैव और अव-अधोहनु) बढ़ जाती है और स्पर्शासह्य हो जाती हैं। रोगी कठिनाई से अपना मुँह खोल पाता है और वह भी केवल थोड़ा-सा, उसकी आवाज अनुनासिक हो जाती है। भोजन करना कठिन या कभी-कभी असंभव हो जाता है। जल और तरल खाद्य नाक के द्वारा बहुधा बाहर निकल जाते हैं।

उपचार. अव अधोहनु भाग पर गरम पानी की थैली रखने से विद्रधि बढ़ जाती है। सौलक्स (सूर्य-लैम्प) किरणन और गर्दन पर गरम सैंक तथा वाष्प अभिश्वसन से भी विद्रधि बढ़ जाती है। इसलिए प्रतिजीवी औषधियों का निर्देश दिया जाता है। तीव्र पीड़ा होने पर एसीटील सैलीसिलिक एसिड या कैफीन सहित एमिडोपाइरीन दी जाती है तथा अनिद्रा होने पर निद्रापक औषधियाँ देते हैं। जब स्पर्श तरंग उच्चावचन स्पष्ट हो जाता है तो विद्रधि के सबसे उभरे भाग को अग्र तालव्यखम्भ के द्वारा खोला जाता है। यह कार्य स्केलपल (छुरी) द्वारा किया जाता है। आसंजक (ऐढ़िसिव) टेप इसके ऊपर लिपटा होता है और केवल 0.5 सें० मी० का सिरा खुला रहता है (जिससे अन्य वाहिकाओं को क्षति न पहुँचे)।

गलतोरणिका रोहिणी (डिप्थीरिया)

डिफ्थीरिया तीव्र संक्रामक रोग है जो कि लोएफ्लर दण्डाणु से होता है। इसकी अभिव्यक्ति संक्रमण के दूसरे दिन से लेकर सातवें दिन तक होती है। रोग का संचरण या तो रोगी से सीधे सम्पर्क से होता है, जबकि वह खाँसता, छींकता, या बोलता है अथवा ऐसी वस्तुओं के सम्पर्क से होता है, जिन्हें रोगी छूता है। रोग से स्वस्थ हुए व्यक्ति में या दण्डाणु को वहन करने वाले स्वस्थ व्यक्ति द्वारा संक्रमण संचरित हो सकता है। यह रोग अधिकतर दो से छः वर्ष की आयु वाले बच्चों में होता है और इसमें विशेष रूप से गलतोरणिका और गलतुण्डिका प्रभावित होती हैं।

शिशु और वयस्कों की गलतोरणिकी डिफ्थीरिया बहुत कम होती है। डिफ्थीरिया का हल्का रूप (परिगत डिफ्थीरिया) आगे चल कर रिक्तिकीय या पुटकीय गलतुण्डिका शोथ का रूप ले सकती है। बच्चों में शरीर का तापमान कम बढ़ता है और वयस्कों में यह बहुधा सामान्य रहता है। डिफ्थीरिया के इस रूप में गलतुण्डिका की थोड़ी सूजी हुई और लाल पृष्ठ पर भूरें या भूरापन लिए हुए सफेद बिन्दुओं की झिल्ली बन जाती है, और हल्की सी सामान्य अभिक्रिया होती है।

अधिकांश रोगियों में झिल्ली के ये बिन्दु जल्दी ही संश्लेषित होकर सफेद, भूरापन लिये हुए सफेद और कभी-कभी पीली दीपिका का रूप ले लेते हैं। ये झिल्लियाँ गलतुण्डिका के स्वतंत्र तल को केवल ढकती ही नहीं हैं, बल्कि तालव्य खम्भों और कोमल तालु तक फैल कर डिफ्थीरिया का विसरित रूप ले लेती हैं। और बहुधा ये श्लेष्मा से ऊपर उभरी हुई होती हैं।

डिफ्थीरिया के प्रचंड और विषालु रूप के साथ-साथ अति गम्भीर सामान्य प्रतिक्रिया होती है। शरीर का तापमान बहुधा बढ़कर 39°–40° सें० तक हो जाता है और रोगी पीला और भावहीन हो जाता है। उसके श्वास से दुर्गन्ध आती है; उसकी नाड़ी कमजोर, तेज और अतालित होती है, जो कि हृदय के विषालुता से प्रभावित होने का संकेत है।

डिफ्थीरिया के रक्तस्रावी रूप में श्लेष्मलकला में रक्तस्राव होता है। त्वचा और झिल्ली रक्त से भर जाती है।

डिफ्थीरिया के परिगत रूप और रिक्तिकीय गलतुण्डिका शोथ के भेद को पहचानना आवश्यक है। गलतुण्डिका शोथ में झिल्ली बड़ी होती है। इस अंतर को पहचानने के लिए इन दोनों रोगों के विशिष्ट लक्षणों के आरेख के प्रयोग करने की सलाह दी जाती है।

आरेख का प्रत्येक लक्षण एक या दूसरे रोग का विशिष्ट व्याधिज्ञापक नहीं होता है परन्तु सभी लक्षणों को मिलाकर कठिन रोग का सही निदान किया जाता है।

उपचार. जैसे ही निदान की पुष्टि हो जाती है, और संदेहास्पद रोगों में भी डिफ्थीरिया का प्रतिजीवविष का इंजैक्शन फौरन लगा देते हैं तथा जीवाणु विज्ञानी जाँच के परिणाम की प्रतीक्षा नहीं करते। प्रतिजीवविष का इंजैक्शन प्रभावी अल्पसुग्राहीकरण की विधि से लगाते हैं: पहले अधस्तवक रूप से 0.1 मि० ली० का इंजैक्शन देते हैं तथा इसके एक घंटे बाद प्रतिजीवविष की पूरी आवश्यक खुराक अंतर्पेशीय रूप से लगायी जाती है।

बड़े बच्चों के स्थानिक उपचार में बच्चों के मुँह और गले का बोरिक एसिड के हल्के विसंक्रामक घोल से, सोडियम टैंटराबोरेट या हाइड्रोजन पराक्साइड से सफाई और गरारा करते हैं।

छोटे बच्चों की मुखगुहिका की सफाई इसी घोल से या दो प्रतिशत सोडा के घोल से करते हैं, परन्तु सफाई की यह क्रिया पिचकारी से छिड़काव या धोवन के द्वारा किया जाती हैं।

रोग का निरोध और देखरेख. डिफ्थीरिया के रोगी को फौरन पृथकभूत किया जाना चाहिए। चिकित्सालय में भरती करना पृथकभूत का सबसे भरोसे वाला साधन है। क्योंकि यही पर रोगी की सबसे अच्छी देखरेख हो सकती है।

डिफ्थीरिया के रोगी की देखरेख करने वाले व्यक्ति को रोगी से हर बार सम्पक के बाद हाथ अच्छी तरह धोने चाहिए और फिर विसंक्रामित घोल से साफ करना चाहिए। रोग के संचरण से बचने के लिए यह सलाह दी जाती है कि कोई रोगी के बिस्तर पर न बैठे तथा दर्शकों को वार्ड में आने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। रोगी द्वारा प्रयोग में लायी हुई वस्तुओं को वार्ड से बाहर नहीं लाने देना चाहिए। रोगी के मुँह और नाक को साफ करने के लिए प्रयुक्त गाज और रूई को फौरन जला देना चाहिए

रोहिणी और गलतुंडिका-शोथ के लक्षण-भेद

लक्षण	गलतुंडिका-शोथ	रोहिणी (डिफ्थीरिया)
गलतुंडिका में सूजन	रोहिणी से कम, दोतरफी	अधिक स्पष्ट. साथ में पिलर, युवूला (अलिजिह्वा) और नर्म तालू का शोथ. एकतरफा भी हो सकता है
झिल्ली	गलतुंडिका की सिर्फ मुक्त सतह पर फैलती है	गलतुंडिका के परे पिलर, नर्म तालू और पश्चग्रसनी-भीत पर
झिल्ली का रंग	पीला सा	सफेद, भूरा-सफेद, मटमैला भूरा
झिल्ली हटाना	आसानी से, क्योंकि सतह पर होती है	गहरी होती है, ज्यादातर हालतों में मुश्किल से हटती है; कोशिश से रक्त-स्राव
निगलने में दर्द	तेज	तेज, पर हमेशा नहीं
स्थानीय लसीका ग्रंथियों की अवस्था	बड़ी; कुछ ग्रंथियां छू कर देखी जा सकती हैं, अत्यधिक कोमलता, संवेदनशीलता	रोग के प्रथम दिनों से ही दोनों तरफ स्पष्ट सूजन. अवत्वक कोशिकीय ऊतकों का शोथ. गले के उभार आदि दिखने बंद हो जाते हैं
सामान्य अवस्था	रोहिणी से कम गंभीर	विषालुक रूपों में अवस्था गंभीर होती है, बदतर होती जाती है।
तापक्रम	39 — 40° सेंटीग्रेड के परास में	अवज्वर से 38.5° तक. अधिक स्थायी
नाड़ी	तापक्रम के अनुसार जैसा होना चाहिये	शुरू में धीमी, फिर तेज, नर्म और लयहीन
जीवाण्विकीय अध्ययन	नकारात्मक (लेफ्लर बैसीली की उपस्थिति के लिये)	ज्यादातर हालतों में स्वीकारात्मक

रोगी के तापमान और नाड़ी पर निगाह रखनी चाहिए, क्योंकि डिफ्थीरिया में हृदक्रिया का कमजोर होना सबसे चिन्ताजनक लक्षण है।

रोगी को तरल या दलिया जैसे दूध से बनाये हुए खाद्य (पतली खीर), शोरबा, मक्खन और प्रचुर मात्रा में विटामिन वाले फल, विशेष रूप से (विटामिन सी युक्त, या ऐस्कार्बिक एसिड के योग), खाने को दिये जाते हैं।

ग्रसनीशोथ

ग्रसनी श्लेष्मलकला के शोथ को ग्रसनी शोथ कहते हैं। तीव्र और चिरकारी ग्रसनी शोथ में भेद किया जाता है।

तीव्र ग्रसनी शोथ आम तौर पर नाक और नासा ग्रसनी का अवरोहित अभिष्यंद होता है।

लक्षण. ग्रसनी में सूखापन खरोंचने जैसा और बेआराम करने वाला संवेदन होता है। श्लेष्मल कला लाल होती है, जो कि सपूय श्लेष्मल स्राव से ढक जाती है। कभी-कभी इसकी पश्च भित्ति में पृथक-पृथक लाल दाने उभर आते है (लसीकापर्वाभ ऊतक की पुट्टिकाएँ बड़ी और शोथीय हो जाती हैं)।

इसका उपचार गलतुण्डिका शोथ के उपचार के समान है।

चिरकारी ग्रसनी शोथ. चिरकारी ग्रसनी शोथ का पता स्थानिक (चिरकारी नासा शोथ, परनासाविवरों का सपूयशोथ, चिरकारी गलतुण्डिका शोथ) और सार्वदैहिक कारणों (हृदय, फेफड़ों, जिगर, गुर्दों चयापचयी विकारों, लम्बे अरसे से धूम्रपान, एल्कोहल के इस्तेमाल, ठंडे, गरम और तीखे खाद्य पदार्थों का प्रयोग इत्यादि) से लगता है।

लक्षण. ग्रसनी शोथ के शोषीय रूप वाला रोगी गले में सूखेपन और गुदगुदाहट शिकायत करता है। अतिशोषीय ग्रसनी शोथ में श्यान श्लेष्म स्राव नासा ग्रसनी में इकट्ठा हो जाता है और इन्हें बहुधा खाँस कर और कफोत्सारण द्वारा, विशेष रूप से प्रातःकाल में निकालने की आवश्यकता होती है। शोषीय ग्रसनी शोथ में श्लेष्मा सूखी और इस कदर चमकीली होती है, जैसे कि उसमें वार्निश की हुई हो। इस पर भी बहुधा सूखा श्लेष्मा होता है। इसके अतिशोषीय रूप में ग्रसनी श्लेष्मा लाल और मोटी होती है तथा यह श्यान श्लेष्मा सपूय स्रावों से ढक जाती है।

उपचार. रोग के मुख्य कारण का निवारण किया जाता है। धूम्रपान और मदिरापान जैसी खराब आदतों को दूर करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। मुँह और गले का उष्ण क्षारीय घोल (सोडा, टेट्राबोरेट और सोडियम क्लोराइड) से प्रक्षालन किया जाता है। ग्रसनी पर सप्ताह में एक या दो बार 1–5 प्रतिशत सिल्वर नाईट्रेट घोल का आलेप शोथ के अति शोषीय रूप में तथा शोषीय रूप में 0.1–0.2 प्रतिशत आयोडीन ग्लिसिरीन का आलेप किया जाता है। क्षारीय तथा तेलीय अभिश्वसन करने की सलाह दी जाती है।

चिरकारी गलतुण्डिका शोथ

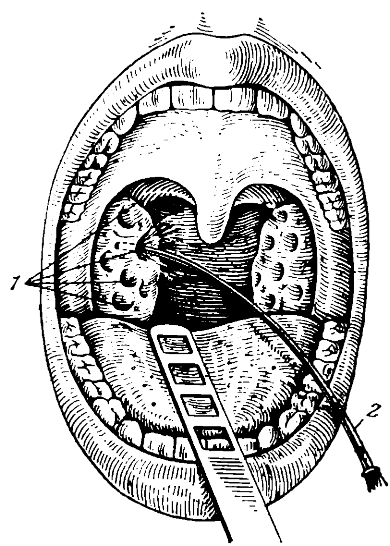
तालव्य गलतुण्डिकाओं के चिरकारी शोथ को चिरकारी गलतुण्डिका शोथ कहते हैं। यह रोग कंठ-दाह के पुनरावर्तन के फलस्वरूप होता है। यह प्रक्रिया गलतुण्डिका रिक्तिकाओं में स्थित होती है। पुट्टकीय त्वचा निकल जाती है और जीवाणुओं, कवक, श्वेत कोशिकाओं और खाद्य सहित रिक्तिका में एकत्रित हो जाती है। जिनका सपूय या किलाती विघटन होता है तथा उनसे दुर्गंध आती है। जब गलतुण्डिका को अग्रीय तालव्य स्तम्भ के द्वारा स्पेचुला से दबाते हैं तो रिक्तिका में एकत्रित पदार्थों का विसर्जन हो जाता है।

रोगी गले में, गलतुण्डिका के भाग में कष्ट, मुँह में दुर्गंध और कभी-कभी कान तक पहुँचने वाली वेधनीय पीड़ा की शिकायत करते हैं। ग्रैव और अव-अधोहनु लसिका पर्विकाएँ बड़ी हो जाती हैं। अधिक समय तक उप-ज्वर रहना एक आम लक्षण है। रोगी में व्याकुलता सिर दर्द होता है तथा काम करने की क्षमता घट जाती है। कुछ तकलीफों, जैसे हृदय और जोड़ों में पीड़ा, नाड़ी का तेज चलना, हृदक्षिप्रता और अत्यधिक प्रस्वेदन का कारण आंतरिक अंगों का विकार होता है। कभी-कभी रोगी गुर्दे की बीमारी वाले लक्षणों की शिकायत करता है। बहुत से रोगियों में कंठदाह के पुनरावर्तन का इतिकृत मिलता है।

उपचार. उपद्रव रहित चिरकारी गलतुण्डिका शोथ का उपचार शल्य-रहित विधियों से किया जाता है। मुँह और गले के क्षारीय प्रक्षालन का निर्देश दिया जाता है (ग्रसनी शोथ के धोवन के लिए ज्वर-हर और पूतिरोधी बाईकारमिन्ट का प्रयोग किया जाता है)।

Rp. Bicarminiti 0.5
D. t. d. N. 20 टिकियों में
Sig. कंठ प्रक्षालन के लिए आधे गिलास जल में एक या दो टिकियाँ।

प्लगों को धोवन या स्पैचुला से दबाकर निकाल दिया जाता है (चित्र 98), इसके बाद गलतुण्डिका की रिक्तिकाओं पर 2–3 प्रतिशत आयोडीन टिंचर, 1–2 प्रतिशत सिलवर नाइट्रेट घोल, 3 प्रतिशत कोलायडल सिल्वर या सिल्वर प्रोटीन घोल



चित्र 98. गलतुण्डिका रिक्तिकाओं का धोवन।
1. रिक्तिका, 2. रिक्तिका में प्रवेश किये हुए पिचकारी का सिरा।

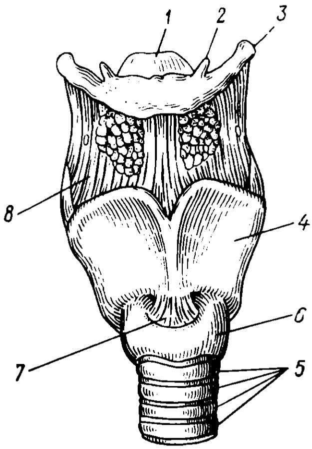
का आलेप किया जाता है। इस उपचार के साथ-साथ गलतुण्डिकाओं का उपचार पराबैंगनी किरणन और अति उच्च तरंगीय चिकित्सा पद्धती से भी किया जाता है। यह उपचार लसीका पर्विका भाग के लिए होता है। शल्य-रहित चिकित्सा के असफल होने पर या आंतरिक अंगों के विकार से रोग के जटिल हो जाने पर गलतुण्डिका उच्छेदन के शस्त्र-कर्म की सलाह दी जाती है।

III. स्वर यंत्र के रोग

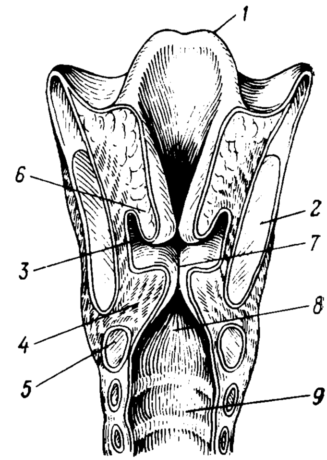
शरीर-विज्ञान

स्वर यंत्र एक नलिका है जो कि तीसरी ग्रैव कशेरुका के स्तर से लेकर छठी ग्रैव कशेरुका के स्तर तक फैली होती है। यह अवटु-कंठिका स्नाय के द्वारा कंठिका अस्थि के ऊपर जुड़ी हुई होती है। यह नासा और मुख गुहिका का ग्रसनी से संयोजन करती है। यह वायु या श्वास नली से भी जुड़ी होती है। ग्रसनी में उपास्थियों का पंजर होता है। इन उपास्थियों में मुद्रिका उपास्थि मूल है। इसका सँकरा भाग आगे की तरफ होता है और इसकी सिग्नेट (मुद्रिका) पीछे की ओर होती है। मुद्रिका उपास्थि के ऊपर अवट उपास्थित होती है। इसमें दो पटल होते हैं जो एक कोणीय अवस्था में होते हैं तथा जोड़ने के स्थान पर खाँच बनाते हैं। दोनों दर्वीकल्प उपास्थियाँ मुद्रिका उपास्थि की उध्र्व सतह के पीछे स्थित होती है। इसके मूल में दो क्रियाएँ होती हैं, एक पोरीया तथा दूसरी स्वरीय। स्वरीय पेशी स्वर की प्रक्रिया में निवेशित होती है। स्वर यंत्र का प्रवेश द्वार एक विशेष उपास्थि से बन्द रहता है। कंठच्छद स्नायुओं से खाँचे के किनारे से जुड़ा होंता है। यह खाँचा अवटु कंठिका के ऊपर होता है। सभी स्वर यंत्र की उपास्थियाँ एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। तथा एक दूसरे से बंधी होती हैं। आसपास के ऊतकों से भी यह असंख्य स्नायओं से जुड़ी होती हैं। (चित्र 99) असली स्वरपटुक अवटु-कंठिका उपास्थि के अंदर वाले सिरे और दर्वीकल्प उपास्थियों के स्वर के बीच तक फैली होती है। इनकी तरंगों से आवाज़ पैदा होती है। इनके ऊपर पट्टिटली उपकला होती है। जबकि स्वरयंत्र के अन्य भाग स्तमाभाकर रोमक उपकला की सीध में होते हैं। असली स्वर पटुक के ऊपर और पार्श्व में श्लेष्मल कला की दो द्विगुणता स्थित होती है, जिन्हें मिथ्या स्वर रज्ज कहते हैं। असली और मिथ्या रज्जुओं के बीच श्लेष्मल कला के अन्तर्वेशन को मोरग्गनी निलय कहते हैं (चित्र 100)। निलय की श्लेष्मा में बहुत-सी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनके स्राव से असली स्वररज्जु का स्नेहन होता रहता है। केवल एक पेशी असली स्वररज्जुओं को पृथक करती है। यह पेशी पश्च मुद्रिका दर्विका पेशी होती है। असली स्वर रज्जु कंठरेखाछिद्र में खुलते हैं। यहाँ पर अन्य सभी पेशियाँ सीधे या परोक्ष रूप से कंठरेखाछिद्र को बंद रखती हैं तथा असली स्वर रज्जुओं को खींचती रहती हैं।

वेगस तंत्रिका, स्वर यंत्र तंत्रिकाओं की अधः और ऊर्ध्व शाखायें स्वर यंत्र को तंत्रिका-प्रेरित करती हैं।



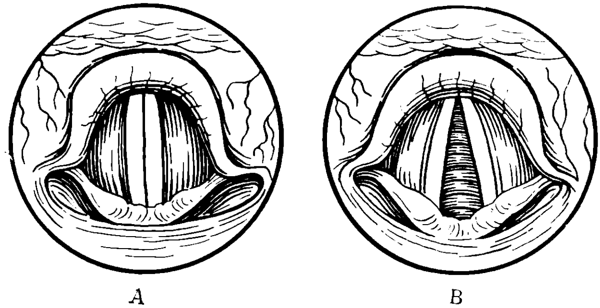
चित्र 99. स्वर यंत्र की स्नायु और उपास्थियाँ (सामने का भाग)।
1. कण्ठच्छद, 2. और 3. कण्ठिका अस्थि के छोटे और बड़े शृंग, 4. अवटु उपास्थि, 5. श्वास प्रणाल उपास्थियाँ, 6. मुद्रिका उपास्थि, 7. मुद्रिका अवटु स्नायु, 8. अवटुकण्ठिका स्नायु।



चित्र 100. स्वर यंत्र के मध्य से सामने का भाग।
1. कण्ठच्छद, 2. अवटु उपस्थि, 3. मोरगैनीनिलय, 4. असली स्वर परतें, 5. मुद्रिका उपास्थि, 6. नकली पर्त, 7. कण्ठरेखा छिद्र, 8. उपकण्ठद्वार अवकाश, 9. श्वास प्रणाल।

स्वरयंत्र की जाँच

स्वर यंत्र केवल श्वसन का ही अंग नहीं है, बल्कि यह ध्वनि उच्चार का भी अंग है। स्वररज्जु की तरंगों और उनके तनाव से आवाज तब पैदा होती है जबकि वायु संकीर्ण कंठ रेखाछिद्र के द्वारा गुजरती है। (चित्र 101)



A B

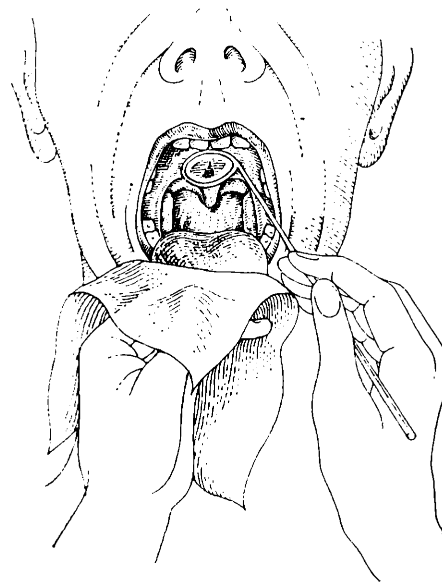
चित्र 101. सामान्य मध्य कर्ण कला।
A. उच्चारण करते समय, B. श्वास लेते समय।

स्वरयंत्र की जाँच प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वरयंत्र दर्शन से की जा सकती है। अप्रत्यक्ष स्वर यंत्र दर्शन में स्वरयंत्र दर्पण को स्वरयंत्र उपकरण के हैंडिल में फिट किया जाता है (चित्र 102)। रोगी को अपनी जीभ बाहर निकालने को कहा जाता है, जिसे एक गाज के टुकड़े से पकड़ कर बाहर खींच लेते है (यह क्रिया चिकित्सक या स्वयं रोगी द्वारा की जाती है) (चित्र 103)।

दर्पण को मुंह में डालने से पहले उसे अल्कोहल के लैम्प पर गर्म कर लिया जाता है, जिससे इसमें धुंधलापन न रहे। ऐसे



चित्र 102. हत्थे वाला स्वर यंत्र दर्पण।



चित्र 103. अप्रत्यक्ष स्वर यंत्र दर्शन।

स्वर यन्त्र दर्पण, जिसके पीछे विशेष चिन्ह होता है, उबाले जा सकते हैं। अन्य दर्पणों को पूतिरोधी घोल में डाल कर विसंक्रामित किया जाता है (नाइसोल, कार्बोलिक एसिड और फार्मेल्डिहाइड में) विसंक्रामन घोल में 10–15 मिनट तक डालकर किया जाता है। इसके बाद इनका प्रक्षालन उबले हुए जल से करते हैं और गाज की पट्टी से सुखा लेते हैं।

स्वरयंत्र की जाँच प्रत्यक्ष स्वरयंत्र दर्शन द्वारा की जा सकती है। जीभ को विशेष स्पैचुला द्वारा एक कोण पर कस कर दबाया रखा जाता है। रोगी के सिर को धीरे-धीरे पीछे ले जाते हैं, जिससे एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि मुखगुहिका ग्रसनी और स्वरयंत्र एक सीधी रेखा में होते हैं। इस प्रकार से स्वरयंत्र की जाँच सही ढंग से हैड लैम्प की रोशनी में या परावर्ती रोशनी में की जाती है। आधुनिक चिकित्सा में वक्रस्पैचुला की जगह बेहतर उपकरण, विभिन्न डिजाइन के आटोस्कोप लिये जाते हैं।

उपचार की सामान्य विधियाँ और रोगियों की देखरेख

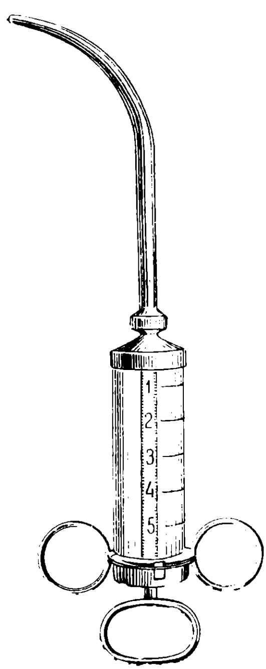
स्वरयंत्र का स्नेहन या आलेप करने के लिए स्वरयांत्रिक प्रोब का प्रयोग करते हैं। यह मृदुल धातु का बना होता है (ताकि आवश्यकता पड़ने पर इसे मोड़ा जा सके) और चूड़ीदार होता है (आवश्यक है)। रूई को प्रोब पर ऐसे लपेटते हैं,

जिससे प्रयोग के समय यह निकल न जाय तथा श्वास नली या श्वसनी में फंस कर दम न घोंट दे।

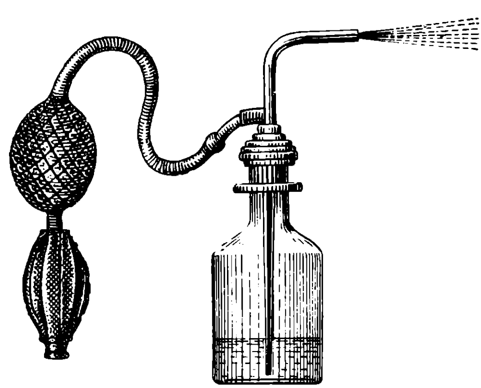
स्वरयंत्र के सारे हस्तोपचार, इसका स्नेहन और आलेप स्वरयांत्रिक-दर्पण के दृष्टि नियंत्रण में किया जाता है। स्नेहन से कभी-कभी स्वरयंत्र में आकर्ष हो जाता है। स्वरयंत्र की मांसपेशियों के आकर्षी संकुचन से अस्थाई रूप से श्वसन क्रिया कमजोर हो जाती है। इसलिए हस्तोपचार से पूर्व रोगी को बता देना चाहिए कि हस्तोपचार में थोड़ी देर के लिए श्वसन में कठिनाई हो सकती है और इस आकर्ष से किसी प्रकार का खतरा नहीं है।

स्वरयंत्र-सिरिंज (पिचकारी) का प्रयोग संज्ञाहरण और स्वरयंत्र में औषधीय पदार्थ के आधान के लिए (चित्र 104) किया जाता है। पिचकारी का धातु का अग्रभाग प्रयोग से पूर्व हर उबाला जाता है। औषधि की थोड़ी मात्रा का (0.5–1.0 मि० लि०) पिचकारी में चूषण करके स्वरयंत्र में आधान किया जाता है। उपचारिका को चाहिए कि वह चिकित्सक को पहले वह फलास्क दिखाये जिसमें से औषध का चूषण किया जाता है तथा इसके लेबल को भी चिकित्सक को दिखाये। स्नेहन या आलेप की अपेक्षा आधान अधिक नाजुक हस्तोपचार है और इससे स्वरयंत्र में आकर्ष नहीं होता है।

पाउडर औषधियों का स्वरयंत्र में प्रधमन करने के लिए नासा गुहिका में प्रयुक्त प्रधमक के समान यंत्र का प्रयोग करते हैं। पर इसका अग्रभाग ज्यादा लंबा और टेढ़ा होता है जैसे कि अन्य स्वरयंत्र उपकरण होते हैं। प्रधमक में थोड़ा सा ही पाउडर लेते हैं क्योंकि ज्यादा पाउडर से तो स्वरयंत्र आकर्ष हो सकता है। अन्य सभी हस्तोपचारों की तरह प्रधमन भी दृष्टि नियंत्रण में किया जाता है।

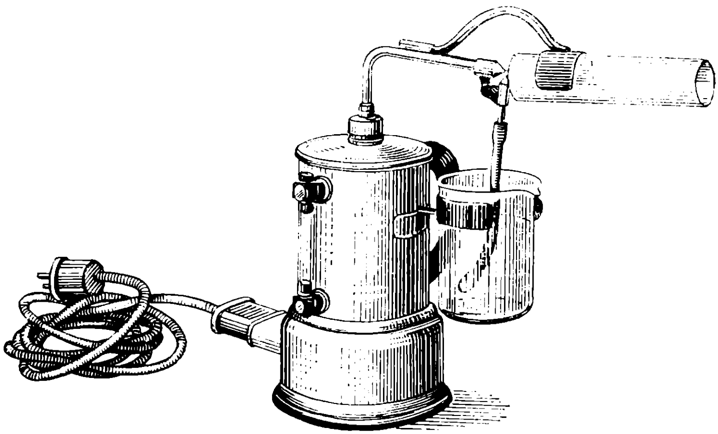


चित्र 104. स्वर यंत्र पिचकारी।



चित्र 105. फुहारित्र।

स्वरयंत्र रोगों के उपचार हेतु पिसी हुई औषधियों के अभिश्वसन के लिए विभिन्न प्रकार के फुहारित्र (चित्र 105) का प्रयोग किया जाता है।



चित्र 106. अभिश्वसन।

वाष्प का अभिश्वसन विशेष उपकरण-श्वसित्र (चित्र 106) से किया जाता है, जिसमें निम्नलिखित भाग होते हैं: पानी के लिए एक पात्र जिसे अल्कोहल लैंप या बिजली की हीटर पर गर्म करते हैं। 90° के कोण पर मुड़ी धातु नलिका होती है जो पात्र से ठीक प्रकार से जुड़ी होती है। दूसरी नलिका का एक सिरा औषधि घोल के पात्र में डुबोया जाता है और दूसरा संकरा सिरा पहली नलिका की समतल शाखा को स्पर्श करता है। पात्र में बनने वाली वाष्प पहली नलिका में प्रवेश करके अपने साथ घोल को दूसरी नलिका में ले जाती है तथा रोगी के सामने वाली शीशे की नली से बाहर निकलती है। ऊष्ण वाष्प में मौजूद औषधि का रोगी एक फुहार के रूप में अभिश्वसन करता है।

यही फुहारित्र से स्वरयंत्र और नासा ग्रसनी तथा ग्रसनी में औषधि का फव्वारा किया जा सकता है। रोगी फुहारित्र नलिका के ऊपरी सिरे को अपने मुँह में घुसा लेता है पर बहुत अंदर तक नहीं (अन्यथा वमन परावर्त हो सकता है)। वह फ्लास्क को बायें हाथ में पकड़ कर दायें हाथ से रबर के गुब्बारे को धीरे-धीरे दबाता रहता है। गुब्बारे को एक बार में 20 से 25 बार तक दबाया जाता है। अभिश्वसन के लिए कमरे के तापमान तक ऊष्ण घोल का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तैलीय घोल का प्रयोग करते हैं जिससे श्लेष्मल कला जल्दी सूख न सके। स्वरयंत्र की शारीरिक विशिष्टता के कारण सभी प्रयुक्त उपरकण वक्र होते हैं। इसलिए प्रयोग से पूर्व हर बार इनका निरीक्षण कर लेना चाहिए, ताकि इनके निकलने वाले भागों के श्वास नली और श्वसनी में घुसने की संभावना न रहे।

स्वरयंत्र रोगों के श्राम लक्षण

स्वरयंत्र के कुछ रोगों में श्वसन विकार एक अशुभ लक्षण है। यह कंठरेखाछिद्र की संकीर्णता के कारण होता है। इससे कभी-कभी स्वरयंत्र शोफ, डिफ्थीरिया और यक्ष्मा रोग हो सकता है। आगंतुक शल्य होने पर गुल्म, कंठरेखाछिद्र में खुलने वाली पेशियों का द्विपार्श्वीय अंगघात हो सकता है। श्वसन में हल्की-सी कमजोरी हो सकती है, जिसका रोगी की सामान्य हालत पर कोई प्रभाव न हो; या तीव्र कष्ट श्वास, श्यावता और हृद् क्रिया के विकार भी हो सकते हैं।

आवाज में परिवर्तन. आवाज में तीव्र स्वर रूक्षता या पूर्णस्वरहानि हो सकती है, जोकि स्वरयंत्र रोगों का आम लक्षण है।

पीड़ा अंतर या बहिर स्वरयंत्री हो सकती है। फलैग्मोनी और व्रणीय क्रिया में तथा तेज सिरे वाले आगंतुक शल्य के स्वरयंत्र में फंस जाने से पर्युपस्थि शोथ पीड़ा होती है।

स्वरयंत्री बलगम सूखा भी हो सकता है और गीला भी। बलगम बहुधा चिरकारी सूखे केटार (जुकाम में) या स्वरयंत्र में तीव्र शोथ के प्रारंभ में होता है। उपकंठ-द्वार और श्वासनली में सूजन और शोथ होने पर स्वर कर्कश सा हो जाता है।

तीव्र स्वरयंत्र शोथ

स्वरंयत्र का तीव्र शोथ एक स्वतंत्र रोग का रूप ले सकता है या ऊपरी श्वसन पथ, इंफ्लुएंजा, खसरा या स्कारलेट ज्वर जैसे रोग लक्षण होते हैं।

लक्षण. रोगी के गले में खोंच, गुदगुदाने और टीस की शिकायत होती है, जिस-से खाँसी आने लगती है। शोथ की तीव्रता के अनुसार रोगी की आवाज रूक्ष हो जाती है। निगरण में पीड़ा होती है। सिरदर्द हो जाता है और कभी-कभी शरीर ताप भी बढ़ जाता है। स्वरयंत्र दर्शन से स्वरयंत्र-श्लेष्मा में विसरित अतिरक्तता, स्वर पटुक का सूजन और लाल होना तथा पटुकों पर श्यान श्लेष्मा और अंतरदर्वीकल्प में श्लेष्मा के जमा होने का पता लगता है।

उपचार. स्वरयंत्र का पूर्ण विश्राम आवश्यक है, अर्थात रोगी को बोलने की अनुमति नहीं होती है। गले में सेंक (सौलेक्सलैम्प, उष्ण संपीडन या गर्म पुल्टिश चढ़ा कर) देते हैं और वाष्प अभिश्वसन (क्षारीर या मेन्थाल मिलाकर) तीन से पाँच मिनट के लिए दिन में कई बार किया जाता है।

Rp. Mentholi crystallisati 1.0
Spiritus aethylici 10.0
Sig. 10–20 बूंदें उबलते पानी के गिलास में डालकर भाप का बकारा लेते हैं।

एमिटाइल सैलीसिलिक एसिड की 0.5 ग्रा० की खुराक दिन में दो बार, स्वापन और कफोत्सारक दिये जाते हैं। रोग की तीव्रता में प्रतिजीवी औषधियों का निर्देश दिया जाता है।

Rp. Aethylmorphini hydrochloridi 0.3
Aq. destillatae 15.0
Sig. 15–20 बूंदें दिन में तीन बार ली जाती हैं।

चिरकारी स्वरयंत्र शोथ

स्वरयंत्र के पुनरावर्ती और लगातार रहने वाले तीव्र शोथ के फलस्वरूप चिरकारी स्वरयंत्र शोथ हो जाता है। यह रोग अधिकतर मद्यपी, धूम्रपान करने वाले या स्वर उपकरण का व्यवसायिक अतिश्रम करने वालों (गायक, व्याख्याता, अध्यापक, टेलीफोन केंद्र में काम करने वालों इत्यादि) को होता है।

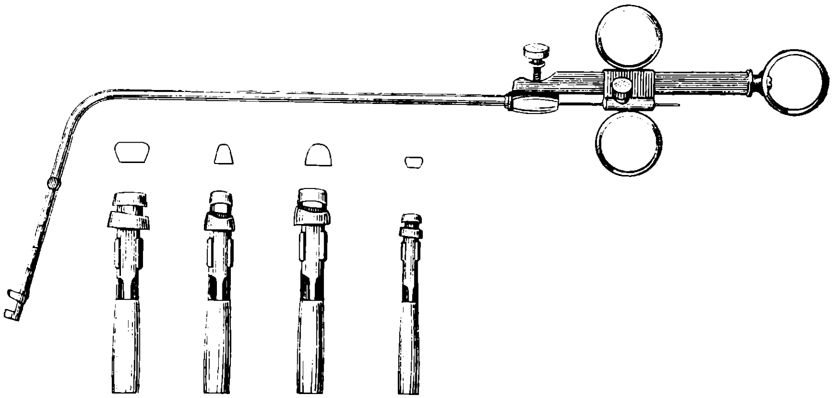
लक्षण. स्वर रूक्षता, बोलने में थकान, गले में गुदगुदी और खरोंच का संवेदन और स्थाई खाँसी की शिकायत करता है। इस रोग में दीघकालिक आराम और उसके बाद बिगाड़ होता है। स्वरयंत्र दर्शन से पता लगता है कि स्वरयंत्र श्लेष्मा का रंग भूरा-लाल, मोटी परत विशेष रूप से स्वर पटुक के सिरों और अंतरदर्वी कल्प में, होती है। एक दूसरे के सामने के स्वर पटुक कुछ मोटे, तंतुअर्बुद हो जाते हैं। इन्हें गायक पर्विका कहते हैं तथा इनके कारण स्थाई स्वर रूक्षता हो जाती है। स्वरयंत्र और श्वासनली के श्लेष्माकला के शोष में श्लेष्मल पपड़ी और मोटापन हो जाता है जिससे कि पीड़ादायक कफ होता है।

रोकथाम और उपचार. रोग के कारणों को दूर किया जाता है। रोगियों को धूम्रपान और मद्यपान वर्जित कर दिया जाता है तथा स्वर पर अतिश्रम न करने की सलाह दी जाती है। शरीरवृत्तिक लवण घोल या वनस्पति तेल द्वारा स्वरयंत्र का नियमित आधान करने का निर्देश दिया जाता है तथा श्लेष्मल कला पर सिल्वर नाइट्रेट घोल या आयोडीनग्लीसरीन घोल का आलेप (चिकित्सक द्वारा), क्षारीय (2 प्रतिशत सोडा घोल) और तेल (मेन्थाल) अभिश्वसन, स्वरयंत्र का डायथर्मी और खनिज-जलीय उपचार किया जाता है।

स्वरयंत्र में अर्बुद

स्वरयंत्र के अर्बुद सुदम्य या दुर्दम हो सकते हैं। सुदम्य अर्बुद में तंतुअर्बुद, स्वरयंत्र पालिप्स, अंकुरकार्बुद और वाहिकार्बुद शामिल हैं।

उपचार. सुदम्य अर्बुद का उपचार शस्त्र कर्म से करते हैं। स्थानीय संज्ञाहरक देकर अंतर स्वरयंत्र विधि से दर्पण के द्वारा नियंत्रण करके अर्बुद को निकाल देते हैं (चित्र 107)।



चित्र 107. अंतरस्वर यंत्री शस्त्रकर्म के लिए वक्र स्वर यंत्री पिचकारियां और उनके लिए सिरों का सेट।

कार्सीनोमा बहुधा 40 वर्ष की आयु के पुरुषों को होता है। बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के ही धीरे-धीरे स्वर रूक्षता होने लगती है (इससे पूर्व जुकाम या शोथीय संक्रामक रोग नहीं होते हैं)। इससे स्वरयंत्र के कार्सीनोमा होने का संदेह होता है, विशेषकर बड़ी उम्र के लोगों में। अर्बुद बहुधा धीरे-धीरे बढ़ता है। स्वर रूक्षता बढ़ती जाती है और पूर्ण स्वर हानि लगती है।

निदान. अर्बुद का, विशेषकर इसके पहले चरण में, निदान करना कठिन है। साथ ही, जितनी जल्दी निदान हो सके उपचार उतना ही अधिक कारगर होता है। इसलिए किसी भी व्यक्ति में रोग निरोधी परीक्षण के समय स्वरयंत्र कार्सीनोमा के संदेहात्मक संकेत मिलते ही उपचारिका को चाहिए कि रोगी को कर्णनासाकंठविज्ञानी के पास भेजे।

उपचार. रोग जिस चरण में हो, उसके अनुरूप ही उपचार दिया जाता है। यह उपचार शस्त्रकर्मी, एक्सरे किरणन, रेडियो चिकित्सा या दोनों मिश्रित हो सकती हैं।

शस्त्र कर्म के पूर्व और पश्च की देखरेख. दुर्दम अर्बुद के लिए स्वरयंत्र को पूर्ण या आंशिक रूप से निकालने के लिए शस्त्र कर्म किया जाता है पर इससे पूर्व रेडियो चिकित्सा की जाती है।

सार्वदैहिक स्वास्थ्यवर्धक उपाय (बार-बार रक्त का आधान, विटामिन और उच्च कैलौरी भोजन) शस्त्रकर्म से पूर्व दिया जाता है।

जिस रोगी के स्वरयंत्र का उच्छेदन करना है, उसकी मानसिक स्थिति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। चिकित्सक को रोगों के साथ, आश्वासनात्मक बातचीत करनी चाहिए। सभी कर्मचारियों को रोगी के प्रति ध्यान रखने का भाव भी बहुत ज़रूरी है। रोगी को शस्त्र कर्म से तीन-चार दिन पहले से ब्रोमाइड स्वापक और यदि आवश्यक हो तो हृद्‌उद्दीपक औषधियाँ दी जाती हैं।

शस्त्र कर्म से पूर्व संध्या को रोगी को स्नान कराते हैं तथा संज्ञाहरण तथा चिकित्सक की तैयारी शुरू हो जाती है।

शस्त्र कर्म के बाद में होने वाले उपद्रवों, विशेषकर रक्ताधिक्य न्यूमोनिया की रोकथाम के निरोध, की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। शस्त्र कर्म के तीन-चार घंटे के बाद उपचारिका रोगी को करवट बदलने में सहायता देती है तथा अगले पाँच से सात दिन तक नियमित रूप से करवट बदलने में सहायता करती रहती है जब तक शरीर का तापमान सामान्य नहीं हो जाता है। चिकित्सक के निर्देश पर रोगी के सीने पर चषनक की जाती है ताकि न्यूमोनिया और रक्ताधिक्य श्वसनी शोथ न होने पाये। रोगी के मुँह को नियमित रूप से गाज को बोरिक एसिड के घोल या पोटैशियम परमैंगनेट के घोल में भिगोकर साफ किया जाता है। विश्राम तथा तरल खाद्य पदार्थ के कारण आंतों में अतानता और कब्ज हो जाती है। इसलिए यह देखना जरूरी है कि रोगी की आंतें साफ हुई हैं या नहीं, अन्यथा उसे एनीमा देना पड़ता है।

शस्त्र कर्म के उपरान्त रक्तस्राव हो सकता है तथा श्वसन पथ में पहुँच सकता है। इसलिए शस्त्र कर्मोपरान्त पहले कुछ दिनों तक पट्टी को ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिए। श्वास प्रणाल नलिका में एकत्रित होने वाले रक्त के थक्कों और श्लेष्मा की सफाई नियमित रूप से होती रहनी चाहिए।

शस्त्र कर्म के बाद स्वरयंत्र की सिलाई करने के पहले एक रबर की नलिका नाक के द्वार से पेट में डाली जाती है। इस नलिका के द्वारा शस्त्रकर्मोपरान्त काल में रोगी को भोजन देते हैं। पोषक मिश्रण भी इसी नलिका के द्वारा दो-तीन सप्ताह तक देते हैं। दलिया जैसा गाढ़ा भोजन थोड़ा-थोड़ा करके (एक बार में 250 घन से० मी०) दिन में पाँच-छः बार देते हैं। शस्त्रकर्मोपरान्त काल में अधिक लालास्राव होने के कारण पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थ देना आवश्यक है। भोजन स्वादिष्ट और साथ ही अधिक कैलोरी वाला तथा आवश्यक मात्रा में विटामिनयुक्त होना चाहिए।

स्वरयंत्र का यक्ष्मा रोग

स्वरयंत्र का यक्ष्मा रोग बहुधा फुफ्फुसी यक्ष्मा के रोगी को होता है। यह संक्रामण स्वरयत्र में जमा तथा चिरकारी स्वरयंत्र अभिष्यंद में त्वचा के छिलने के स्थान, विदरों में थूक के जमने आदि से हो जाता है।

लक्षण. स्वरयंत्र के यक्ष्मा रोग से पीड़ित रोगी को बार-बार स्वरयंत्र का अभिष्यंद अकारण ही होता है और यह रोग बहुत देर तक रहता है।

उपचार. प्रतिजीवाणु संयोगों के प्रयोग से अब कई प्रकार के यक्ष्मा तथा पहले असाध्य समझे जाने वाले (स्वरयंत्र यक्ष्मा के व्रणीय रूप) रोगों से भी मुक्ति मिलना संभव हो गया है। अब सारे सोवियत संघ में प्रतियक्ष्मा औषधालयों का विशाल तंत्र है, जिनमें यक्ष्मा रोगी बराबर चिकित्सक की निगरानी में रहते हैं।

फुफ्फुसी यक्ष्मा से पीड़ित सभी रोगियों की निरोधक जाँच कर्णकंठनासाविज्ञानी द्वारा की जाती है जिससे कि उन्हें आवश्यक उपचार जल्दी दिया जा सके।

यक्ष्मा रोग से पीड़ित रोगी की देखभाल में स्वच्छ-स्वास्थ्य विधान के निर्धारित नियमों को बताना भी उपचारिका का कर्तव्य है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कफोत्सरण विशेष थूकदान में ही करे जिसमें विसंक्रामित घोल पड़ा हो क्योंकि रोगी का बलगम दूसरों के लिए रोग संचरण का स्रोत होता है। रोगियों के कमरे में सामान्य तापमान हो ; हर मौसम में कमरे हवादार होने चाहिए। रोगियों को चिकित्सक द्वारा निर्देशित औषधि और भोजन लेने की हिदायत देनी चाहिए। उपचारिका को चाहिए कि वह रोगी को समझाये कि उसे अपनी आवाज पर प्रतिबल नहीं डालना चाहिए।

स्वरयंत्र, श्वासनली और श्वसनी में आगंतुक शल्य

विभिन्न आगंतुक शल्य स्वरयंत्र, श्वासनली और श्वसनी में मुँह से श्वास लेने पर एकाएक अंदर प्रवेश कर जाते हैं। ये व्यक्तियों के चिल्लाने, बात करने, हंसने और कभी-कभी खाते समय भी मुँह से प्रवेश कर सकते हैं। यह विशेष कर बच्चों में होता है।

लक्षण और अनुक्रम. स्वरयंत्र या श्वसनी में आगंतुकशल्य के प्रवेश करने का मुख्य लक्षण पुनरावर्ती आकर्षी खांसी के साथ कष्ट श्वास है। जब कोई आगंतुक शल्य स्वर-पटुकों के बीच चिपक जाता है तो कष्ट श्वास के साथ-साथ एकाएक स्वर हानि या स्वर रूक्षता हो जाती है। आगंतुक शल्य के एक श्वसनी में (बहुधा दाहिने में) होने से उसी तरफ के फेफड़े की श्वसन ध्वनि कम हो जाती है और परिताड़न-ध्वनि अननुनादी और सीने के उसी ओर से श्वसन निष्क्रमण कठिन होता है। श्वसनी में आगंतुक शल्य के अधिक समय तक रह जाने से दीर्घकालिक न्यूमोनिया, विस्फार, फेफड़े में व्रण और यहाँ तक कि गैंग्रीन तक हो जाता है। इन रोगों को गलती से स्वरतंत्र रोग समझा जाता है। फेफड़े के एक्सरे चित्रण से धातु के आगंतुक शल्य का निदान हो जाता है।

उपचार. आगंतुक शल्य को स्वरयंत्र, श्वास नली और श्वसनी दर्शन करके चिकित्सक द्वारा निकाला जाता है। तीव्र श्वसन उपद्रव होने पर आपत्कालीन श्वास नली उच्छेदन करके आगंतुक शल्य को निकाला जाता है।

निरोध और देखरेख. अभिभावकों को यह चेतावनी दी जाती है कि बच्चों के लिए छोटी खलने वाले चीजें (सिक्के, दाने, बटन, सूर्यमुखी, तरबूज, कद्दू, मटर और फलियों के बीज) बहुत खतरनाक हो सकते हैं। उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये चीजें बच्चों की पहुँच से दूर रहें। बच्चे के लिए बनाये जाने वाले भोजन में भी सावधानी बरतनी चाहिए (हड्डियाँ, फलों की गुठलियाँ, बीज आदि निकाल देना चाहिए)।

श्वसन पथ में आगंतुक शल्य के संदेह होने पर या उपरोक्त बताये गये लक्षणों के होने पर उपचारिकाओं को चाहिए कि वे बच्चे को फौरन कर्णनासाकंठविज्ञानी के पास भेजें, भले ही रोगी को कोई तकलीफ न होती हो।

शिशुओं में क्रूप-विषाणुकृत स्वरयंत्र श्वास प्रणाल शोथ (इन्फ्लूएंजाक्रूप)

तीव्र विषाणु श्वसन-पथ संक्रमण (इन्फ्लूएंजा, परा-इन्फ्लूएंजा, कंठशालूक विषाणुओं के कारण हुए रोग) के उपद्रव के फलस्वरूप यह रोग एक से तीन साल की उम्र तक के बच्चों को होता है। और यह शिशुओं की एक अत्यन्त तीव्र रोगजनक स्थिति है जिसके तत्काल सही उपचार की आवश्यकता है।

स्वरयंत्र श्लेष्मा में विसरित अतिरक्तता और उपकंठद्वार क्षेत्र में सूजन होने से तीव्र स्वर ग्रसनी संकीर्णता चन्द घटों से लेकर एक या दो दिन में हो जाती है और बहुधा यह एकाएक रात में बहुत तेजी से होती है तथा दिन में संकीर्णता में कुछ आराम मिलता है पर रात्रि में फिर तीव्र हो जाती है।

स्फूर्जक होने के साथ-साथ इन्फ्लूएंजाक्रूप में सार्वदैहिक विषालुता के लक्षण होते हैं। शरीर तापमान बढ़ जाता है और अगतिका, बहुधा वमन, सारे ऊतकी अंगों में तीव्र रोग और कभी-कभी मस्तिष्क शोफ तक हो जाता है। मस्तिष्क शोफ के कारण श्वासावरोध से मृत्यु तक हो सकती है। कंठशालूकविषाणुओं द्वारा होने वाली परा-इन्फ्लूएंजा संकीर्णता से सार्वदैहिक विषालुता की अभिव्यक्ति होती है।

बच्चों की आयु स्वरयंत्र और श्वास नली की संकीर्ण अवकाशिका और रोग-जनक शारीरी परिवर्तन (हल्के जुकाम से लेकर श्लेष्मलकला का तीव्र परिगलन) का प्रभाव स्वरयंत्र की संकीर्णता पर पड़ता है।

अभिष्यन्दी रूप वहुत अधिक होता है तथा अधिकतर ठीक हो जाता है। रोग बढ़कर फाइब्रिनी तथा फाइब्रिनी परिगलित रूप ले लेता है। दीर्घकालिक रोग में द्वितीयक स्ट्रेप्टोस्टेफाइलोकोकल संक्रमण से बहुधा श्लेष्मल कला की गहन फ्लेग्मोनी परिगलित विक्षति होती है जो कि स्वरयंत्र और श्वास-प्रणाल की उपास्थियों तक पहुँच जाती है। फाइब्रिना परिगलित रूप बहुत कम होता है। विशेषकर तीव्र होने पर यह रोग प्राणघातक भी हो सकता है। स्वरयंत्र के रोगी होने पर तीव्रता का पता प्रत्यक्ष स्वरयंत्र दर्शन से लगता है और कभी-कभी श्वास प्रणाल और श्लेष्मा पर भी रोग के प्रभाव का पता लगता है। इससे श्लेष्मा पर प्रभाव के लक्षण का पता लगता है। इन तथा सामान्य लक्षणों के आधार पर अनुकूल उपचार किया जा सकता है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए उपचारिका बच्चे के चिकित्सालय में भर्ती होते ही स्वरग्रसनी दर्शन के लिए सभी उपकरण तैयार कर लेती है। स्वरयंत्र प्रवेश द्वार

तथा अवकाशिका में भरे हुए गाढ़े श्यास श्लेष्मा का जल्दी से जल्दी चूषण कर लेना चाहिए।

संकीर्णता के कोई लक्षण मिलने पर व्यक्ति को फौरन चिकित्सालय के विशेष विभाग में भर्ती किया जाता है। प्रतिवाइरस कारक विस्तृत, स्पैक्ट्रम प्रतिजीवी गामा, ग्लोबीन और हृदउद्दीपक औषधियों का निर्देश दिया जाता है। अति सुग्राहिताकारक औषधियों (कार्टिको स्टेरायड, प्रतिहिस्टामिनी, कैलशियम ग्लूकोनेट या कैलशियम क्लोराइड) का अंतःशिरा द्वारा आधान किया जाता है। यदि शिशु को ऐसे पृथक कक्ष में रखना संभव न हो जिसमें हवा में आक्सीजन प्रचुर मात्रा में हो, तो ऐसे उपाय करने चाहिए कि उसे आर्द्र और उष्ण आक्सीजन मिलती रहे, भले ही यह 2 प्रतिशत सोडियम बाइकार्बोनेट घोल वाले फ्लास्क से होकर आये।

प्रतिक्षोभ उपाय के रूप में सीने पर सरसों की पुल्टिश और सरसों द्वारा पाद-स्नान करना चाहिए।

यदि शस्त्र कर्म रहित तरीकों से कुछ घंटों में रोग में फर्क न पड़े और संकीर्णता बढ़ती जाय तो श्वास-प्रणाल छिद्रीकरण की सलाह दी जाती है (संकीर्णता के दूसरे और तीसरे चरण में)। इससे साँस आने लगती है तथा श्वासनली और श्वसनी में से श्यास बलगम का चूषण हो जाता है तथा श्वास नली में आक्सीजन और औषधियाँ पहुँच सकती हैं। यदि आवश्यक हो, तो श्वसन में सहायता हेतु मशीन लगा दी जाती है।

वाइरस हेतुकी वाली स्वरयंत्र-संकीर्णता होने पर श्वास प्रणाल छिद्रीकरण नलिका डालने के बाद करना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि श्वसन-पथ की शोथीय श्लेष्मा कला में अनजाने ही चोट लग सकती है।

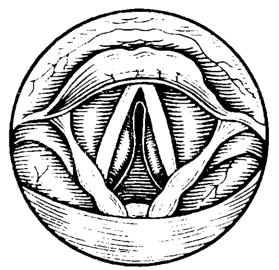
ऐसें रोगियों के उपचार और देखरेख में उपचारिका की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। कक्ष में आवश्यक पर्यावरणीय स्थिति (अति आर्द्र ऊष्ण वायु) बनाये रखने की जिम्मेदारी के अलावा उपचारिका को रोगियों की सतत देखरेख और ठीक ढंग से चिकित्सक के निर्देशों का पालन भी करना चाहिए। सरसों की पुल्टिश लगाना तथा नियमित रूप से (प्रत्येक 10–15 मिनट पर) श्वास नली में 2 प्रतिशत सोडा घोल या हाइड्रोकारटीजोन घोल (25 मि० ग्रा० को 20 मि० ली० शारीरी लवण घोल में मिलाकर) की 8 से 10 बूंदें डालनी चाहिए। श्वासनली अवकाशिका से श्लेष्मा का चूषण नियमित रूप से चूषक द्वारा करना चाहिए (नीचे देखिये)। आवश्यकता पड़ने पर श्वास नली में प्रोटीयो-लायिटक एन्जाइम का आधान किया जाता है या बलगम में श्यानता घटाने के लिए एयरोसोल दिये जाते हैं।

स्वरयंत्र की तीव्र और चिरकारी संकीर्णता

स्वरयंत्र की तीव्र संकीर्णता जल्दी ही (कभी-कभी एकाएक) अवकाशिका का संकीर्णन कर देती है।

स्वरयंत्र के संकीर्णन के कई कारण हो सकते हैं: कंठ रेखा छिद्र में खुलने वाली माँसपेशी का अंगघात (टायफस से या गलगंड के शस्त्र कर्म के बाद), आगन्तुक शल्य स्वरयंत्र की शोथीय सूजन, विसर्प में होने वाली संकीर्णता, स्वरयंत्र में फ्लेग्मोन, इन्फ्लूएंजा, तीव्र स्वरयंत्र वाला अभिष्यंद जिसमें कूट-क्रूप के रूप में उपकंठ द्वारा प्रभावित हो। कूट-क्रूप अधिकतर रक्ताल्पता वाले शिशुओं में होता है, जिन में विभिन्न प्रकार के पोषक विकार होते हैं।

कूट-क्रूप (घर्घर स्वर यंत्राकर्ष) अधिकतर तीव्र नासाशोथ और इन्फ्लूएंजा के बाद होता है। इसका दौरा एकाएक, अधिकतर रात में, जबकि बच्चा सो रहा हो, पड़ता है। बच्चा भौंकने जैसी आवाज़ से खाँसता हुआ जाग जाता है और उसे तीव्र श्वासकष्ट हो जाता है। अभिश्वसन के तीव्र विकार होने पर शिशु श्यान और अत्यधिक बेचैन हो जाता है और कभी-कभी आक्षेप (एठन) हो जाता है। श्वासकष्ट का दौरा बहुधा 30 मिनट तक रहता है और कभी-कभी एक या दो घंटे तक रह जाता है। पर रात में इसकी पुनरावृत्ति कई बार होती है। इस रोग में स्वर-हानि नहीं होती है, क्योंकि शोथ उपकंठ द्वार में स्थानिक होता है (चित्र 108)। श्वासकष्ट के एकदम तेज होने का कारण है—शिशुओं के स्वरयंत्र और श्वास नली में अवकाशिका का छोटा होना।



चित्र 108. कूट क्रुप; स्वरयंत्री उपकण्ठद्वार अवकाश की श्लेषमल कला में शोफ।

स्वरयंत्र की डिफ्थीरिया (श्लेष्मा क्रूप)। रोगी धीरे-धीरे हवा की कमी महसूस करता है और धीरे-धीरे श्वासकष्ट बढ़ने लगता है तथा साथ में स्वर हानि भी हो जाती है। सार्वदैहिक हालत गंभीर हो जाती है तथा विषालुता के लक्षणों की अतिरिक्त जाँच करके डिफ्थीरिया और कूट-क्रूप के भेद को जाना जा सकता है।

स्वरयंत्र शोथ में होने वाले श्वासकष्ट के विशिष्ट लक्षण होते हैं; स्वरयंत्र श्वासकष्ट की संकीर्णता के साथ खर्राटेदार श्वसन होता है तथा साँस लेने में कठिनाई होती है, जो कि श्वास नली और श्वसनी की संकीर्णता से भिन्न होती है, जिसमें साँस निकालने में कष्ट होता है। आक्सीजन की आपूर्ति की कमी को पूरा करने के लिए अभिश्वसन धीमा और गहरा होना चाहिए। बाद में संकीर्णता बढ़ने पर प्रत्येक अभिश्वसन में स्वरयंत्र तेजी से ऊपर-नीचे चलने लगता है। प्रश्वसन में अधिजत्रुक और अंतरापर्शुका स्थान में काफी आकुंचन होता है। इसके बाद अनिष्टसूचक श्वासावरोध के लक्षण होते हैं: त्वचा का श्यान होना, खुली और धीमी साँस चलना अचेत हो जाना। यदि समय से चिकित्सा सहायता न मिले तो कई खाली साँस आने के बाद अभिश्वसन तेज हो जाता है, साँस लेना बंद हो जाता है और जल्दी ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। चिरकारी स्वरयंत्र संकीणता (कार्सीनोमा, स्क्लेरोमा,

यक्ष्मा, स्वरयंत्र उपस्थियों का पयु पस्थिशोथ इत्यादि) में श्वासकष्ट धीरे-धीरे बढ़ता है। आक्सीजन लेने की क्षमता घट जाने से ऐसा होता है।

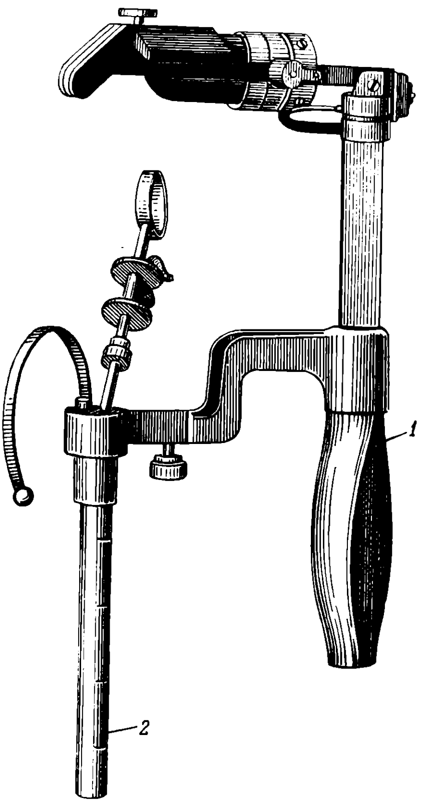
रोगी की देखरेख और प्राथमिक सहायता. स्वरयंत्र का शोथ. और विशेषकर शिशुओं में, होने पर तत्काल चिकित्सीय सहायता की आवश्यकता होती है। बच्चे को फौरन बिठा कर कमरे में गीली चादरें लटका कर हवा में नमी लाते हैं। उष्ण पादक स्नान कराया जाता है तथा उपरिस्थ पिंडिका मांसपेशी पर सरसों की पुल्टिश चढ़ाई जाती है। स्वेदोत्पादक औषधियों का निर्देश दिया जाता है। यदि समय से कोशिश की जाये तो कूट-क्रूप का दूसरा दौरा रुक जाता है। ऐसा बहुत कम होता है कि प्रति क्षोभक उपायों और प्रशान्तक देने के उपरान्त भी कूट-क्रूप से पीड़ित शिशु को आराम न पहुंचे। परन्तु इस से कूट-क्रूप में आराम न मिलने पर नलिका डालकर श्वास-प्रणाल का छेदन किया जाता है।

स्वरंयत्र के शोथ से पीड़ित वयस्कों में भी प्रतिक्षोभक उपाय (उष्ण पादप स्नान, सरसों की पुल्टिश) किये जाते हैं। श्यान बलगम को द्रवित करने के लिए क्षारीय अभिश्वसन की सलाह दी जाती है। असली क्रूप का उपचार तत्काल डिप्थीरिया प्रतिजैव विष का इंजेक्शन देकर किया जाता है।

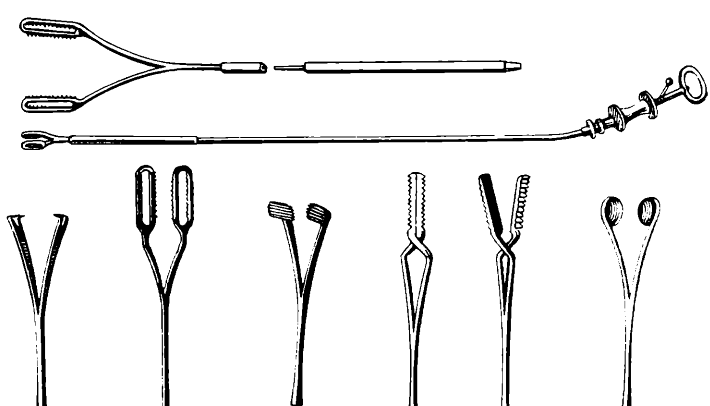
उपचार. स्वरयंत्र की संकीर्णता होने पर श्वासावरोध से आराम और संकीर्णता के कारणों को दूर करने के लिए आपदकालीन उपाय किये जाते हैं। सभी शोथीय प्रक्रियाओं में प्रतिजीवी औषधि का अंतरापेशीय इंजेक्शन तथा एड्रीनाल कोर्टेक्स के योग (कोर्टीजोन या इसी प्रकार की अन्य औषधियाँ) जितनी-जितनी जल्दी हो सके दिये जाते हैं। तीव्र संकीर्णता होने पर केवल नलिका प्रवेशन और श्वास-प्रणाल उच्छेदन ही आपादकालीन उपाय है, जो जितना जल्दी हो सके, करना चाहिए ताकि आक्सीजन की कमी से होने वाली हृद्‌क्रिया अधिक कमजोर न हो जाय और सारे शरीर में कमजोरी न होने पाये।

श्वास-प्रणाल-श्वसनी-दर्शन

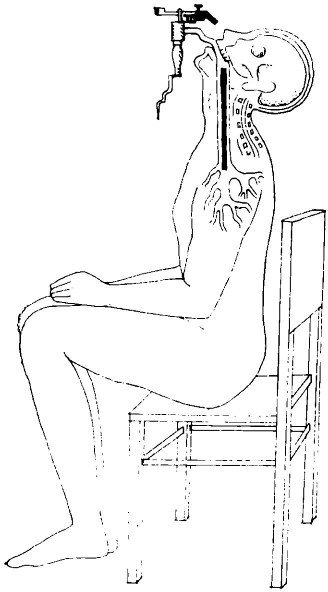
श्वास प्रणाल-श्वसनी दर्शन स्वरयंत्र की सीधी जाँच करने का एक विकसित कदम है। श्वास-प्रणाल और श्वसनी की जाँच करने के लिए एक धातु नलिका को श्वसन-पथ के जरिये श्वसनी की द्वितीय और तृतीय शाखा में प्रवेश किया जाता है। श्वसनी दर्शन सेट में (चित्र 109) प्रकाश स्रोत वाला हैन्डिल (1), श्वसनी दर्शन नलिकाए (2), सहायक और शस्त्र-कर्म के उपकरण: श्लेष्मा और रक्त को निकालने वाली चूड़ीदार प्रोब, श्लेष्मा के चूषण के लिए साधन, विभिन्न प्रकार के मुँह वाली लंबी चिमटियाँ (चित्र 110) , जिनसे कि आगंतुक शल्य निकाले जा सकें तथा श्वसनी में अन्य शस्त्र-कर्म किये जा सकें, आदि उपकरण होते हैं।



चित्र 109. श्वसनीदर्शी का संदन्श जो कि नलिका में घुमाया गया है (इसकी पाठ में चर्चा की गई है)।



चित्र 110. आगंतुक शल्यों को निकालने के लिए विभिन्न सिरों वाली श्वसनीदर्शी संदंश।



चित्र 111. रोगी का बैठी हुई स्थिति में श्वसनीदर्शन का किया जाना।

निम्न श्वसन-पथ की जाँच और प्रकाश के लिए श्वसनी-दर्शन की नलिका को (मुँह, स्वरयंत्र, ग्रसनी) के द्वारा इसमें प्रवेशित कराते है (चित्र 111)। इस विधि को उर्ध्वश्वसनी दर्शन कहते हैं। श्वास--प्रणाल के छेदन द्वारा किये गये छिद्र में से भी नलिका प्रवेशित की जा सकती है। इस विधि को अध: श्वसनी दर्शन कहते हैं। पाँच या छः वर्ष से कम आयु के बच्चों में श्वास-प्रणाल छेदन द्वारा अध: श्वसनी दर्शन किया जाता है। श्वास-प्रणाल और श्वसनी के रोगों को पहचानने के लिए तथा कुछ फुफ्फुसी रोगों (फेफड़े का व्रण, श्वसनी विस्फार इत्यादि) का उपचार करने के लिए श्वसनी दर्शन किया जाता है।

श्वसनी दर्शन के लिए रोगी को जाँच के लिए तैयार करना, विशिष्ट उपकरणों को तैयार करना उपचारिका का कर्तव्य है। इस प्रक्रिया की पूर्वसंध्या में रोगी को ब्रोमाइड या बारबिटुरेट दिये जाते हैं। श्वसनी दर्शन प्रातःकाल रोगी के खाली पेट होने पर करना चाहिए। चिकित्सक के निर्देश पर संज्ञाहरण से 15 मिनट पहले 1 प्रतिशत पेन्टोपोन का 0.5 मि० ली० या 1 प्रतिशत ट्रिमेरोडीन हाइड्रोक्लोराइड घोल का 1.0 मि० ली० और 0.1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का 0.5–1.0 मि० ली० का अधस्त्वक इंजेक्शन लगाया जाता है।

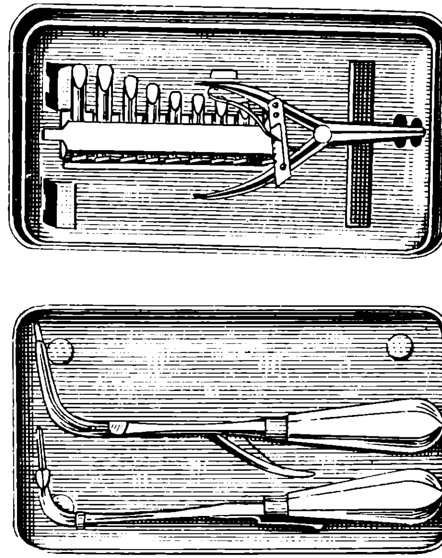
उपचारिका सभी उपकरणों को निस्क्रमित करती है। संज्ञाहरण के लिए घोल तैयार करती है। पहले से ही लंबी प्रोब के सिरे पर रूई लपेट कर तैयार करती है, इत्यादि। श्वसनी दर्शन के समय उपचारिका नासादर्शन संबंधी चिकित्सक के आदेशों का पालन करती है।

श्वसनी दर्शन के बाद रोगी चिकित्सालय में हो एक दो घंटे विश्राम करता है (यदि जाँच बहिरंग रोगी विभाग में की गई हो तो)। अप्रिय संवेदना से आराम पाने के लिए रोगी के मुँह और गले का प्रक्षालन उष्ण घोल से करते हैं।

नलिका-प्रवेशन

शिशुओं में लघुकालिक संकीर्णता, अर्थात डिफ्थीरिया या कूट-क्रूप में नलिका प्रवेशन किया जाता है। उपचारिका बच्चे को अपनी गोद में ले लेती है या बच्चे

को ऐसे पकड़ती है जैसे कि कंठशालक उच्छेदन में। फिर खोखली धातु-नलिका को मुँह में डालकर बायें हाथ की तर्जनी उंगली के सहारे धीरे-धीरे एक विशेष उपकरण के द्वारा स्वरयंत्र के प्रवेश द्वार में पहुँचाया जाता है (चित्र 113)।



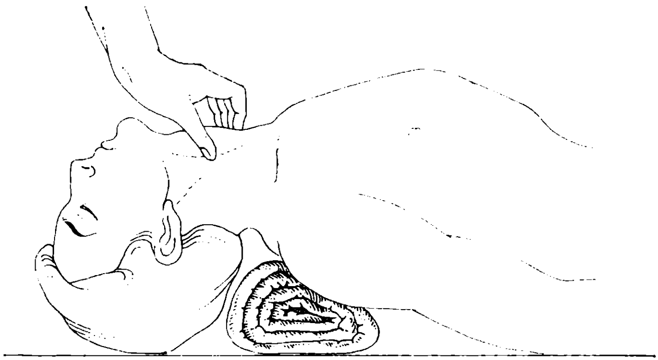
चित्र 112. स्वरकण्ठी नलिका प्रवेशन का सेट: मुखगैग, नलिका प्रवेशन, नलिका निष्कासन, विभिन्न व्यास वाली प्रवेशन नलिकाओं का सेट।

जैसे ही नलिका स्वरयंत्र में प्रवेश करती है, रोगी खाँसता है और नलिका के द्वारा मुक्त अभिश्वसन होने लगता है और मोटी-सी आवाज आने लगती है। नलिका को स्वरयंत्र में छोड़ दिया जाता है। प्रवेशन-नलिका में पहले से ही रेशम का धागा जोड़ दिया जाता है, जिससे कि इसे आसानी से निकाला जा सके। धागे के खुले सिरे को चिपकाने वाले टेप से गाल पर चिपका दिया जाता है। नलिका प्रवेश का नुकसान यह है कि इस नलिका को 24 से 36 घंटे के बीच निकालना पड़ता है, ताकि स्वरयंत्र में क्षैतिज स्थिति-व्रण न बन सके। नलिका-प्रवेशन में अनुभवी चिकित्सक या उपचारिका को बच्चे के बिस्तर के पास रहना चाहिए। अधिकतर ऐसा देखा गया है कि रोगी के खाँसने और उल्टी करने से नलिका आसानी से बाहर निकल जाती है या बेचैनी होने पर बच्चा स्वयं ही धागे से इसे खींच लेता है। इसे बचाने के लिए बच्चे की दोनों कुहनियों को स्प्लिट से अचल कर देते हैं। श्वास-प्रणाल छेदन की अपेक्षा नलिका-प्रवेशन बेहतर है (क्योंकि इसे जल्दी लगाया जा सकता है, कम सहायकों की आवश्यकता होती है और यह क्रिया रक्तरहित है)।

श्वास-प्रणाल-छेदन

स्वरयंत्र या श्वास नली के ऊपरी भाग (क्रूप, स्वरयंत्र का शोथ, आगंतुक शल्य, अर्बुद इत्यादि में) में तीव्र संकीर्णता होने पर, जबकि रोगी के जीवन को खतरा हो, तो श्वास-प्रणाल-छेदन किया जाता है। चिकित्सा की किसी भी शाखा में विशेषज्ञता-प्राप्त चिकित्सक रोगी का श्वास-प्रणाल छेदन करने के लिए सक्षम होता है।

अध: और ऊर्ध्व श्वास-प्रणाल उच्छेद श्वास नली के उच्छेदन के तल पर निर्भर होता है। संयोजन के ऊपर थायरोयेड ग्रन्थि के संकीर्णन को ऊर्ध्व और नीचे वाले



चित्र 113. श्वासप्रणाल छेदन के समय रोगी की स्थिति।

को अधः उच्छेदन कहते हैं। रोगी को मेज पर उतान स्थिति में लिटाकर कन्धों के नीचे तकिया लगा देते हैं, जिससे कि सिर पीछे की ओर झुक जाय (चित्र 113)। त्वचा और गर्दन की ठीक मध्यरेखा में उपरिस्थ प्रावरणी का छेदन किया जाता है, जो कि थायरोयेड उपास्थि के निचले किनारे से लेकर 6 से० मी० नीचे तक होता है। कुन्द तकनीक से मुद्रिका उपस्थि का अग्रतल मध्य रेखा तक खोल दिया जाता है। नीचे स्थित थायरोयेड ग्रन्थि के संकीर्ण संयोजक सम्पुट को तिरछा काट दिया जाता है, जिससे कि संकीर्ण संयोजक नीचे खिंच आता है। इसके फलस्वरूप, श्वास नली मुद्रिका खुल जाती है। सावधानी से रक्त स्तंभन करके दो या तीन श्वास नलिका मुद्रिकाओं को तेज स्कैल्पेल से खोल कर मुँह बना दिया जाता है और फिर श्वास-प्रणाल छेदन नली का इस मुँह में प्रवेशन किया जाता है। श्वास प्रणाल छेदन नली में धातु की दो नलिकाएँ होती हैं, जिसमें से एक को दूसरे में घुसा दिया जाता है। जब यह छेदन किया जाता है तो रोगी कफोत्सरण करता है और फिर अभि-श्वसन अच्छी तरह प्रारंभ हो जाता है। नलिका को गले में पट्टी से बाँध दिया जाता है और नलिका से ऊपर और नीचे के घाव को सिल दिया जाता है।

यह शस्त्र-कर्म स्थानिक संज्ञाहरण से किया जाता है। पहले तीन या चार दिन तक नलिका को नहीं हटाना चाहिए क्योंकि घाव (छेदन) के शोथीय सूजन और संकीर्णन के कारण नलिका के पुनः प्रवेशन में कठिनाई होगी। नलिका के पुनः प्रवेशन के प्रयास में यह श्वास नली और ग्रास नली के बीच घुस सकता है।

स्वरयंत्र संकीर्णता में प्राथमिक सहायता तथा श्वास-प्रणाल के बाद रोगी की देख-रेख

श्वास-प्रणाल छेदन के लिए उपकरणों के पूरे सेट को विसंक्रामित करके सही अपूतित अवस्था में ऐसे रखा जाता है कि ये प्रत्येक शस्त्रकर्म विभाग तथा संक्रामक

रोग विभाग के लिए उपलब्ध हों, ताकि तीव्र श्वसन विकार के रोगी के लिए आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक आपातकालीन उपाय किये जा सकें। इस सेट में भोथरे और तेज हुक, कई धमनी संदंश, दो अंगूठे वाले संदंश और दो भूषकदंत संदंश, श्वास-प्रणाल छेदन के लिये विभिन्न व्यास वाली नलिकाएँ, आकुंचक, सुई और विसंक्रामित रेशम धागे वाला नीडल होल्डर, चूड़ीदार प्रोब और कई स्कैल्पेल होते हैं (चित्र 114)।

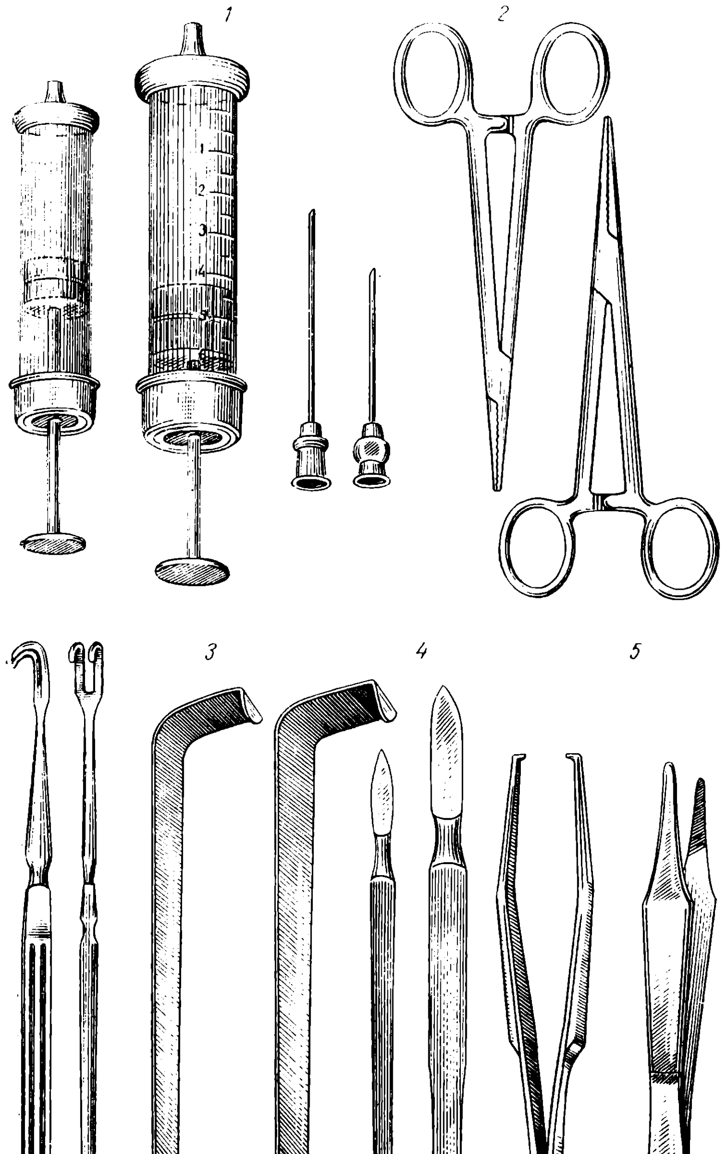
ऐसा संग्रहीत सेट प्रत्येक शस्त्र कर्म कक्ष में उपलब्ध होना चाहिए, जिसके हर उपकरण पर लैबल लगा हो। इसके अतिरिक्त, 0.5 प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल और विसंक्रामित सीरिंजें और सुइयाँ संज्ञाहरण के लिए हर समय उपलब्ध होनी चाहिए। प्रयोग से पूर्व इस नलिका का भली भाँति निरीक्षण किया जाता है और इस बारे में आश्वस्त हुआ जाता है कि यह फ्लैन्ज से ठीक ढंग से बंधा हुआ है तथा अंदर वाली नलिका यथास्थान है और आसानी से निकाली जा सकती है।

विशेष रूप से छेदन के बाद कुछ दिनों तक रोगी को विशेष देखरेख की जरूरत होता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नलिका सूखे श्लेष्मल तथा डिप्थीरिया कलाओं से अवरुद्ध न हो जाये। इसलिए नलिका में प्रति दो-तीन घंटे बाद विसंक्रामित वनस्पति तेल की दो-तीन बूंदे डालते रहना चाहिए। वाह्य नलिका को केवल चिकित्सक को ही निकालना चाहिए। शस्त्र कर्मोपरांत कुछ दिनों तक आंतरिक नलिका को दिन में दो या तीन बार निकाला जाता है। चूड़ीदार नम्य प्रोब पर रूई लपेट कर नलिका को साफ करना चाहिए और उबालना चाहिए। सूख जाने पर नलिका में वैसलीन तेल लगाकर इसे बाह्य नलिका में घुसा दिया जाता है। यदि श्वास नली का स्राव श्यान हो तो पहले कुछ दिनों तक आंतरिक नलिका को कई बार साफ किया जाता है। कक्ष में गीली चादरें लटका कर हवा में नमी बनाये रखी जाती है या नलिका के ऐप्रन पर गीली गाज पट्टी रखी जाती है ताकि श्वास नली ज्यादा न सूखे।

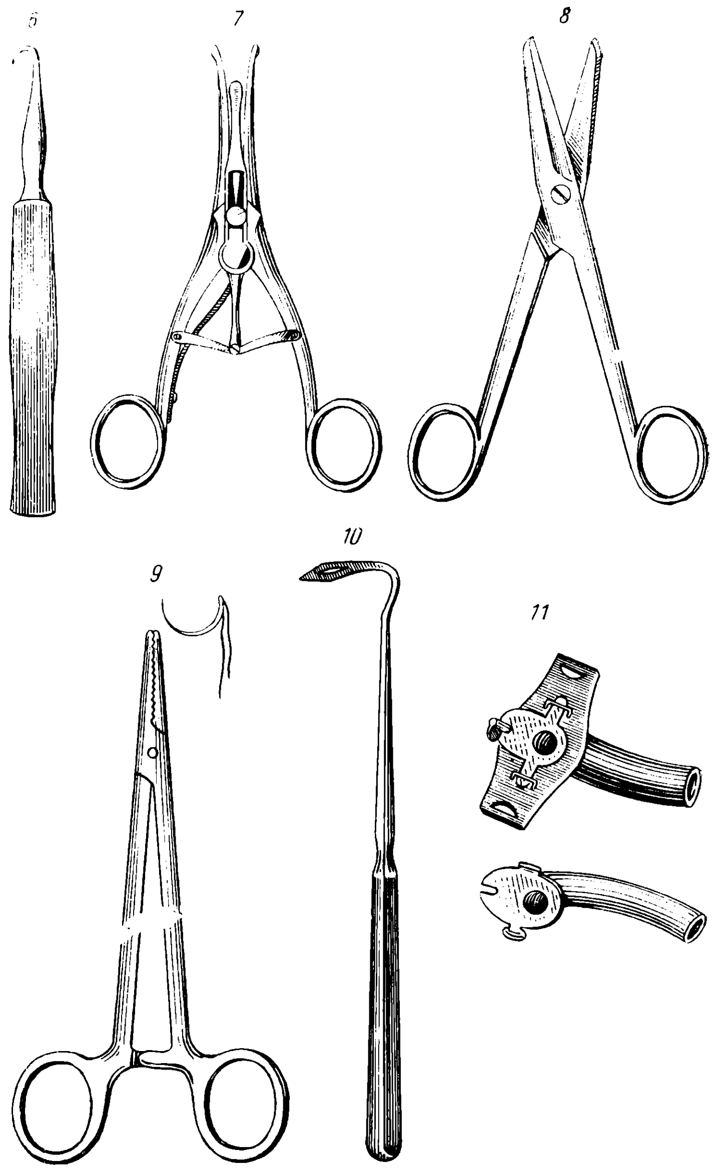
इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि रोगी के कफोत्सरण से श्वासनली के अंदर की त्वचा में आक्लेदन या क्षोभ न हो। इसलिए त्वचा पर वैसलीन या लाजेर पेस्ट चुपड़ दिया जाता है। नलिका को निकाले बिना ही इसके नीचे से गाज पट्टी निकालकर तथा ऊपर रबर-क्लाथ का ऐप्रन रखकर गर्दन में पट्टी को बाँध देते हैं। सूख जाने पर पट्टी को बदल दिया जाता है।

यदि बेचैनी या तेज खाँसी हो तो रोगी में लगी ढीली नलिका श्वासनली से बाहर निकल सकती है। यदि ऐसा उच्छेदन के बाद के पहले दिनों में हो जबकि घाव के पथ में मोटे कणांकुर न हों, तो नलिका का पुन: श्वास-प्रणाल छेदक के आकुंचक द्वारा किया जाता है, जहाँ सीवन ढीली हो तथा घाव को हुक से फैलाया जा सके।

श्वास प्रणाल छेदन नलिका को स्वरयंत्र अवकाशिकाओं के ठीक हो जाने पर ही निकाला जाता है, जिसका पता स्वरयंत्र दर्शन और क्रियात्मक जाँच द्वारा लगता



चित्र 114. श्वासप्रणाल छेदन के लिए उपकरणों का सेट।
A: 1. संज्ञाहरण के लिए सुइयों सहित पिचकारियां, 2. **रक्तस्तंभन संदंश**, 3. आकुंचक हुक, 4. स्काल्पेल, 5. संदंश : (a) अंगूठे वाला संदंश; (b) **मुख संदंश**।



B: 6. श्वासप्रणाल को स्थिर करने के लिए हुक, 7. ट्रौसे घाव आकुंचक, 8. शल्य कैंची, 9. सूई और सूचीधर, 10. बन्धन सूचिका, 11. बाह्य (a) और आंतरिक श्वासप्रणालछेदन नलिकाएँ (b)।

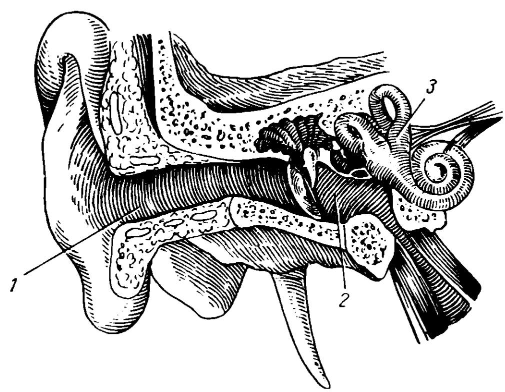
है। यह जाँच श्वास-प्रणाल के छेदन को कार्क से बंद करके की जाती है। यदि रोगी अच्छी तरह से अभिश्वसन करता है तो चिकित्सक नलिका को हटा कर उसकी जगह पट्टी बाँध सकता है। विसंक्रमित श्वास प्रणाल छेदक नलिका और घाव आकुंचक रोगी के बिस्तर के पास सदैव ही उपलब्ध होने चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर नलिका का पुनः प्रवेशन किया जा सके।

IV कान के रोग

शरीर-रचना

श्रवणांग के परसरीय भाग में तीन हिस्से होते हैं: बाह्य, मध्य ग्रौर ग्रांतरिक कान (चित्र 115)। मध्य कान में ध्वनिकग्रहक ग्रौर प्रघाण के विश्लेषक होते हैं।

बाह्य कान में बहिर्कर्ण ग्रौर बाह्य कर्ण कुहर होते हैं।



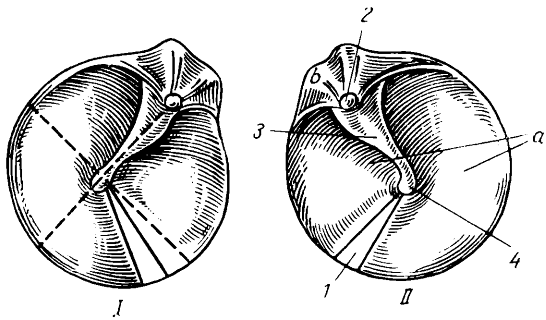
चित्र 115. बाह्य (1), मध्य (2), ग्रौर ग्रांतरिक कान का ग्रंगरेखांकन (3)।

बहिर्कर्ण काचाभ का बना होता है, जिसके ऊपर त्वचा होती है।

बाह्य कर्ण कुहर कीप की तरह बहिर्कर्ण के तल पर दबा हुग्रा होता है ग्रौर इसमें 3.5 से० मी० लंबा क्षैतिज पथ होता है। इस पथ के ग्रंत में मध्यकर्ण कला होती है। कर्ण कुहर का पश्च तीसरा भाग उपास्थियों ग्रौर कला ऊतकों का बना होता है ग्रौर बीच का दो-तिहाई भाग हड्डियों का। उपास्थि ग्रंग की त्वचा में कर्ण गूथ ग्रन्थियाँ होती हैं, जिससे कानों के मैल का स्राव होता है।

कुहर के उपास्थि और हड्डियों वाले भाग एक कोण पर मिलते हैं, जिससे कर्ण-पटह (मध्यकर्ण कला) का निरीक्षण करने के लिए वहिर्कर्ण को ऊपर-नीचे खींच कर कर्ण कुहर की सीध में लाते हैं।

मध्यकर्ण कला (कर्ण पटह् चित्र 116) 1 से० मी० व्यास की पतली कला है जो बाह्य और मध्यकान के बीच की सीमा पर स्थित होती है। इसका बड़ा भाग अस्थिमुद्रिका में होता है जिसे कर्ण पटह् का आतत भाग कहते हैं। इसके छोटे ऊर्ध्व-भाग के शिथिल भाग को कर्ण पटह् कहते हैं जो कि शिथिल होता है।



चित्र 116. स्वर यंत्रदर्शी चित्र।

1. दाईं ओर, 2. बाईं ओर, a (कर्णपटह्) आततभाग, b (कर्णपटह्) शिथिल-भाग, या सार्पनिल कला 1. प्रकाश का शंकु, 2. मैलियस की लघु क्रिया, 3. मैलियस का हत्था, 4. मध्य कर्ण कला का सबसे अधिक उत्तलता वाला बिन्दु।

मध्यकर्ण गुहिका 1 से० मी०^3 आकार का एक छोटा स्थान है, जो मध्यकर्ण और आंतरिक कान के बीच की शंख अस्थि की मोटाई में स्थित होता है। इसमें कर्ण-स्थिका (मैलियस, इंकम और स्टेपीज) की कड़ी होती है, जो कि मध्यकर्ण कला के साथ मिलकर ध्वनि संचरणतंत्र बनाती है। सामने से मध्यकर्ण गुहिका कर्णनली के द्वारा नासाग्रसनी से और पीछे की ओर कर्णमूल कोटर और कर्ण मूल कोशिकाओं से संसर्ग करती है। कर्णमूल कोशिकाओं की तरह इसकी गुहिका में हवा भरी होती है जिसका प्रवेश कर्णनलिका से होता है।

आंतरिक कान या गहन में हड्डियों और कला वाला गहन होता है। इसमें प्रघाण (मध्य भाग), तीन अर्धवृत्तीय पथ और कर्णावर्त होते हैं।

कर्णावर्त एक अस्थीय पथ है जिसके ढाई चक्कर अस्थीय स्तम्भ पर होते हैं जो की देखने में एक घोंघे के खोल-सा लगता है। कर्णावर्त के कला वाले भाग में सर्पिल (प्रान्तःस्था अंग) अंग होता है जिसकी जटिल ऊतक विज्ञानी संरचना होती है। सर्पिल भाग में संवेदी लोम कोशिकाएं होती हैं जो श्रवणतंत्रिका के तंतुओं से जुड़ी होती हैं। यह ध्वनिक विश्लेषक की परसरीय भाग बनाती है।

प्रघाण उपकरण में कर्णबालुका प्रघाण होता है तथा इनमें एम्पुलर उपकरण वाले अर्धवृत्तीय पथ होते हैं। इनमें प्रघाण विश्लेषक के सिरे की शाखाएं होती हैं।

शरीरक्रिया विज्ञान

कान एक ज्ञानेन्द्रिय है जिसके द्वारा मनुष्य का बाह्य संसार से संपर्क होता है। कान दो क्रियाएं करता है: (1) सुनने की क्रिया (श्रवण), (2) अवकाश का अभिविन्यास और शरीर का संतुलन बनाए रखना।

सुनने की क्रिया में बाह्य और मध्यकान के द्वारा या कोमल ऊतकों और करोटि की अस्थियों के द्वारा ध्वनि का संचरण होता है और ध्वनिक विश्लेषक के ग्राहकों और आंतरिक कान में स्थित प्रान्तस्था के अंगों द्वारा ध्वनि को पहचाना जाता है।

बाह्य और मध्यकान ध्वनि संचरण उपकरण से संबन्धित होते हैं। जबकि आंतरिक कान, प्रान्तस्था का अंग ध्वनिबोध उपकरण के लिए अधिक सुस्पष्ट होते हैं।

ध्वनि बोध और ध्वनि संचरण उपकरणों की सामान्य स्थिति से श्रवणक्रिया पूरी तरह से ठीक होती है।

ध्वनि उद्दीपनों का सुनिश्चित विश्लेषण और संश्लेषण मस्तिष्क के शंख-खंड की प्रान्तस्था में होता है जहाँ कि तंत्रिका उद्दीपन ध्वनि संवेद में बदल जाता है।

मनष्य पर्यावरणीय ध्वनि को 16 से 20000 साइकिल प्रति सेकंड की कंपन आवृति में ग्रहण करता है।

प्रघाण क्रिया. बहुत से ग्राहकों की स्वर सामंजस्य क्रिया के फलस्वरूप शरीर या इसके अंगों की अवकाश में स्थिति का पता चलता है। दृष्टि के अतिरिक्त त्वचा, पेशियों, जोड़ों और कंडराओं में स्थित ग्राहक प्रघाण क्रिया को पूरा करते हैं।

प्रघाण और अर्द्धवृत्तीय पथ में स्थिति प्रघाण उपकरण विश्राम और गति के समय शरीर का संतुलन और शरीर की स्थिति को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। प्रघाण उपकरण के रोग से ग्रस्त व्यक्ति न खड़ा हो सकता है और न ही चल-फिर या बैठ सकता है। ऐसे लोगों को घुमनी, मितली, और वमन हो सकता है।

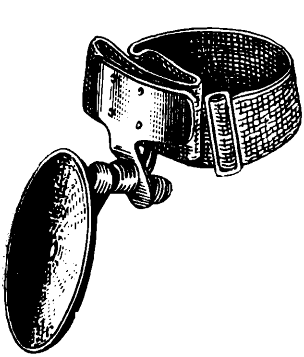
परीक्षण विधियाँ

रोगी से साक्षात्कार परीक्षण का पहला चरण है। उससे पूछा जाता है कि उसे क्या तकलीफ है और उसने चिकित्सीय परामर्श की मांग क्यों की है और रोग किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ है। कान के रोगों में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए: (1) कान में दर्द और इसके लक्षण; (2) कान से पूय का आस्राव; (3) ऊँचा सुनाई देना (श्रवण की आंशिक हानि) और बधिरता; (4) कर्ण-श्वेण (कान

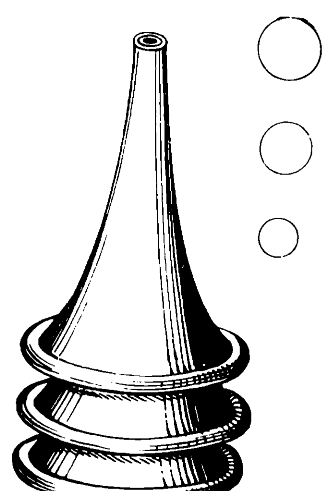
में शोर होना) ; (5) श्रवण भ्रमि (भ्रमि घुमनी)। रोगी की सार्वदैहिक हालत, सिर दर्द की शिकायत, शरीर के चढ़े हुए ताप इत्यादि पर भी गौर किया जाता है।

मध्यकान में तीव्र रोग का कारण बहुधा नाक ग्रौर गले में शोथज प्रक्रिया होता है। यह भी सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि कान के रोग से पूर्व इन्फ्लूएंज़ा, ऊपरी श्वसन पथ का तीव्र ग्रभिष्यंद, इत्यादि हुग्रा है या नहीं। कान के परीक्षण में बहिर्कर्ण की जाँच ग्रौर परिस्पर्शन ग्रौर कर्णमूल की क्रिया की जाँच, बाह्य कर्ण कुहर की तथा मध्यकर्ण की जाँच, प्रघाण क्रिया ग्रौर श्रवण की जाँच की जाती है।

कान की जाँच (कर्ण दर्शन) कृत्रिम प्रदीपन करके ग्रंध-कक्ष में किया जाता है, जिससे ग्रास-पास की चीजों की ग्रपेक्षा प्रदीप्त क्षेत्र ग्रच्छा ग्रौर साफ दिखाई दे। प्रकाश-प्रत्यावर्त, बेन्ड से मत्थे पर बाँधा हुग्रा गोल तथा थोड़ा ग्रवतल दर्पण प्रयुक्त होता है (चित्र 117)। तुषारित काँच वाला 50–60 वाट का बिजली का बल्ब प्रकाश का सर्वोत्तम स्रोत है। यदि ऐसी सुविधा न हो तो मिट्टी के तेल का लैम्प प्रयोग में लाया जाता है जिसकी बत्ती चपटी हो। कान की जाँच रोगी को बिठाकर की जाती है। प्रकाश के स्रोत को रोगी के सिर के स्तर पर रख कर दायें ग्रौर थोड़ा सा सिर के पीछे रखते हैं। छोटे बच्चों को सहायक की गोद में बिठाया जाता है जो कि बच्चे के सिर को ग्रपने सीने के साथ एक हाथ से चिपका लेता है तथा दूसरे हाथ से बच्चे की बाजू को पकड़ लेता है। सहायक बच्चे के पैरों को कस के ग्रपने पैरों के बीच में ले लेता है। बाह्य कर्ण-कुहर की भित्तियों ग्रौर मध्यकर्ण कला की जाँच कर्णवीक्षण यंत्र से की जाती है (चित्र 118)। बहि:कर्ण को ऊपर नीचे

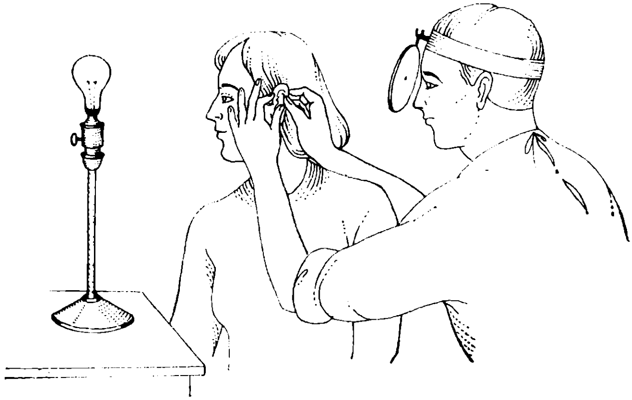


चित्र 117. सिर दर्पण।



चित्र 118. कर्णदर्शी या कर्ण वीक्षण यंत्र।

खींच कर तथा रोशनी को चारों ओर घुमाकर वीक्षण यंत्र को कुहर में 1.0 से 1.5 सें० मी० अंदर हड्डी वाले भाग तक डालकर कर्ण कुहर को शीर्ष-दर्षण से प्रदीप्त किया जाता है (चित्र 119)।



चित्र 119. कान की जांच (कर्ण दर्शन)

सामान्य मध्यकर्ण कला मोती जैसी धूसर और अंडाकार होती है, जिस पर निशान होते हैं। कला की गतिशीलता की जाँच वायवी वीक्षण यंत्र से की जाती है।

प्रघाण क्रिया की जाँच गति के समन्वय का पता करके तथा नेत्र-प्रेरक पेशी की सक्रियता का अध्ययन करके (दृष्टि को जमाकर दोनों नेत्र गोलकों के अक्षिदोलन, उनकी तालबद्ध सममितीय गति का अध्ययन) तथा बरनी की टर्निंग चेयर टेस्ट या कैलोरी-जाँच करके किया जाता है। कैलोरी-जाँच में कान का धोवन शीतल-जल या निश्चित-तापमान तक उष्ण जल से किया जाता है।

उपचार और देखरेख की सामान्य विधियाँ

कर्ण रोगों से पीड़ित रोगियों के उपचार और देख-रेख के लिए साधारण हस्तोपचार हेतु बहुधा विशेष या जटिल उपकरणों की आवश्यकता होती है। यह उपचार और देख-रेख बहिरंग और अंतरंग चिकित्सालय तथा प्रतिष्ठानों और सामूहिक फार्मों के प्राथमिक चिकित्सा सहायता केन्द्रों पर आसानी से की जा सकती है।

कर्ण रोग से पीड़ित रोगियों की देख-रेख में कान की सफाई तथा उनमें विभिन्न प्रकार की औषधियाँ डालना सम्मिलित है।

कर्ण पथ की सफाई की विधियाँ. मध्य कर्ण कला की जाँच करने से पूर्व बाह्य कर्ण कुहर से कर्ण गूथ, पूय और पपड़ी की सफाई की जाती है। यह सफाई धोवन या शुष्क विधि से की जाती है।

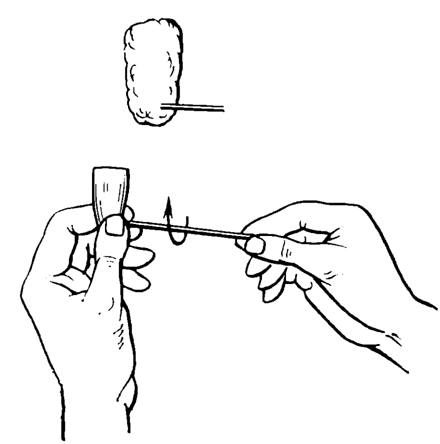
मध्यकर्ण के तीव्र और चिरकारी शोथ में यदि सपूय स्राव इतना अधिक हो कि इसे शुष्क विधि से साफ करने में अधिक समय लगे, तो चिकित्सक को धोवन क्रिया अपनानी चाहिए। कर्ण-पथ की भली भाँति सफाई रोगी स्वयं हस्तोपचार से नहीं कर सकता।

धोवन की क्रिया कान की पिचकारी (100 से० मी० 3 आयतन) या रबर के गुब्बारे से करते हैं। रबर के गुब्बारे दो तरह के होते हैं: पूरी तरह रबर का गुब्बारा, जिसका सिरा मोटा होता है जिसे मुश्किल से कुहर के मुँह में घुसाया जाता है और दूसरे प्रकार का गुब्बारा जिसका सिरा हाथी दाँत का होता है और जो धोवन के लिए अधिक उपयुक्त होता है। कुहर की भित्तियों को चोट से बचाने के लिए हाथी दाँत के सिरे पर 3–4 से० मी० लंबी रबर की नली लगाई जाती है। कान की धोवन क्रिया उष्ण विसंक्रामित घोल (बहुधा 3 प्रतिशत बोरिक एसिड) से की जाती है। रोगी गुर्दे के आकार वाली चिलमची स्वयं ही थामे रहता है तथा इसे गले के पास चिपकाए रखता है।

कर्ण कुहर को सीधा करने के लिए बहिःकर्ण को बायें हाथ से आगे-पीछे खींचते हैं और दाहिने हाथ से रबर का गुब्बारा कान में घुसाया जाता है, पर 1 सें० मी० से अधिक नहीं। थोड़ा-थोड़ा करके कान में उष्ण जल की धार छोड़ते हैं और फिर कुहर की पश्च भित्ति के सहारे हल्के बल से धार छोड़ते है। गुब्बारे में घोल भरने से पहले दबा कर इस बारे में आश्वस्त हो लिया जाता है कि इसमें हवा बिलकुल नहीं रह गई है। अन्यथा, यह हवा घोल में मिलकर धोवन करते समय कान में अप्रिय शोर पैदा करेगी। धोवन के अंत में रोगी के सिर को एक तरफ झुका देते हैं जिससे कि सारा पानी कान से बाहर निकल जाय। कुहर के अंदर बचे पानी को प्रोब पर रूई लपेट कर कान से निकालते हैं।

कठोर कर्ण गूथ को धोवन द्वारा निकालने से पहले उष्ण सोडा घोल को पिपेट द्वारा दो-तीन दिन तक डाल कर मुलायम होने दिया जाता है।

धोवन क्रिया से कान की सफाई करने पर द्वितीयक संक्रमण हो सकता है इसलिए कान की सूखी सफाई का तरीका अधिक उपयुक्त है। बाह्यकर्ण कुहर को सुखा कर स्रवित पूय को थोड़ा-थोड़ा करके

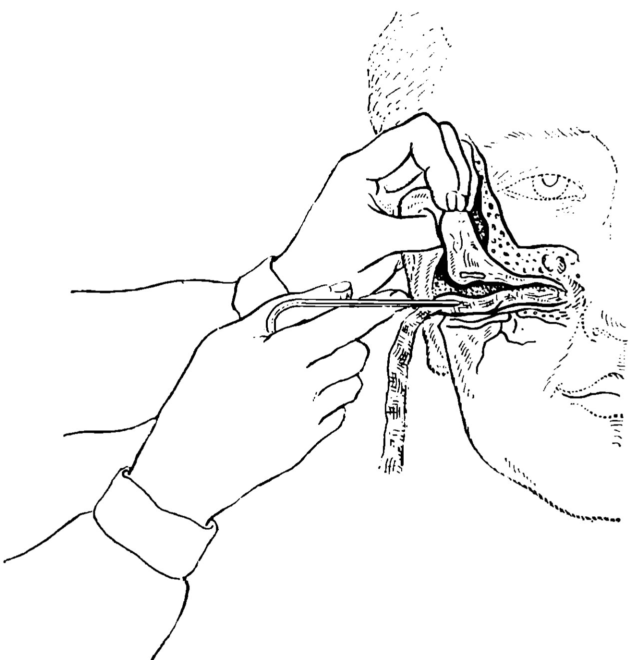


चित्र 120. चूड़ीदार प्रोब पर रूई लपेटने की विधियाँ। चोट लगने से बचाने के लिए प्रोब के सिरे को कभी अनढका नहीं छोड़ना चाहिए।

रूई से पोंछते हैं या जब धोवन क्रिया प्रतिदिष्ट हो (कान में त्वकशोथ, छाजन या फुंसियां होने पर धोवन क्रिया प्रतिदिष्ट है) पतली चूड़ीदार नोक वाली प्रोब प्रयोग में लाते हैं। चिकनी या केन्द्रीय सिरे वाली प्रोब हस्तोपचार के लिए उपयुक्त नहीं है। रूई को कसकर प्रोब पर लपेटा जाता है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि प्रोब की तेज नोक भी रूई से अच्छी तरह ढक जाय अन्यथा कुहर की वित्तियों या मध्यकर्ण की कला को क्षति पहुँच सकती है (चित्र 120)।

कान को साफ करने से पहले हाथों को अच्छी तरह से धो कर साफ कर लिया जाता है। विसंक्रामित आर्द्र रूई का इस्तेमाल किया जाता है। प्रोब पर लपेटी हुई रूई को सिसंक्रामित करने के लिए उसे अल्कोहल लैंप की लौ पर दिखाते हैं।

कान की सफाई निम्न प्रकार से की जाती है। बायें हाथ में कर्णवीक्षण यंत्र पकड़ कर बहिःकर्ण को खींच कर आगे पीछे करते हैं और दायें हाथ से रूई लपेटी हुई प्रोब को कान में घुसाते हैं और 2.5 से० मी० अंदर तक अर्थात मध्यकर्ण कला तक बड़ी सावधानी से ले जाते हैं। रूई लिपटी हुई प्रोब को हल्के-हल्के कान में घुमाकर स्राव को सोख लेते हैं। फिर रूई बदल कर यह हस्तोपचार तब तक दोहराया जाता है जबतक कि कान से निकाली गई रूई बिल्कुल सूखी और साफ न हो। इसके बाद, यदि आवश्यक हो तो, औषधि की बूंदें कान में डाली जाती हैं।



चित्र 121. बाह्यकर्ण कुहर में गाज के फाहे को डालना।

मध्य कर्ण के सपूय शोथ के उपचार की शुष्क विधि में कर्ण कुहर में गाज टैम्पन का भरण किया जाता है। इससे मध्य कान का निकास होता है। कुछ रोगों में यह सर्वोत्तम चिकित्सा उपाय है। कान में दवाई की बूंद डालने या धोवन के बाद भी गाज टैम्पन का भरण किया जा सकता है पर भरण से पूर्व कुहर को सुखा दिया जाता है।

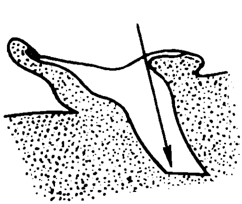
कर्ण टैम्पन के सिरे में विशेष प्रकार की पर्त लगाकर पतली गाज 5 से० मी० लंबी बनाई जाती है जिसे वक्र संदश से पकड़ पर सावधानीपूर्वक श्रवण कुहर में अधिक से अधिक 2.5 से० मी० तक घुसाते हैं (चित्र 121)। संदंश को कान से बाहर निकाल लेते हैं और टैम्पन को सिरे में 1.00 से 1.5 से० मी० दूरी से पकड़ कर सावधानी से कान में फिर घुसाते हैं, जब तक कि यह मध्य कर्ण कला को स्पर्श न करने लगे। कुहर में भरण ढीला किया जाता है जिससे आंतरिक भाग में पूय न बना रहे। प्रचुर मात्रा में स्राव होने पर टैम्पन को दिन में पाँच या छः बार बदला जाता है। यदि पूय कम स्रवित हो तो दिन में एक या दो बार बदला जाता है।

यहाँ वर्णित सभी हस्तोपचारों को बहुत ही कोमलता से किया जाता है और पूरी अपूति को बरता जाता है जिससे कि कोई चोट न लगे या अन्य कोई उपद्रव जैसे बहिर्कर्ण शोथ न हो जाय।

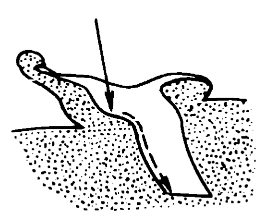
औषधियों का अवचारण

कर्ण रोग में प्रयुक्त औषधियाँ बिन्दुक, मलहम, इमल्शन या पाउडर के रूप में होती हैं। सबसे अधिक प्रचलित हस्तोपचार बिन्दुपात है।

औषधि का बिन्दुपात करने से पहले कर्ण कुहर में से सपूय स्राव को साफ किया जाता है। प्रघाण उपकरण में उद्दीपक से बचाव के लिए बिन्दुपात करने से पूर्व सभी बिन्दु औषधियों को शरीर के तापमान तक गर्म किया जाता है। बिन्दु औषधि को गर्म करने के लिए 37° से कुछ अधिक उष्ण जल में इसकी शीशी रखी जाती है। रोगी अपने कान को प्रतिपक्षी की ओर झुका देता है। बायें हाथ से बहिःकर्ण को आगे-पीछे खींचकर आंख वाले पिपेट या चाय के चम्मच से बून्दें कान में डाली जाती हैं (चित्र 122 और 123)। ये बून्दें पहले कर्ण कुहर की पश्च ऊर्ध्व भित्ति पर पड़ती हैं और फिर धीरे-धीरे मध्यकर्ण कला तक पहुँच जाती हैं। 10–15 मिनट



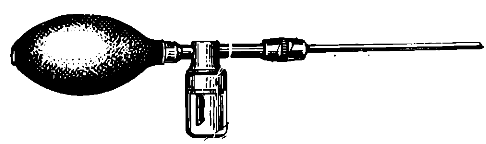
चित्र 122. कान में बिन्दुपात करने का सही ढंग।



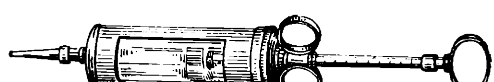
चित्र 123. कान मे बिन्दुपात करने का गलत ढंग।

के बाद सिर के रोगी कान वाले भाग को नीचे कर देते हैं ताकि बूंदे बाहर निकल जायें। इसके बाद कुहर को ऊपर बताये गये ढंग से सुखाया जाता है और यदि चिकित्सक का निर्देश हो तो ढीली गाज टैम्पन कान में भर दी जाती है। इन बिन्दुओं को दिन में दो-तीन बार बिन्दुवित करते हैं। गलत ढंग से बिन्दुकन करने से बूंदें सीधे मध्यकर्ण कला पर गिरती हैं, जिससे अरुचिकर संवेदना होती है और कभी-कभी पीड़ा होकर चक्कर तक आने लगते हैं (चित्र 123)। बाह्य कर्ण कुहर और बहिःकर्ण के रोगों में मलहम लगाया जाता है। अमोनियायुक्त मरकरी, पीला मरक्यूरिक आक्साइड और जिंक मलहम या 1–5 प्रतिशत सल्फानिलामाइड या सिन्थोमाइसीन इमल्शन अधिकतर प्रयोग किया जाता है। कुहर की भित्तियों का प्रोब या माचिस की तीली पर रूई लपेट कर आलेप करते हैं। कभी-कभी मलहम युक्त टैम्पन को कुहर में 15 से 30 मिनट तक पड़ा रहने देते हैं।

औषधि-चूर्ण का प्रधमन उपचारिका या रोगी के संबंधी द्वारा चिकित्सक के निर्देशानुसार किया जाता है। पहले कर्ण-कुहर में से पूय को बड़ी सावधानी से धोवन या शुष्कविधि से साफ कर लिया जाता है और फिर चुर्ण बोरिक एसिड, सल्फाडायजीन, सल्फाडिमाइजीन का प्रयोग शुद्ध रूप में अन्य औषधियों (पेन्सिलिन या सिन्थोमाइसिन) में मिलाकर किया जाता है। पाउडर को कान में प्रधमनित्र से फूंक द्वारा डाला जाता है (चित्र 124)। प्रधमनित्र उपलब्ध न होने पर कागज की कीप में



चित्र 124. पाउडर प्रधमनित्र।



चित्र 125. कर्णधोवन के लिए पिचकारी।

या वीक्षण यंत्र के सिरे पर थोड़ा सा चूर्ण लिया है। कीप या वीक्षण यंत्र के सिरे को कान में घुसा कर चूर्ण की रबर के गुब्बारे से फूंक मारकर कान में पहुंचाते हैं। प्रधमनित्र के सिरे को उबाल कर विसंक्रामित करते हैं पर रबर के यंत्रों को 4 प्रतिशत कारबोलिक एसिड घोल में धो कर विसंक्रामित किया जाता है। प्रधमन के लिए कर्ण कुहर को सामान्य विधि से सीधा करके चूर्ण इस तरह सावधानी से डालते हैं कि मध्य कर्ण कला पर चूर्ण की एक महीन समतल तह जमे, न कि पाउडर के ढेले बन जायें जिनसे पूय का निकास अवरुद्ध हो जाय। कर्णमूल क्रिया पर बर्फ वाली रबर की थैली या उष्ण संपीडन से सेंक किया जाता है और कान पर पट्टी रोगी की देखरेख के सामान्य नियमों के अनुसार बाँधी जाती है।

पनसिका कर्ण शोथ

त्वचा में खरोंच और दरारों के द्वारा स्टेफाइलोकोकस रोम-कूप और त्वक वसीय ग्रन्थियों में प्रवेश कर पनसिका कर्णशोथ या बहिर्कर्ण शोथ पैदा करते हैं। फुन्सियाँ केवल कर्ण कुहर के उपास्थिसम भाग से होती हैं।

लक्षण. रोगी को पीड़ा का अनुभव होता है जो कि दाँत और गले तक फैल जाती है। मुँह खोलने के प्रयास में, विशेषकर चर्वण से, पीड़ा बढ़ जाती है। कुहर का उपास्थिसम भाग अत्यधिक संकीर्ण हो जाता है। कुहर की तुगिका और उपास्थिसम भाग में सेंक विशेष रूप से पीड़ादायक है। उस भाग की लसीका पर्विका का आकार बड़ा हो जाती है और परिस्पर्शन में स्पर्शसह्य होती हैं। शरीर का ताप बढ़ जाता है। बहुधा श्रवण शक्ति का लोप नहीं होता है। यह रोग पाँच से सात दिन तक बना रहता है, पर फुन्सियाँ बहुधा फिर निकल आती हैं और कई हफ्तों तक बनी रहती हैं। मधुमेही, गुर्दे के रोग से पीड़ित या अत्यधिक चयापचयी विकार वाले रोगियों में फुन्सियों की पुनरावृत्ति बहुधा दीर्घकालिक होती है।

उपचार. सूखा सेंक देना, कर्णकुहर में 10 प्रतिशत अल्यूमीनियम एसीटेट घोल या 70 अंश अल्कोहल में सराबोर गाज टैम्पन को संकरा करके प्रवेश कराना और क्वार्टज लैम्प या सौलक्स लैम्प से विकीरण करने की सलाह दी जाती है। फुन्सियाँ बनने पर उनका मुँह खोल दिया जाता है।

रोकथाम और देखरेख. कर्ण कुहर की भित्तियों पर 70 अंश बोरिक अल्कोहल या पीले मरक्यूरिक आक्साइड मलहम का आलेप करके (विशेष कर त्वचा के छाजन में) फुन्सियों के पुनरावर्तन को रोका जा सकता है। कुहर में मलहम लगाने के लिए रूई की छोटी बत्ती 1.5 से 2.0 सेमी लंबी बनाकर चिकनी प्रोब पर लपेट प्रयोग में लाई जाती है। चिकित्सक द्वारा निर्देशित मलहम को रूई की बत्ती पर लगाकर बड़ी सावधानी से कुहर में घुसाया जाता है। प्रोब को निकाल लेते हैं पर बत्ती को कान में 15 से 20 मिनट तक पड़ा रहने देते हैं। सामान्य पनसिका दोग में सामान्य उपचार (लौह और आरसेनिक के योग, कोड सिल्वर लिवर तेल और विटामिन) लेने का निर्देश दिया जाता है। पेन्सिलीन के अंतरपेशीय इंजेक्शन लगाये जाते हैं।

अंतर्घट्टित कर्ण गूथ

बाह्य कर्ण कुहर की त्वचा में स्थित कर्ण गूथ ग्रन्थि का स्राव बढ़ जाने से ठेंठ (कर्णगूथ) इकट्ठा हो जाता है जो अंतर्घट्टित कर्ण गूथ का रूप ले लेता है।

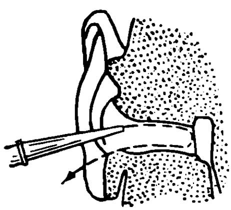
लक्षण. अंतर्घट्टित यदि कर्ण गूथ कर्ण कुहर को पूरी तरह रोध लेती श्रवण शक्ति एकाएक कुन्द हो जाती है। इस प्रकार की श्रवण शक्ति की आंशिक हानि स्नान या केश धोने के बाद बहुधा हो जाती है जब पानी कान में चला जाय और कर्ण गूथ फूल कर गुहिका पथ को पूरी तरह अवरुद्ध कर ले।

उपचार. कर्ण गूथ को निकालने और श्रवण शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए 100 घन से० मी० वाली पिचकारी (चित्र 125) से उष्ण जल (लगभग 37° से) भर कर धोवन किया जाता है।

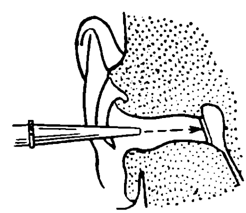
अंतर्घट्टित कर्ण गूथ को निकालने का काम उपचारिका को सौंपा जा सकता है। जल की धार पश्चऊर्ध्व कुहर भित्ति पर लगाई जाती है, जिससे कि मध्यकर्ण कला और कुहर भित्तियाँ घुल जाती हैं। यदि धोवन सही ढंग से न किया जाय और पानी की धार सीधी मध्य कर्णकला पर पड़े तो कान में पीड़ा शुरू हो जाती है और कला पर चोट भी लग सकती है (चित्र 128–129)।

कठोर अंतर्घट्टित कर्ण गूथ एक धोवन क्रिया में सदैव साफ नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियों में धोवन से पूर्व कर्णगूथ को मुलायम करने के लिए दो या तीन दिन पहले से ही क्षारीय बिन्दु कान में डाले जाते हैं। रोगी को पहले ही बता दिया जाता है कि कर्ण गूथ के फूलने से श्रवण क्रिया अस्थायी रूप से और अधिक खराब हो सकती है।

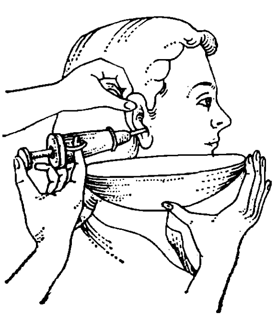
यदि पहले कभी कान से पूय का स्रावण हुआ हो तो धोवण नहीं करना चाहिए और रोगी को अंतर्घट्टित कर्ण गूथ को उपकरणों निकलवाने के लिए चिकित्सक के पास भेजना चाहिए।



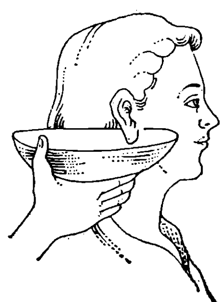
चित्र 126. कान का धोवन (पिचकारी के सिरे की सही स्थिति)।



चित्र 127. पिचकारी के सिरे की गलत स्थिति।



चित्र 128. कान का धोवन (सही स्थिति)।



चित्र 129. कान का धोवन (गलत स्थिति)।

Rp. Natrii hydrocarbonatis 0.5
Glycerini
Aq. destill. āā 5.0
Sig. गर्म घोल की 10 बूंदें कान में दिन में तीन बार डाली जाती हैं।

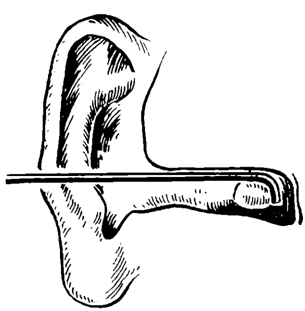
कान में आगंतुक शल्य

कान में आगंतुक शल्य बहुधा दो से आठ वर्ष की आयु वाले बच्चों में होता है जो खेलते समय विभिन्न प्रकार की छोटी चीजों को अपने कान में डाल लेते हैं। ज्यादातर कान में आगंतुक शल्य से कोई परेशानी महसूस नहीं होती है। कभी-कभी कास प्रतिवर्त और कभी-कभार श्रवण शक्ति की आंशिक हानि होती है। कान से आगंतुक शल्य को निकालने के बेढंगे प्रयास से बाह्य कर्ण कुहर में शोथ और कभी-कभी मध्यकर्ण कला में विदार तथा मध्यकर्ण में तीव्र शोथ हो जाता है।

कान में घुस जाने पर कीड़ा कुहर भित्ति पर और मध्यकर्ण कला पर रेंगता है जिससे कान में पीड़ादायक खुजली शोर और टिक-टिक की आवाज होती है।

उपचार. कर्ण कुहर का उष्ण जल से धोवन करके आगंतुक शल्य को निकाला जाता है (जैसे कि अंतर्घट्टित कर्ण गूथ के निकालने में करते हैं)।

कान में घुसे हुए कीड़े को उष्ण ग्लीसीरीन, वैसलीन आयल, कैम्फर तेल या अल्कोहल की कुछ बूंदें डालकर मार दिया जाता है और फिर कान का धोवन किया जाता है। यदि धोवन द्वारा आगंतुक शल्य कान से बाहर न निकले तो फिर चिकित्सक इसे देखकर कुंठित या पैने अंकुश से इसे निकालता है (चित्र 130) (कभी-कभी संज्ञाहरण भी करना पड़ता है)। गोल चीज को निकालने के लिए संदेश का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह संदेश से फिसल कर कुहर और गहरे जा स ती है। मटर जैसे आगंतुक शल्यों को, जिनमें फूलने की प्रवृत्ति होती है, निकालने से पहले 96 अंश अल्कोहल की कुछ बूंदें नलिका में डालकर पहले सुखा लिया जाता है (एक या दो दिन तक कान में 10 बूंद दिन में चार या पाँच बार)। (गुरियाँ, छोटी धातु की गोलियाँ, इत्यादि)। आगंतुक शल्य कान में पड़े रह कर भी कोई नुकसान नहीं पहुंचाते हैं, इसलिए इन्हें निकालने का प्रयास तब तक नहीं करना चाहिए जब तक हस्तोपचार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ न हों। उपचारिका कान से आगंतुक शल्य निकालने के लिए आवश्यक उपकरण तैयार



चित्र 130. अकर्तक हुक के द्वारा कान से आगंतुक शल्य को निकालना।

करती है: कान की पिचकारी, बोरिक एसिड का 3 प्रतिशत उष्ण घोल, कुंठित और पैने अंकुशावक्र संदश और विसंक्रमित रूई।

उपचारिका को केवल धोवन विधि द्वारा कान से आगंतुक शल्य निकालने की अनुमति है। उपकरण द्वारा आगंतुक शल्य निकालने की क्रिया केवल चतुर विशेषज्ञों द्वारा ही होनी चाहिए।

मध्य कर्ण का तीव्र शोथ

मध्य कर्ण का तीव्र शोथ एक बहुत ही आम रोग है और विशेष रूप से बच्चों में कर्ण नलिका के द्वारा मध्य कर्ण कला के संदूषण से (जैसे तीव्र नासाशोथ या वायु विवर शोथ, इत्यादि में) यह रोग होता है। यह संदूषण रक्त-जन्य पथ, अर्थात रक्त द्वारा लाये गये संक्रमण, से होता है। ऐसा प्रायः तीव्र संक्रामक रोगों में होता है। क्षतिग्रस्त मध्य कर्ण कला के द्वारा मध्य कान में संक्रामण बहुत ही कम पहुँचता है।

लक्षण. सार्वदैहिक अस्वस्थता, शरीर का बढ़ा हुआ ताप, श्रवण शक्ति की आंशिक हानि और पीड़ा न केवल कान में, बल्कि कर्णमूल क्षेत्र में भी होते हैं। ये ही इस रोग के लक्षण हैं। इसमें कभी-कभी पूरे सिर में पीड़ा होती है। कान में इतनी असह्य पीड़ा हो सकती है कि आपदकालीन स्थिति आ जाय और विशेषज्ञ को बुलाना पड़े। कारबोल-ग्लीसीरीन की बूंदें कान में डालने से पीड़ा में आराम आ जाता है और साथ में खाने वाली औषधियों में एसीटाइल सैलीसिलिक एसिड और कभी-कभी एमिडोपाइरीन और प्रतिजीवी औषधियाँ

Rp. Acidi carbolici 0.3—0.5
Glycerini puri 10.0

Sig. दिन में तीन बार दस-दस मिनट के लिए कान में गरम घोल की 6 8 बूंद तक डालें।

दी जाती हैं। कार्बोग्लीसीरीन की बूंदें कान में केवल उसी हालत में डाली जाती हैं जब कान से किसी प्रकार आस्रावन न हो। यदि कान में आस्राव हो तो कारबोलिक एसिड का कान में डालना बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए, क्योंकि यह गीले पूय के माध्यम में मिलकर कर्ण त्वचा और मध्य कर्ण त्वचा और मध्य कर्ण कला में जलन पैदा करता है। जैसे ही कान से आस्राव का पता चले उसी समय उपचारिका को कार्बोल ग्लीसीरीन का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। स्वापक और निद्रापक औषधियाँ चिकित्सक के निर्देश पर दी जाती हैं। यदि दो-तीन दिन में आराम न आये और रोग के लक्षण बने रहें, जैसे शरीर ताप बढ़ा रहे तो पारवेधन (मध्य कर्ण कला का वेधन) किया जाता है, जिससे कि पूय का विसर्जन हो जाय और अन्य कोई उपद्रव पैदा न हो सके। मध्यकर्ण के तीव्र शोथ के सभी रूपों में कर्ण वाहिका संकोचन बिन्दु डालने का निर्देश दिया जाता है।

मध्यकर्ण के तीव्र शोथ वाले रोगियों की उपचर्या द्वारा देखभाल में सामान्य देखरेख (यह देखना कि रोगी का बिस्तर आरामदेह है, उसका शरीर-तापमान लेना, और ठीक समय पर उपयुक्त भोजन देना) तथा चिकित्सक द्वारा निर्देशित सभी हस्तोपचार शामिल हैं। कर्ण बिन्दु के फ्लास्क को 37–38° सें० उष्ण जल में रख कर शरीर के तापमान तक गर्म किया जाता है। कान से आस्राव होने पर कार्बोल-ग्लीसीरीन की बूंदें बंद कर दी जाती हैं और बिन्दुपातन की जगह कान को साफ करने के शुष्क उपाय ले लेते हैं या पूय को पतली गाज पट्टी डालकर साफ करते हैं या 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट या स्वच्छ कुहर में हाइड्रोजन परआक्साइड का उपयोग किया जाता है।

Rp. Sol. Zinci sulfatis 1% 10.0
Sig. गर्म घोल की 8 बूंदें कान में दिन में 2–3 बार डालते हैं।

मध्यकर्ण का चिरकारी सपूयशोथ

मध्य कान के तीव्र शोथ का अपर्याप्त और अनुपयुक्त उपचार होने से यह शोथ चिरकारी रूप ले लेता है (चिरकारी सपूय मध्यकर्णशोथ)। नासागुहिका में चिरकारी शोथ (चिरकारी नासा शोथ और वायु विवर शोथ में) और नासा ग्रासनी (चिर-कारी कंठशालूक शोथ) से यह रोग होता है। रोग लक्षण के आधार पर चिरकारी सपूयशोथ के दो रूप हैं: मध्य कर्ण कला का केन्द्रीय छिद्रणवाला कर्ण शोथ (मध्य-कर्ण शोथ) और अधिमध्य कर्ण शोथ। अधिमध्य कर्णशोथ में मध्यकान की अस्थिवाली भित्तियाँ प्रभावित होती हैं।

लक्षण. मध्य कर्ण कला में स्थाई छिद्रण होना चिरकारी सपूय शोथ का लक्षण है। इसमें कान से निरंतर या समय-समय पर आस्राव होता रहता है तथा श्रवण शक्ति बहुत घट जाती है। मध्य कर्ण की श्लेष्मल कला के अधिक आवेष्टन से आस्राव श्लेष्मासपूय और गंधहीन होता है। अस्थि ऊतकों के आवेष्टन से ये स्वयं नष्ट हो जाते हैं और कर्ण आस्राव बहुधा बहुत ही बदबूदार होता है। आनन तंत्रिका का आंशिक-घात, कर्णशोथ पूतिता, और मस्तिष्क-व्रण जैसे उपद्रव इस प्रकार के कर्ण शोथ में हो सकते हैं।

उपचार. चिरकारी सपूय कर्णशोथ के उपचार में प्रोब पर लिपटी हुई रूई से कान की सफाई, बोरिक या सैलीसाइलिक अल्कोहल या फ्यूरोसिलीन (नाइट्रोफ्यू-रोजोन) घोल का बिन्दुपात और कान में सल्फानिलामाइड पाउडर या बोरिक एसिड चूर्ण का फूंक मार कर डालना, आदि शामिल हैं। मध्यकर्ण कला के बड़े छिद्रण में उष्ण शारीरी लवण घोल से हफ्ते में एक या दो बार कान का धोवन करने से लाभ होता है।

Rp. Acidi borici 0.8
Hydrogenii hyperoxydati
Spiritus aethylici āā 10.0
Sig. कान में 8 बूंदें दिन में तीन बार डालें।

Rp. Acidi borici 0.3
Spiritus aethylici 70% 10.0
Sig. कान में 8 बूंदें दिन में तीन बार डालें।

Rp. Furacilini in spiritus aethylici 1:1500 20.0
Sig. कान में 8 बूंदें दिन में तीन बार डालें।

Rp. Acidi salicylici 0.2
Spiritus aethylici 20.0
Sig. कान में 8 बूंदें 15–20 मिनट के लिए दिन में तीन बार डालें।

पालिपस ग्रौर कर्णांकुरों को चिकित्सक 10–30 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल से दहन कर्म द्वारा निकाल देता है। ग्रधिमध्य कर्ण शोथ में ग्रधिमध्य कर्ण हरी का धोवन 3 प्रतिशत बोरिक ग्रल्कोहल से विशेष नली के द्वारा करते हैं। यदि इस उपचार का ग्रसर न पड़े ग्रौर रोग बढ़ने लगे तो शस्त्र कर्म किया जाता है।

कान के शस्त्र कर्म के बाद रोगी का उपचार

शस्त्र कर्म के बाद के 24 घंटों में रोगी की उपचार व्यस्था प्रयुक्त संज्ञाहरण की किस्म के ग्रनुसार की जाती है। जिस रोगी का सार्वदैहिक संज्ञाहरण देकर शस्त्रकर्म किया गया हो उसके श्वसन, नाड़ी, धमनी चाप ग्रौर मूत्रण-चाप व मूत्रण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो, जैसे उत्तान ग्रौर शीघ्र श्वसन, कमजोर नाड़ी, धमनी चाप का एकाएक घट जाना, तो उपचारिका द्वारा तत्काल ही चिकित्सक को सूचित किया जाना चाहिए।

रोगी को शस्त्रकर्म कक्ष में से पहिये वाले स्ट्रेचर पर लाया जाता है तथा गद्दे्दार बिस्तर पर पीठ के बल इस प्रकार लिटाया जाता है कि शस्त्र-कर्म किया हुग्रा कान ऊपर की तरफ रहे।

यदि मानोवियोजी ग्रौषधि वर्ग का इंजेक्शन देकर संज्ञाहरण किया गया हो तो, स्थानिक संज्ञाहरण देकर शस्त्रकर्म किये गये रोगी पर भी सावधानी-पूर्वक निगाह रखनी चाहिए। रोगी को बिस्तर पर बैठने नहीं दिया जाता, क्योंकि लम्बस्थित में बैठने से रोगी ग्रचेत हो जाता है, कारण कि मनोवियोजी ग्रौषधि वर्ग का (पिपोलफेन ग्रौर विशेषकर ग्रमीनाजीन का) दीर्घकालिक वाहिका विस्फार प्रभाव होता है।

अति उष्मन और निर्जलीभवन से बचाने के लिए रागी को गर्म कपड़े उढ़ाने चाहिए। कक्ष में ताजी हवा बहुत ही जरूरी है।

तत्पश्चात रोगी के आहार, और पेट तथा मूत्राशय के खाली और साफ होने पर ध्यान देना आवश्यक है—भले ही किसी प्रकार के संज्ञाहरण का उपयोग किया गया हो और किसी भी प्रकार का शस्त्रकर्म हुआ हो। अतः कपाल उपद्रव से बचने के लिए उपरोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक हैं।

कालिक अस्थि के शस्त्रकर्म के बाद रोगी की देखरेख इस बात पर निर्भर करती है शस्त्रकर्म किस प्रकार का है। उपचारिका को रोगियों पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें घुमनी, मतली, वमन न हो और उनकी तंत्रिका की क्रिया में उपद्रव न हो। उपरोक्त लक्षणों को देखते ही चिकित्सक को समय से सूचित करना चाहिए। यदि शस्त्रकर्म के बाद की गई पट्टी जल्दी ही रक्त से भीग जाय तो भी चिकित्सक को तत्काल सूचित करना चाहिए, क्योंकि यह शस्त्रकर्मोत्तर घाव से रक्तस्राव के कारण हो सकता है।

कान के उन्मूलक शस्त्रकर्म के बाद खून से तर पट्टी को बदलना जरूरी है, विशेष-कर स्तम्भिका प्ररूपी मध्यकर्ण संसाधन कर्म और लैबीरिन्थ (गहन) के शस्त्र कर्म में। उपरोक्त शस्त्र कर्म साफ हाथों से और विसंक्रामित पदार्थों से ही करने चाहिए। घाव के ऊपर लगाये गये पदार्थ पर बाँधी गई पट्टी ही विसंक्रामितहीन हो सकती है। पुरानी पट्टियों को निकालने तथा नई पट्टियों को लगाने के लिए अलग-अलग संदंश का प्रयोग किया जाता है। पट्टी को चिकित्सक के सामने ही जाता है।

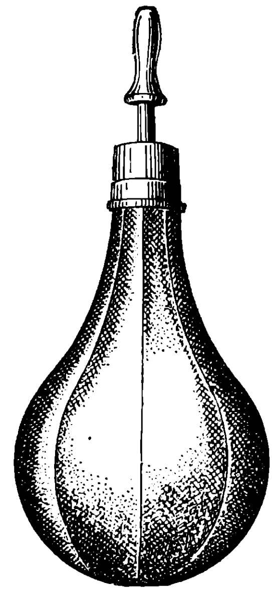
उन्मूलक शस्त्रकर्म और स्तम्भि के प्ररूपी मध्यकर्ण संसाधन कर्म के बाद रोगी को सात से आठ दिन तक पूर्ण रूप से शय्या विश्राम करने की सलाह दी जाती है, तबतक, जबतक कि पहली पट्टी न बदल ली जाय। चिकित्सक द्वारा निर्देशित समय पर प्रतिजीवी इंजेक्शन लगाने चाहिए।

यूस्टेशियन नली और मध्यकान का तीव्र और चिरकारी अभिष्यंद

नाक और नासा ग्रसनी के विभिन्न रोगों (तीव्र और चिरकारी नासाशोथ, कंठ-शालूकशोथ, नासा पालिप् इत्यादि) से मध्यकान का तीव्र और चिरकारी अभिष्यंद होता है। ऐसे रोगों में शोथ यूस्टेशियम नली (श्रवन नली) तक फैल कर उसमें संकीर्णता पैदा करता है। इस प्रकार से मध्यकान के संवातन में विघ्न पड़ता है, जिसके फलस्वरूप मध्यकर्ण कला आकुंचित होती है। नलिका के दीर्घकालिक अवरोधन से संयोजी ऊतक तंतु समूह बन जाता है और आकुंचित कर्णपट्ट और कर्णास्थिका भी अचल हो जाती है। इससे धीरे-धीरे श्रवण शक्ति घट जाती है और कर्ण श्वेण हो जाता है। इस अवस्था को मध्यकान का आसंजी अभिष्यंद कहते हैं।

मध्यकान की इस विकार स्थिति के उपचार में सबसे पहले नाक और नासाग्रसनी के मुख्य रोग का उपचार होना चाहिए।

कर्णपट्टह और कर्ण स्थिका श्रेणी की सामान्य गतिशीलता के प्रत्यावर्तन के लिए पोलीत्सर विधि से कानों का वात्प्रधमन करना अतिरिक्त चिकित्सा का एक हस्तोपचार है। 200–300 मी० ली० अंडाकार रबर के गुब्बारे में रबर की नली जोडकर कान में हवा भरी जाती है (चित्र 131)। एक नासाद्वार को बंद करके दूसरे में अंडाकार रबर के गुब्बारे को लगाते हैं। रोगी अपने मुँह में थोड़ा-सा पानी भर लेता है और एक, दो, तीन की गिनती करते ही पानी को निगल जाता है। उसी समय गुब्बारे को दबाया जाता है और हवा एक विशेष प्रकार की आवाज़ के साथ यूस्टेशियन नली में घुसती है।



चित्र 131. कान से वातप्रधमन के लिए पोलिटाइसा थैली।

वात्प्रधमन की यह विधि इस क्रिया पर आधारित है कि जब आदमी एक, दो, तीन बोलते हुए पानी को निगलता है तो काकलक उठता है और नासाग्रसनी और मुखग्रसनी पूरी तरह से अलग हो जाती है। यदि इस क्षण पर गुब्बारे को दबाया जाता है तो नासा-गुहिका में जमा हवा का दोनों यूस्टेशियन नलियों में पलायन होता है।

कान में अभिघात

कान को साफ करने के लिए प्रयुक्त माचिस की तीली या बालों की पिन से कर्णपटह में चोट लग सकती है। कान से आगंतुकशल्य को निकालने के अनाड़ीपन वाले प्रयास से, कान पर प्रहार करने से और वायुमंडली दाब में उतार-चढ़ाव से (बम्ब या गोले के विस्फोट से, बारूदी सुरंग के ज्वालन से, वायुयान के एकाएक पर उड़ने और गोता भरने से, पानी में काम करते समय विस्फोटकयान में वायु मंडलीय दाब के गिरने से) भी कर्णपटह में चोट लग सकती है। कपाल के आधार में अस्थिभंग होने से भी कर्ण पटह का विदार हो सकता है।

लवण और प्रक्रिया. कर्णपटह के विदार या परवेधन के साथ चोट लगने के समय से तीव्र पीड़ा होती है। कर्ण कुहर में से रक्तस्राव होता है, कर्ण-श्वेण होता है। श्रवण शक्ति का आंशिक लोप हो जाता है और कभी-कभी घुमनी, मतली और उल्टी होती है। निरीक्षण करने से पटह में विदार दिखाई देता है और रक्तस्रावी

क्षेत्र में अतिरिक्त वाले किनारे होते हैं। विदार से मुख्य भय यह है कि कर्णपटह में संक्रमण न पहुंच जाय जिससे सपूय मध्यकर्ण शोथ होकर अंतःकपाल संक्रमण या पूतिता का उपद्रव न हो।

उपचार. कान का धोवन, बिन्दु का डालना। चोट लगने के कुछ दिन बाद तक कर्ण कुहर का सफाई करना पूर्णतः निषिद्ध है। कान पर विसंक्रामित पट्टी बाँधना ही प्राथमिक उपचार है। रोगी को विशेषज्ञ की निगरानी में रखा जाता है।

गोली लगने से या गिरने से, सिर में नील पड़ने से मध्य और आंतरिक कान बहुधा क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। बहुत से रोगियों में कपाल-गुहिका, दीर्घवाहिकाओं और मस्तिष्क में संसर्गी क्षति हो जाती है। शस्त्रकर्म के सामान्य नियमों के अनुसार प्राथमिक चिकित्सा दी जाती है। कान पर अपूतिक पट्टी बाँधी जाती है और रक्तस्राव को रोका जाता है। विशेषज्ञ द्वारा उपचार किया जाता है।

4

नेत्र-रोग

प्रस्तावना

आँख के रोगों से संबंधित आयुर्विज्ञान की शाखा को नेत्रविज्ञान कहते हैं। इसके अंतर्गत दृष्टि के अंग की शरीर-रचना, शरीर क्रिया विज्ञान का अध्ययन, इसके गुणधर्म और सामान्य अवस्था में इसकी क्रिया और विकृतियों का अध्ययन किया जाता है।

दृष्टि के अंग या दृष्टि विश्लेषक का परिवेश के सामान्य बोध में बहुत महत्व है। मानव जीवन में दृष्टि के महत्व की आवश्यकता का ज्ञान दैनिक जीवन के काम करने, देखने, लिखने-पढ़ने और लोगों से संपर्क करने में होता है। इसलिए दृष्टि के अंगों को प्रभावित करने वाले रोगों से इनकी सक्रियता कम हो जाती है या अन्धता से मनुष्य के काम करने की क्षमता सीमित हो जाती है और इसके फलस्वरूप मनुष्य आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से काम करने में अक्षम हो जाता है।

दृष्टि-अंग जीव का एक अवयव है इसलिए बहुत से दैहिक रोगों की रोगजनक प्रक्रिया में, विशेषकर तीव्र और चिरकारी संक्रामक रोगों (खसरा, डिफ्थीरिया, न्यूमोनिया, विषाणु संक्रमण, आमवात, यक्ष्मा, टाक्सोप्लाज्मता, सिफिलिस, मलेरिया, ब्रूसेलोसिस और अन्य) में इस पर प्रभाव पड़ता है। रक्त और गुर्दे की बीमारी, अतिरक्तदाबी रोग, मस्तिष्क के अर्बुद और शोथज रोगों, मधुमेह और गर्भकाल में विषालुता का भी आँखों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए नेत्र लक्षणों से मनुष्य के दैहिक रोगों का शीघ्र निदान करने में सहायता मिलती है। रहन-सहन की परिस्थितियों, सामाजिक और स्वच्छता, स्वास्थ्यकर कारणों से, आबादी के सामान्य और स्वच्छता के निम्न स्तर से, अकुशल चिकित्सा-सेवा से, विशिष्ट चिकित्सा सहायता के प्रभाव से, पोषण-रहित भोजन और हानिकारक व्यावसायिक कारणों से नेत्र रोग होते हैं और बढ़ते हैं। इन सभी कारणों से जार के समय में रूस में नेत्र रोगियों और अन्धों की संख्या बहुत अधिक थी। महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुए। सामान्य स्वास्थ्य और स्वच्छता के स्तर में उन्नति हुई। जन-समुदाय की चिकित्सा सेवा में सुधार हुआ। रोग-निरोध

तथा रोगियों का सक्रिय रूप से पता लगाने और उपचार करने की चिकित्सा-नीति से देश में से बहुत से संक्रामक रोगों का उन्मूलन हो गया। नेत्र रोग की घटनाएँ और अंधता के रोग बहुत कम हो गये।

सोवियत जन स्वास्थ्य सेवा की सफलता का पता इस बात से लगता है कि चेचक, खसरा, डिफ्थीरिया, गोनो-पूयश्लेष्मस्राव और रोहे में होने वाली अन्धता का पूर्णतया उन्मूलन हो गया है। रोहों से होने वाली अन्धता पहले दृष्टिहीनता का एक मुख्य कारण थी अब यह केवल अत्यन्त वृद्ध लोगों को होती है, जिन्हें बाल्य काल में रोहे हुए हों और उनका उपचार समय से न किया गया हो। उत्पादन केन्द्रों में भी आँखों में चोट लगने की घटनाएँ बहुत कम हो गयी हैं। सबलवाय-रोगियों की रोग निरोधी जांच और रोग को आरंभ में पहचानने का काम भी सक्रियता से किया जाने लगा है। उपरोक्त सक्रिय उपाय अतिजटिल निकटदृष्टिता, मोतियाबिन्द, यक्ष्मा, अपवर्तन दोष वा तिर्यकदृष्टि और जन्मजात नेत्र रोगों के कारण बच्चों की नजर कमजोर होने वाले रोगों से संघर्ष में भी किये जाते हैं।

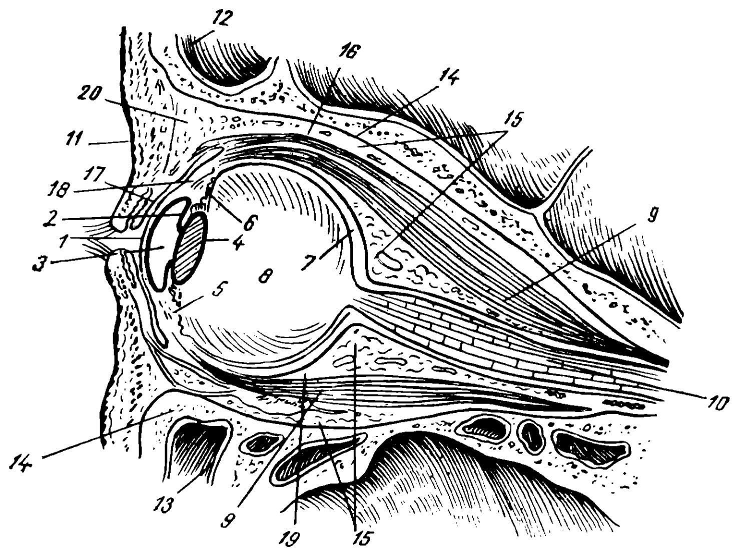
यदि हम नेत्र रोगों की घटनाओं के पीछे शारीरिक रोगों और विशेषकर संक्रामक रोगों की भूमिका पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सा प्रतिष्ठानों के संपूर्ण तंत्र द्वारा चिकित्सा और रोग-निरोधी उपाय करने से नेत्र रोगों की रोक-थाम होती है। इसलिए अन्धता को रोकने और उपचार करने वाले चिकित्सक-सहायकों और उपचारिकाओं को नेत्र रोगों की, इनकी रोग-निरोधी विधियों और उपचार की स्पष्ट संकल्पना होनी चाहिए। नेत्र रोग का आरंभ में ही पहचानने का विशेष महत्व है। रोगी को प्राथमिक सहायता कुशलतापूर्वक देकर उसे समय रहते नेत्र विशेषज्ञ के पास भेजना चाहिए। तत्पश्चात, औषधालय में रोगी के पंजीकरण और अनुपरीक्षण संबंधी विशेषज्ञ की सलाह का निष्ठापूर्वक पालन होना चाहिए।

वर्तमान काल में सबलवाय का आरंभ में ही पता लगाना तथा उनका उपचार करना सभी चिकित्सा कर्मियों के लिए एक बुनियादी काम है। आँख को चोट से बचाना उसका उपचार करना, अपवर्तन दोष से पीड़ित बच्चों का समय से पता लगाना और औषधालय में उनका उपचार करना, तिर्यकदृष्टि का समय से पता लगाना और उसका उपचार तथा रोहों के रोग का उन्मूलन और निरोध भी एक बुनियादी काम है।

दृष्टि के अंग की शरीर-रचना और शरीर क्रिया विज्ञान संबंधी संक्षिप्त तथ्य

दृष्टि-अंग की शरीर-रचना

दृष्टि अंग में तीन भाग होते हैं (चित्र 132): (1) नेत्र-गोलक (2) आंख को मस्तिष्क, अवप्रान्तस्था और प्रान्तस्था के केन्द्रों से जोड़ने वाले तंत्रिका-पथ,

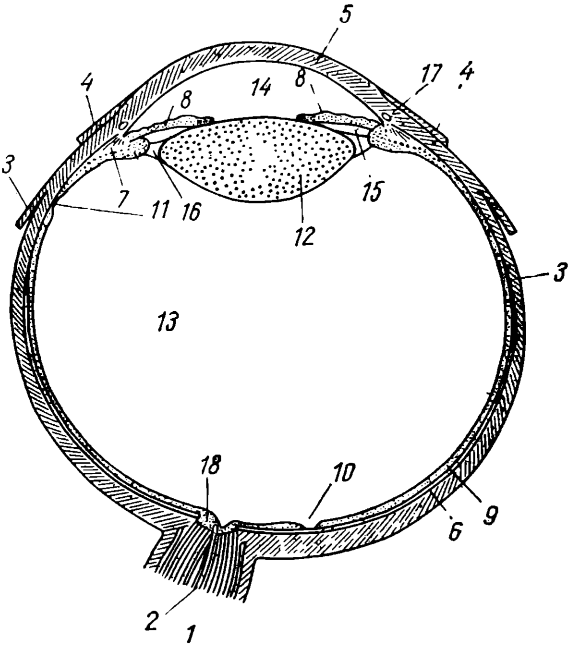


चित्र 132. नेत्र गुहा का लम्ब परिच्छेद और इसके द्रव्य।

1. किरीट, 2. परितारिका, 3. अग्रकक्ष, 4. क्रिस्टलीय लेन्स, 5 और 6. रोमक-पिण्ड, 7. श्वेतपटल, 8. काचाभ पिण्ड, 9. पेशियाँ, 10. दृष्टि तंत्रिका, 11. पलकें, 12 और 13. परानासाविवर, 14. गुहिय स्थियां और प्रावर्णी, 15. वसीय कोशिकीय तंतु, 16. ऊर्ध्व पेशीय नेत्रच्छद उन्नायक, 17. पलकों की पेशी कला, 18. नेत्रगोलक की पेशी कला, 19. टेननप्रावर्णी, 20. वर्तम नेत्रगुहा प्रावर्णी।

(3) अपर या रक्षात्मक उपकरण (नेत्रगुहा, पलकें, श्लेष्मल कला और अश्रुअंग)।

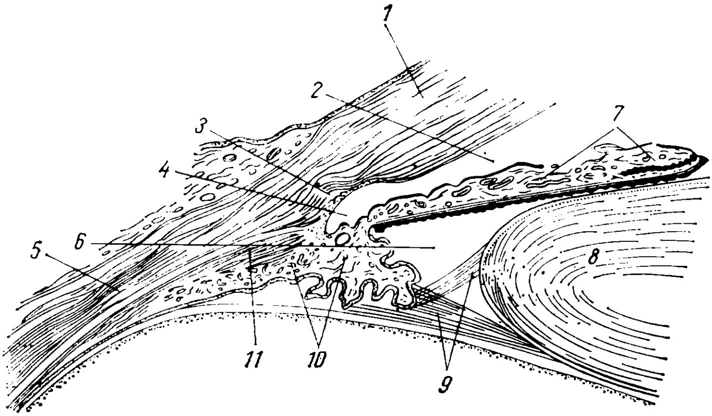
नेत्र-गोलक. आकार में लगभग गोल होता है पर सामने की ओर अधिक उत्तल होता है। इसमें तीन पर्तें और द्रव्य होता है (चित्र 133) बाहरी पर्त में श्वेत पटल होता है जो कि सफेद और मोटा होता है पर पारदर्शक नहीं। और किरीट सामने का पारदर्शक और अधिक उत्तल भाग होता है। किरीटपर्त पारदर्शक, दर्पण-सदृश्य, चमकदार, वाहिका-रहित और अति संवेदनशील भाग है। इसके द्वारा प्रकाश की किरणें नेत्र गोलक में आती हैं; यह उनके एक भाग का अपवर्तन करता है तथा अन्य का परावर्तन। जिस स्थान पर श्वेत पटल किरीट से मिलता है उसे लिम्बस (किनारी) कहते हैं। नेत्रगुहा में कोणीय कक्षा के अग्र भाग की बाह्य भित्ति लिम्बस के अनुरूप होती है। इस कोण में शिरा-विवर होता है जिसे श्लेष्म-पथ कहते हैं (चित्र 134)। यह नेत्र में अंतरक्षि तरल का मुख्य निकास मार्ग है। अग्र कक्ष कोण की आंतरिक भित्ति परितारिका के तल और रोमक पिंड की बनी होती है। आँख के पश्च छोर पर श्वेत पटल चालनीवत फलक की तरह पतला हो जाता है, जिसके छेदों से दृष्टि स्नायु बनाने वाले तंतु गोलक में प्रविष्ट होते हैं।



चित्र 133. नेत्रगोलक का क्षैतिज भाग।
1. दृष्टि तंत्रिका, 2. दृष्टि तंत्रिका में रक्तवाहिकाएँ, 3. श्वेतपटल, 4. श्वेत पटलीय नेत्र श्लेषमला, 5. किरीट, 6. कोरायड, 7. रोमकपिण्ड, 8. परितारिका, 9. दृष्टि-पटल, 10. दृष्टिपटल की केन्द्रीय गर्तिका, 11. रोमक प्रवर्द्ध, 12. लेंस, 13. काचाभ पिण्ड, 14. अग्र पक्ष, 15. पश्च पक्ष, 16. निलम्बी स्नायु, 17. लिम्बरा, 18. चालनीवत फलक।

श्वेत पटल को बेध कर गोलक में स्थित वाहिका मय कला में धमनियों का प्रवेश और शिराओं का निकास होता है।

वाहिकामय कला. वाहिकाओं का संग्रह है, जो श्वेत पटल के अंदरस्थित है और तीन भागों में बंटा हुआ है: परितारिका, रोमक पिंड और वाहिकामय कला जिसे रंजित पटल (कोरायड) कहते हैं (देखिये चित्र 133 और 134)। परितारिका किरीट से होकर दिखायी पड़ती है। यह अग्र कक्ष (किरीट और परितारिका के बीच के स्थान) को पश्च कक्ष (परितारिका और ताल के बीच में गोल द्वार होता है जिसे तारा कहते हैं, जो कि वर्तुलपेशी तंतु से संकुचित होती है और अरीय पेशी तन्तु से विस्फारित होती है। तारे के आकार में इन परिवर्तनों से प्रकाश का अंतर-प्रवाह नियंत्रण होता है। नेत्रोद पश्चकक्ष से अग्र कक्ष में तारे के द्वारा प्रवाहित होता है। आँख के रंग का पता परितारिका के रंग से चलता है। परितारिका का रंग इसमें वर्णक की मात्रा पर निर्भर करता है। परितारिका रोमक पिंड के उस भाग

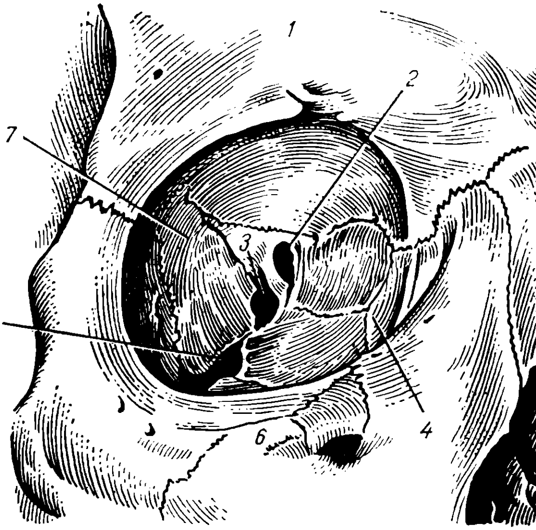


चित्र 134. अग्र कक्ष का कोण से दीखने वाला भाग।

1. किरीट, 2. अग्र कक्ष, 3. श्लेम पथ, 4. अग्र कक्ष का कोण, 5. श्वेत पटल, 6. पश्च कक्ष, 7. परितारिका, 8. लेन्स, 9. निलम्बी स्नायु, 10. और 11. रोमक पिण्ड।

से जुड़ी होती है जो लिम्बस के भाग के अनुरूप होती है। रोमक पिंड का आकार एक मुद्रिका के समान है। इसका अनुदैर्घ्य परिच्छेदन एक त्रिभुज के आकार में होता है तथा श्वेत पटल से लगा हुआ होता है। रोमक पिंड से अंतरक्षि तरल निकलता रहता है। इस पिंड में रोमक पेशियाँ होती हैं जो तारे के कैप्सूल से झिन स्नायुओं के द्वारा जुड़ी होती हैं और ताल के साथ संमंजन की क्रिया करती हैं। कोरायड दृष्टि पटल की बाहरी सतह पर रक्त की आपूर्ति करता है। इसमें वर्णक युक्त उपकला भी होती है जहाँ पर दृष्टि क्रिया के लिए आवश्यक सम्मिश्र प्रक्रिया निरंतर होती रहती है। वाहिका भित्ति में तंत्रिका संग्राहकों के मौजूद होने की वजह से अंतरक्षि दाब को कोरायड संयमित करता रहता है (दे० पृ 402)।

दृष्टि पटल आँख का सबसे नीचे वाला कोट है जो कोरायड को रोमकपिंड की सीध में रखता है। इस महीन पारदर्शी कला में दस पर्तें होती हैं जो तीन तंत्रिका-कोशिकाओं और इनके पारस्परिक जोड़ों से बनी होती हैं (चित्र 135)। दृष्टि-पटल का प्रकाश-सुग्राही दृष्टि-भाग वर्णकयुक्त उपकला और शंकु तथा शलाकाओं का बना होता है। यह दृष्टि कोशिकाओं का प्रवर्ध है, जहाँ से प्रकाश का बोध जटिल प्रकाश-रासायनिक क्रिया के द्वारा होता है। दूसरी तंत्रिका-कोशिका (द्विध्रुवी कोशिकाओं की पर्त) और तीसरी तंत्रिका-कोशिका (गंडिका कोशिकाओं की पर्त) प्रकाश क्षोभ को तंत्रिका उद्दीपक के रूप में दृष्टिस्नायु तक संचारित करती है। शंकुओं के द्वारा चमकीले प्रकाश, वस्तु के आकार और रंग का बोध होता है और शालाकाओं के द्वारा वस्तुओं की गति और केवल हल्के प्रकाश का बोध होता है।

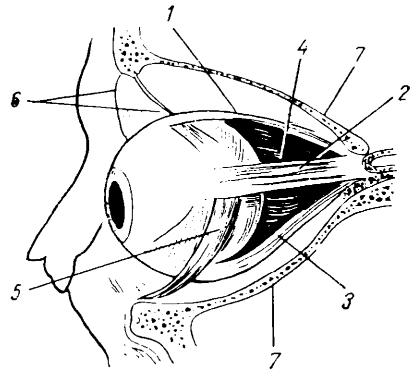


चित्र 136. नेत्रगोलक की अस्थिय भित्तियाँ।
1. ललाटीय अस्थि, 2. दृष्टिपथ, 3. ऊर्ध्व नेत्रगोलक विदर, 4. अश्रुकोश खात, 5. हनुनेत्रगोलक विदर, 6. ऊर्ध्व हनु, 7. अश्रुग्रंथियों का अवसाद।

नेत्र-प्रेरक, चक्रक और अपवर्तनी तंत्रिकाएँ प्रथम के निकट के दूसरे छिद्र (द्वार) के द्वारा नेत्र गुहा में प्रवेश करती है तथा आँख की बाह्य पेशियों में उर्ध्व नेत्रगुहा विदर के द्वारा प्रवेश करती है और तंत्रिका प्रेरित करती है। त्रिधारा तंत्रिका की दृष्टि शाखा उनके साथ आगे बढ़ती है जबकि बायीं शिरा यहाँ से होती हुई करोटि गुहा में जाती है। ये शिराएँ नेत्र और इसको अपर संरचनाओं को वाहिकाओं से रक्त ले जाती हैं। नेत्रगुहा के अधि पार्श्व भाग में अश्रु ग्रन्थि को गर्तिका होती है। नेत्र गुहा की मध्यवर्ती भित्ति में अश्रुकोश के लिए आवास होता है जो कि नासात्रु नलिका से जुड़ी होती है। नेत्रगोलक नेत्रगुहा के अगले एक तिहाई भाग में स्थित होता है; बाकी दो तिहाई भाग में वसोय कोशिकोय ऊतक, वाहिकाएँ तंत्रिकाएँ और पेशियाँ होती हैं।

पेशी तंत्र में आँख की बाह्य और आंतरिक पेशियाँ होती हैं। छः बाह्य पेशियाँ—चार सरल पेशियाँ (ऊर्ध्व, अधो, मध्यवर्ती और पार्श्व सम पेशियाँ) और दो तिर्यक पेशियाँ (ऊर्ध्व और अधः) नेत्र गोलक को सचल बनाये रखती हैं। अधो तिर्यक पेशी के अलावा सभी पेशियाँ नेत्रगुहा के शिखर की कंडरा वलय से क्रियाशील होती हैं। ये (पेशियाँ) इस वलय से फाटक कर एक पेशीय कोप बनाती हैं और लिम्बस से अलग-अलग दूरी पर श्वेत पटल में निवेश करती हैं। निचली तिर्यक पेशी की शुरुआत अधोस्थिक नेत्र गुहा की निचली आंतरिक किनारी से होती है। (चित्र

137)। शरीर क्रिया के अनुसार इन पेशियों को निम्न में उपविभाजित किया जाता है : (1) पार्श्व-सम और दो तिर्यक पेशियाँ जो नेत्र गोलक का अपर्वतन करती हैं। (2) मध्यवर्ती, ऊर्ध्व और अधः समपेशी जो नेत्र गोलक का अपवर्तन करती हैं। (3) ऊर्ध्व सम और अधः तिर्यक पेशी जो कि नेत्र गोलक को ऊपर की ओर घुमाती है। (4) अधः सम और ऊर्ध्व तिर्यक पेशी जो नेत्र गोलक को नीचे की ओर घुमाती है। नेत्र की प्रत्येक गति में पेशियों का एक समूह भाग लेता है। प्रत्येक आँख की प्रतिद्विनेत्री दृष्टि में दृष्टिपटल पर बनने वाले प्रतिबिम्बों को मिलाने के लिए पेशियों की मिली-जुली क्रिया अपरिहार्य है।



चित्र 137. नेत्र की पेशियाँ। 1. समोदरिका पेशी, 2. पार्श्व सीधी पेशी, 3. हनु सीधी पेशी, 4. मध्य सीधी पेशी, 5. हनुवक्र पेशी, 6. ऊर्ध्व वक्र पेशी, 7. नेत्रगोलक की अस्थिय भित्तियाँ।

आँख की आंतरिक पेशियाँ, जिनमें पुतली के विस्फारण और संकोचन की पेशियाँ भी शामिल हैं, परितारिका में स्थित होती हैं। रोमक पिंड में रोमक पेशी होती है जो कि संमजन में भाग लेती है।

पलकें नेत्र गुहा के पार्श्व और मध्यवर्ती सिरों को मिलाने वाली पेशी और त्वचा की दोहरी पर्तें हैं। सोते समय पलकें आँखों की रक्षा करती हैं। तेज प्रकाश के प्रभाव को कम करती हैं तथा आँखों को धूल पड़ने तथा चोट लगने से बचाती हैं। पलक झपकने से छोटे आगंतुक कण आँख की सतह से निकल जाते हैं तथा नेत्र गोलक की सभी सतह पर समान आर्द्रता बनी रहती है। नेत्रच्छद विदरक के मध्यवर्ती कोण पर थोड़ा सा उभार होता है जिसे अश्रु मासान्कुल कहते हैं। यह नेत्र श्लेष्मा की अर्ध-चंद्रीय पर्त तक सीमित होता है, जिसे अश्रुसर या अश्रुसरोवर कहते हैं। पलकों की त्वचा बहुत ही पतली और कोमल होती है जो वसीय कोशिका तन्तुओं से रहित होती है। त्वचा के नीचे आँख की शर्करा पेशी का नेत्रच्छद भाग होता है, जिसे मस्कुलस आर्विकुलेरिस आकुलाई कहते हैं। यह नेत्रच्छद विदर के मध्यवर्ती कोण से उठकर एक वृत्त बनाता है और फिर नेत्रच्छद और संयोजिका के मध्यवर्ती पार्श्व भाग को नेत्र की किनारियों से जोड़ता है। पेशियाँ पलक को बन्द करती हैं। और यह आननतंत्रिका से प्रेरित होती है।

शर्करा पेशी का नेत्रच्छद भाग उपास्थि पर स्थित होता है। पलकों के किनारों से स्रावित होने वाला इनका वसीय स्राव नेत्रगोलक और पलकों के किनारों को अच्छी

तरह चिपकाता है और पलकों की किनारी से आँसू नहीं निकलने देता है। पलकों के रोमीय सिरों पर उपास्थि होती है। ऊपरी पलक को उठाने वाली पेशी उपास्थि, त्वचा और पलक की श्लेष्मल कला की ऊपरी किनारी पर निवेशित होती है, जो नेत्र प्रेरक तंत्रिका की एक छोटी शाखा से प्रेरित होती है। इस तंत्रिका के अंगघात से पलक में शिथिलता आ जाती है जिसे वर्त्मपात कहते हैं। पलक की अग्र किनारी के पास वसीय ग्रंथियाँ और पपनियों की दो-तीन कतारें होती हैं।

अन्दर की ओर से पलकें श्लेष्मल कला (नेत्र श्लेष्मला) की सीध में होती हैं। यह नेत्र गोलक से होते हुए नेत्रगोलक की श्लेष्मला तक बनी होती है। श्लेष्मल कला किरीट और लिम्बस के किनारे तक फैली होती है। पलक से नेत्रगोलक तक परावर्तन की रेखा को नेत्रश्लेष्मला तोरणिका कहते हैं। जब पलक को बन्द करते हैं, तो श्लेष्मला एक बन्द गुहिका का रूप ले लेती है जिसे नेत्रश्लेष्मला कोश कहते हैं, जो पलक और नेत्रगोलक के बीच एक संकीर्ण विदर होता है।

नेत्रगोलक और इसके संरक्षी उपकरण के लिए रक्त की आपूर्ति नेत्र धमनी से होती है। नेत्र धमनी आन्तरिक कैरोटिड धमनी की शाखा है। नेत्र धमनी से निकलने वाली अलग-अलग शाखाएँ पेशियों, पलकों और अश्रु के अंगों तक पहुँचती हैं। मध्य रेख के पीछे वाली पश्च रोमक धमनियाँ और इसके सामने वाली अग्ररोमक धमनियाँ आँख में असितपल्ल तक पहुँचती हैं। केन्द्रीय दृष्टिपटल धमनी नेत्र के दृष्टिचक्र के भाग में से गुजरती है और फिर छोटी-छोटी वाहिकाओं में बंट जाती है (देखिये प्लेट X)।

पर्याणिका के दोनों तरफ कोटरों में स्थित गह्वर शिरानाल में विभिन्न नेत्र शिराओं की रक्त नलिकाएँ खुलती हैं।

नेत्र और इसकी सहायक संरचनाओं का संवेदी तंत्रिका वितरण त्रिधारा तंत्रिका की पहली शाखा से होता है। नेत्र प्रेरक तंत्रिका से नेत्र प्रेरित होता है। चक्रक और अपवर्तनी कपाल तंत्रिकाओं के द्वारा नेत्र की बाह्य पेशियों में तंत्रिका वितरण होता है। पुतली को विस्तृत करने वाली पेशियों में स्फूर्तन अनुकंपी तंत्रिका तंतु करते हैं और उसे संकुचित करने वाली पेशियों में—परानुकंपी तंत्रिका तंतु।

दृष्टि अंग का शरीरक्रियाविज्ञान

नेत्र द्वारा निम्नलिखित मुख्य दृष्टि संबंधी क्रिया होती हैं: वस्तु के प्रकाश, रंग और आकार तथा उनकी स्थिति का बोध होता है; धुंधलके (हल्के प्रकाश) और रात्रि में, तथा विभिन्न दूरियों पर स्थित वस्तुओं को साफ देखा जाता है।

नेत्र की क्रियाएं परस्पर सम्बन्धित होती हैं और इनका नियंत्रण केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र से होता है। इसके फलस्वरूप हमें अपने चारों ओर के संसार का बोध होता है। यह दृष्टि की एक क्रिया है—देखने की क्रिया, जो निम्न ढंग से होती है। जो

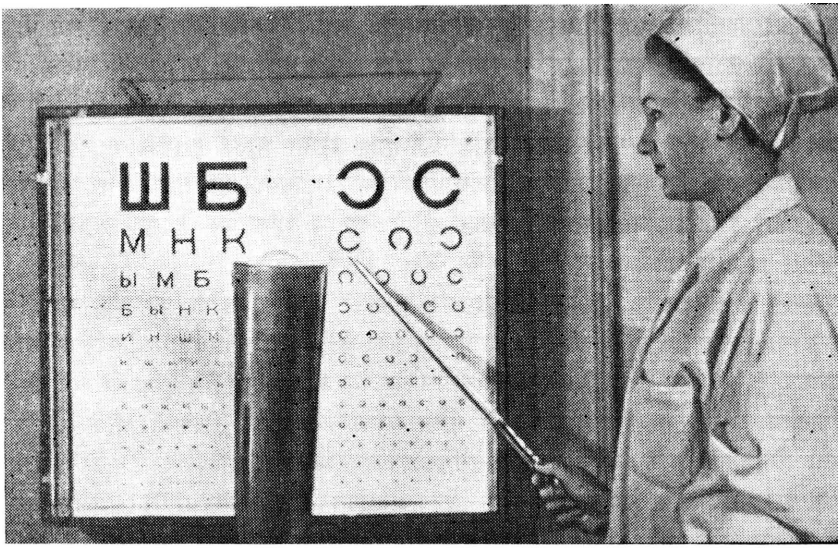
वस्तु देखी जाती है पहले उससे परावर्तित होने वाली प्रकाश की किरणों का नेत्र के पारदर्शी माध्यम द्वारा अपवर्तन होता है और इसके बाद ये किरणें दृष्टिपटल पर पड़ती हैं वर्णक उपकला, शलाकाओं और शंकुओं की पर्तों में दृश्य पदार्थ का विघटन होता है, जिसके फलस्वरूप थोड़ा आयनिक क्षेत्र प्रेक्षित होता है। आयन की एक निश्चित सान्द्रता पर इस क्षेत्र की शलाकाओं और शंकुओं को तंत्रिका से उद्दीपक प्राप्त होता है, जिसका संचरण जैव-धाराओं के रूप में दृष्टि पथ के सहारे प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था तक होता है और तभी दृष्टि बोध होता है।

क्रियात्मक दृष्टिकोण से प्रकाशग्राही या (बोधी) दृष्टि पटल को दो भागों में बांटा जा सकता है: केन्द्रीय (पीतबिन्दु का क्षेत्र) और दूसरा परिसरीय भाग (दृष्टिपटल की शेष सतह)। इसके अनुसार केन्द्रीय और **परिसरीय दृष्टि** में अन्तर है।

केन्द्रीय दृष्टि को दृष्टि तीक्ष्णता से नापा जाता है। **दृष्टि तीक्ष्णता** आँख की वह क्षमता है जिसके द्वारा दृष्टि के सूक्ष्मतम कोण पर अन्तरित दो बिन्दुओं को पहचाना जाता है। यदि 60 सेकेंड (कोण) पर अन्तरित दोनों बिन्दुओं को अलग-अलग पहचाना जा सके तो, दृष्टि तीक्ष्णता को सामान्य माना जाता है, अथवा इसे कहते हैं कि दृष्टि-तीक्ष्णता 1.0 के बराबर है।

शिशुओं के जीवन के पहले कुछ दिनों में दृष्टि-तीक्ष्णता बहुत ही कम होती है, जो उनके जीवन के हर हफ्ते और हर महीने बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे बढ़कर दृष्टि-तीक्ष्णता औसतन 6 से 7 वर्ष की अवस्था तक उच्चतम सीमा तक पहुँच जाती है।

दृष्टि-तीक्ष्णता की जाँच के लिए चार्टों का प्रयोग किया जाता है। इन चार्टों में काले अक्षरों, चिन्हों या रेखाचित्रों की पंक्तियाँ होती हैं। इन चिन्हों, अक्षरों, इत्यादि का एक निश्चित आकार होता है जो इस बात पर निर्भर करता है कि इसे सामान्यत: कितनी दूरी से पढ़ते हैं। ये अक्षर, चिन्ह और रेखा चित्र ऊपर की पंक्ति से नीचे की ओर क्रमशः आकार में छोटे होते जाते हैं। एक पंक्ति से उसकी दूसरी पंक्ति में 0.1 की दृष्टि-तीक्ष्णता का अन्तर होता है। इन चार्टों को एक विशेष प्रकार के बक्से में (रोथ उपकरण में) बन्द किया जाता है और उसको 40 वाट के बल्ब से प्रकाशित करते हैं। व्यक्ति को मेज से 5 मीटर की दूरी पर बैठाकर दोनों आँखों की दृष्टि-तीक्ष्णता को अलग-अलग एक आँख बन्द करके जाँचा जाता है। परीक्षण चार्ट के अक्षरों को ऊपर से नीचे के क्रम में निर्देश-दण्ड द्वारा इंगित करता है (चित्र 138)। दृष्टि-तीक्ष्णता का पता इस बात से लगता है कि व्यक्ति अन्तिम पंक्ति के सबसे छोटे शब्दों को सही ढंग से पहचान सके। यदि वह शब्दों की केवल पहली ही पंक्ति को देख सके तो उसकी दृष्टि-तीक्ष्णता 0.1 होगी। यदि वह पाँचवीं पंक्ति को पढ़ सके तो दृष्टि-तीक्ष्णता 0.5 होगी। यदि दसवीं पंक्ति को पढ़ सके तो दृष्टि तीक्ष्णता 1.0 होगी। इस चार्ट के द्वारा दृष्टि-तीक्ष्णता किसी भी दूरी से जाँची जा सकती है। किसी भी दूरी से दृष्टितीक्ष्णता को नापने के लिए उस व्यक्ति की मेज से दूरी को सामान्य दृष्टि-तीक्ष्णता वाले व्यक्ति की उस पंक्ति को देखने



चित्र 138. नेत्र तीक्ष्णता को ज्ञात करना।

की दूरी से भाग दिया जाता है। इसे एक सूत्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है: $v = \frac{d}{D}$, जहाँ v दृष्टि-तीक्ष्णता है, d व्यक्ति की मेज से दूरी, और D वह दूरी है जिससे उसे इस पंक्ति को सामान्यतः पढ़ने में सक्षम होना चाहिए। यदि वह व्यक्ति पहली पंक्ति को 3 मीटर की दूरी से देख पाता है जो सामान्य व्यक्ति को 50 मीटर की दूरी से दिखनी चाहिए तो दृष्टि की तीक्ष्णता 3/50 = 0.06 है न कि 0.1, जो सामान्य तीक्ष्णता वाला व्यक्ति के मामले में होता जो 5 मीटर की दूरी से पहली पंक्ति को देख पाता है।

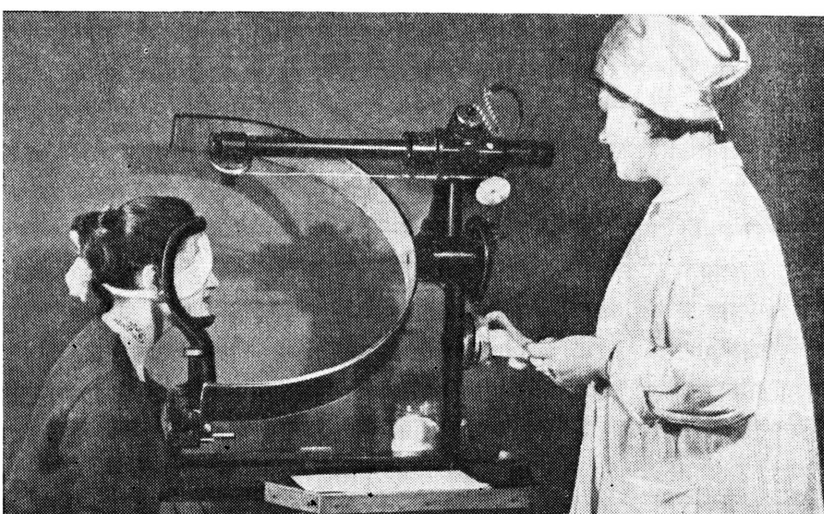
यदि दृष्टि तीक्ष्णता 0.1 से कम है तो व्यक्ति को चार्ट से इतनी दूरी पर लाया जाता है कि वह पहली पंक्ति को पढ़ सके और उपरोक्त सूत्र के अनुसार दृष्टि-तीक्ष्णता की गणना की जाती है। यदि व्यक्ति चार्ट की पहली पंक्ति को 1 मीटर की दूरी से देख पाता है तो उसकी दृष्टि तीक्ष्णता 1/50 अर्थात 0.02 है। परीक्षक अपनी अंगुलियों को गिनती के लिए दिखा सकता है। अंगुलियाँ काली पृष्ठभूमि में दिखाई जाती हैं। अंगुलियों की मोटाई चार्ट की प्रथम पंक्ति के चिन्हों की मोटाई के अनुरूप होती हैं। निम्न दृष्टि-तीक्ष्णता वाले व्यक्तियों के मुँह के बहुत पास तक अंगुली लाकर दिखाते हैं या उनकी दृष्टि तीक्ष्णता की जाँच केवल हाथ को हिला कर की जाती है। यदि व्यक्ति हाथ के हिलने तक को न जान सके तो उसके प्रकाश बोध की जाँच अंध कक्ष में की जाती है। हल्के प्रकाश के स्रोत (मोमबत्ती, दृष्टि पटल दर्शी से परावर्तित प्रकाश (देखिए चित्र 146) की किरणें व्यक्ति की एक आँख

को बन्द करके दूसरी आँख पर विभिन्न स्थलों से डाली जाती हैं और उसे व्यक्ति से वह दिशा बताने के लिए कहा जाता है जिस दिशा से प्रकाश आ रहा है। उत्तर सही होने से प्रकाश के सही प्रक्षेपन वाला प्रकाश बोध कहते हैं। यदि व्यक्ति को प्रकाश का तो पता लगता है पर वह नहीं बता सकता है कि प्रकाश किस दिशा से आ रहा है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसमें प्रकाश का दोषपूर्ण प्रक्षेपण है। यदि उसे प्रकाश बिलकुल ही नहीं दिखता है तो उसकी दृष्टि-तीक्ष्णता शून्य है, अर्थात यह पूर्ण अन्धता है। यदि व्यक्ति को प्रकाश बोध होता है तो उसका उपचार सफल हो सकता है। सफल उपचार के लिए पूर्वानुमान लगाया जा सकता है अथवा शस्त्रकर्म सफल हो सकता है।

परिसरीय दृष्टि के द्वारा निम्न तीव्रता वाले प्रकाश का बोध होता है। इसे मन्द-द्युतिक दृष्टि कहते हैं। यह अवकाश में दिकविन्यास की क्षमता वाली केन्द्रीय दृष्टि-क्रिया का पूरक होती है। अवकाश का वह भाग जो अचल वस्तु पर दृष्टि स्थिर करके एक आँख से दिखाई देता है, उसे दृष्टि क्षेत्र कहते हैं।

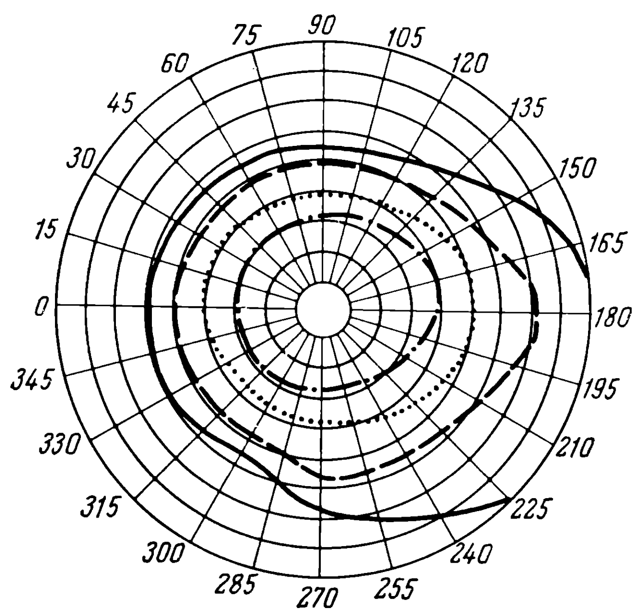
परिसरीय दृष्टि के महत्त्व का अनुमान व्यक्ति को तब हो सकता है जब वह परि-सरीय दृष्टि से मुक्त होने के लिए आँखों के सामने संकीर्ण नलिकाएँ या बाइनाकुलर लगाकर चलने का प्रयास करे। केन्द्रीय दृष्टि सर्वोत्तम होने के बावजूद भी आगे चलना कठिन होगा या प्रायः असम्भव होगा।

दृष्टि क्षेत्र का परिक्षण एक विशेष उपकरण से किया जाता है जिसे परिमापी कहते हैं (चित्र 139) यह एक समायोजित चाप होता है जिसके बीच में 0 और सिरों



चित्र 139. पेरीमीटर पर दृष्टि क्षेत्र का ज्ञात करना।

पर 90 डिग्री के निशान लगे होते हैं। व्यक्ति की एक आँख ढाँप कर ऐसे बिठाते हैं जैसे चित्र में दर्शाया गया है और उसे चाप के केन्द्र पर दृष्टि को स्थिर करने को कहा जाता है। परीक्षक काले निर्देशक को परिसर से केन्द्र की ओर ले जाता है। निर्देशक पर एक निशान होता है, जो अधिकतर 5 मीटर लम्बा होता है तथा यह रंगीन (सफेद, लाल, हरा, या नीला) होता है। जिस बिन्दु पर व्यक्ति परिमापी के चाप के परिसर पर वस्तु को पहचानना शुरू करता है, उसकी स्थिति चापर, क्षौतिज, लम्बीय या तिर्यक हो सकती है। इससे अभिदिष्ट याम्बोत्तर की परिसीमा को ज्ञात किया जाता है। दृष्टि क्षेत्र की परिसीमा को पहले श्वेत रंग के लिए ज्ञात करते हैं और यदि आवश्यक हो तो लाल, हरे और नीले रंग के लिए ज्ञात करते हैं। दृष्टि क्षेत्र की परिसीमा को अंशों में अभिव्यक्त करते हैं तथा इसे विशेष आरेख पर अंकित करते हैं (चित्र 140)। दृष्टि क्षेत्र में परिवर्तन की अभिव्यक्ति परिसीमा को संकीर्ण करके या कुछ क्षेत्रों में दृष्टि का लोप करके (अंध क्षेत्र) अथवा आधे क्षेत्र में दृष्टि लोप करके (अर्धदृष्टिता) द्वारा की जा सकती है।



चित्र 140. सामान्य दृष्टि क्षेत्र की परिसीमाएँ जिनका पता सफेद रेखाओं–नीली (टूटी हुई रेखा), लाल बिन्दुकित रेखाएँ और हरी (डैस और डाटरेखाएँ) – से चलता है।

नेत्र रोगों का निदान करने में और विशेष कर केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के रोगों का पता लगाने के लिए दृष्टि क्षेत्र के दोष का पता लगाना बहुत महत्वपूर्ण है।

यदि ऐसा कोई परिमापी उपलब्ध न हो तो दृष्टि क्षेत्र की हालत का पता नियंत्रण विधि द्वारा किया जाता है। चिकित्सक उस व्यक्ति को अपने सामने बिठाता जिसकी जाँच करनी है। व्यक्ति को ऐसे बिठाया जाता है कि उसकी आँखें और चिकित्सक की आँखें एक ही स्तर पर रहें। दोनों अपनी एक आँख को इस प्रकार बन्द करते हैं कि उस व्यक्ति की बायीं आँख चिकित्सक की दायीं आँख में लगी रहे और व्यक्ति की दायीं से चिकित्सक की बायीं आँख में देखे। चिकित्सक अपनी अंगुलियों या किसी वस्तु को केन्द्र से परिसर की ओर अपने और उस व्यक्ति से बराबर की दूरी पर चलाता है। और उन क्षणों को नोट करता है जबकि ये दृष्टि के क्षेत्र में दिखाई दें। इस जाँच के लिए एक अपरिहार्य शर्त है कि परिक्षक की दृष्टि सामान्य हो।

दृष्टि क्षेत्र के केन्द्रीय भाग और दृष्टि-लोपता के भागों की जाँच एक तल पर की जाती है। इस विधि को दृष्टि केन्द्र क्षेत्रमापन कहते हैं।

रंग दृष्टि. रंग का बोध (विभिन्न तरंग-दैर्ध्य वाली किरणों का बोध) होना भी केन्द्रीय दृष्टि का काम है। रंग दृष्टि का न होना या कमजोर होना एक जन्मजात दोष भी हो सकता है; नेत्र और इसकी क्रियाओं में परिवर्तन (विकार) होना कोई आवश्यक नहीं है। रंग दृष्टि का दोष दृष्टि पटल के मध्य भाग के रोगों या दृष्टि पथ और प्रमस्तिष्क प्रान्तःस्था में रोग संचरण के फलस्वरूप भी हो सकता है।

दृष्टि विश्लेषण के द्वारा विभिन्न आभा, चमक और संतृप्ति वाले रंगों को पहचाना जा सकता है तथा तीन मूल रंगों को मिलाकर उनमें होने वाली आभाओं को भी पहचाना जा सकता है। लाल, हरा और नीला—ये तीन मूल रंग हैं। इसलिए सामान्य रंग दृष्टि वाले व्यक्ति को **त्रिवर्ण दृष्टिक** कहते हैं। दृष्टिपटल शंकु के रंगबोध करने वाले तीन घटकों की एक साथ सामान्य क्रिया से रंगों का सही बोध होना सम्भव है। यदि इनमें से एक घटक भी कम है तो बाकी घटकों की बोध-क्षमता में विघ्न पड़ जाता है। ऐसे व्यक्ति को **द्विवर्ण दृष्टिक** कहते हैं। वर्णक क्रम के लाल भाग का बोध होने की असमर्थता को लाल **वर्णान्धता** कहते हैं और हरे भाग के बोध की असमर्थता को हरित **वर्णान्धता** तथा नीले भाग की असमर्थता को **नीलवर्ण-अन्धता** कहते हैं। रंग बोध की कमजोरी होने को वर्ण असंगति कहते हैं। व्यक्ति को जिस रंग का पूर्णरूप से बोध नहीं होता है, उसी के अनुसार लाल वर्ण असंगति, हरावर्ण असंगति तथा नीला वर्ण असंगति होती है। वर्ण असंगति और वर्ण अन्धता से पीड़ित व्यक्तियों को स्वयं यह नहीं पता होता है कि उनमें यह दोष है, क्योंकि रंग की चमक और संतृप्ति के अनुसार वे इनमें कुछ अंतर देख सकते हैं। वर्ण बोध के विकारों का पता विशेष चार्टों के प्रयोग से किया जाता है। ये चार्ट ई० वी० राबकिन और ई-ती-हारा द्वारा संकलित किये गये हैं, जिसमें कि छोटे-छोटे वृत्त (प्लैट XI) बने हुए हैं, जिनकी चमक और संतृप्ति बराबर है तथा संख्याएँ और आरेख बनायी गयी है। वर्ण अन्धता या वर्ण असंगति से पीड़ित व्यक्ति

इन चार्टों में छिपे हुए चिन्हों और आरेखों को पहचानने का प्रयत्न करता है। परन्तु उन सब चिन्हों को नहीं देख पाता है जो कि एक दृष्टिक व्यक्ति पढ़ सकता है।

यह जाँच दिन की रोशनी में की जाती है। ये चार्ट भली प्रकार प्रदीप्त होने चाहिए। जिस व्यक्ति की जाँच करनी है उसे इनमें से प्रत्येक चार्ट एक मीटर की दूरी से 10 से 20 सेकेंड के लिए दिखाया जाता है। इन चार्टों के साथ में दी गयी व्याख्या से पता लगता है कि त्रिवर्ण दृष्टिक इस चार्ट को कैसे पढ़ेगा तथा वर्णबोध के विभिन्न विकारों से पीड़ित व्यक्ति इनमें से प्रत्येक चार्ट को किस तरह पढ़ेगा। इस प्रकार से यह सुनिश्चित हो जाता है कि विकार किस प्रकार का है। वर्णों को पहचानने की क्षमता की जाँच उन सभी व्यक्तियों के लिए की जाती है जो किसी भी प्रकार के परिवहन के साधनों पर काम करते हैं या ऐसे उत्पादनों में काम करते हैं जहाँ कि रंग का पहचानना आवश्यक है। सेना सेवा की विशिष्ट शाखाओं के लिए चुने गये लोगों की भी ऐसी जाँच की जाती है।

प्रकाश बोध—प्रकाश की चमक के विभिन्न अंशों का बोध है। यहाँ सर्वविदित है कि मनुष्य दिन की रोशनी में, तथा रात में भी देख सकता है। दूसरे शब्दों में, वह प्रदीपन की विभिन्न तीव्रता वाली परिस्थितियों में भी देख सकता है। प्रकाश से अंधेरे या अंधेरे से प्रकाश में जाने पर आस-पास की चीजों को पहचानने में थोड़े समय की आवश्यकता होती है। प्रदीपन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार आँख की (अपना समंजन करने की) क्षमता का, प्रकाश या अन्धकार के प्रति अनुकूलन का, मूल रूप से व्यावहारिक महत्त्व है। समकूलन का अध्ययन एक विशेष उपकरण से किया जाता है, जिसे अनुकूलनमापी कहते हैं। इसके द्वारा न्यूनतम प्रकाश बोध की वापसी गति को ज्ञात किया जाता है (इसे चमकीले प्रकाश स्रोत को आँख के सामने लाने के बाद किया जाता है)। अनुकूलनमापी से समय की भी गणना की जाती है, जिसमें प्रकाश सुग्राहिता अपने सामान्य स्तर पर वापस आती है।

अन्धकार अनुकूलन के निर्बल होने को रतौंधी कहते हैं। अन्धकार या कम प्रकाश में अभिविन्यास के असम्भव होने या कठिनाई होने से रतौंधी की अभिव्यक्ति होती है। स्थिर या प्रगामी रतौंधी कुछ ऐसे रोगियों में होती है, जो दृष्टि पटल, दृष्टि स्नायु, केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र और जिगर के रोग से पीड़ित हों। अनुकूलन में स्थायी उपद्रव अल्प या अविटामिनता से होते हैं। इसका निवारण कोड लीवर आयल, विटामिन ए और ई या इन विटामिनों से प्रचुर भोजन (मक्खन, गाजर, लीवर) देकर किया जाता है। विभिन्न रोगों के निदान के लिए तथा कम रोशनी वाली परिस्थितियों में काम करने वाले व्यक्तियों के व्यावसायिक चयन के लिए उनके प्रकाश बोध का अध्ययन करना आवश्यक है।

द्विनेत्री दृष्टि. दोनों नेत्रों से अलग-अलग प्राप्त दृष्टि-बोध को एक में मिलाने की दृष्टि विश्लेषक की क्षमता ही द्विनेत्री दृष्टि की सहज प्रवृत्ति है। द्विनेत्री दृष्टि वस्तु का आकार उनकी गहराई, उन पर उभार और गड्ढे, व्योम में विभिन्न वस्तुओं की

सापेक्षिक स्थितियां आदि दिखाने में समर्थ होती है। द्विनेत्री दृष्टि से ही वस्तु और देखने वाले की स्थिति और दूरी को बिलकुल सही ज्ञात किया जा सकता है। ऐसे व्यवसायों (जैसे–पायलट, प्रेसीशन मेकेनिक, रेन्ज फाइनर, इत्यादि) में द्विनेत्री दृष्टि का विशेष महत्त्व है।

द्विनेत्री दृष्टि का निर्धारण त्रिविमदर्शी तथा अन्य विभिन्न उपकरणों द्वारा किया जाता है। यदि दृष्टि सामान्य है तो त्रिविमदर्शी चित्र द्वारा चित्रित वस्तु की स्पष्ट गहराई और आकार दिखाई देता है। द्विनेत्री दृष्टि का पता लगाने का सबसे आसान तरीका निम्नलिखित है। उस व्यक्ति को दो सलाइयाँ (पेंसिल या कलम) दी जाती हैं; अब उससे कहा जाता है कि वह अपने सामने इन्हें क्षैतिज अवस्था में पकड़े रहे और फिर एक सलाई के सिरे को दूसरे सिरे से मिलाये। यदि द्विनेत्री दष्टि अच्छी है तो यह क्रिया बहुत आसानी से की जा सकती है। यदि द्विनेत्री दृष्टि कमजोर है या है ही नहीं तो दोनों सलाइयों के सिरे को मिलाना कठिन होगा।

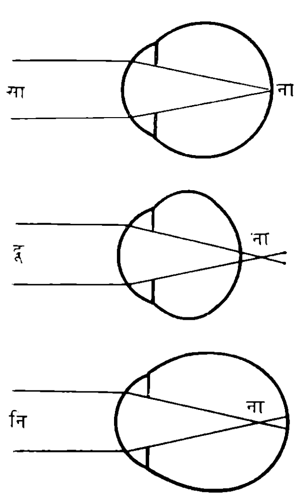
अपवर्तन और समंजन

अपवर्तन और समंजन की संकल्पना

अच्छी सामान्य दृष्टि तभी सम्भव है जबकि अपवर्तन माध्यम पारदर्शक हो तथा सभी दृष्टि तंत्रिका-उपकरण में (प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के पश्च कपाल खण्ड में स्थित दृष्टि पटल से लेकर दृष्टि केन्द्रों तक में) सामान्य क्रिया होती हो, तथा दृष्टि-पटल के केंद्र–पीतबिंदु–में एकदम साफ बिम्ब बनता हो। बिम्ब का बनना आँख की अपवर्तन क्षमता पर निर्भर करता है।

अपवर्तन. यदि हम यह कल्पना करें कि नेत्र का दृष्टि तंत्र (किरीट और लेन्स) एक उभयोत्तल आवर्धन लेन्स है तो हम देखेंगे की इस पर पड़ने वाली प्रकाश की समानान्तर किरणें अपवर्तित होंगी और इससे गुजरते हुए आवर्धनी लेन्स के ऐसे फोकस पर मिलेंगी, जबकि इनकी दूरी लेन्स की क्षमता के अनुकूल हो। लेन्स की दृष्टि-क्षमता एक डाइओप्टर (डी०) के बराबर होगी। यदि फोकस दूरी एक मीटर हो, तो इसका मतलब यह है कि ऐसे लेन्स द्वारा अपवर्तित प्रकाश की समानान्तर किरणें ऐसे फोकस पर मिलेंगी, जिसकी लेन्स से दूरी 1 मीटर हो। लेन्स की क्षमता जितनी ही अधिक होगी फोकस दूरी उतनी ही कम होगी। 5.0 डी० वाले लेन्स की फोकस दूरी 20 सें० मी० $(100:5=20)$ होगी। यदि आंख की सामान्य अपवर्तनीय क्षमता (66.6) हो तो इसका मतलब है कि अपवर्तनीय क्षमता सम्पूर्ण है या नेत्र का **शारीरिक अपवर्तन** सम्पूर्ण है। ऐसी आँख का दृष्टि पटल, जिसके फोकस पर प्रकाश की किरणें मिलती हों दृष्टि तंत्र के केन्द्र से 1.5 सें० मी० या 15 मि० मी० की दूरी पर होना चाहिए। दृष्टि पटल के तल पर नेत्र अक्ष की लम्बाई और

अपवतन तंत्र की क्षमता का परस्पर सम्बन्ध सही होने पर वस्तु के केन्द्र पर स्पष्ट बिम्ब बनता है, यदि वस्तु ऐसी दूरी पर स्थित है जहाँ से प्रकाश की समानान्तर किरणें आँख तक पहुँचती हैं। दृष्टि तंत्र के फोसक तथा नेत्र अक्ष की लम्बाई के अनुपात को **रोग-लक्षण अपवर्तन** कहते हैं। जिस प्रकार के रोग-लक्षण अपवर्तन का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, उसका नेत्र के अपवर्तनी तंत्र और नेत्र गोलक की अक्षीय लम्बाई के सही परस्पर सम्बन्ध को सामान्य दृष्टिता कहते हैं (चित्र 141)। यदि इस परस्पर सम्बन्ध में गड़बड़ हो, अर्थात जबकि आँख की अपवर्तनी क्षमता अधिक हो या अपवर्तन बहुधा होता हो और साथ ही नेत्र गोलक अक्ष अधिक लम्बा हो तो फोकस दूरी पहले से कम होगी और प्रकाश की किरणें दृष्टि पटल के आगे मिलेंगी। ऐसा नेत्र समानान्तर किरणों के बोध के लिए अनुकूल नहीं होता है तथा आँख बहुत दूर की चीज को नहीं देख सकती है। निकट-स्थित वस्तु से आने वाली अपसृत किरणें दृष्टि पटल के फोकस विन्दु पर मिलती हैं जिनके अपवर्तन के लिए अधिक अपवर्तनीय क्षमता आवश्यक है। ऐसी आँख को तब दिखाई देता है जबकि वस्तु उसके निकट हो। ऐसे अपवर्तन को **निकट दृष्टिता** कहते हैं।



चित्र 141. नेत्र में विभिन्न प्रकार के अपवर्तन में समानान्तर किरणों के केन्द्र की स्थिति। सा. सामान्य दृष्टिता, दू. दूरदृष्टिता, नि. निकट दृष्टिता, ना. प्रकाश किरणों का केन्द्र।

यदि समानान्तर किरणों का नेत्र के दृष्टि तंतु से अपवर्तन हल्का होता है, या नेत्र गोलक की अक्षीय लम्बाई विषम रूप से छोटी होती है, तो समानान्तर और नियोजित किरणें ऐसे फोकस पर पड़ती हैं जो कि दृष्टि पटल के पिछले भाग में स्थित होता है। ऐसे अपवर्तन को **दूरदृष्टिता** या **दीर्घदृष्टि** कहते हैं। ऐसे अपवर्तन वाले व्यक्ति बहुधा किसी चीज को बहुत नजदीक से अच्छी तरह देख सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अच्छी तरह देखने के लिए अपनी आँखों की अपवर्तन शक्ति तीव्र करनी होती है (समंजन या दृष्टि-लेन्स के अनुकूल शीशे वाला चश्मा लगाया जाता है)।

एक ही आँख में समान अपवर्तन का मिश्रण हो सकता है भले ही उनकी क्षमता भिन्न हो, या अपवर्तन भी भिन्न हो। इसे **दृष्टि वैषम्य** कहते हैं। किरीट या लेन्स की परस्पर लम्बीय याम्योत्तर की अपवर्तनीय क्षमता भिन्न होने के कारण ऐसा होता है। इसके फलस्वरूप प्रकाश की किरणें नेत्र से अपवर्तन के बाद दृष्टि पटल के फोकस पर मिलती हैं और एकरूप नहीं होती हैं, बल्कि प्रकाश की एक रेखा या अण्डे का

रूप ले लेती हैं। इसलिए चश्मे के बिना अच्छी दृष्टि का होना और वस्तु का स्पष्ट बोध होना सम्भव नहीं होता है।

समंजन. यदि अपवर्तन स्थिर हो तो नेत्र या तो केवल काफी दूरी से देख सकते हैं (सामान्य दृष्टिता) या फिर बहुत नजदीक से (निकट दृष्टिता) अथवा निकट और दूर दोनों से ही अस्पष्ट दिखाई देगा (दीर्घ दृष्टिता)। वास्तव में, व्यक्ति अपनी आँख से विभिन्न दूरियों पर स्थित वस्तुओं को देख सकता है, क्योंकि आँख में अपवर्तन को घटाने और बढ़ाने की क्षमता होती है। इस क्षमता को **समंजन** कहते हैं। देखने वाली वस्तु से आँख की दूरी के अनुसार समंजन की क्रिया इस प्रकार से होती है कि तंत्रिका आवेग रोमक पेशी को संकुचित करती है। इससे लेन्स के कैप्सूल और झिन स्नायु शिथिल हो जाते हैं। चूँकि लेन्स सम्पीडित नहीं रहता है और लचीला होता है, इसलिए यह अधिक उत्तल हो जाता है, जिससे कि नेत्रगोलक की अपवर्तनी क्षमता तीव्र हो जाती है।

दृष्ट वस्तु आँख के जितनी ही ज्यादा निकट होगी, रोमक पेशी उतनी ही अधिक संकुचित होगी और लेन्स अधिक हो जायगा, जिससे समंजन की क्षमता बढ़ेगी। इससे पता लगेगा कि नेत्र को अपवर्तन में कितने डाइओप्टर की तीव्रता हुई है। नेत्र की दृष्टि तीक्ष्णता के अनुसार विशेष छोटी छपाई को कम से कम कितनी दूरी से पढ़ना सम्भव है, इसका पता चार्टों को नजदीक से पढ़ने पर लग जाता है। इससे स्पष्ट दृष्टि के निकटतम बिन्दु का पता लगता है, जिसपर समंजन का अत्यधिक तनाव होता है।

दृष्ट वस्तु नेत्र से जितनी ही दूर होगी, समंजन की आवश्यकता उतनी ही घटती जायेगी और एक ऐसी निश्चित दूरी, जिसे अपवर्तन के रूप और अंश से ज्ञात किया जाता है, समंजन विश्रान्ति अवस्था में होगा। नेत्र अपने ही अपवर्तन से समंजन के बिना ही जिस अधिकतम दूरस्थ बिन्दु को देख सकता है, उसे स्पष्ट दृष्टि का दूरतम बिन्दु कहते हैं। फलतः नेत्र अपने समंजन की क्षमता के द्वारा स्पष्ट दृष्टि के दूरस्थ बिन्दु और निकटतम बिन्दु के बीच की पूरी दूरी को देखने में सक्षम होता है। इस दूरी को समंजन की लम्बाई कहते हैं।

समंजन की लम्बाई व क्षमता अपवर्तन के रूप पर निर्भर होती है। दीर्घ दृष्टि में समंजन उच्चतम होता है और सामान्य दृष्टि में कम तथा निकट दृष्टि में इससे भी कम समंजन होता है।

समंजन व्यक्ति की आयु पर भी निर्भर करता है, क्योंकि आयु के साथ-साथ लेन्स के (केन्द्रीय भाग) में काठिन्य होता जाता है जिससे कि इसका लचीलापन (प्रत्यास्थता) घटता जाता है और अपवर्तन क्षमता को बढ़ाने की सम्भाव्यता भी घट जाती है। इसके कारण स्पष्ट दृष्टि का निकटतम बिन्दु धीरे-धीरे घटता जाता है और समंजन निर्बल होता जाता है। समंजन के घटने की व्यवहारिक अभिव्यक्ति इस तथ्य से होती है कि दीर्घ दृष्टिक और सामान्य दृष्टिक व्यक्तियों को 40 वर्ष की आयु

तक पहुँचने-पहुँचते पढ़ने के लिए चश्मे की जरूरत पड़ती है जिससे कि वे अपनी कमजोर हुई समंजन क्षमता को पूरा कर सकें, जबकि निकट दृष्टिक चश्मे के बिना पढ़ सकते हैं या बहुत ही हल्के लेन्स का प्रयोग करते हैं। वृद्धावस्था के कारण दृष्टि के कमजोर होने को जरा **दूर-दृष्टि** कहते हैं।

अपवर्तन की असंगति का नैदानिक चित्र और चश्मे के शीशों का चुनाव

अपवर्तन की असंगति से पीड़ित व्यक्तियों में एक सी लाक्षणिक शिकायतें होती हैं। समंजन में स्थिर तनाव होने के कारण दूरदृष्टिक व्यक्तियों में थकान के चिन्हों की अभिव्यक्ति होती है: आँखों और सिर में तेज पीड़ा का होना तथा अक्षरों का धुंधला दिखाई देना। ये समंजनी नेत्रावसाद के लक्षण हैं। इसकी अभिव्यक्ति बहुधा अधिक दूर दृष्टिक व्यक्तियों में होती हैं, परन्तु यह तनावपूर्ण कार्य और प्रतिकूल परिस्थितियों में अध्ययन करने के कारण, दीर्घ दृष्टि के निम्न स्तर पर भी होता है। साथ ही, यह अवसाद तब भी होता है, जब दीर्घ दृष्टिता के लक्षण, जो शारीरिक रूप से पहले स्पष्ट नहीं होते हैं, आयु बढ़ने के साथ-साथ दिखाई देते हैं। अभिसरण और समंजन में स्थिर तनाव होने के कारण शिशुओं में **अभिसारी तिर्यक** दृष्टि हो जाती है। निकट दृष्टिक को यह शिकायत होती है कि उसे दूर की चीजें साफ नहीं दिखाई देतीं और उनमें से कुछ को, जिनमें निकट दृष्टिता अधिक है या अपने जटिल रूप में है, दृष्टिक कार्य करने में कठिनाई की शिकायत होती है।

अपवर्तन में दीर्घ दृष्टिता अधिकतर होती है: लगभग सभी बच्चे जन्म से दूरदृष्टिक होते हैं, कुछ बच्चों में जन्मजात निकटदृष्टिता होती है। शरीर और नेत्र के बढ़ने के साथ-साथ अधिकतर व्यक्ति सामान्य दृष्टिवान हो जाते हैं, जबकि कुछ को निकट दृष्टिता हो जाती है और शेष दूरदृष्टिक होते हैं।

निकट दृष्टिता और विशेषकर इसका उत्तरोत्तर विकास नेत्र अक्षु के अपसामान्य दीर्घीकरण से सम्बन्धित है। यह अधिकतर स्कूली बच्चों में कुछ प्रतिकुल परिस्थितियों में होता है: काम करने और अध्ययन के दौरान अपर्याप्त प्रकाश का होना तथा किसी वस्तु को एकटक देखते रहना, डेस्कों की असंगत व्यवस्था, अधिक और अयुक्ति दैनिक कार्य, आमवात और कृमि रूग्णता से निर्बल हुए शिशु के शरीर में, अल्प- या अविटामिनता, यक्षमज विशालता। चिरकारी गलतुण्डिका शोथ सहित सभी संक्रामक रोगों के फौरन बाद भी निकट दृष्टिता हो जाती है। इसीलिए विद्यालय के खुलने पर सभी बच्चों की दृष्टि-तीक्ष्णता की जाँच करानी चाहिए। जिन बच्चों की दृष्टि कमजोर पाई जाय उन्हें उपचार अथवा चश्मा लगाने की सलाह के लिए नेत्र विशेषज्ञ के पास भेजना चाहिए। चिकित्सा कर्मियों, अध्यापकों और अभिभावकों को इस ओर ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे अपने चश्मे पहने रहें, तथा अन्य स्वास्थ्य-वर्धक उपाय करने चाहिए जैसे विद्यलायों में स्वच्छता और स्वास्थ्य की स्थिति बनायी

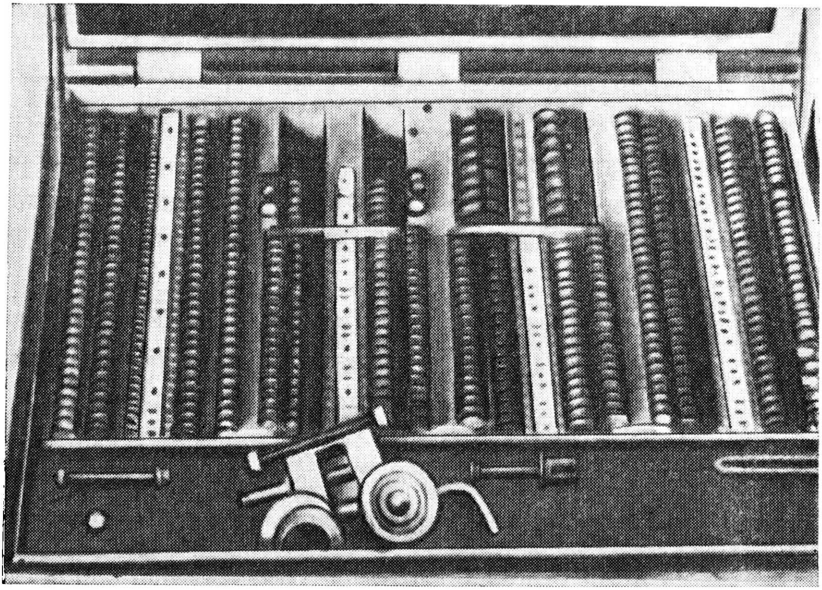
रखी जाय। निकट दृष्टिता को बढ़ने से रोकने और इसके दुर्दम रूप से बचने के लिए उपरोक्त बातों का बहुत महत्व है। निकट दृष्टिता के इस रूप की विलक्षणता यह है कि दृष्टि तीक्ष्णता धीरे-धीरे कम होती जाती है, चश्मे का पावर बढ़ता जाता है और जब-तब अधिक पावर वाले लेन्स बदलने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति श्वेत पटल कीरीट और दृष्टि पटल में अध्यमान के कारण नेत्र के नेत्रबुह्न में परिवर्तन के फलस्वरूप होती है। इससे दृष्टि पटल की वाहिकाओं, काचाभपिण्ड की अपारदर्शता तथा कोरायड और दृष्टिपटल में शोथीय परिवर्तन से और कभी-कभी दृष्टिपटल के वियोजन और विदार से रक्त स्राव हो सकता है।

निकट दृष्टिक को दूर से कम दिखाई देता है और वह किसी भी पुस्तक को अपनी आँख के पास लगाकर पढ़ता है। इसके कारण बच्चों को कभी-कभी पेशीय अवसाद महसूस होता है और अपसारी तिर्यक दृष्टि हो जाती है। नेत्र विज्ञानी की सलाह के अनुसार निकट दृष्टिता को ठीक करने के लिए चश्मा पहनाया जाता है जिससे तिर्यक दृष्टि ठीक हो जाती है। चश्मे का पहनना तिर्यक दृष्टि के प्रगामी विकास को रोकने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। नेत्र विज्ञानी की देखरेख में सर्वदैहिक शक्तिदायक उपचार करना आवश्यक है, जैसे विटामिन, कैल्सियम क्लोराइड, ऊतक योग, प्रति क्रमिरू-ग्णता चिकित्सा, यक्ष्मजता का उपचार, इत्यादि। बच्चों को अच्छी नींद देना, नियमित रूप से बाहर ले जाना, शारीरिक व्यायाम देना और समय-समय पर उनके मनोरंजन के लिए अध्ययन की सामग्री जुटाना अत्यन्त आवश्यक है। जिन बच्चों को संक्रामक रोग हो चुके हों उनके निकट दृष्टिक होने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। स्वस्थ होने पर वे अन्य बच्चों का साथ पकड़ने के लिए अपनी पिछड़ी हुई पढ़ाई पर अधिक जोर देने लगते हैं। परन्तु उन्हें निकट दृष्टिता को बढ़ने से रोकने के लिए हल्का काम देना चाहिए। कायिक रोगों और प्रतिकूल काम करने की स्थितियों के प्रभाव से किसी भी आयु के व्यक्ति में निकट दृष्टिता बढ़ सकती है तथा इसके अन्य उपद्रव हो सकते हैं।

अपवर्तन की कोटि और किस्म जानने के लिए दृष्टि लेन्सों के सेट का होना आवश्यक है (चित्र 142)। सेट में उत्तल और अवतल तथा बेलनाकार लेन्स होने चाहिए। उत्तल लेन्स प्रकाश की किरणों को एकत्रित करता है और इस पर '+' का निशान लगाया जाता है। अवतल लेन्स किरणों को प्रकीर्ण करता है और इनपर '–' का चिन्ह लगा होता है।

रोगी को यथासम्भव सर्वोत्तम दृष्टि देने के लिए चश्मे के शीशों का चुनाव करते समय यह आवश्यक है कि अपवर्तन के लक्षण को निश्चित कर लिया जाये, क्योंकि दीर्घ दृष्टि को सही करने के लिए उत्तल और निकट दृष्टि के लिए अवतल, तथा दृष्टि वैषम्य को दूर करने के लिए बेलनाकार लेन्स लगता है।

दोनों आँखों की दृष्टि तीक्ष्णता को अलग-अलग पता लगा कर चश्मे के शीशों का चयन प्रारम्भ करते हैं। फिर एक आँख को अपने हाथ की हथेली या गत्ते के टुकड़े



चित्र 142. दृष्टि की जाँच के लिए दृष्टि लेन्सों का सेट केश में।

से ढक लिया जाता है, जबकि दूसरी आँख पर 0.5 डी उत्तल लेन्स लगाया जाता है। फिर उत्तल लेन्स की जगह पर उसी पावर का अवतल लेन्स लगाकर यह ज्ञात किया जाता है कि किस लेन्स से दृष्टि अच्छी होती है। इसके बाद दृष्टि को बढ़ाने के लिए एक के बाद एक अधिक पावर वाले लेन्स लगाये जाते हैं, जब तक कि दृष्टि-तीक्ष्णता बढ़कर सर्वोत्तम न हो जाय। दूर दृष्टिक को सबसे अधिक पावर के लेन्स और निकट दृष्टिक को सबसे कम पावर के लेन्स लगाये जाते हैं, जिससे कि दृष्टि तीक्ष्णता बढ़कर उच्चतम हो जाती है। इस प्रकार बहुत से लोगों में दृष्टि तीक्ष्णता सामान्य अर्थात 1.0 तक पहुँचायी जा सकती है। बेलनाकार लेन्स का चयन करना सबसे जटिल कम है। दृष्टि वैषम्य को ज्ञात करने के लिए जाँच की विशिष्ट अभिदृश्यक विधियों का प्रयोग किया जाता है।

बच्चों में अपवर्तन को स्कियेस्कोपी (छायादर्शन) द्वारा ज्ञात किया जाता है (छायादर्शन एक विधि है, जिसमें आफ्तलमोस्कोप को घुमा-घुमा कर आँख की पुतली से गुजरने वाली छाया के प्रेक्षण से आँख का अपवर्तन ज्ञात किया जाता है)। परंतु इसके पहले आँख में एक प्रतिशत एट्रोपीन घोल या 1% होमाट्रोपीन घोल डालकर समंजन का अपवर्जन कर दिया जाता है। इस क्रिया के पूरा होने के बाद ही दृष्टि को चश्मे के शीशे के द्वारा ठीक किया जाता है।

प्रौढ़ लोगों की आँखों के लिए शीशे का चयन उनको पास से पढ़वाकर किया जाता

है जिससे कि जरावस्था की दूर-दृष्टि का प्रभाव न हो। इससे पहले दृष्टि तीक्ष्णता की जाँच की जाती है, फिर संशोधक लेन्स लगाकर अपवर्तन ज्ञात किया जाता है और इस प्रकार आँख के लिए सही चश्मे का चयन किया जाता है। बहुधा 40 वर्ष की आयु में सामान्य दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए + 1.0 डी के उत्तल लेन्स, 45 वर्ष की आयु वाले के लिए + 1.5 डी, 50 वर्ष की आयु वाले के लिए +2.0 डी, 55 वर्ष की आयु वाले के लिए + 2.5 डी, 60 वर्ष की आयु वाले के लिए + 3.0 डी, 65 वर्ष और अधिक वालों के लिए + 3.5 डी उत्तल लेन्स की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, दीर्घ दृष्टिक व्यक्तियों को दिये जाने वाले लेन्सों में अपवर्तन असंगति के अनुसार अधिक पावर भी दी जाती है। 50 वर्ष की आयु वाले व्यक्ति को लिए यदि दीर्घदृष्टि 1.0 डी हो तो उसे पढ़ने के लिए 2.0 डी के लेन्स की अपेक्षा 3.0 डी लगाया जाता है। निकट दृष्टिक व्यक्तियों के लिए अपवर्तन की क्षमता की अधिकता को ध्यान में रखते हुए लेन्स का पावर हटा दिया जाता है। 50 वर्ष की आयु पर –5.0 डी अवत्तल लेन्स को स्थायी रूप से प्रयोग करने वाला रोगी –3.0 डी लेन्स से भली-भाँति पढ़ सकता है। संशोधन लेन्सों का सही चयन करने के लिए दृष्टि तीक्ष्णता के अनुसार थोड़ी दूर से आँखों के शीशे लगाकर अक्षरों को पढ़ाकर किया जाता है।

डाक्टरी जाँच और कुछ व्यवसायों के लिए आँखों के शीशों का चयन करने हेतु अपवर्तन को ज्ञात करना आवश्यक होता है।

रोगी के परीक्षण की विधियाँ

रोगी का परीक्षण शुरू करते समय सबसे पहले उससे पूछा जाता है कि उसे क्या तकलीफ है, जो किसी रोग का विशेष लक्षण हो सकती है। उदाहरण के लिए आँखों में पीड़ा, अश्रु स्राव, प्रकाश-असह्यता अधिकतर नेत्र के अग्रभाग (किरीट, परितारिका और रोमक पिंड) के रोगों में होती है और कभी-कभी श्लेष्मल कला और पलकों के रोगों में भी। दृष्टि की प्रगामी हानि होना लेन्स के अपारदर्शी (मोतियाबिन्दु) होने का, दृष्टिपटल और कोरायड, दृष्टि स्नायु, प्रगामी निकट दृष्टिता और सबलवाय होने का लक्षण है।

दृष्टि पटल के तीव्र अवरोध (वाहिका रोध, धनास्मता, आकर्ष), पीतबिन्दु में कुछ परिवर्तन (तीव्र शोथीय प्रक्रम में रक्त स्राव), दृष्टि स्नायु विकार (परिसंचरण विकार, शोथ) इत्यादि से एकाएक पीड़ा रहित दृष्टि का लोप हो सकता है।

उपरोक्त शिकायतों सबलवाय के तीव्र दौरे के विशेष लक्षण हैं, जबकि तीव्र पीड़ा के साथ-साथ उसी तरह सिर में पीड़ा मतली और उल्टी होती है।

यह निश्चित करना आवश्यक है कि रोगी कितने समय से पीड़ित है और यह रोग किस रूप (जीव्र या चिरकारी) में प्रारम्भ हुआ है तथा इसका सम्भावित कारण

क्या है ; क्या उपचार किया गया है और उसका क्या प्रभाव हुआ है। यह जानना भी आवश्यक है कि कहीं आँख में चोट तो नहीं लगी है। क्या उस व्यक्ति का सम्पर्क संक्रामक रोग (रोहे, नेत्र श्लेष्मला शोथ) से पीड़ित रोगियों से रहा है? रोगी के शरीर की सामान्य अवस्था के बारे में भी जानना चाहिए और यह भी पता करना चाहिए कि उसे पहले कौन-कौन से रोग हुए हैं और इस समय उसे कोई रोग है या नहीं। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोगों से नेत्र रोग हो सकते हैं।

रोगी से प्रश्न करते समय यह पूछना आवश्यक है कि वह किन अवस्थाओं में रहता है और काम करता है जो कि उसके रोग का कारण हो सकती हैं या जिनसे रोग और भी बढ़ सकता है। उदाहरण के लिए, चिरकारी नेत्रश्लेष्मा शोथ बहुधा ऐसी जगह पर काम करने से सम्बंधित है, जहाँ धूल ज्यादा होती है (जैसे आटा पीसने और तम्बाकू के उद्योग में), या जहाँ पर नेत्रों के लिए प्रकाश की चमक (बिजली वाली वेल्डिंग, इस्पात द्रवण, धातु लुंठन, इत्यादि) से पर्याप्त बचाव नहीं होता है। शारीरिक थकान, वातावरण के तापमान में एकाएक परिवर्तन, तंत्रिका प्रतिबल और पहले के रोगों से अन्तराक्षि-दाब बढ़ सकता है जो कि सबलवाय के दौरे का कारण हो सकता है।

रोगियों का परीक्षण करते समय कभी-कभी विभिन्न प्रकार के रोग लक्षण और प्रयोगशाला जाँच करना आवश्यक होता है। चिकित्सा के दूसरे क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त काय चिकित्सकों को परामर्श के लिए बहुधा आमंत्रित किया जाता है।

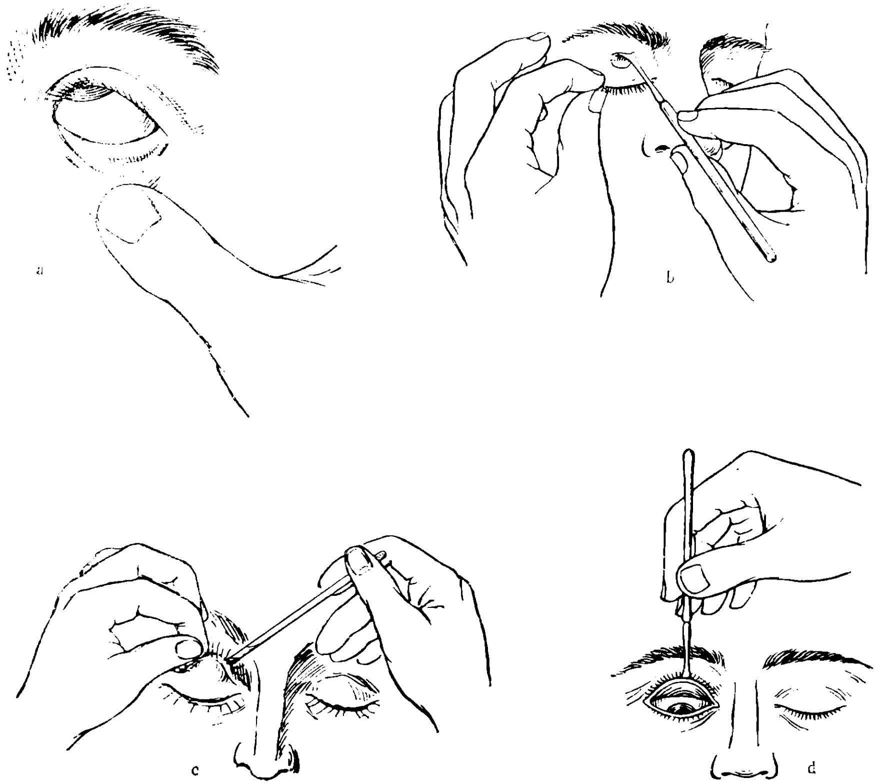
रोगी की आँखों की जाँच करने से पहले दृष्टि तीक्ष्णता और अपवर्तन को आत्मगत रूप से निर्धारित किया जाता है। यदि आवश्यक हो तो रोगी के दृष्टि क्षेत्र, वर्णबोध और अन्य क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

नेत्र और उसके उपकरणों की जाँच शरीरी क्रम में योजनाबद्ध रूप से की जानी चाहिए, जिससे कि रोग का निदान करने के लिए कोई भी आवश्यक रोग लक्षण छूट न जाय। दोनों आँखों का परीक्षण करना चाहिए, पहले स्वस्थ्य नेत्र का परीक्षण किया जाता है।

पहले यह देखा जाता है कि नेत्र गोलक अपनी सही जगह पर हैं : अपसामान्य उभार (बहिर्गताक्षि) या नेत्रगुहा में स्थित नेत्र गोलक में अपसामान्य प्रतिसार (अन्तर्गताक्षि) या इसका किसी एक ओर विस्थापन। नेत्र की गतिशीलता की जाँच की जाती है। नेत्रगुहा क्षेत्र की त्वचा का (लाली, शोफ के लिए) निरीक्षण किया जाता है।

पलकों की जाँच में परीक्षक त्वचा की हालत, पलकों की परिसीमा, पक्ष्म की वृद्धि, पलकों की स्थिति अन्तर्वर्त्यता, बहिर्वर्त्यता, वर्त्म विदर, प्रकाश असह्यता, पलकों में आकर्ष, अश्रुस्राव आदि पर ध्यान दिया जाता है।

नेत्र श्लेष्मला आवरण का परीक्षण. नेत्र श्लेष्मला की जाँच करने के लिए पलकों



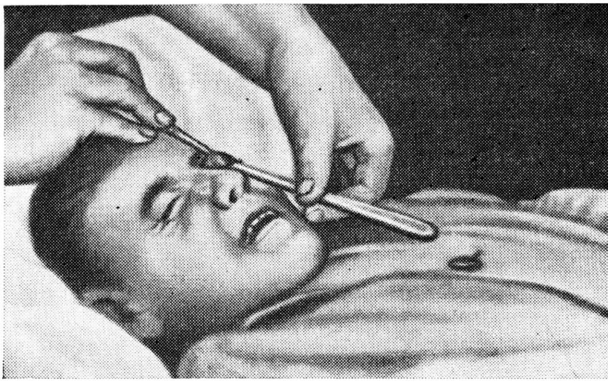
चित्र 143. कंचुकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ का परीक्षण।
a निचली पलक का अहिर्वर्तन, b ऊपरी पलक का अहिर्वर्तन, c और d प्रतिवर्तन रेखाओं की जाँच करने के लिए पलक लिफटर के द्वारा ऊपरी पलक का अहिर्वर्तन।

को ऊपर की ओर पलटना आवश्यक है। नेत्रगुहा की अस्थिय परिसीमा को थोड़ा-सा दबाकर निचली पलक को नीचे की ओर खींचा जाता है और साथ ही रोगी को ऊपर की ओर देखने के लिए कहा जाता है (चित्र 143 a)। ऊपरी पलक को पलटने के लिए रोगी को नीचे की ओर देखना चाहिए, जबकि परीक्षक अपने दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी से पलक की परिसीमा को पकड़कर नीचे की ओर खींचता है। इसके परिणामस्वरूप त्वचा के नीचे उपस्थि बहिरेखा बन जाती है। परीक्षक अपने बायें अंगूठे से या शीशे की छड़ से पलक की परिसीमा से 8–10 मिलि मीटर की दूरी पर से उपस्थि को दबाता है (चित्र 143 b)। तब पलक पलट जाती है और नेत्र गुहा कि परिसीमा दब जाती है। तत्पश्चात, ऊर्ध्व नेत्र श्लेष्मला तोरणिका की जांच करने के लिए दाहिने हाथ की अंगुलियों को निचली पलक पर रखकर नेत्र गोलक को दबाना चाहिए और इसे ऊपर की ओर ऊपरी पलक तक चलाना चाहिए।

नेत्र गुहा की परिसीमा को दबाकर ऊपरी पलक को बायें हाथ से ऊपर की ओर उठाना चाहिए। पलक को पलटने के लिए पलक उठाने वाले उपकरण का प्रयोग किया जाता जैसा कि चित्र 143 (c और d) में दिखाया गया है। पलकों को बहुत हल्के से और सावधानी से पलटना चाहिए ताकि नेत्र गोलक पर अनावश्यक दबाव न पड़े। उपरोक्त सावधानी का उस हालत में विशेष महत्व होता है जब कि किरीट में दोष (व्रण, घाव) हो, या छिद्र हो। यदि नेत्र श्लेष्मला स्राव प्रचुर मात्रा में हो तो पलकों की परिसीमा को पहले आर्द्र रूई के फाहे से पोंछना चाहिए, फिर पलकों को सावधानी से अलग करके नेत्र श्लेष्मला कोश को किसी विसंक्रामित घोल से धोया जाता है और उसके बाद ही पलकों को पलटा जाता है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है कि जाँच किया जाने वाले व्यक्ति की आँखों में पूय (पस) न पहुँच सके। ऐसे रोगियों का परीक्षण करते समय परीक्षक को सुरक्षात्मक धूप का चश्मा लगाना चाहिए। श्लेश्मलकला का परीक्षण करते समय इसके रंग वाहिकामय विन्यास, स्राव, क्षतचिह्न और पुटिकाओं के मौजूद होने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अश्रु कोश में शोथ या किरीट में व्रण होने पर अथवा नेत्र श्लेष्मला स्राव होने पर जीवाणुदर्शी या जीवाणु-विज्ञानी जाँच की जाती है। नेत्र श्लेष्मलीय रोग जनक फ्लोरा का पता करने के लिए उपरोक्त जाँच की जाती है, भले ही नेत्र देखने में स्वस्थ लगता हो। यह जाँच शस्त्रकर्म की तैयारी में भी की जाती है। प्लैटिनम पाश को अल्कोहल लैम्प की लौ पर थोड़ी देर रखकर विसंक्रामित किया जाता है और फिर इसे हल्के से नेत्र श्लेष्मला, किरीट पर लगाया जाता है और इससे अश्रु कोश को दबाकर स्राव को बाहर निकाल देते हैं। इसके बाद विसंक्रामित काँच पट्टिका पर आस्राव का पतला लेप किया जाता है, फिर लेप स्थिरीकरण हेतु स्लाइड को बर्नर की लौ पर नीचे की तरफ से रखा जाता है और इसके बाद इसे प्रयोगशाला में जाँच के लिए भेजा जाता है।

तीव्र वर्त्माकर्ष से पीड़ित शिशुओं के नेत्र गोलक के अग्रभाग की जाँच के लिए पलक लिफ्टर का प्रयोग करना चाहिए। बच्चे की माँ या परिचारिका को चाहिए कि वह बच्चे को धड़ से पकड़कर अपने घुटनों पर बैठाये और एक बाँह से उसके हाथों को पकड़े तथा दूसरे से उसके सिर को। बच्चे के पैरों को माँ या परिचारिका अपने घुटनों के बीच दबाकर रखे। फिर चिकित्सक को बड़ी सावधानी से ऊपरी पलक के नीचे पलक लिफ्टर बढ़ाना चाहिए। यदि बच्चा बहुत ही बेचैन हो तो उसे पीठ के बल लिटाते हैं। चिकित्सक उसके सिर को अपने घुटनों के बीच में मजबूती से पकड़ ले, जबकि माँ उसके हाथ और पैरों को पकड़े रखे (चित्र 144)।

अश्रु मार्गों का परीक्षण. पलकों की त्वचा की हालत, पुंक्टालेक्रिमालिया की स्थिति, जो कि सामान्यतः नेत्र की ओर होती है, आदि बातों पर ध्यान देना चाहिए। परीक्षक अश्रु अवरोध, अश्रुस्राव या अश्रुद्वारों में से पूय या श्लेष्मा के आस्राव के चिन्हों की खोज करता है, जबकि अश्रुकोश के क्षेत्र संपीड़ित हों। अश्रु आस्राव मार्ग का एकस्वत्व तथा सूक्ष्म नलिकाओं की चूषण क्षमता के परीक्षण के लिए नेत्र श्लेष्मला कोश में

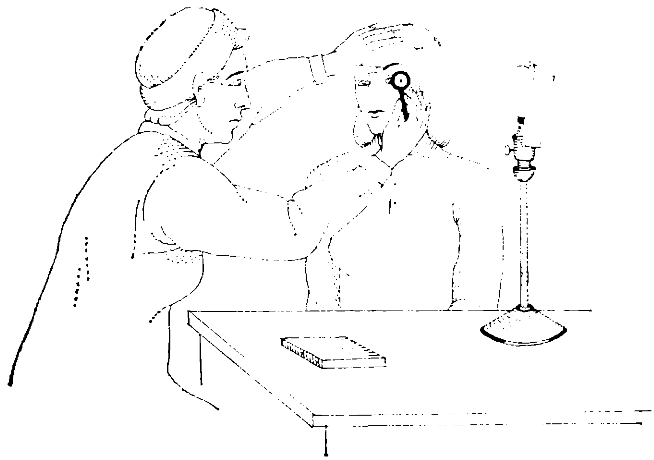


चित्र 144. पलक लिफ्टर से खोल कर आँख और नेत्रच्छद विदर की जांच।

2 प्रतिशत कोलायड सिलवर घोल की एक या दो बूँदें डाली जाती हैं। 5 मीनट में ही अश्रु सूक्ष्म नलिकाएँ इन बूंदों को सोख लेती हैं। सामान्यतः अश्रुस्राव कोश के क्षेत्र को थोड़ा सा दवाने से पुंक्टा लेक्रिमालिया से कोलायड सिलवर की भूरे रंग की बूंद निकलती है (यह स्वीकारात्मक सूक्ष्म नलिका जाँच कहलाती है)। 10 मिनट के बाद नाक साफ करने से होने वाले आस्राव में कोलायड सिलवर का मिश्रण निकलता है (यह स्वीकारात्मक नासा जाँच कहलाती है)। जिस आँख की जाँच की जाती है उसी ओर के अधः नासा कुहर में अन्दर तक रूई का टेम्पन (फाहा) डाला जाता है। इस टेम्पन पर भी कोलायड सिलवर के धब्बे आ जाते हैं। यदि इन परिक्षणों में देर लगती है या इनके नकारात्मक परिणाम निकलते हैं, तो चिकित्सक अध्ययन के लिए निम्नलिखित विशेष विधियों का प्रयोग करता है: धोवन, अश्रुस्राव वाहिनियों का एक्सरे परीक्षण और प्रोविंग की जाती है। श्लेष्मला कोश में 25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का तीन बार बिन्दुपात करने के बाद धोवन किया जाता है। शंकु आकार वाले प्रोब के द्वारा अधः पुंक्टम लेक्रिमल को चौड़ा किया जाता है और फिर इसमें विशेष अर्कतक प्रवेशनी या पिचकारी की सुई समाविष्ट की जाती है और अश्रु वाहिनियों में शरीरी लवण घोल या प्रतिजीवी-घोल का आधान किया जाता है। यदि अश्रु वाहिनियों का एकस्वत्व सामान्य है तो यह द्रव नाक के द्वारा निकलता है। यदि वाहिनियाँ संकीर्ण हैं तो यह द्रव बूंद-बूंद करके निकलता है और जब वाहि-नियाँ पूर्ण रूप से अवरुद्ध हों तो, यह द्रव ऊर्ध्व पुंक्टम लेक्रिमल के द्वारा निकलता है।

नेत्र के अग्रभाग का परीक्षण. नेत्र के अग्रभाग का परीक्षण अन्धकक्ष में पार्श्व या फोकसी प्रदीपन करके किया जाता है। जिस व्यक्ति की आँखों का परीक्षण किया जाता है, उसी के नेत्रों के स्तर पर बायीं ओर और थोड़ा सा सामने की ओर प्रकाश का

स्रोत रखा जाता है तथा द्विउत्तल आवर्धक लेन्स को आँख की दिशा में फोकसी दूरी पर इस प्रकार रखा जाता है कि किरीट पर प्रकाश पुंज एकत्रित हो। रोगी के नेत्र का परीक्षण चित्र 145 में दर्शाया गया है। साथ ही साथ, नेत्र का परीक्षण दूसरे आवर्धक लेन्स या द्विनेत्री लेन्स के द्वारा (मिश्रित तकनीक द्वारा) किया जाता है।



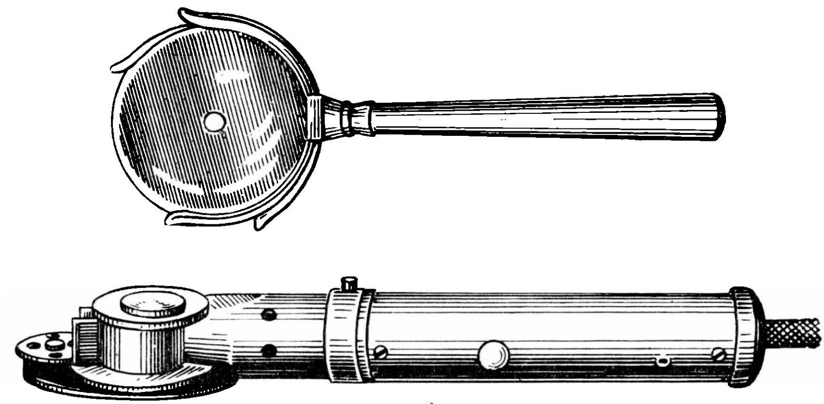
चित्र 145. पार्श्व या फोकसी प्रदीप्ति में जाँच।

कक्ष की अन्धता के मुकाबले में आँख के चमकीले प्रदीपन से किरीट (छोटे आगन्तुक शल्य सहित), परितारिका और लेन्स में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को पहचानना सम्भव होता है। परीक्षण करते समय किरीट की पारदर्शिता, सतह और आकार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसकी संवेदनशीलता को पहले स्वस्थ आँख में और उसके बाद रोगी आँख में रूई के पतले रेशों से छूकर और तुलना करके ज्ञात करते हैं।

सामान्य किरीट संवेदनशीलता में प्रतिवर्त की अभिव्यक्ति पलक के बन्द होने से होती है। नेत्र में 2 प्रतिशत सोडियम फ्लोरीमीन घोल की एक बूंद डालने से किरीट के रोगी भाग में उत्पन्न हरा रंग किरीट के दोष (अपर्दन व्रण या दग्ध) को दर्शाता है।

अग्रकक्ष की गहराई और इसके फर्श पर जमे हुए निःस्राव, रक्त और पूय को फोकस प्रदीपन से पहचानने में सहायता मिलती है। परितारिका का रंग और विन्यास, तारों का विस्तार और इसका रूप तथा प्रकाश के प्रति इसकी अभिक्रिया आसानी से देखी जा सकती है। सामान्यतः तारा काला होता है, परन्तु इसके काँचाभ पिण्ड में पूय या रक्त के जम जाने से इसका रंग हरा हो जाता है। तारे का रंग भूरा होने से यह पता लगता है कि लेन्स अपारदर्शी हो गया है (अर्थात् मोतियाबिन्द हो गया है)। आँख के अग्रभाग की जाँच करने के लिए यदि रेखा छिद्र वाली लैम्प का प्रयोग किया जाय तो अच्छा होगा, क्योंकि यह उपकरण विशेष रूप से इस उद्देश्य से बनाया गया है।

पारदर्शक माध्यम का अध्ययन. लेन्स और काचाभ पिंड की जाँच दृष्टिपटलदर्शी (आफ्तात्मोस्कोप) द्वारा की जाती है, जिसके बीच में छिद्र होता है (चित्र 146)। रोगी को अन्ध कक्ष में बैठाया जाता है और प्रकाश से स्रोत को उसकी आँखों के स्तर पर उसके बायीं ओर और पीछे रखा जाता है। नेत्र विज्ञानी दृष्टि पटल को अपनी



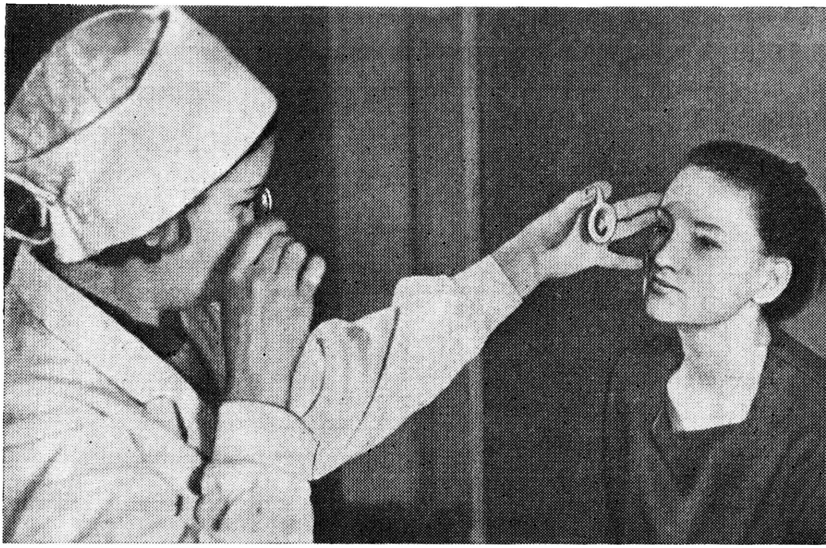
2

चित्र 146. दृष्टिपटलदर्शी
1. साधारण, 2. विद्युतीय।

आँख के पास पकड़े रहता है और प्रकाश को रोगी की आँख में डालता है। नेत्रबुघ्न से प्रकाश की किरणों का प्रतिवर्तन होने के कारण नेत्र विज्ञानी को तारे में लाल संदीप्ति दिखाई देती है, जिसे नेत्रबुघ्न प्रतिवर्त कहते हैं। किरीट, लेन्स या काचाभ पिण्ड की अपारदर्शिता लाल पुतली की पृष्ठ छाया में काले धब्बों या धारी के रूप में दिखाई देती है।

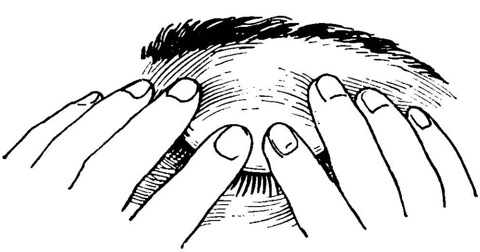
दृष्टि-पटल दर्शन. दृष्टि-पटल दर्शन, बुघ्न की परीक्षा (चित्र 147) रोगी के नेत्र के सामने (7.7 सेन्टी मीटर) कसी दूरी पर 13.0 डी के आवर्धक लेन्स द्वारा की जाती है। दृष्टि पटल दर्शक की प्रकाश किरणें आँख में से गुजरती हुई बुघ्न पर प्रतिवर्त होती हैं और आवर्धक लेन्स से उल्टी दिशा में होकर सामने के फोकस पर जमा होती हैं। इस प्रकार बुघ्न (कोरायड दृष्टि पटल, और नेत्र अक्षि बिम्ब) का उल्टा और आवर्धित बिम्ब दिखाई देता है। प्रत्यक्ष दृष्टि पटल दर्शन भी सम्भव है, यदि परीक्षक रोगी की आँख को बहुत नजदीकी से साधारण या बिजली वाले दृष्टि पटल दर्शी से तारे के द्वारा बुघ्न को प्रत्यक्ष रूप से देखें।

दृष्टिपटल दर्शन नेत्र रोगों और साथ ही केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के बहुत से रोगों (अर्बुद, शोथीय, प्रवर्ध इत्यादि,) आन्तरिक अंग के रोग (अतिरक्त दोषी रोग, रक्त व गुदे के विकार, मधुमेह, इत्यादि) का निदान करने की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विधि है।



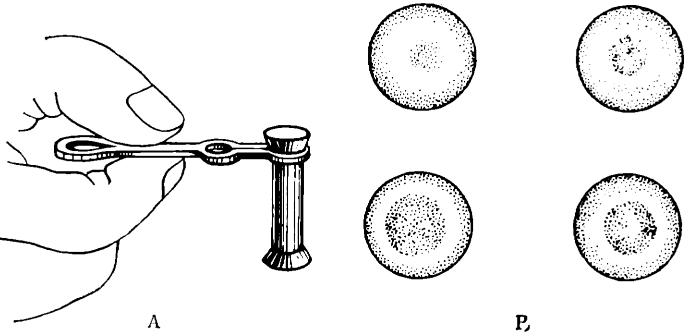
चित्र 147. दृष्टिपटल दर्शन।

अन्तरक्षि दाब को मापना. नेत्र गोलक का तान कोशिकाग्रों के रक्त दाब ग्रौर इसकी भित्तियों पर ग्रन्तरक्षि तरल के दाब पर निर्भर है। दाब के उतार या चढ़ाव का नेत्र की क्रिया पर कुप्रभाव पड़ता है ग्रौर इससे ग्रन्धता तक हो सकती है। उपकरण के लिए ग्रन्तरक्षि दाब का बढ़ना सबलवाय का मूल लक्षण है, जबकि सबलवाय नेत्रों का एक ग्रत्यन्त गम्भीर रोग है। रोगियों का उपचार करते समय यह ग्रावश्यक है कि उसके ग्रन्तरक्षि दाब पर निरन्तर ध्यान रखा जाय।



चित्र 148. पिरस्पर्शन द्वारा ग्रंतरक्षि-दाब को ज्ञात करना

परिस्पर्शन विधि स्वस्थ ग्रौर रोगी नेत्र की कठोरता की तुलना पर ग्राधारित है। इस विधि से ग्रन्तरक्षि दाब का पता सन्निकटतर लगता है। रोगी ग्रपनी ग्राँख को बन्द करके नीचे की ग्रोर देखता है, जबकि नेत्र विज्ञानी उपस्थि से ऊपर की पलक को दोनों हाथों की तर्जनी से दबा कर एक के बाद दूसरी ग्रंगुली से थोड़ा दबाव डालता है (चित्र 148)। इसके लिए प्रयुक्त विशेष उपकरण को तनाव-मापी कहते हैं। इसका प्रयोग जनसाधारण की रोग-निरोधी जाँच करते समय सबलवाय को जानने



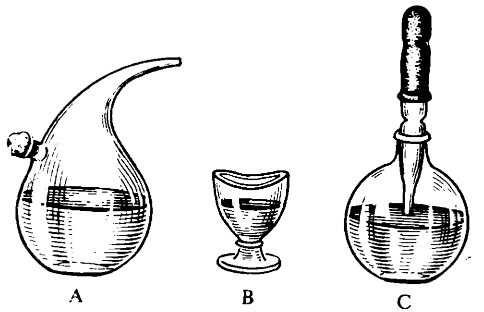
चित्र 149. मक्लाकोव का तान मापी (A) और तानमापी द्वारा प्राप्त हुए चिन्ह (B)।

के लिए, एकदम सही अन्तरक्षि दाब नापने के लिए प्रयोग में लाते हैं। माक्लाकोव तनावमापी धातु का एक बेलन-सा है, जिसके सिरों पर चीनी मिट्टी के आच्छेद होते हैं (चित्र 149)। इन पर रंजक (दो ग्राम कोलायड सिलवर, आसुत जल और ग्लीसरीन, बीस-बीस बूंद) का आलेप किया जाता है, जिससे अंकन (ठप्पा) के लिए विशेष उपधान (गद्दा) आर्द्र हो जाता है। रोगी को परीक्षा हेतु बिस्तर पर लिटा दिया जाता है। नेत्र श्लेष्मा कोश में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल को तीन बार डालकर तनावमापी को किरीट पर एक विशेष होल्डर के द्वारा रखा जाता है। किरीट के सम्पर्क में आने से मापी के मध्य में स्थित रंजक धुल जाता है और तनाव-मापी के ऊपरी सिरे पर फलतः वृत्त दिखाई देता है। इसकी छाप अल्कोहल में भिगोये हुए कागज पर ले ली जाती है। सफेद वृत्त का व्यास नापा जाता है, जिसकी गणना तनावमापी पर लगे हुए विशेष स्केल पर की जाती है। वृत्त का ब्यास स्केल पर मिली मीटर मरकरी में व्यक्त दाब के अनुरूप होता है। सामान्य अन्तरक्षि दाब 18 से 25 मिली मीटर मरकरी के बीच होता है, या कभी-कभी 28 मिली मीटर मरकरी तक पहुँच जाता है। तनावमापी के आछद (ऊपरी सिरे) को अल्कोहल से विसंक्रामित करते हैं।

नेत्र विज्ञानी के कार्यालय और चिकित्सालय के नेत्र विभाग में उपस्करण और उपस्कर

नेत्र विज्ञानी का कार्यालय एक अच्छी रोशनी वाला कक्ष होना चाहिए, जिसकी लम्बाई कम से कम 5.5 मीटर हो, क्योंकि दृष्टि तीक्ष्णता ज्ञात करने के लिए और चश्मे के शीशों का चुनाव चार्ट से 5 मीटर की दूरी पर किया जाता है। चार्ट को शो केश में लगाकर खिड़की के सामने दीवार पर लटकाया जाता है रोगी की कुर्सी एक छोटी मेज के पास कमरे के दूसरी तरफ लगाई जाती है। इस मेज पर चश्मे के शीशों का सेट और पास से पढ़ने के लिए अक्षर रखे जाते हैं। इसके साथ ही चिकि-

त्सक की डेस्क और औषधियों की मेज होना वांछनीय है। बेहतर हो कि यह शल्य चिकित्सक वाली मेज हो जिस पर शीशा लगा हुआ हो। इस मेज पर बिन्दु शीशियों के लिए ट्रे, मलहम वाला जार और आकप व्यवास्थित रूप से रखे होने चाहिए।



चित्र 150. नेत्रविज्ञानी चिकित्सा में प्रयुक्त बर्तन

A. अक्षिसेचिनी, B. नेत्रप्याला, C. पीपेट लगा हुआ बिन्दुपातकीय।

बिन्दुओं को ऐसी शीशीओं में रखना अच्छा होगा जिनमें पिपेट लगा हुआ हो (चित्र 150)।

दैनिक प्रयोग के लिए मेज पर निम्नलिखित औषधियाँ उपलब्ध होनी चाहिए।

नेत्र तारे के विस्फारण के लिए बिन्दु: 1–0.5 और 1 प्रतिशत वाले एट्रोपीन घोल, 0.25 प्रतिशत का स्कोपोलामीन घोल, 1 प्रतिशत कोमेट्रोपीन, 1 प्रतिशत प्लेटीफाइलीन घोल, 1 प्रतिशत वेनास्टीरीन, 0.1 प्रतिशत एड्रनलीन घोल; नेत्र तारे को संकुचित करने वाले पदार्थ: 1 प्रतिशत किलोकर्पिन घोल, 0.C2 प्रतिशत फास्फेकोल घोल, 0.25 प्रतिशत फाइसो इस्टोग्माइन घोल; संवेदनाहरक पदार्थ: 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल; कषायवर्ग और विसंक्रामक पदार्थ: 0.25–1 प्रति-- जिंक घोल, 0.25 प्रतिशत क्लोरोफिन्काल घोल, 0.02 प्रतिशत नाइट्रोफ्यूराजान घोल, 2 प्रतिशत कोलायड सिलवर घोल। इन पदार्थों के अतिरिक्त 1 प्रतिशत हाइड्रोकर्टिजोन निलम्बन, 1 प्रतिशत मोनोमाइसीन घोल, 2 प्रतिशत सोडियम फ्लोरो-सीन घोल, शारीरी लवण घोल (फ्लोरोसीन डालने के बाद आँख को धोने के लिए) उपलब्ध होने चाहिए।

मलहम: 5 प्रतिशत सिन्थोमाइसीन या लेवोमाइसीटीन (क्लोरोंफिनीकाल) मलहम, 1 प्रतिशत पीला मरक्यूरीक आक्साइड मलहम (रंगीन बर्तन में)। 1 प्रतिशत कार्टिजोन या हाइड्रोकार्टिजोन मलहम तथा चिकित्सक द्वारा निर्देशित अन्य विशिष्ट औषधियाँ उपलब्ध होने चाहिए। सभी शीशियों पर स्पष्ट लिखे हुए लेबल लगे होने चाहिए।

औषधियों के अतिरिक्त मेज पर एक गिलास भी होना चाहिए जिसमें मलहम लगाने के लिए विसंक्रामित स्पेचुला, आर्द्र विसंक्रामित रूई की गोलियों वाली ट्रे, पट्टियों का बाक्स तथा विसंक्रामित उपकरणों वाली ट्रे उपलब्ध होनी चाहिए। इन उपकरणों में संदंश, पलक आकुंचक, किरीट से आगन्तुक शल्य निकालने के लिए सुइयाँ विसंक्रामित पदार्थ के लिए ड्रेसिंग संदंश इत्यादि; चमकीले हरे (Viride nitens)

का 1 प्रतिशत अल्कोहल घोल, आँख को धोने वाले घोलों के लिए अक्षिसेचनी या रबर के गुब्बारे होने चाहिए।

कार्यालय में एक परिमापी छोटी मेज होनी चाहिए तथा एक शय्या भी ; जिस पर तनाव मापन और अन्य हस्तोपचार के लिए रोगी को लिटाया जा सके। साथ ही एक कुर्सी हो जिस पर रोगी को विभिन्न प्रकार के हस्तोपचार के लिए बिठाया जा सके। एक अलमारी भी होनी चाहिए जिसमें विषाक्त पदार्थों (ए), अत्यन्त प्रभाव शाली औषधियों (बी) और उपकरणों के लिए अलग-अलग खाने होने चाहिए।

परीक्षण करने के लिए एक विशेष अन्ध कक्ष की आवश्यकता होती है। या साधारण कमरे में प्लाइउड से एक विशेष केबिन बना दिया जाता है जिसकी दीवारों पर काले रंग का लेप होता है। कमरे में भारी पर्दे लगा कर अंधेरा किया जा सकता है। अन्ध कक्ष में एक छोटी मेज पर एक मैंट बल्ब वाला टेबुल लैम्प, दो आवर्धक लेन्स वाला दृष्टि पटल दर्शी और द्विनेत्री लेन्स रखे होते हैं। अन्ध कक्ष में आवश्यकता पढ़ने वाले यंत्र और उपकरण (स्लिट लैम्प, अपवर्तन मापी, प्रक्षेप परिमापी और अन्य वस्तुएँ) हाथ की पहुँच में छोटी मेज पर रखे जाते हैं।

रोगियों को अन्दर बुलाने से पहले परिचारिका को यह देख लेना चाहिए कि सभी लेन्स निश्चित क्रम से लगे हुए हैं। विभिन्न घोलों वाले फ्लास्कों की हालत पर विशेष ध्यान देनी चाहिए। यदि घोल को हिलाने पर आविलता तैर कर ऊपर आ जाय तो घोल को फेंक कर उन फ्लास्कों, शीशियों और पीपेट को सोडा के घोल से साफ करके फिर नल के पानी में धो कर आसुत जल से भर कर उबालना चाहिए। इसके बाद ही इन पात्रों में ताजा बनाया हुआ घोल भरा जाता है।

निर्जीवाणुता का अनुपालन करने हेतु नेत्र बिन्दुओं को (प्रतिजीवी और एड्रेनेलोन घोल को छोड़ कर) कुछ मिनट तक रोज उबाला जाता है। यह जाँच करना अनिवार्य है कि पीपेट और विशेष कर उनके सिरे चटके या टूटे हुए तो नहीं है। शीशी और फलास्कों को भरने के बाद उन पर औषधियों के नाम लिखे हुए लेबल चिपकाये जाते हैं, जिस पर कि उनके बनाने की तिथि भी अंकित होती है। अलग-अलग समय पर बनायी हुई औषधियों को एक में मिलाना नहीं चाहिए।

हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि एक दवा में प्रयुक्त पिपेट का प्रयोग दूसरी दवा के लिये न हो जाये। ऐसी गलतियों के बहुत ही गम्भीर परिणाम हो सकते हैं, विशेष कर नेत्र तारे के विस्फारण और संकुचन करने वाले औषधियों को रखने में। उदाहरण के लिए, यदि सबलवाय रोगी की आँख में उस पिपेट से बिन्दुपात किया गया हो जिसका प्रयोग एट्रोपीन के पात्र में हुआ हो तो नेत्र तारे के संकुचन के बजाय विस्फारण हो जायेगा, जिससे कि सबलवाय का आक्रमण हो सकता है और यहाँ तक कि अन्धता का भय हो जाता है। सबलवाय रोगी के नेत्र श्लेष्मल कोष में एट्रोपीन की एक बूँद पड़ने के अत्यन्त भयंकर परिणाम हो सकते हैं।

इसी प्रकार परितारिका के शोष में रोगी के नेत्र में एट्रोपीन के बजाय नेत्र तारे

को संकुचित करने वाली औषधि का बिन्दुपात बहुत ही हानिकारक है। यही कारण है कि उपरोक्त औषधियाँ सदैव ही अपने निश्चित आवंटित स्थान पर रखी जायें। अच्छा हो कि विस्फारण और संकुचन की औषधियाँ ट्रे के आमने-सामने के सिरों पर अलग-अलग रखी जायें। काँच की शलाकाएँ और यंत्र उपकरण उबलते पानी में रखे जाते हैं। नेत्रों का परीक्षण करने तथा नेत्र में बिन्दुपात करने के बाद पलकों के सिरों को विसंक्रामित रूई की गोलियों से पोंछना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए रूई को उबलते हुए मर्करी आक्सीसाइनाइड के 1 : 6 000 घोल में 30 मिनट तक रखा जाता है या विसंक्रामित रूई को 2 प्रतिशत बोरिक एसिड के घोल में डुबोया जाता है। परिचारिका रूई के छोटे-छोटे टुकड़े करने के लिए अपने हाथों को उसी प्रकार सावधानी से धोती है, जैसे कि शस्त्र कर्म से पूर्व किया जाता है और उसके बाद रूई के इन टुकड़ों को ऐसी बन्द ट्रे में रखा जाता है जिसे कि अच्छी तरह उबाल लिया गया हो। अच्छा हो कि रूई को लकड़ी की शलाकाओं पर लपेटकर तैयार किया जाय और उन्हें ड्रम में रखकर विसंक्रामित किया जाय। पलकों को ऐसी दो शलाकाओं के सिरों से पलटते हैं, जिन पर विसंक्रामित घोल में डुबोई हुई रूई लिपटी हुई हो। रोगी के नेत्रों का हस्तोपचार करने के बाद पलकों की त्वचा को टेम्पन रूई के फाहे से साफ किया जाता है। पट्टी बांधने के लिये एक मीटर लम्बाई वाली पट्टियाँ पहले से ही तैयार कर ली जाती हैं। आँख के ऊपर रखी गयी रूई को यथा-स्थान बनाये रखने के लिये आसंजी टेप की 12 सेन्टीमीटर लम्बी यट्टी का प्रयोग करना सुविधाजनक है।

नुस्खे के लिये कोरे फार्म, मुद्रित फार्म, उन पर लगाये जाने के लिये सील मोहर, रोगी के पंजीकरण वाले रिकार्ड, हिसाब-किताब के रजिस्टर, तनाव मापन, और दृष्टि क्षेत्र के डाइग्राम वाले विशेष फार्म चिकित्सक के डेस्क पर उपलब्ध होने चाहिये।

नेत्र विज्ञानी के चिकित्सालय में काम करने वाली परिचारिका की यह ड्यूटी है कि वह रोगियों को बुलाये और उनका पंजीकरण करे, चिकित्सक द्वारा निर्देशित विभिन्न जांच (दृष्टि तीक्ष्णता को ज्ञात करना, अन्तरक्षि दाब को मापना, वर्णबोध और दृष्टि क्षेत्र की जांच) करना है तथा चश्मे के शीशों के चयन में सहायता करना है। हस्तोपचार (नेत्र श्लेष्मा कोश का धोवन, नेत्र बिन्दु का बिन्दुपात करना, मल्हम लगाना, रोहेयुक्त कणिकाओं को दबाकर साफ करना, इत्यादि) और चिकित्सा-लय के काम (यह देखना कि रोगी चिकित्सक के पास अपने निश्चित समय पर आये, और यह निश्चित करना कि रोगी चिकित्सक की सलाह और निर्देश का पालन करे) आदि काम उपचारिका करती है।

चिकित्सालय का नेत्र विज्ञान विभाग. नेत्र विज्ञान विभाग में वार्ड, ड्रेसिंग कक्ष, एक शस्त्रकर्म कक्ष के साथ में उप कक्ष, अन्धकक्ष और अतिरिक्त कक्ष होने चाहिये।

बड़े चिकित्सालयों में शस्त्रकर्म किये हुए रोगियों के लिये एक विशेष कक्ष होता है। ऐसा प्रबन्ध चिकित्सा कर्मियों को रोगियों की देख-रेख करने में सुविधाजनक होता

है। इन कक्षों में शय्या इस प्रकार लगायी जाती है कि रोगी अर्धशायी अवस्था में रहे।

ड्रेसिंग कक्ष में वही सब सामान और औषधियाँ होती हैं, जैसी कि नेत्र विज्ञानी कार्य कक्ष में। यदि हस्तोपचार के लिये कोई विशेष कक्ष उपलब्ध न हो तो ड्रेसिंग कक्ष में एक मेज लगानी चाहिये, जहाँ पर अंत:शिरा आधान किया जा सके।

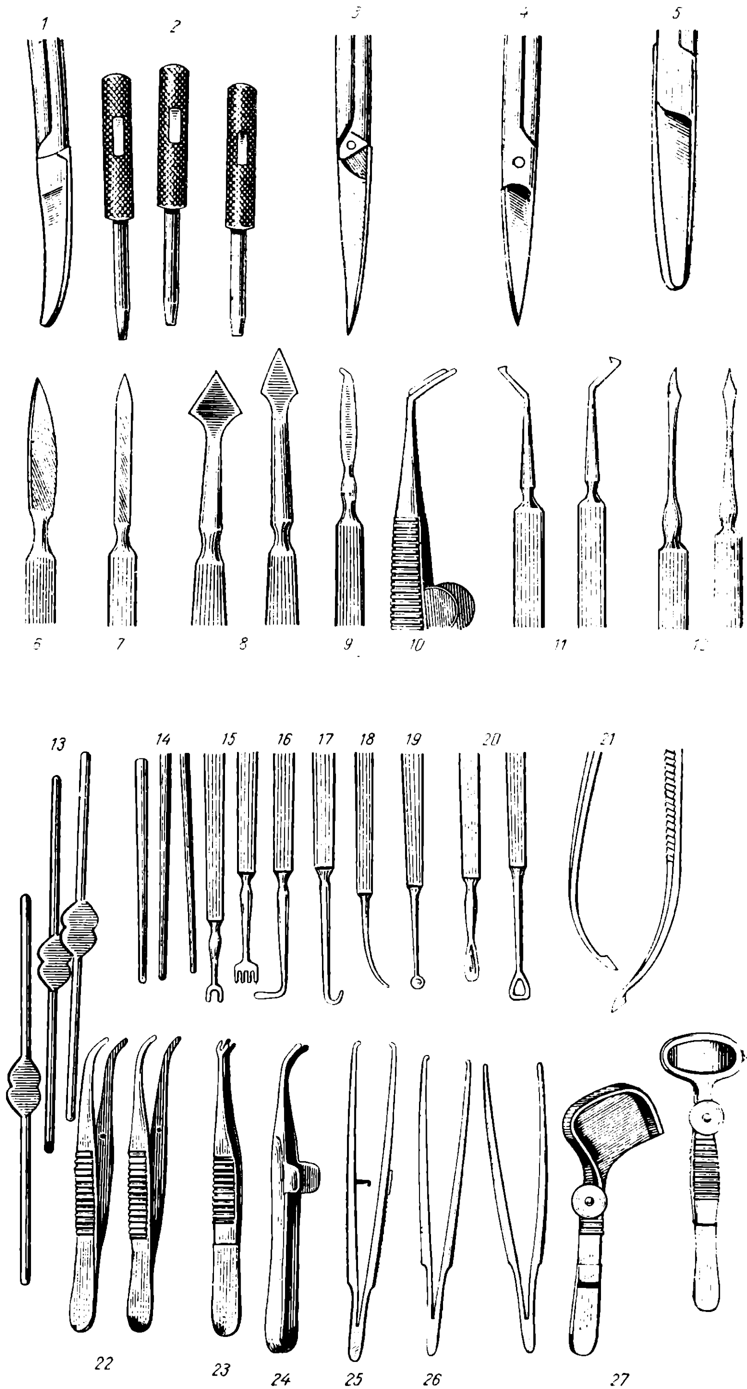
औषधियों की अलमारी में अलग-अलग ताले वाले खाने होने चाहिये। विष (ए) और अत्यन्त प्रभावशाली पदार्थ (बी) खानों में बन्द रखे रहने चाहिये। पहले खानों में एट्रोपीन, स्कोपोलामीन, वीलोकार्पिन, स्टिग्माइन, मार्फीन, आम्नोपान, आक्सी साइनेट तथा अन्य घोल रखे जाते हैं। अन्य औषधियाँ अलमारी के सामूहिक खाने में रखी जाती हैं। ड्रेसिंग कक्ष में सुवाह्य बिजली का लैम्प होना चाहिये, जिस में लम्बा तार लगा हुआ हो। इस लैम्प का प्रयोग घाव की ड्रेसिंग करने तथा शस्त्रकर्म किये गये रोगियों की जांच के लिये किया जाता है। यदि चिकित्सालय में भौतिक चिकित्सा कक्ष न हो तो ड्रेसिंग कक्ष में प्रयोग के लिये सोलम्स लेम्प परावर्तक वाला नीला लैम्प और वैद्युत कण संचलन के लिये उपकरण रखे जाते हैं।

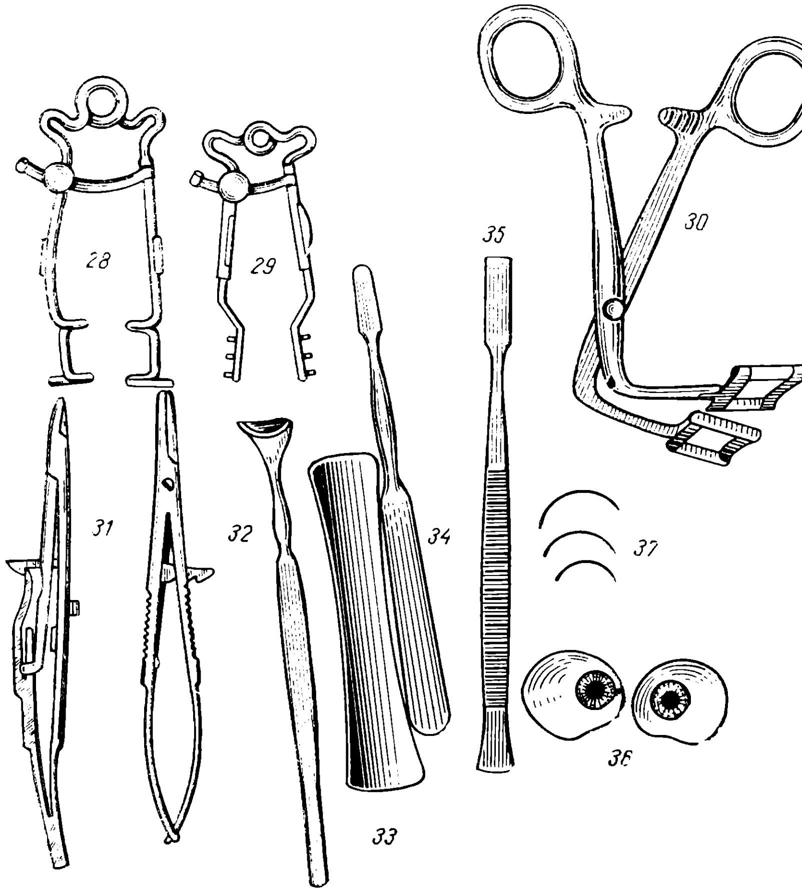
ऊपर बताई गयी रोगियों को दी जाने वाली औषधियों को परिचारिका रोगी को ड्रेसिंग कक्ष में लगाती है। बहुधा औषधियों के दो सेट होते हैं (एक सेट शस्त्रकर्मोत्तर रोगियों के लिये); औषधियों के ये सेट औषधि वाली अलमारी में रखे जाते हैं।

परिचारिका और चिकित्सक के द्वारा रोगी की पट्टियाँ सवेरे बदली जाती हैं। शय्या विश्राम वाले रोगियों की पट्टी पहले की जाती है। विसंक्रामित औषधियों वाली ट्रे, ड्रेसिंग पदार्थों वाला बक्सा, पट्टियों और बिजली वाला लेम्प वार्डों ले जाये जाते हैं। परिचारिका पुरानी पट्टी को हटाती है और चिकित्सक रोगी की आँख पर लगे हुए गाज और रूई के पैड को हटाता है। और फिर पलकों के सिरों को विसंक्रामक में भिगोई हुई रूई से साफ करता है और नेत्रच्छद विदर को खोलता है तथा परिचारिका नेत्रश्लेष्मा कोष में बिन्दुपात करती है। इसके बाद चिकित्सक रोगी की बन्द आँख पर विसंक्रामित गाज रूई का पैड रखता है और परिचारिका रोगी को बैठाकर या एक तरफ घुमाकर चिकित्सक के आदेशानुसार पट्टी बांधती है। अन्य रोगियों की पट्टी चिकित्सक और परिचारिका द्वारा सवेरे के दौरे में बांधी जाती है। इसके बाद दिन में परिचारिका अकेले ही चिकित्सक के लिखित आदेशों के अनुसार पट्टी बदलती है।

परिचारिका अन्तर्शिरा और अन्र्तपेशीय इन्जेक्शन लगाती है, और पट्टी करने के बाद अन्य उपचार करती है तथा भौतिक चिकित्सा कराती है। खाने के लिये औषधियाँ बहुधा भोजन से पहले दी जाती हैं।

वार्डों में काम करने वाली नर्स को यह देखना चाहिये कि वार्ड साफ-सुथरे हैं। स्वच्छता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन हो रहा है, जांच के लिये पदार्थ समय से प्रयोगशाला में भेजे जाते हैं, तथा रोगी एक्स-रे चित्रण और अन्य चिकित्सकों से


1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24
25
26
27



चित्र 151. नेत्ररोगों में प्रयुक्त उपकरण

1, 5. अकर्तक कैंचियाँ, 2. एलिएट ट्रेफाइन, 3, 4. नुकीली नेत्रीय कैंचियाँ, 6. नेत्रीय स्काल्पेल, 7. ग्रैफे की मोतियाबिन्दु छुरी, 8. बल्लभ के आकार वाली छुरी, 9. वेबर छुरी, 10. वेकर छुरियां, 11. शिष्टोंटोम, 12. आगंतुक शल्य को निकालने के लिए सुइयाँ, 13. ब्राडमैन प्रोब, 14. जिखल की शंकु आकारवाली प्रोब, 15. नुकीली नेत्रीय टिनेकुला, 16. पेशीय टिनेकुलम, 17. ओम की सुइयाँ, 18. नेत्रीय स्पैचुला, 19. चलेजियन चम्मच, 20. डेवियल का चम्मच और वेबर का, लूप, 21. एक्सेनफील्ड चम्मच, 22. परितारिका संदंश, 23. पोलियाक संदंश, 24. कैप्सूल संदंश, 25. स्थिरक संदंश, 26. अंगूठे वाला संदंश और माउथ टूथ संदंश 27. स्नेलेन का क्लैम्प संदंश, 28. ब्लेफारोस्टाट, 29. घाव आकुंचक, 30. श्लेष्मा ओष्ठ के लिए संदंश, 31. नेत्रीय सुई धारक, 32. डीमार का पलक लिफ्टर, 33. एगरप्लेट, 34. रैस्पेटरी, 35. अस्थि गूज, 36. अक्षि कृत्रिम अंग, 37. नेत्रीय सुइयाँ।

सलाह के लिये जाते हैं। रोगवृत्त के साथ विश्लेषण के परिणाम नत्थी किये जाते हैं। उसी वृत्त में रोगी के शरीर का तापमान (वक्ररेखा के रूप में) रिकार्ड किया जाता है।

परिचारिका अपनी ड्यूटी पर रोगियों की देख-रेख और चिकित्सक के निर्देशों का पालन करने वाले रोजमर्रा के काम के साथ-साथ स्वास्थ्य शिक्षा का भी काम करती है, रोगियों को समाचार पत्र पढ़कर सुनाती है और यह देखती है कि चिकित्सालय के नियमों का पालन हो। परिचारिका रोगी के सम्बन्धियों से खाद्य पदार्थों के पार्सल ग्रहण करती है तथा सेनेटरी परिचारिकों और जमादारिनों का निरीक्षण करती है। प्रातः काल ये चिकित्सक को रोगी की रात्रि के समय की दशा की रिपोर्ट करती हैं।

शस्त्रकर्म कक्ष के साथ लगे हुए उपकक्ष में अलमारियाँ होती हैं, जिन में यन्त्र, उपकरण, औषधियाँ और ड्रैसिंग का सामान रखा जाता है। इस उपकक्ष में ड्रेसिंग के लिये मेज होती है और एक आराम कुर्सी भी, जिस पर रोगी को शस्त्रकर्म कक्ष में ले जाने से पहले बिठाया जाता है। विसंक्रमण के लिये तैयार किये जाने वाले शस्त्रकर्म कक्ष के सामान, कर्मचारियों के मास्क (रोगी के सिर और धड़ से लेकर पेट तक ढकने वाले लीनेन के टुकड़े) कुछ ड्रमों में रखे जाते हैं, जबकि पट्टियाँ, रूई के पैड वाली गाज जिससे कि शस्त्रकर्म के बाद ड्रेसिंग के समय आँख को ढकते हैं, गाज नेप्किन, कसी बनी हुई रूई की बत्तियाँ, लकड़ी की शलाकाएं, जिनके सिरे पर रूई लिपटी हो, और लम्बी पतली गाज के टैम्पन दूसरे ड्रमों में रखे जाते हैं।

नेत्रीय उपकरण (चित्र 151) उत्तम और नाजुक होते हैं, इसलिये उन्हें विशेष स्टैण्डों पर रखना चाहिये। बड़ी सावधानी और कुशलता से उन पर धार लगायी जाती है। यह जिम्मेदारी पूतिक उपचारिका की है जो कि सादे धार-पत्थर को प्रयोग में लाती है। यन्त्रों पर धार रखने के लिये बिजली का विशेष उपकरण अधिक सुविधाजनक होता है। शस्त्रकर्म कक्ष में शस्त्र कर्म के लिये एक विशेष मेज होती है। इस में ऊपर एक लैम्प लटका होता है (यह लैम्प यदि ऐसा हो जिसकी छाया न बने तो अच्छा है)। इस लैम्प से शस्त्रकर्म क्षेत्र यन्त्रों की मेज, ड्रम स्टैन्ड, यन्त्रों वाली अलमारी, चुम्बक डायाथर्मी के लिये उपकरण इत्यादि प्रदीप्त रहते हैं।

सामान्य शस्त्रकर्मी नियमों के अनुसार अपूतिक उपचारिका लीनेन, ड्रेसिंग पदार्थ, रेशम, कैटगट को पहले से ही विसंक्रामित करके तैयार रखती है। शस्त्रकर्म से 1 घंटा पहले वह कर्तन यन्त्रों को अल्कोहल में डालकर रखती है तथा अन्य उपकरणों को उबालकर विसंक्रामित करती है। बिन्दुपात के लिये सभी घोलों को (एट्रोपीन, पोलीकार्पिन, टेट्राकेन, इत्यादि) ठीक उसी तरह ताजा तैयार करते हैं, जैसे कि प्रतिजीवी घोल तैयार किये जाते हैं। शस्त्रकर्म के बाद बची हुई औषधियों को परिचारिका ड्रेसिंग कक्ष में ले जाती है और अगले शस्त्रकर्म दिवस के लिये नयी (ताजी) दवाइयों का आर्डर देती है। अपूतिक परिचारिका शस्त्रकर्म से पहले अपने यहाँ सामान्य शस्त्रकर्म नियमों के अनुसार उन्हें धोती है, विसंक्रामित ढीला कुर्ता, दस्ताने पहनती

है और यन्त्र रखने वाली मेज पर विसंक्रामित चादर बिछाती है। फिर इस चादर पर वह यन्त्र, पिपेट, पिचकारियाँ गाज, रूई की पट्टियाँ, नोबाकेन, ट्रेटोकेन, एड्रेनेलिन, ब्रिलिएन्ट ग्रीन के घोल, शारीरी लवण घोल रखती है और इन सब को एक विसंक्रामित चादर से ढक देती है।

शस्त्रकर्म मेज के साथ एक छोटी ऊँची मेज होती है, जिसका ऊपरी बोर्ड शस्त्र चिकित्सक के हाथों के स्तर पर होना चाहिये। इस मेज पर शस्त्रकर्म के लिये आवश्यक सभी उपकरण रखे जाते हैं।

शस्त्र कर्म के दौरान उपचारिका शल्यचिकित्सक को आवश्यक घोल वाली पिचकारियाँ और यन्त्र पकड़ाती रहती है। एक बार भी प्रयोग में लाये गये यन्त्र को विसंक्रामक (स्टेरेलाइजर) में उबलते हुए पानी में डाल दिया जाता है, शस्त्रकर्म के बाद उपचारिका सभी उपकरणों को इकट्ठा करती है और उन्हें सहायक को देती है जो उन्हें फौरन धोकर विसंक्रामक में उबालता है।

रोगी को चिकित्सालय में भर्ती करके नेत्र विज्ञानी द्वारा और यदि आवश्यक हो तो अन्य विशेषज्ञों द्वारा, उसका ध्यानपूर्वक परीक्षण किया जाता है और इसके फौरन बाद ही शस्त्र कर्म की तैयारी प्रारंभ की जाती है। सभी रोगियों के रक्त की सामान्य जाँच, मूत्र-विश्लेषण, धमनी-दाब की माप की जाती है। यदि आदेश हो तो सीने का एक्स-रे चित्रण भी किया जाता है, श्लेष्मल कला का जीवाणुदर्शी अध्ययन अपरिहार्य है; यदि जाँच में रोगजनक सूक्ष्म जीवियों का पता लगे तो शस्त्र कर्म को तब तक के लिये स्थगित कर देना चाहिये जब तक कि रोगी के उपचार के बाद दुबारा किये गये परीक्षण में रोगजनक जीवाणु न हों। शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी के नेत्र में विसंक्रामित बिन्दुओं का बिन्दुपात प्रति दिन किया जाता है।

शस्त्र कर्म की पूर्व संध्या में रोगी को एनीमा दिया जाता है तथा स्नान कराया जाता है। शस्त्रकर्म से पूर्व की विशेष औषधियाँ दी जाती हैं। शस्त्रकर्म वाले दिन की सुबह को रोगी को खाने व पीने के लिये कुछ भी नहीं दिया जाता है। शस्त्रकर्म कक्ष के साथ वाले उपकक्ष में रोगी अपना ढीला कुर्ता और जूते उतार कर विशेष लीनेन के मोजे पहनता है। जिस नेत्र का शस्त्रकर्म करना है रोगी के उस ओर के कान में वार्ड उपचारिका रूई लगा देती है जिससे कि रक्त कान में न जा सके और शस्त्रकर्म से पूर्व नेत्र में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का 3 बार बिन्दुपात किया जाता है। इसके बाद उपचारिका रोगी को शस्त्रकर्म कक्ष में ले जाती है, उसे मेज पर लिटाती है तथा चादर ओढ़ा देती है। शस्त्रकर्म मेज पर रोगी के चेहरे को (कान से लेकर नाक के बीच तक) और पलकों को 1 प्रतिशत ब्रिलिएन्ट ग्रीन के अल्कोहल घोल से 2 बार धोया जाता है। फिर नेत्र गोलक के पीछे 1 प्रतिशत कोकेन घोल का इंजेक्शन लगा कर संज्ञाहरण किया जाता है। यह इंजेक्शन नेत्र गोलक में नेत्र श्लेष्मला के नीचे और अगर आवश्यक हो तो, पलकों के मोटे भाग में लगाया जाता है। वार्ड उपचारिका को पूरे समय शस्त्र कर्म कक्ष में मौजूद रहना चाहिये। शस्त्रकर्म

के बाद वह रोगी के नेत्र पर पट्टी बांधती है और उसे सहायक की सहायता से या आवश्यकता होने पर पहिये वाले स्ट्रेचर पर लिटाकर, वार्ड में ले जाती है। रोगी को शस्त्रकर्म वाले दिन तरल भोजन शस्त्र कर्म के कई घंटों बाद देना चाहिये।

शस्त्र कर्म के लिये निश्चित किये गये रोगियों को ठीक समय पर शस्त्रकर्म कक्ष में भेजना ड्यूटी पर तैनात वार्ड-उपचारिका की जिम्मेदारी होती है।

शस्त्र कर्म के उपरान्त के प्रथम कुछ दिनों तक रोगी की हालत, उसकी खुराक पर उपचारिका को अधिक ध्यान देना चाहिये। वह इन्हें भोजन कराती है और इस बात का ध्यान रखती है कि उन्हों ने मल मूत्र का विसर्जन किया है। वह चिकित्सक द्वारा दिये गये सभी निर्देशों का पालन करती है। इस बात पर जोर देना चाहिये कि शस्त्र कर्म की सफलता के लिये आपरेशन के बाद की सही देख-रेख बहुत महत्वपूर्ण है।

नेत्र रोगों से पीड़ित लोगों की देख-रेख और उनके उपचार की विधियाँ

नेत्र रोग बहुधा दैहिक रोगों के फलस्वरूप होते हैं। जैसे आमवात, यक्ष्मा, रुग्णता, आविधद्रव्यता, सिफिलिस, विधाणु और अन्य बहुत से संक्रामक रोग, अन्तःस्रावी विकार, हृद्वाहिका विच्छतियाँ, तंत्रिका तंत्र और रक्त के रोग इत्यादि। इसलिये रोग का कारण और निदान करने के बाद यह आवश्यक है कि मुख्य रोग का उपचार किया जाय। व्यापक प्रभाव के लिये अधिकतर प्रयोग में आने वाली औषधियाँ सल्फानीलामाइड प्रतिजीवी, विटामिन, सार्वदैहिक शक्ति दायक औषधियाँ, विशिष्ट चिकित्सा (यक्ष्मा, सिफिलिस, आमवात, आविधद्रव्यता, विधाणुज) ऊतक योग तथा अन्य औषधियाँ हैं। ये औषधियाँ सामान्य चिकित्सा नियमों के अनुसार प्रयुक्त खुराकों में दी जाती है। नेत्र की रोग जनक अवस्था में रोगी को भौतिक चिकित्सा और खनिज जलीय चिकित्सा बताई जाती है। कुछ रोगियों में नियमित आहार दैनिक जीवन और काम तथा अध्ययन करने का विधान बताया जाता है और कभी-कभी हानिकारक व्यावसायिक कारणों को दूर करना भी आवश्यक होता है। दशा के अनुसार विभिन्न प्रकार के स्थानिक उपचार का भी बहुत महत्व होता है, जैसे नेत्रों का धोवन, नेत्र में बिन्दुपात और मलहम लगाना, उप नेत्र श्लेष्मला और पश्च नेत्र गोलक में दवाइयों के इंजेक्शन तथा वैद्युत कण द्वारा औषधियाँ देना।

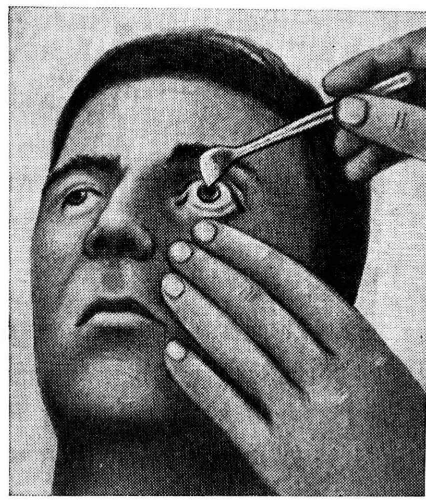
धोवन. नेत्र श्लेष्मला कोष को विसंक्रामित करने के लिये तथा सतह से आगन्तुक शल्य को निकालने के लिये तथा दग्ध होने के बाद रासायनिक पदार्थों को निकालने के लिये, तनावमिति के बाद अभिरंजक को हटाने के लिये धोवन क्रिया की जाती है। धोवन क्रिया के लिये शरीरी लवण घोल या मरकरी सायनाइड अथवा आक्सीसाइनाइड (0.01%), बोरिक एसिड (2%), पोटैशियम परमैंगनेट (0.02%) आदि घोलों का प्रयोग किया जाता है। इन घोलों को काँच की सेंचनी में ढालते हैं,

रबर के गुब्बारे में चोषण द्वारा भर लेते हैं, या उनमें रूई के बड़े-से फाहे को अच्छी तरह भिगा लेते हैं। पलकों को अलग-अलग करके या बहिर्वलित करके नेत्र श्लेष्मला का **धोवन** किया जाता है। आँख से बहे हुए द्रव को रोगी की चिबुक से सटी हुई गुर्दे के आकार वाली ट्रे में इकट्ठा होने देते हैं।

नेत्र-वैज्ञानिक इलाज में बहुधा **बिन्दुओं** का प्रयोग किया जाता है। बिन्दुपात के लिये रोगी को ऊपर की ओर देखने के लिये कहा जाता है (चित्र 152) और नीचे की पलक को बायें हाथ में भिगी हुई रूई से या रूई के टेम्पन वाली लकड़ी की शलाका से नीचे खींचा जाता है। फिर दायें हाथ की मध्य और तर्जनी अंगुली से



चित्र 152. औषधि बिन्दुओं का बिन्दुपात।

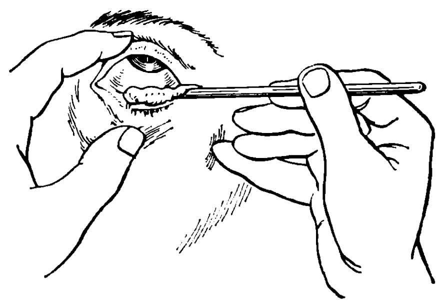


चित्र 153. नेत्र श्लेष्मला में औषधीय पाउडर डालना।

पिपेट को पकडते हैं और पिपेट के रबर की टोपी को अंगूठे से दबाकर नेत्र श्लेष्मा की निचली तोरणिका में औषधि की एक या दो बूंद का बिन्दुपात किया जाता है। इसके बाद पर्तों के किनारों को गीली रूई से साफ कर दिया जाता है। बोतल के बिन्दुओं को संक्रामण से बचाने के लिये पिपेट को रोगी के यक्ष्म से स्पर्श नहीं होने देना चाहिये। यदि ऐसा हो जाय तो पिपेट को धोने और उबालने के बाद ही बोतल पर लगाना चाहिये।

मलहम. मलहम के रूप में प्रयोग की हुई औषधि का प्रभाव दीर्घकालिक होता है। अघुलनशील या कम घुलने वाली औषधियाँ मलहम के रूप में बनायी जाती है। किरीट के दोषों (अपरदन, व्रण इत्यादि) में तथा नेत्र दग्ध होने पर पलकों के श्लेष्मा आवरण को आँख में चिपकने से बचाने के लिये अधिकतर मलहम का प्रयोग

किया जाता है। मलहम नरम एवं मुलायम होना चाहिये। इसके लिये लेनोलिन और वैस्लीन बराबर मात्रा में मिला कर आधार बनाते हैं, जिसमें औषधियों को अच्छी तरह से घोंटते हैं। मलहम को नीचे की पलक के पिछले भाग में कांच शलाका से लगाते हैं, जबकि रोगी ऊपर की ओर देखता है (चित्र 154)। फिर रोगी अपनी आँख बन्द करता है और शलाका को वर्त्मविदर में से कनपटी की ओर खींचकर निकाल लेते हैं और इस प्रकार मलहम दोनों पलकों के बीच रह जाता है। फिर मलहम को आँख में बराबर से फैलाने के लिये बन्द पलकों के ऊपर अंगुली से मल देते हैं।



चित्र 154. मलहम का लगाना।

पाउडर लगाना. औषधि का बहुत महीन पीसा हुआ पाउडर नेत्र श्लेष्मला में छिड़का जाता है। यह क्रिया कांच की शलाका से की जाती है, जबकि इस शलाका पर औषधि को लेकर अधःतोरणिका की नेत्र श्लेष्मा में छिड़का जाता है (चित्र 153), या ऊपरी पलक को पलट कर दोनों ही पलकों की नेत्र श्लेष्मा में इसे लगाते हैं।

अवनेत्र श्लेष्मला इंजेक्शन. नेत्र में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का बिन्दुपात तीन बार करके संवेदनाहरण होने के बाद औषधि के घोल का नेत्र श्लेष्मा के नीचे पिचकारी से इंजेक्शन दिया जाता है।

पलकों की मालिश काँच की कड़छी से करते हैं। कड़छी को नेत्र श्लेषमल तोरणिका में प्रवेश कराते हैं, और पलक की किनारी को उंगली से कड़छी पर दबाते हुए उसे पलक के भीतरी कोने से बाहरी कोने की ओर खिसकाते हैं। इस प्रकार से उपास्थि की मेबोमी ग्रन्थि का स्राव निकल जाता है।

भौतिक चिकित्सा तथा एक्स-रे चिकित्सा

किरण-चिकित्सा चिकित्सक की सलाह पर गंडमाला व यक्ष्मा के रोगियों का इलाज क्वार्ट्स लैंप की पराबैंगनी किरणों से किया जाता है। आंतरिक अंगों और पर्विकाओं की सक्रिय यक्ष्मा रुग्णता में तथा लसिका रक्ताल्पता में विकिरण-चिकित्सा प्रतिदिष्ट है।

परावृतिक तरंगों द्वारा चिकित्सा. परावृतिक (अति उच्च आवृति वाली) तरंगों द्वारा चिकित्सा नेत्र-श्लेष्मा, अश्रु वाहक अंगों, किरीट और परितारिका के तीव्र शोथीय प्रक्रम में दी जाती है। ज्वर नये अन्तरक्षि स्राव, दुर्दम अर्बुद और अतिरिक्त दाब में यह चिकित्सा प्रतिदिष्ट है। इस उपचार की 5–10 मिनट की बैठकें प्रति दिन या एक दिन छोड़कर और कुल 5 या 10 बार दी जाती हैं।

ताप चिकित्सा. नेत्र और इसके अपर उपकरणों के शोथीय विकार स्थान का शमन करने के लिये तथा पीड़ाहरण के लिये गर्म पानी की थैली, हीटर, उष्ण संपीड, सोलक्स लैम्प से आँख की सेंकाई की जाती है। प्लास्टिक शस्त्रकर्म या अभिघात के बाद त्वचा के क्षति-चिन्ह को ठीक करने के लिये पैराफिन अनुप्रयोग का भी प्रयोग किया जाता है।

एक्सरे चिकित्सा. दृष्टि-अंगों में नवीन दुर्दम वृद्धि को दूर करने के लिये एक्सरे चिकित्सा की सलाह दी जाती है। नेत्र के अग्रभाग, परितारिका और रोमक पिण्ड के शोथीय रोगों का उपचार एक्स-रे की थोड़ी-थोड़ी मात्रा से, विशेष कर अभिघात के बाद, किया जाता है।

एलेक्ट्रोफोरेसिस (विद्युत्वहन, विद्युत द्वारा वहन) औषधि के कोलायडी कणों को विद्युत-क्षेत्र के प्रभाव द्वारा रोगी अंग में पहुँचाने की विधि है। इसके लिये दवा को विशेष कटोरी में रखा जाता है या रूई में सोख कर रखा जाता है।

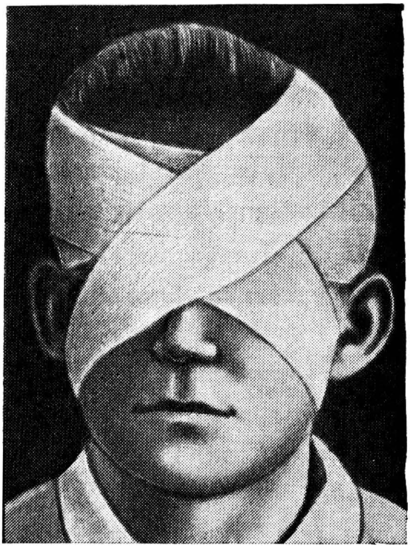
परास्वनि का प्रयोग शस्त्र कर्म या चोट के बाद लेन्स के अवशेषों का उपशमन करने के लिये, विभिन्न प्रकार के रोगों में दृष्टि स्नायु, दृष्टि पटल की वाहिकाओं का विस्फारण करने के लिये किया जाता है।

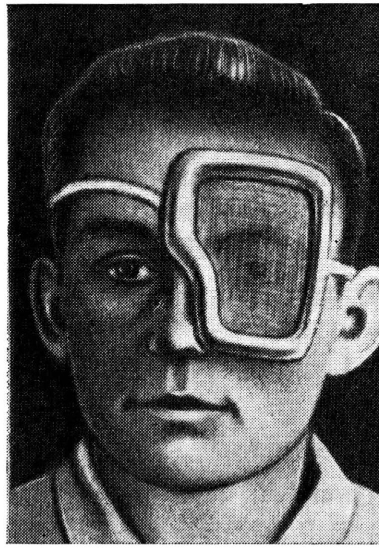
पट्टी का प्रयोग नेत्र के शस्त्रकर्म के बाद, घाव होने पर और ऐसे रोगों में जबकि नेत्र को गरम और शांत रखना हो, किया जाता है। नेत्र श्लेष्मला शोथ, अश्रुकोण शोथ, और किरीट में सपूय व्रण होने पर आँख पर पट्टी नहीं बांधते।

पट्टी बांधने से पहले आँख को गाज के गोल पैड और रूई की कुछ पर्तों से ढका जाता है। रोगग्रस्त आँख पर सिर की ओर से तिर्यक रूप से हल्की पट्टी बांधी जाती है या पट्टी को एक बार कन्धे की ओर से घुमाकर बांधा जाता है। नेत्र की सर्वोत्तम सुरक्षा **एकाक्षिक पट्टी** को कई बार घुमाकर बांधने से होती है, जोकि रोगग्रस्त आँख से सिर के दूसरी ओर तिर्यक रूप से बांधकर होती है (चित्र 155)। इसके बाद सिर के पीछे की ओर कान के खण्डक और भौंह से होते हुए फिर आँख की ओर लाकर सिर के पीछे पट्टी बांधते हैं। सिर के चारों ओर पट्टी के दो फेरे देकर ड्रेसिंग पूरी होती है। पट्टी की गांठ मत्थे पर



चित्र 155. एकनेत्रीय मलहम पट्टी।





चित्र 156. द्विनेत्रीय मलहम पट्टी।   चित्र 157. नेत्रीय जालिका।

या रोगी ग्रांख की तरफ वाली कनपटी पर बांधी जाती है।

द्विनेत्रीय पट्टी (चित्र 156) प्रत्येक ग्राँख पर एक-एक तिर्यक फेरा देकर बांधते हैं। रूई वाले गाज के पैड को ग्राँख पर चिपकने वाले टेप से चिपकाया जाता है या गाज के बड़े टुकड़े को त्वचा से चिपका देते हैं। यदि नेत्र श्लेष्मला कोश से सपूय स्राव होता है, ग्रौर ग्राँख पर पट्टी बांधना ग्रावश्यक हो जैसे कि शस्त्र कर्म के बाद, तो पहले ग्राँख की गर्त के ऊपर धातु की जाली लगाते हैं (चित्र 157) फिर पट्टी बांधी जाती है।

ग्रश्रु ग्रंगों ग्रौर पलकों के रोग

पलकें त्वचा ग्रौर पेशी की पुटक हैं जो कि नेत्र के कोनों से बाह्य ग्रौर ग्रान्तरिक नेत्रच्छद संयोजिका से जुड़े होती हैं। पतली त्वचा के नीचे वृत्तीय पेशी ग्रौर इसके पीछे दोनों पलकों के रोमक सिरे पर उपास्थि होती है। उपास्थि के सामने वाले किनारे नेत्र-गर्त के सिरों से गुल्फ नेत्र गुहा प्रावर्णी के द्वारा जुड़े होते हैं। पलक ऊपर उठाने वाली पेशी ऊपरवाली पलक की उपस्थि, श्लेष्मल कला से जुड़ी होती है। पलकों के सिरों पर बरौनी होती है ग्रौर पलकों की ग्रन्थियों की उत्सर्गी मार्ग (वाहिकाएं) बरौनी की रोम-पुटिकाग्रों में खुलते हैं। उपस्थि ग्रन्थियों की मेबोमी उत्सर्गी वाहिकाएं बरौनी के पीछे वाली पलकों के सिरों में खुलती हैं। पलकों में धमनी ग्रौर शिराग्रों का विशाल तन्त्र ग्रौर संवेदी तंत्रिका वितरण होता है।

पलकें नेत्रों की तेज प्रकाश, धूल, चोट और सोते समय रक्षा करती हैं। पलकों की ग्रन्थियों का आस्राव अश्रुओं के साथ मिलकर किरीट को सूखने से बचाता है।

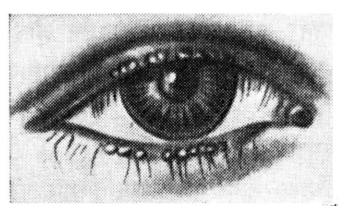
पलकों की त्वचा के रोग. पलकों की फुन्सी, विसर्प, छाजन तथा अन्य रोग त्वचा के अन्य भागों के होने वाले रोगों के समान होते हैं। इनके लक्षणों और उपचार की अलग से कोई चारित्रिक विशिष्टता नहीं होती।

पलकों के सिरों पर शोथ (वर्त्म शोथ) के कई कारण हो सकते हैं: रक्ताल्पता के कारण होने वाले सामान्य विकार, पोषण की कमी, अल्प- या अविटामिनता, यक्ष्मा, मधुमेह, और कृमिरुग्णता, दन्तरोग, परानासा बिवर के रोग, और गलतुण्डिका शोथ। जीवाणुज संक्रामण (स्टेफाइलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस इत्यादि) वर्त्मशोथ का आम कारण होता है। घर पर और काम करने की जगह पर स्वास्थकर परिस्थिति के अभाव, अपवर्तन की असंगतियों, विशेष कर दूरदृष्टिता और दृष्टि वैषम्य के कारण, यह रोग बढ़ता है। वर्त्मशोथ बहुधा चिरकारी और पुनरावर्ती होता है।

वर्त्मशोथ के साधारण और व्रणीय रूप में भेद किया जाता है, जो कि एक ही प्रक्रम के बहुधा भिन्न चरण होते हैं।

साधारण वर्त्मशोथ में पलकों के सिरों पर खुजली, लाली होती है तथा ये मोटे होते हैं। बरौनी की जड़ में पपड़ी और भूरे रंग का शल्क हो जाता है तथा बरौनियाँ आंशिक रूप से लुप्त हो जाती हैं, प्रकाश, धूल और धुएं, इत्यादि के प्रभाव के लिये पलकें बहुत ही सूक्ष्मग्राही होती हैं। ये जल्दी ही लाल हो जाती हैं और सूज जाती हैं।

व्रणीय वर्त्मशोथ (चित्र 158) में पलकों के सिरों पर सूजन आ जाती है। नेत्र में बरौनियों के नीचे व्रण होते हैं, और इनकी जड़ में सपूय पपड़ी बन जाती है। नेत्र बरौनियाँ आपस से जुड़कर गुच्छा सा बना लेती हैं और आसानी से गिर जाती हैं। कुछ बरौनियाँ विरूपित हो जाती हैं और नेत्र गोलक में रगड़ खाती रहती हैं। इस प्रक्रम के कारण क्षतांकित होकर पलकें मोटी हो जाती हैं। बरौनियाँ और पलकें कभी-कभी वहिर्वलित हो जाती हैं। वर्त्मशोथ के साथ-साथ सदैव नेत्र श्लेष्मा शोथ होता है।

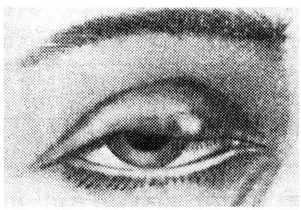


चित्र 158. सव्रण वर्त्म शोथ।

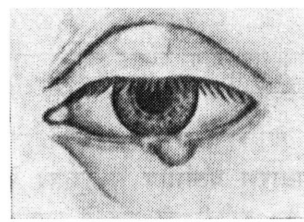
इस रोग का **उपचार रोग** के मुख्य कारण का उपचार करके तथा चश्मा लगाकर किया जाता है (रोगी को खाने के लिये पोली विटामिन दिये जाते हैं, नेत्र श्लेष्मला कोष में विसंक्रामक घोल का बिन्दुपात किया जाता है [10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन, 30% सोडियम सल्फासेटामीड, 0.25% क्लोरनाइट्रोमीसीन (अंतर्राष्ट्रीय नाम: क्लोरांफेनीकोलुम), 0.5% मोनोमीसीन]। पलकों के सिरों पर सिन्थो-

माइसीन (1%), क्लोरम्फ़ेनीकाल (2%), पीले मरक्यूरिक ग्राक्साइड या ग्रन्य किसी मलहम से स्नेहन किया जाता है। सिरों पर ग्रल्कोहल घोल (1%) का लेप किया जाता है। व्रणीय वर्त्मशोथ में पपड़ी को मलहम से मुलायम करने के बाद उसे हटा कर 1% ब्रिलिएन्ट ग्रीन घोल, या 1% ग्रायोडीन टिन्चर का ग्रालेप करने के बाद प्रतिजीवी मलहम (1% टेट्रासिक्लीन) का प्रयोग किया जाता है।

अंजनामिका (पलक पर फुड़िया, बिलनी, चित्र 159) बरौनी की जड़ पर पुटिकाग्रों या त्वग्वसीय ग्रन्थियों या बरौनी की पुटिकाग्रों का सपूय शोथ है। इसका क्षेत्र स्पर्शसिरथ हो जाता है ग्रौर इसके चारों ग्रोर लाली हो जाती है तथा पलकों के



चित्र 159. ग्रंजनी (ग्रंजनामिका)।



चित्र 160. लगण (**चैलेजियान**)।

सिरों की त्वचा सूख जाती है ग्रौर उस के फटने पर पूय का विसर्जन होता है। ग्रंजनी का बहुधा पुनरावर्तन होता है उसके साथ ही वर्त्मशोथ हो जाता है, क्योंकि इन दोनों रोगों के कारण समान हैं।

चिकित्सा. बूंदें: 20-30% सोडियम सल्फासेटामीड, या 10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन (दिन में 4-5 बार); मलहम: 1% टेट्रासीक्लीन या एरीथ्रोमीसीन।

सूख सेंक या परावृतिक तरंग चिकित्सा, स्वरक्त चिकित्सा ग्रौर खाने के लिये सल्फानीलामाइड, बीयर (पेय) वाला यीस्ट ग्रौर पोली विटामिन से इसकी चिकित्सा हो जाती है। ग्रंजनामिका को दबाने नहीं दिया जाता है (शल्य चिकित्सा संभव है), क्योंकि इससे प्रक्रम का प्रसार शिरातन्त्र से होकर नेत्र गुहिका ग्रौर मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। इस का विसर्ग होने पर विसंक्रामक मलहम लगाते हैं ग्रौर वर्त्मशोथ में दी जाने वाली सामान्य चिकित्सा की जाती है।

लगण. यह पलकों की उपास्थि की मेबोमी ग्रन्थि का चिरकारी शोथ है। इसमें नेत्र श्लेष्मा की सामान्य त्वचा पर मटर के ग्राकार की विक्षति होती है (चित्र 160)।

उपचार. यदि सेंक, ग्रति तरंग चिकित्सा ग्रौर विसंक्रामक मलहमों, बिंदुपात ग्रादि से लगण का शमन न हो सके तो इसे निकाल देना चाहिये।

बिंदुपात के लिये प्रसाधन: 1% हाइड्रोकोर्टीजोन इमल्शन, 0.3% प्रेदनीजोलोन

घोल, 0.1% डेक्सामेटाजोन घोल, 3% सोडियम आयोडाइड (दिन में 3-4 बार)। मलहम: 0.5% हाइड्रोकोर्टीजोन – पलकी त्वचा पर।

अन्तर्वर्त्मता और बहिर्वर्त्मता. नेत्र श्लेष्मला के क्षतांकन होने पर अन्तर्वर्त्मता और त्वचा पर क्षतांकन होने पर बहिर्वर्त्मता होती है। अन्तर्वर्त्मता में आँख की बरौनियाँ अन्दर की ओर मुड़ जाती हैं और किरीट से रगड़ खाती रहती हैं, जिस से किरीट पर व्रण हो जाते हैं तथा श्वेत फुल्ली बन जाती है। बहिर्वर्त्मता में नेत्र श्लेष्मला से अश्रु स्राव होता है और फिर सूखापन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप किरीट व्रण हो जाता है।

इसका **उपचार** शस्त्रकर्म है। नेत्र विज्ञानी के पास रोगी को भेजने से पहले किरीट से रगड़ खाने वाली बरौनियों को बाहर की ओर नहीं खींचना चाहिये, क्योंकि इस दशा में विक्षति के स्थान का पता नहीं लगेगा और तत्काल ही शस्त्रकर्म नहीं हो सकेगा।

अल्प नेमेषी वह दशा है जिस में नेत्र पूरी तरह बन्द न किया जा सके। यह दशा तन्त्रिका संक्रामण, नेत्र मण्डलिका के नेत्रच्छदीय भाग का तंत्रिका-वितरण करने वाली आनन-तंत्रिका के अंगघात और मुखापट्ट की ऐसी चोट, जिनका क्षत चिन्ह गालों और पलकों की त्वचा पर पड़ जाता है, आदि के फलस्वरूप होती है। निचली पलक को बहिर्वलित करने पर लगातार अश्रुस्राव होता है और वर्त्मविदर खुल जाता है। क्योंकि नेत्र हर समय खुला रहता है इसलिये किरीट और श्लेष्मल कला सूख जाती है।

मुख्य रोग से मुक्ति और नेत्र श्लेष्मला कोश में विसंक्रामक घोल का बिन्दुपात करना ही इसका उपचार है। किरीट के सूख जाने पर और दीर्घस्थायी प्रवर्ध होने पर शस्त्रकर्म किया जा सकता है।

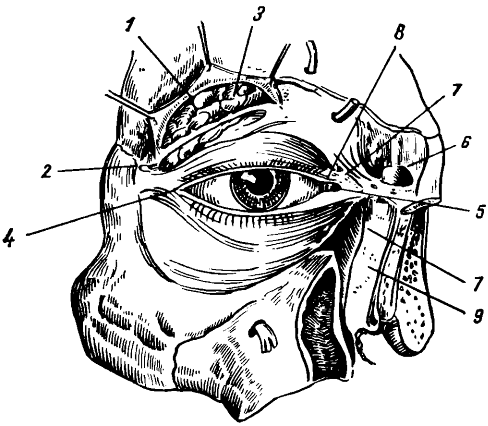
ऊपरी पलक का लटकना (वर्त्मपात) जन्मजात भी हो सकता है और ऊपरी पलक के चोट के कारण या केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के रोगों में नेत्र प्रेरक तंत्रिका का अंगघात होने के फलस्वरूप भी।

उपचार. जन्मजात वर्त्मपात का शस्त्रकर्म किया जा सकता है। यदि वर्त्मपात जन्म-जात नहीं है तो इसके मुख्य कारण का उपचार पहले करना चाहिये। यदि शस्त्रकर्म-रहित उपचार से ठीक न हो तो शस्त्र कर्म करना चाहिये।

पलकों पर दुर्दम नवीन वृद्धि आम तौर पर होने वाला अर्बुद कार्सिनोमा है जो कि निचले पलक के मध्यवर्ती कोण और कभी-कभी ऊपरी पलक में भी हो जाता है। इसमें त्वचा मोटी हो जाती है या दीर्घ अस्थाई पीड़ा-रहित ऐसा व्रण बनता है जिसके किनारे कड़े होते हैं, सतह की फर्श खुरदरी होती है और इस में से रक्तस्राव होता है। यह अर्बुद धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और पलकों को लगातार नष्ट करता रहता है। इस का प्रभाव नेत्र गोलक और नेत्र गुहा पर भी हो सकता है।

उपचार. विकिरण चिकित्सा, शस्त्रकर्म या दोनों को मिश्रित करके उपचार किया जाता है।

अश्रु तन्त्र (चित्र 161) में अश्रु ग्रन्थि और अश्रुवाही मार्ग भी सम्मिलित हैं। अश्रु ग्रन्थि नेत्र गुहा की पार्श्व ऊर्ध्व भित्ति (अश्रुग्रन्थि की खात) के अस्थीय गर्त में स्थित होती है। इस की वाहिनी ऊर्ध्व नेत्र श्लेष्मल तोरणिका में खुलती है, जिस में से अश्रु पलकों के झपकने और चलाने से नेत्र के मध्यवर्ती कोण की ओर प्रवाहित होते हैं। गुरूत्व से अश्रु आन्तरिक नेत्र श्लेष्मला तोरणिका से नीचे की ओर बहते हैं। अश्रु नेत्र-गोलक की सतह को आर्द्र करते हैं, आगन्तुक शल्य और धूल को धो देते हैं तथा सूक्ष्मजीवियों को नष्ट करते हैं। दोनों पलकों की धारा में स्थित अश्रु रन्ध्रकों से अश्रु निकासी पथ आरम्भ होता है। अश्रु सूक्ष्म नलिकाओं से बहते हुए अश्रु कोश में पहुँचते हैं। यह कोश नाक की मध्यवर्ती भित्ति के अस्थीय खात में स्थित होता है। अश्रु कोश में से नासा अश्रु वाहिनी से बहते हुए अधः नासा सुक्तिका के नीचे से निकलते हैं।



चित्र 161. अश्रु उपकरण।
1. अश्रु ग्रंथि, 2. अश्रु ग्रंथि का नेत्रच्छेद भाग, 3. अश्रुवाहिनी का नेत्रगोलीय भाग, 4. पार्श्व नेत्रच्छेद संयोजिका, 5. मध्यवर्ती नेत्रच्छेद संयोजिका, 6. अश्रुकोष, 7. अश्रुसूक्ष्म नलिका, 8. अश्रुरन्ध्रक, 9. नासाअश्रुवाहिनी।

अश्रु अंग के रोगों में अश्रु स्राव की मुख्य शिकायत होती है। अश्रु स्राव निरन्तर भी हो सकता है या केवल ठंड होने पर भी अश्रु स्राव के विभिन्न कारण होते हैं: अश्रु रन्ध्रक में मध्यवर्ती कोण के बहिर्वलित होने के साथ-साथ हल्की वहिर्वत्मता हो जाती है। अश्रु स्राव अश्रु निकासी पथ या अश्रु सूक्ष्म नलिकाओं के संकुचित हो जाने से, दांतों, नाक और परानासा बिवर के रोगों से भी होता है।

अश्रु निकासी पथ के संकोचन या पूर्ण रूप से अवरुद्ध होने का निदान कोलायड सिलवर टेस्ट, अश्रु निकासी पथ के धोवन, एक्सरे चित्रण या प्रोब से जांच करके किया जाता है। इस विकार वाले रोगियों को नेत्र विज्ञानी के पास भेजना अनिवार्य होता है, क्योंकि अश्रु निकासी पथ के पूर्ण रूप या आंशिकतः अवरुद्ध होने पर अश्रु कोश में स्थैतिकता हो जाती है, जिस से अश्रु कोश में संदूषण और चिरकारी शोथ हो जाता है जिसे अश्रु कोश शोथ कहते हैं।

अश्रुकोश शोथ. अश्रु रन्ध्रकों से अश्रुओं के अलावा पूय का भी विसर्जन होता है, विशेषकर तब, जब अश्रु कोश का क्षेत्र दबाया जाता है। पूय के निरन्तर विसर्जन के साथ-साथ चिरकालीन नेत्र श्लेष्मा शोथ भी हो जाता है, जबकि किरीट में तनिक सी भी चोट लगने से सपूय व्रण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप दृष्टि लुप्त हो सकती है या श्वेत फुल्ली बन जाती है।

इसका **उपचार** शस्त्रकर्म है: अश्रु कोश और नासा गुहा के बीच संयोजन किया जाता है। वृद्धावस्था में अश्रुकोश का निकाल देना ही इसका उपचार होता है।

अश्रुकोश का **फ्लेग्मोन** चिरकारी अश्रुकोश शोथ का जटिल रूप होता है, जबकि सपूय प्रक्रम कोश से लेकर कोशकीय ऊतकों तक फैल जाता है। शरीर का तापमान बढ़ जाता है और अश्रुकोश वाले क्षेत्र में त्वचा फूल जाती है, यह कठोर लाल और पीड़ादायक हो जाती है। फ्लेगमोन के फूलने पर लाल व्रण बन जाता है जिस में से सपूय विसर्जन होता है।

उपचार. सेंकना, क्वार्ट्ज मरकरी लैम्प से किरणन या अति उच्च तरंग चिकित्सा, खाने के लिये सल्फानीलामाइड या प्रतिजीवी औषधियाँ दी जाती हैं, तीव्र शोथ के घट जाने पर अश्रुकोश का शस्त्रकर्म किया जाता है, पेशी में प्रतिजीवी सूई दी जाती है।

नवजात शिशुओं में अश्रुकोश शोथ नासाश्रु वाहिकाओं के अधः सिरों के अविकसित होने या अन्य दोषों के फलस्वरूप होता है। इसकी अभिव्यक्ति अश्रु रन्ध्रकों से पूय के विसर्जन से और विशेषकर अश्रु कोश के क्षेत्र को दबाने पर पूय के विसर्जन से होती है। इस बात की सलाह दी जाती है कि बच्चे के मुख पट्ट के अश्रुकोश क्षेत्र की मालिश नाक की दिशा में दो हफ्ते तक करें तथा नेत्र श्लेष्मा कोश से पूय को निकालने के लिये विसंक्रामक घोलों का प्रयोग करें। यदि मालिश करने से कोई फर्क न पड़े तब बच्चे को नेत्र विज्ञानी के पास अश्रु निकासी पथ की जांच करने के लिये ले जाना चाहिये।

नेत्र श्लेष्मला के रोग

पलकों की निचली सतह में श्लेष्मल कला और नेत्र श्लेष्मला की रेखाएं होती हैं, जिनका परावर्तन श्वेत पटल पर होता है। परावर्तन की रेखा नेत्र श्लेष्मला की तोरणिका संघटित करती है। पलक की श्लेष्मल कला में कोशिकाओं वाली स्तम्भाकार उपकला होती है, जिसके स्राव से श्लेष्मला, अन्य वाहिकाएं और संवेदी तंत्रिकाएं आर्द्र होती हैं।

नेत्र रोगों की चिकित्सा में श्लेष्मल कला, शोथ तथा नेत्र श्लेष्मा शोथ बहुधा देखने में आते हैं।

तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ. संक्रामक नेत्र श्लेष्मला शोथ विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म

जीवाणुओं (स्टैफिलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, इत्यादि) और विषाणुओं से बहुधा होता है। यह रोग अधिकतर एकाएक एक आँख में और फिर दूसरी में होता है, परन्तु दोनों आँखें भी एक ही साथ रोगी हो सकती हैं। इस में रोगी को नेत्र की तीव्रपीड़ा, अश्रुस्राव, प्रकाश असह्यता और सपूय स्राव की शिकायत होती है। पलकों की श्लेष्मा सूज जाती है और लाल हो जाती है और कभी-कभी उपास्थि की नेत्रश्लेष्मला में झिल्ली बन जाती है। नेत्र गोलक की श्लेष्मला के नीचे से रक्तस्राव भी हो सकता है। किरीट पर असर होने से रोग में उपद्रव हो सकता है। एक ही तौलिये, रूमाल या तकिये को रोगी और स्वस्थ व्यक्तियों द्वारा प्रयोग करने से यह रोग स्वस्थ नेत्रों को भी लग जाता है। इस रोग के कारकों (कोचविक्स जीवाणु) को नेत्र श्लेष्मा शोथ से पीड़ित व्यक्तियों से स्वस्थ व्यक्तियों में मक्खियों के द्वारा भी लाया जा सकता है। शिशुओं में, विशेष कर छोटे शिशुओं में, नेत्र श्लेष्मा शोथ के साथ-साथ नासा शोथ व अनिद्रा भी हो जाती है तथा शरीर का तापमान बढ़ जाता है।

उपचार. विसंक्रामक घोलों (6.25% सिन्थोमाइसीन, 0.02% नाइट्रोफ्यूराजोन, 20-30% सोडियम सल्फासेटामीड, 10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन, 1% एरीथ्रोमीसीन, 10% सल्फाथायाजोल) का बिन्दुपात दिन में 4 से 6 बार किया जाता है। यदि 0.5 प्रतिशत सिन्थोमाइसीन, 1% क्लोराफेनिकोल या 0.25 प्रतिशत आक्सोलीन मलहम को पलकों में पीछे की ओर दिन में तीन बार लगाया जाय तो बेहतर होगा। रोग की तीव्रता में खाने के लिये सल्फानीलामाइड भी दी जाती है। यदि स्राव प्रचुर मात्रा में हो तो आँखों को पोटैशियम परमैंगनेट के ताजे बनाये हुए 0.02% घोल से धोया जाता है। जिस रोगी की किरीट पर भी असर हुआ हो उसे नेत्र विज्ञानी के पास भेजा जाता है।

गोनोपूय श्लेष्मा स्राव बहुधा नवजात शिशुओं में नाइसेरिया गोनोरी से होता है। बच्चों में इस रोग का संक्रमण ऐसी रोगी माता या बच्चे की देख-रेख करने वाले व्यक्ति से होता है जो गोनोरिया वाले मूत्र मार्ग शोथ से पीड़ित हो या जिनके नेत्र श्लेष्मला कोश का संदूषण किसी अन्य रोगी के पूय से हुआ हो। वयस्कों में यह रोग बहुधा एकाक्षिक होता है। तुरन्त उपचार से रोग जल्दी ठीक हो जाता है और दूसरी आँख पर असर होने से बच जाता है।

लक्षण. जन्म के एक या दो दिन दाब (शिशु या वयस्क के संक्रमण के बाद) पलकें अत्यधिक सूज जाती हैं और लाल हो जाती हैं तथा उन में से] थोड़ा-थोड़ा सीरम-रक्तक स्राव होने लगता है (चित्र 162)। दो या तीन दिन में पलकें मुलायम हो जाती हैं, नेत्र श्लेष्मल कोश से पूय का प्रचुर मात्रा में विसर्जन होता है तथा श्लेष्मल कला अत्यधिक लाल हो जाती है, फूल जाती है और ढीली पड़ जाती है। किरीट व्रण का होना एक अत्यन्त भयानक उपद्रव है जिस से जल्दी ही किरीट का नाश शीघ्रता से हो सकता है या गहरी फुल्ली बन सकती है। इस निदान की पुष्टि



चित्र 162. गोनोरिया वाला नेत्र श्लेष्मला शोथ।

पूय आलेप की ग्राम-विधि के परीक्षण द्वारा हो जाती है। ग्राम निगेटिव डिप्लोकोकस वाली बहुत सी श्वेत कोशिकाएं दिखायी देती हैं, जिनमें गोनोकोकी होते हैं।

उपचार. पैनिसिलीन या स्ट्रेप्टोमाइसीन के अन्तर्पेशीय इंजेक्शन (एक कोर्स में कुल 3 मिलियन इकाई) देते हैं। मुँह से प्रतिजीवी औषधियां निर्दिष्ट की जाती हैं–ऐंपीसीलीन, एरीथ्रोमीसीन, क्लोरांफेनीकोलुम, टेट्रासीक्लीन–, या सल्फामीड ग्रुप की दवाएं: सल्फापीरीडाजीन, सल्फासील। ये दवाएं दिन में 4-6 बार दी जाती हैं।

स्थानिक रूप से: आँख का धोवन 0.02% पोटैशियम परमैगनेट घोल या 0.02% पारद आक्सीसायनाइड घोल से।

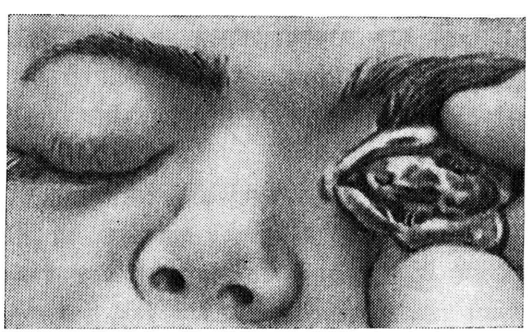
बिंदुपात (प्रत्येक 1-2 घंटे पर): 30% सोडियम सल्फासेटामीड, 20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन, पेनीसीलीन (सोडियम क्लोराइड के 10 मि० लि० आइसोटोनिक घोल में 200000 इकाई), 1% एरीथ्रोमीसीन, 0.25% क्लोरांफेनीकोलुम, 1% टेट्रासीक्लीन। बिंदुपात तबतक करते हैं, जबतक कि आंख से पूय का विसर्जन समाप्त न हो जाय और गोनोकोकस भी समाप्त न हो जाय। इन में दृष्टि लोप का भय होता है, इसलिये रोगी को तत्काल ही नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिये। आँखों पर पट्टी नहीं बांधते। इलाज रतिज रोग विज्ञानी के साथ मिल कर होता है।

नवजात शिशुओं में गोनोपूय श्लेष्मा स्राव को निम्नलिखित मातवीव-क्रेडी विधि से रोका जाता है। जन्म के बाद फौरन ही बच्चे की पलकों को 2% बोरिक एसिड घोल में भिगोई हुई रूई से साफ करके दो प्रतिशत सिलवर नाइट्रेट घोल की एक या दो बूंदें नेत्र श्लेष्मा कोश में डाली जाती हैं। सिलवर घोल रंगीन बर्तन में होना चाहिये और 10 दिन से ज्यादा पुराना न हो। सिलवर नाइट्रेट से श्लेष्मल कला में क्षोभ होता है, जिस से तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ हो जाता है, जो गोनोपूय श्लेष्मा

स्राव के समान होता है। अच्छे असर के लिये (जिस से नेत्र में क्षोभ भी न हो) ताजा बनाया हुआ पेनीसीलीन का घोल (25000 इकाई प्रति 1.0 मि० लि०) या 1 प्रतिशत सिन्थोमाइसीन इमल्शन नेत्र श्लेष्मला कोश में दो बार प्रयुक्त किया जाता है—पहले जन्म के तत्काल बाद और फिर उसके दो घंटे बाद। एक और विधि: प्रत्येक 2-3 मिनट पर 3 बार दो-दो बूंदें प्रत्येक आँख में—सोडियम सल्फासेटामीड की।

नेत्र श्लेष्मा की डिपथीरिया. क्लेब्स-लोफलेर बैसिलस या कोराइने बैक्टीरियम डिपथीरिये इस रोग का कारण होता है। यह रोग अधिकतर स्कूल जाने वाले बच्चों या पूर्व विद्यालय अवस्था में शिशुओं को बसन्त व जाड़े की ऋतु में होता है। यह एक स्वतंत्र रोग के रूप में बहुत कम होता है और बहुधा नाक और गलतोरणिका की डिप्थीरिया के साथ होता है। रोग के प्रारम्भ में पलकें सख्त हो जाती हैं और उनसे थोड़ा श्लेष्मा सपूय विसर्जित होता है। दो या तीन दिन में पलकें मुलायम हो जाती हैं और सपूय आस्राव बढ़ जाता है। उपास्थि श्लेष्मा में कूट कलाएं पायी जाती हैं, जिनको निकाला नहीं जा सकता (चित्र 163)। एक सप्ताह के बाद ये कूट कलाएं बाहर निकल जाती हैं और एक व्रणीय सतह बन जाती है जो कि ठीक होने पर क्षत चिन्ह छोड़ जाती है। नेत्र श्लेष्मला डिफ्थीरिया बहुत ही भयानक रोग है, क्योंकि इससे किरीट पर व्रण बन जाता है तथा ठीक होने पर यह क्षति चिन्ह या खुजली का रूप ले लेता है। रोग के तीव्र होने पर नेत्र की ज्योति भी चली जाती है। इस रोग का एक हल्का रूप भी है, जिस में पलकों पर और श्लेष्मल कला में मामूली-सी सूजन आ जाती है और श्लेष्मा कला पर कूट कलाएं दन जाती हैं, जिन को आसानी से अलग किया जा सकता है परन्तु तब सतह से रक्तस्राव होने लगता है।

डिप्थीरिया के निदान की पुष्टि जीवाणु विज्ञान से करनी चाहिये, क्योंकि इसमें अन्य हेतुकियों (न्यूयोकोकस, कोच-वीक्स बैसिलम, स्ट्रोप्टोकोकस, विषाणुओं) के नेत्र श्लेष्मला शोथ के कला रूप होते हैं। यह प्रक्रम कितना ही तीव्र क्यों न हो,



चित्र 163. डिपथीरिया वाला नेत्र श्लेष्मला शोथ।

नेत्रों के डिफ्थीरिया का उपचार संक्रामक रोग विभाग में होता है, जहाँ रोगी को डिफ्थीरिया का प्रतिजीवविष (6000–10000 इकाई) और प्रतिजीवी औषधि अंतर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा दिये जाते हैं। नेत्र श्लेष्मला कोश में 5 प्रतिशत सिन्थोमाइ-सीन या क्लोरोफिनकाल मलहम दिन में चार से छः बार लगाया जाता है।

बिंदुपात: 20-30% सोडियम सल्फासेटामीड, 1% एरीथ्रोमीसीन, 1% कनामी-सीन, 10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन।

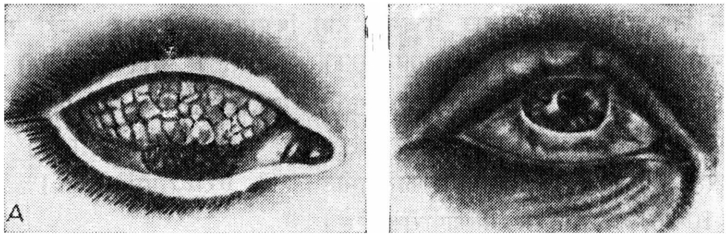
अन्य मलहम (पलकों के नीचे): 20% सोडियम सल्फासेटामीड, 1% ओलेटे-ट्रीन, 1% टेट्रासीक्लीन, 1% एरीथ्रोमीसीन, 0.5% कानामीसीन।

नेत्र श्लेष्मा कोश का चिरकारी शोथ. इस रोग में रोगी की पलकों में भारीपन होता है, आँखों में जलन होती है और ऐसा लगता है कि आँख में कुछ पड़ गया है। अश्रुस्राव होता है और प्रकाश असह्य हो जाता है तथा काम करने से नेत्र जल्दी थक जाते हैं। परीक्षण से पता लगता है कि अतिरक्तता हो गयी है; श्लेष्मलकला ढीली हो जाती है तथा थोड़ा आस्राव होता है। वर्त्मशोथ अपवर्तन की असंगति, अश्रुकोश शोथ परानासा विवर के रोग, चयापचारी विकार, अल्प या अविटामिनता, कृमिरुग्णता, हानिकारक व्यवसायी कारणों से होने वाला नेत्र क्षोभ और संक्रमण चिरकाली श्लेष्मला शोथ को विकसित करते हैं।

उपचार. रोग उपचार के उपाय रोग के कारण पर निर्भर करते हैं। नजर सही करने के लिये चश्मा लगाया जाता है। 0.25-0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल या 0.02 प्रतिशत नाइट्रोक्यूराजोन घोल, 0.25 प्रतिशत सिन्थोमाइसीन या क्लोरम्फे नीकाल घोल का बिन्दुपात नेत्र श्लेष्मा कोश में किया जाता है। बिंदुपात के लिये अन्य दवाएं: 20% सोडियम सल्फासेटामीड, 10-20% सल्फापीरीडाजीन (सोडियम), 0.5% हाइड्रोकोर्टीजोन सस्पेंसन (सभी घोल हैं)। आँख के लिये सोडियम सल्फापी-रीजीन की विशेष झिल्ली का भी प्रयोग होता है। काम पर और घर में स्वच्छता और दैनिक चर्या में स्वास्थ्यपरक सुधार का खयाल करना चाहिये।

नेत्र श्लेष्मा के पुटकीय रोग

वासन्ती अभिष्यंद: जब शीत के बाद गर्म मौसम आने लगता है, तो इस चिरकारी रोग का पुनरावर्तन वार्षिक रूप से होता है। यह रोग अधिकतर लड़कों को होता है। इस रोग का आरम्भ स्कूल की अवस्था से होता है और अन्त यौवन आरम्भ होने पर। रोगियों को नेत्रों में खुजली, अश्रुस्राव और प्रकाश असह्यता की शिकायत होती है। ऊपरी पलक की सामान्य श्लेष्मल कला में उभार (अंकुरक) हो जाता है जोकि बटिया पत्थर की तरह होता है (चित्र 164)। इस रोग के साथ-साथ अल्प विटा-मिनता, अन्तःस्राव की कमी, पराबैंगनी किरणों और अन्य एलर्जन (पौधे के परागकण, औषधियाँ) के प्रति अतिसंवेदनशीलता हो जाती है।



चित्र 164. वसंत ऋतु अभिष्यन्द।
A. नेत्रश्लेषमल रूप, B. लिम्वल रूप।

उपचार. कोडलीवर ग्रायल, राइबोफ्लेविन, कैल्सियम क्लोराइड ग्रौर प्रेडनीसोलोन, मुँह से खाने को दी जाती है, ऐलोय के घोल का पेशी में इंजेक्शन लगाया जाता है; 0.25-0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल में 0.1 प्रतिशत एड्रेनेलीन मिलाकर बिन्दुपात किया जाता है। बिंदुपात के लिये नय दवाएं: 1% हाइड्रोकोर्टीजोन, 0.3% प्रेदनीजोलोन, 0.1% डेक्सामेटाजोन, 2% एमीडोपीरीन। जिंक सल्फेट या एमीडो-पीरीन के घोल में एड्रेनेलीन हाइड्रोक्लोराइड (10 से० मि० 3 में 10 बूंद) डालते हैं। गहरे रंग का चश्मा लगाने की सलाह भी दी जाती है।

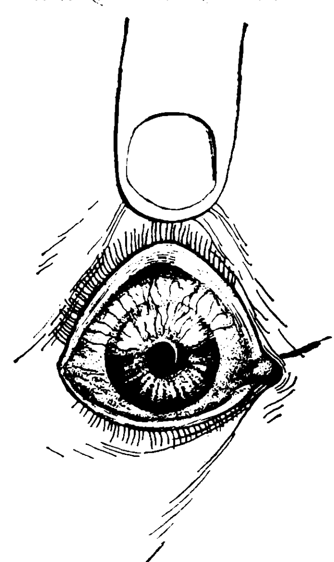
पुटकीय अभिष्यंद या नेत्र श्लेष्मा शोथ. इस रोग में श्लेष्मल कला ग्रतिरक्तित होती है ग्रौर पुटिकाएं सीधी पंक्ति में व्यवस्थित होती है तथा कभी-कभी पूरी नेत्र श्लेष्मा पर फैली होती है, ग्रौर उसमें किंचित ग्रंतर्निहित होती है। इनमें से ग्रास्राव होता रहता है।

ये दोनों रोग बहुधा ऐसे बच्चों को होते हैं, जो नासाग्रसनी रोग, श्वसनी ग्रन्थि शोथ, कृमिरुग्णता से पीड़ित हों। यह रोग ग्रपवर्तन की ग्रसंगति से होने वाले ग्रांशिक दष्टि लोप, घर व स्कूल में स्वच्छता ग्रौर स्वास्थ्यप्रद दशा के ग्रभाव के कारण तथा जीवाणु या विषाणु संक्रमण के प्रभाव से होते हैं।

उपचार. नेत्र श्लेष्मला शोथ का इलाज किया जाता है। प्रति कृमिरुग्णता की चिकित्सा की जाती है। कैल्सियम क्लोराइड ग्रौर पोली विटामिन खिलाये जाते हैं। नजर ठीक करने के लिये चश्मा लगाया जाता है। स्वच्छता ग्रौर स्वास्थ्यकर दशाग्रों में सुधार किया जाता है। रोगी का परीक्षण यक्ष्मा चिकित्सालय में करना चाहिये। परीक्षण स्वरयंत्र विज्ञानी द्वारा भी होना चाहिये। चूंकि पुटिकाएं रोहों के रोग की मुख्य ग्रभिव्यक्ति है, इसलिये कभी-कभी रोहें ग्रौर पुटकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ में भेद करना कठिन होता है। इस दशा वाले सभी रोगियों को नेत्र विज्ञानी के पास परामर्श के लिये निश्चित रूप से भेजना चाहिये।

रोहे नेत्र श्लेष्मा और किरीट का चिरकारी संक्रामक शोथ है, जो विषाणु व रिकेट्स के बीच की अवस्था वाले एक जीवाणु से होता है। इस रोग में अवश्लेष्मिक कला के ऊतकों का विसरित अतः संचरण होता है। पुटिकाएं बन जाती हैं और अंततः क्षतचिन्ह बन जाते हैं। रोहे का रोग संभवतः प्रकोपन और पुनरावर्तन के कारण दीर्घ स्थाई होता है, जिस का पता काफी हद तक रोगी की सार्वदैहिक दशा से लगता है। यक्ष्मा, गण्डमाला, मलेरिया, कृमिरुग्णता, चयापचयी विकारों अल्प विटामिनता और संसर्गीय नेत्र श्लेष्मा शोथ के रोगों से पीड़ित रोगियों में रोहे का रोग विशेष रूप से तीव्र होता है। रोहे के हल्के रूप में यह लघुकालिक होता है और उपचार से तत्काल ही रोग ठीक हो जाता है।

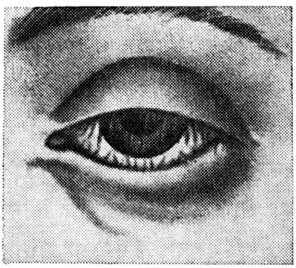
रोहे के चार रोग लक्षण चरणों में भेद किया जाता है (प्लेट XII)। चरण- I (रोहे-I) अनजाने ही और विशेषकर बच्चों में होता है और इसका पता बहुधा आबादी के आम रोग-निरोधी परीक्षण के समय लगता है। कभी-कभी रोगी आँखों से आस्राव और पीड़ा की शिकायत करता है तथा ऊपरी पलक लटक जाती है। इस रोग का पहला वस्तुपरक चिन्ह है, नेत्र श्लेष्मा की तोरणिका का लाल और मोटा हो जाना और विशेषकर ऊर्ध्वभाग और पुटिकाओं में साबूदाने के बराबर भूरे रंग का उभार हो जाता है। ये दाने तोरणिका और उपास्थि की नेत्र श्लेष्मा में जहां-तहां फैले होते हैं, और वर्त्म की उन्नमनिका पेशी के अंतः संचरण के कारण ऊपरी पलक लटक जाती है। रोहे का रोग एकाएक और तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ वाला हो सकता है। चरण-II (रोहे-II) का लक्षण यह है कि इसमें नई पुटिकाएं बन जाती हैं और पुरानी पुटिकाओं का अंतः संचरण और विघटन शुरू हो जाता है, जिससे पुटिकाओं की जगह सफेद दांत चिन्ह दिखने लगते हैं। तीसरे चरण (रोहे-III) में पुटिकाएं और कम हो जाती हैं। अंतः संचरण भी कम होता है तथा क्षत चिन्ह बड़े होते हैं। चरण-IV (रोहे-IV) में रोहे से रोग मुक्ति हो जाती है, पूरे नेत्र श्लेष्मला में क्षत चिन्ह हो जाते हैं। ये क्षत चिन्ह चिकने भी हो सकते हैं और खुरदरे भी।


चित्र 165. रोहे युक्त पैनस।

रोहे का प्रक्रम ऊपर से लेकर किरीट तक फैल जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति किरीट के उपरिस्थ अपारदर्शक और वाहिकाओं द्वारा इसके प्रसार से होती है (चित्र 165)। प्रक्रम की तीव्रता के आधार पर पैनस टिनियस, पैनस वास्कूलोसिस और

पैनस कार्नोसिस को अलग-अलग पहचाना जाता है। पैनस के फलस्वरूप किरीट अपारदर्शक हो सकती है या फुल्ली हो सकती है जिससे दृष्टि कम या ज्यादा अंशों तक लुप्त हो सकती है।

अनुगम. खुरदरे क्षत चिन्ह से नेत्र श्लेष्मला छोटी हो जाती है और कभी-कभी पलकों और नेत्र गोलक की श्लेष्मला के बीच आसंजन भी हो जाता है। उपास्थि में क्षत चिन्ह हो जाने से, जो उत्तल और द्रोणि के आकार का हो जाता है, पलक का सिरा उलट जाता है (अतर्वत्मता हो जाती है)। इस प्रक्रम में आँख की बरौनियाँ भी बहुधा प्रभावित होती हैं, जिसके फलस्वरूप पलकों के सिरे विरूपित हो जाते हैं और बरौनियां अपसामान्य हो जाती हैं (यक्ष्मा वर्तम हो जाता है) (चित्र 166)। बरौनियाँ किरीट से रगड़ खाती रहती हैं जिसके फलस्वरूप व्रण हो जाते हैं। नेत्र श्लेष्मला और किरीट की शुष्कता श्लेष्मा कला और अश्रु ग्रन्थि की निकासी की वाहिकाओं और श्लेष्मल कला के व्रण चिन्हों का अति तीव्र अनुगम है। ऐसी दशाओं में किरीट पर खुरदरी फुल्ली हो जाती है, जिसकी सतह सूखी होती है। इससे ऐसी दृष्टिहीनता हो सकती है, जिसे ठीक न किया जा सके। रोहे के अनुगम का इलाज केवल शस्त्र कर्म ही है।



चित्र 166. अन्तर्वर्त्मता और यक्ष्मावर्तम।

कोच-वीक्स दण्डाणु, विषाणुओं, स्टेफिलोकोकस, मोरेम एम्सेल फैल्ड, डाइप्लोकोकस और अन्य कारकों से होने वाले अध्यारोपित संक्रामण, नेत्र श्लेष्मा शोथ आदि से रोहे युक्त प्रक्रम बहुधा जटिल हो जाता है। नेत्र श्लेष्मा शोथ रोहें के विषाणुओं के फैलने, रोहे के दुर्दम प्रक्रम के गम्भीरतम और पुनरावर्तन के लिये अनुकूल स्थितियाँ बनाते हैं और रोग रोगी व्यक्ति के संपर्क में आने वाले लोगों में भी फैल जाता है।

उपद्रव. अश्रु निकासी पथ के रोगों (सूक्ष्म नलिका शोथ, अश्रुकोश शोथ) से अश्रु अंगों के रोगग्रस्त होने का पता लगता है। अश्रु स्रवण क्षीण हो जाने से और नेत्र श्लेष्मल। कोश में पूय के निरन्तर स्राव से चिरकारी नेत्र श्लेष्मला शोथ हो जाता है, जो रोहे के रोग को गंभीर बना देता है तथा रोहों से रोग-मुक्त होना कठिन होता है।

किरीट के व्रण से नेत्र श्लेष्मा शोथ और अश्रु स्रवण मार्ग के रोग गम्भोर हो सकते हैं जिस के फलस्वरूप फुल्ली बन जाती है। रोग के अति गम्भीर होने से किरीट में छिद्रण हो सकता है और दृष्टि लोप भी हो सकता है।

निदान. नेत्र श्लेष्मला किरीट के परीक्षण से (तोरणिकाओं का निरीक्षण विशेष ध्यान से किया जाता है) रोहे के निदान की पुष्टि हो जाती है। क्षत चिन्ह होने

से भी निदान करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोग के प्रथम चरण में, विशेषकर जबकि रोग लक्षण बहुत हल्के हों, निदान में कठिनाई हो सकती है और तब ही इस रोग और पुटकिय नेत्र श्लेष्मा शोथ में भेद करना पड़ता है। इन रोगों को पहचानने वाले लक्षण निम्न लिखित तालिका में दर्शाये गये हैं (इस तालिका का संकलन वी० वी० चिर्कोव्स्की ने किया है):

पुटकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ और रोहे के प्रभेदक लक्षण

पुटकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ	**रोहे**
1. अधः नेत्र श्लेष्मा तोरणिका का अधिक रोगी होना, ऊर्ध्व तोरणिका पर कम प्रभाव होना।	1. ऊर्ध्व नेत्र श्लेष्मा तोरणिका और उपस्थि की श्लेष्मल कला व ऊर्ध्व पल का अधिक रोगी होना।
2. हल्का अंतः संचरण; और नेत्र श्लेष्मल कला का मोटा होना।	2. श्लेष्मल कला का विसरित रूप से मोटा होना; इसका चुनटदार रूप और बहुसंख्यी पुटिकाएं।
3. पुटिकाओं के श्लेष्मल कला तोरणिकाओं की सीधी पंक्तियों में होने की प्रवृत्ति। पुटिकाएं बड़ी, गुदेदार, गुलाबी और उभरी हुई होती हैं।	3. पुटिकाएं ऊतकों की गहराई में होती हैं। ये अव्यवस्थित क्रम में होती हैं, इनका रंग बादलों जैसा भूरा होता है।
4. प्रक्रिया में किरीट अप्रभावित रहता है।	4. अधिकतर किरीट प्रभावित होता है; पैनस या अवाहिकामय पटल-शोथ होता है।
5. नेत्र श्लेष्मल कला पर क्षत चिन्ह नहीं पड़ता।	5. पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, जानपदिक रोग के निम्न आँकड़ों को भी ध्यान में रखना चाहिये: मुहल्लों, परिवारों, शिशु प्रतिष्ठानों, छात्रावासों में रोहे के मामलों तथा रोहे के रोगियों के संपर्क में आने के सम्भावित रूपों को।

संदेहास्पद रोगियों में, विशेषकर छोटे बच्चों और स्कूल जाने वाले बच्चों में, नेत्र श्लेष्मा शोथ का उपचार करने की सलाह दी जाती है। कुछ दिनों में नेत्र श्लेष्मा शोथ से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाने पर रोग का अधिक स्पष्ट चित्र उभरता है।

हेतुकी और जानपदिक-विज्ञान. रोहे का कारण एक असामान्य विषाणु – लिंफोग्रैनुलम ट्राखोमा – है, जिसकी जीवाणु-विज्ञान में विषाणु (वाइरस) और रिकेट्सिया के बीच है।

रोहे सांसर्गिक रोग होता है, जिनका संक्रामण रोहे से पीड़ित रोगी से स्वस्थ व्यक्ति को सामूहिक वस्तुओं (तौलिया, रूमाल, तकिया, वाश बेसिन) के प्रयोग करने से होता है। ये वस्तुएं संक्रामक विसर्जन से संदूषित होती हैं। रोग का संक्रामण हाथों से सम्पर्क करने से भी हो सकता है। रोहे का रोग मक्खियों के द्वारा भी फैल सकता

है, क्योंकि मक्खियाँ अपने पैरों में रोगी की आँखों से निकले हुए पूय को स्वस्थ व्यक्ति के हाथों और आँखों तक पहुँचाती हैं।

यदि दैनिक जीवन की परिस्थितियाँ अनुकूल न हों, स्वच्छता और स्वास्थ्यकर बातों का अभाव हो, भीड़-भाड़ हो, रहन-सहन का स्तर निम्न हो और चिकित्सा सेवा अपर्याप्त हो या बिल्कुल ही न हो, तो इस प्रकार से रोहे से पीड़ित व्यक्ति संक्रामण का केन्द्र बिन्दु होता है। इन परिस्थितियों से संदूषण बढ़ता है; इनके ठीक होने पर ही रोहे का प्रभावी उपचार व रोकथाम संभव है।

अब सोवियत संघ में रोहे के संक्रामक रूपों का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया गया है। सिर्फ कुछ क्षेत्रों में रोहे-IV के रोगी बचे हैं। संसार में रोहे से पीड़ित रोगियों की संख्या 50 करोड़ के लगभग है (विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के देशों में)।

चिकित्सा कर्मियों की यह जिम्मेदारी है कि यह देखें कि रोहे से पीड़ित सभी रोगी और उनके परिवार के सभी सदस्य व्यक्तिगत जीवन में स्वास्थ्यकर व स्वच्छता के नियमों का पालन करें। मक्खियों को नष्ट कर देना एक महत्वपूर्ण उपाय है।

यदि रोगी के रोहे से पीड़ित होने का संदेह हो तो उसे जनपद चिकित्सक को दिखाना चाहिये। जनपद चिकित्सक नेत्र विज्ञानी से परामर्श करता है और यदि रोग के निदान की पुष्टि होती है तब एक विशेष अभिसूचना कार्ड भरकर जनपद के स्वास्थ्य विभाग को भेजा जाता है। उसी समय उस चिकित्सालय के बहिरंग विभाग में रोगी का चिकित्सा वृत बनाया जाता है, जहाँ से रोगी उपचार लेगा। चिकित्साकेंद्र नियमित रूप से आबादी, विशेषकर स्कूल जाने वाले बच्चों, युवकों और उन परिवारों के सदस्यों, जहाँ कि रोहों का रोगी हो, रोग निरोधी जांच नियमित रूप से (कम से कम साल में दो बार) करते हैं।

सारे संगठित उपायों का उसूल है: प्रारंभ में ही रोगियों को पहचानना, प्रारंभ में ही उनका उपचार और इसके फलस्वरूप परिवार तथा समुदाय में संक्रमण के केन्द्र का उन्मूलन। ठीक हो जाने के बाद, व्यक्ति को एक साल तक निगरानी में रखा जाता है, और उसे यह रोग दुबारा न हो, इसके लिये उपचार दिया जाता है। अगर इस अवधि में उसे स्वस्थ पाया गया तो उसका नाम रोगी व्यक्तियों के रिकार्ड से हटा दिया जाता है। किन्तु इस के बावजूद भी, उस व्यक्ति तथा उसके परिवार के तमाम सदस्यों का नियमित रूप से परीक्षण किया जाता है।

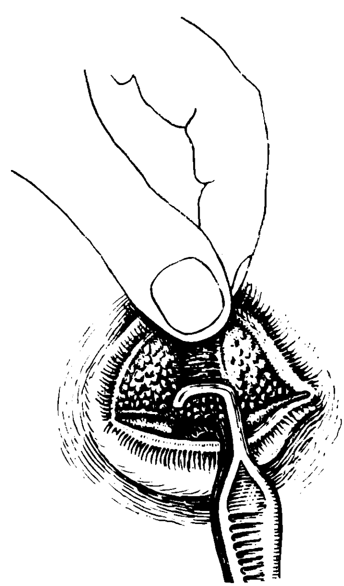
बहिरंग विभाग में आबादी की रोग निरोधी जांच करते समय तथा रोगियों को उनके घर पर देखते समय स्वास्थ्य शिक्षा का प्रचार किया जाता है। इस प्रचार के लिये प्रेस और रेडियो का भी प्रयोग किया जाता है। जन समुदाय को रोहे के संक्रमण पथ और इसके निरोध के उपाय से अवगत कराना चाहिये।

उपचारिका के कर्तव्यों में जिला चिकित्सक और नेत्र चिकित्सक के निर्देशों और नियंत्रण के तहत रोहे के रोगी का उपचार करना भी शामिल है।

उपचार. लंबे समय तक स्थानिक रूप से प्रतिजीवी प्रसाधन (टेट्रासीक्लीन, डाक्सी-सीक्लीन, एरीथ्रोमीसीन) और रसायनिक प्रसाधन (सुल्फानीलामीद ग्रुप के: सुल्फा-डीमीडीन, सुल्फामेथोक्सीपीरीडाजीन) दिये जाते हैं, जो रोहे के कारक और उनके अन्य सहजीवी जीवाणुओं पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं।

चिकित्सा के कई क्रमारेख विकसित किये गये हैं। बहिरंग और अंतरंग दोनों ही परिस्थितियों में ज्यादातर सतत स्थानिक इलाज किया जाता है: दिन में 4-5 बार मलहम या इमल्शन के रूप में प्रतिजीवी प्रसाधन का अंजन लगाते हैं। लंबे समय तक प्रभावकारी प्रसाधनों का अंजन दिन में एक बार ही किया जाता है। रोहे के प्रथम, द्वितीय, तृतीय चरणों पर स्थित सक्रिय रूपों के लिये उपरोक्त प्रतिजीवी प्रसाधनों में से किसी का 1% वाला मलहम 1 से 3 महीनों तक दिन में 4-5 बार प्रयोग अधिक कारगर होता है।

जानपदिक अवस्था में पूरे जनसमुदाय-विशेष का उपचार करना पड़ता है। यह उपचार लगातार नहीं, बल्कि किश्तों में चलता है: साल में छ: महीने तक प्रति माह दस दिन एक बार रोज (या पाँच दिन दो बार रोज) टेट्रासीक्लीन का 1% मलहम लगाया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर फिर अगले वर्ष दुहराते हैं।



चित्र 167. रोहे युक्त दानों का प्रकट होना।

यदि पुटिका बहुत बड़ी हो, तो उसे दबा कर निकाला जाता है। इस हस्तोपचार के पहले चिकित्साकर्मी को नेत्र-रक्षी चश्मा पहन लेना चाहिये। रोगी को पीठ के बल लिटा कर उसकी पलकों की त्वचा को अल्कोहल से धोते हैं या उस पर ब्रिलिएन्ट ग्रीन अल्कोहल घोल का आलेप किया जाता है। नेत्र श्लेष्मला कोश में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का बिन्दुपात 3 बार किया जाता है या 1 प्रतिशत प्रोकेन के 1.0 मिली ग्राम का इंजेक्शन प्रत्येक नेत्र श्लेष्मा तोरणिका में लगाया जाता है। फिर पलक को पलट कर नेत्र श्लेष्माकला को संदंश के फलकों के बीच संपीड़ित किया जाता है (चित्र 167)। यह संदंश नेत्र श्लेष्मल कला की पूरी सतह पर धीरे-धीरे घूम जाता है। इसके बाद आखों को 0.25 प्रतिशत क्लोरोफिनीकाल घोल से धो कर ठंडा लोशन लगाया जाता है। किरीट व्रण, पैनस प्रकोपन और सपूय आस्राव होने की दशा में निपीड़न प्रतिदिष्ट होता है। इस हस्तोपचार के बाद रोगी विशेष रूप से सांसर्गिक (छूतहे) हो जाते हैं, इसलिये

उन्हें कुछ समय के लिये पृथक कर देना चाहिये। शिशुओं को स्कूल नहीं जाने दिया जाता है।

इलाज के बाद रोग दुहरा न जाये, इसके लिये चिरप्रभावीकृत प्रतिजीवी (डिटेट्रासीक्लीन, डिटेट्रामीसीन) का प्रयोग मलहम के रूप में व्यापक तौर पर होता है (दिन में एक बार अंजन)।

यदि रोग गंभीर हो और आसानी से दूर न हो, तो स्थानिक उपचार के साथ-साथ सार्वदैहिक उपचार मुदिष्ट होता है, जिसमें प्रतिजीवी और सल्फानीलामीड देते हैं। वयस्क को टेट्रासीक्लीन ग्रुप का प्रतिजीवी (टेट्रासीक्लीन) 4 बार रोज 0.25-0.5 ग्राम प्रति खुराक देते हैं; कुल कोर्स – 5-10 दिन। तीन हफ्ते बाद कोर्स दुहराते हैं।

सोडियम सल्फापीरोडाजीन प्रथम दिन 2 बार (प्रति खुराक 1 ग्राम) देते हैं; बाद के 9 दिनों तक 0.5 ग्राम प्रति खुराक एक बार रोते देते हैं। फिर दस दिन बाद कोर्स दुहराते हैं।

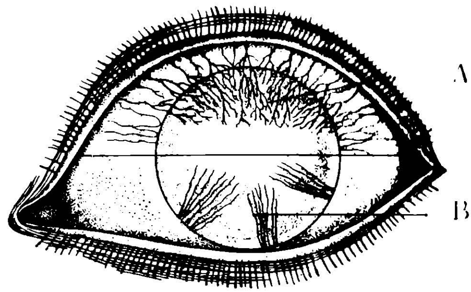
रोहे की सामूहिक रोकथाम के लिये (और नेत्र श्लेष्मल कला शोथ के लिये भी निम्न दवाएं हैं: मलहम – 1% टेट्रासीक्लीन, 1% एरीथ्रोमीसीन, 1% जिटेट्रासीक्लीन, 1% कानामीसीन; पोलीविनोल में सोडियम सल्फापीरोडाजीन का 10% घोल; आँख के लिये सोडियम सल्फापीरोडाजीन और कानामीसीन का फिल्म।

उपचार के समय सामान्य स्वास्थ्यवर्धक उपाय किये जाते हैं। पोलीविटामिन और कैल्सियम क्लोराइड अत्यन्त लाभदायक होते हैं।

किरीट और श्वेत पटल के रोग

स्वच्छ पटल शोथ किरीट का शोथ है। तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ अश्रु कोश शोथ, उपरिस्थ चोट और दैहिक रोगों (यक्ष्मा, सिफिलिस, ब्रूसेला रुग्णता, मलेरिया, विषाणु संक्रामण में केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के कुछ रोग, इत्यादि) के उपद्रव के रूप में विकसित होता है। आँख में पीड़ा होना, अश्रु स्राव होना, प्रकाश असह्यता, पलकों का आकर्ष, पलकों और नेत्र गोलक की श्लेष्मल कला की अतिरक्तिता, सभी प्रकार के स्वच्छ पटल शोथ के आम लक्षण हैं। इस में कभी-कभी दृष्टि दोक्षता भी घट जाती है। किरीट का विसरित अपारदर्शक होना और अन्तः संचरण होना स्वच्छ पटल शोथ का लक्षण है। इस रोग में किरीट की दर्पण जैसी चमक खत्म हो जाती है। किरीट दोष (अपर्दन, व्रण) बहुधा उपरिस्थ विकृत अवस्था में होता है। इसका पता आसानी से आँख में फ्लोरासीन (1%) का बिन्दुपात करने के बाद हरा रंग हो जाने से लगता है। उपरिस्थ स्वच्छ पटल शोथ में नेत्र श्लेष्मा वाहिकाएं किरीट और गहरे प्रक्रम पर आक्रमण करती हैं। रोमी उपांग के आकार वाली वाहिकाएं लिम्बस से इस में उग आती हैं (चित्र 168)। स्वच्छ पटल शोथ के साथ बहुधा परितारिका का शोथ भी हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति परितारिका के रंग परिवर्तन,

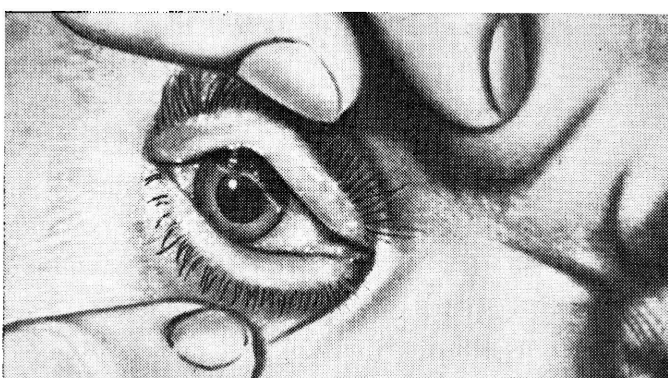
उन्मूलित प्रतिरूप, संकुचित तारा, अग्रकक्ष में रक्त, सपूय या निःस्राव के एकत्र होने से होती हैं। स्वच्छ पटल शोथ आगे बढ़कर तीव्र, चिरकारी, पुनरावृत्ति का रूप ले लेता है।



चित्र 168. किरीट के लिए वाहिकाएँ। A. उपरिस्थ नेत्रश्लेष्मल, B. गहन, चंवर जैसी।

उपरिस्थ परिसरीय स्वच्छ पटल शोथ में लिम्बस की परिसीमा पर अन्तः संचरण और उपरिस्थ भूरे रंग वाली उठान हो जाती है। इन का संश्लेप होकर व्रण बन सकता है (चित्र 169)। ये विक्षतियाँ नेत्र श्लेष्मा शोथ और अश्रु कोश शोथ के उपद्रव के रूप में होती हैं।

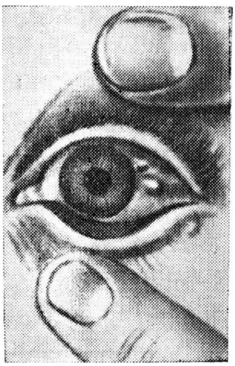
इसका **उपचार** नेत्र श्लेष्मा शोथ के उपचार की तरह किया जाता है। तारे के विस्फारण के लिये और परितारिका के शोथ में आराम के लिये 1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिन्दुपात दिन में एक या दो बार किया जाता है। आगन्तुक शल्य द्वारा हुई उपरिस्थ चोट के कारण होने वाले स्वच्छ पटल शोथ के उपचार में आगन्तुक शल्य को निकाल दिया जाता है।



चित्र 169. उपरिस्थ परिसरीय स्वच्छपटल शोथ।

गंडमाला सम्बन्धी यक्ष्मज स्वच्छ-पटल श्लेष्मा शोथ बहुधा श्वसनी ग्रन्थि शोथ या फुफ्फुसीय या फुफ्फुसेतर यक्ष्मा से पीड़ित बच्चों और युवकों में यक्ष्मज एलर्जी की अभिव्यक्ति के रूप में होता है। खसरा, काली खाँसी, इन्फ्लूएंजा और छोटी माता

से यह रोग बढ़ता है, जबकि अल्पविटामिनता, स्वास्थ्य और स्वच्छता की कमी प्रचुर कार्बोहाइड्रेट (बिस्कुट, मिठाइयों) वाले भोजन इत्यादि से रोग गम्भीर रूप ले लेता है। गण्डमाला सम्बन्धी स्वच्छ पटल श्लेष्मला शोथ के मुख्य लक्षण हैं: तीव्र प्रकाश असह्यता, पलकों में आकर्ष, अश्रुस्राव। आनन त्वचा पर, विशेषकर नथनों के ऊपर, कानों के पीछे और शिरोवल्क में रिसने वाले छाजन के दाने हो जाते हैं। चेहरा, विशेषकर नाक और होंठ सूज जाते हैं। उप ऊर्ध्वहनु तथा अन्य लसीका पर्विकाएं बढ़ जाती हैं। बच्चे की आँख का परीक्षण पलकों को केवल लिफ्टर से खोलकर ही किया जा सकता है। छोटे या बड़े आकार वाली अर्धपारदर्शक पीली, गुलाबी पुटिकाएं (अलर्जी) नेत्र श्लेष्मला में लिम्बस पर या किरीट पर हो जाती हैं (चित्र 170), जिस के साथ ही नेत्र श्लेष्मल वाहिकाओं का गुच्छा हो जाता है। ये अलर्जियाँ बिना किसी निशान के अवशोषित हो जाती हैं, परन्तु अधिकतर ये हल्की अपारदर्शकता कर देती हैं। कभी-कभी इनसे व्रणोत्पत्ति होती है और किरीट व्रण बन जाता है, जिसका असर गहरी पर्तों पर होता है और किरीट का छिद्रण हो जाता है तथा परितारिका भ्रंश होकर घाव बन जाता है जिस के फलस्वरूप खुरदरे क्षतचिन्ह होते हैं, श्वेत फुल्ली परितारिका से मिली हुई बन जाती है। रोग के अधिक गम्भीर होने पर नेत्र की आन्तरिक पर्तें संक्रामित हो जाती हैं, और नेत्र नष्ट हो जाता है। रोग के बार-म्बार पुनरावर्तन से किरीट की अपारदर्शकता बढ़ती है, जिस से नजर कम हो जाती है।



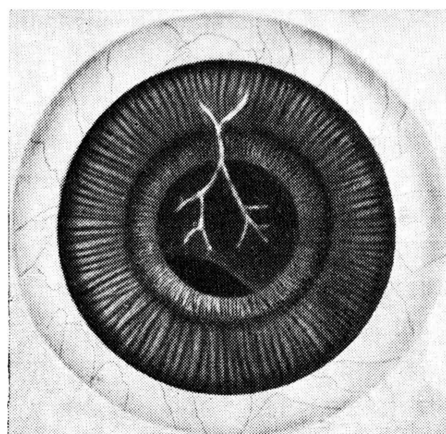
चित्र 170. नेत्रश्लेष्मा की अलर्जी

उपचार. बाल रोग विज्ञानी और क्षय रोग विज्ञानी से परामर्श के बाद सामान्य उपचार तय किया जाता है। इस उपचार में बहुधा खाने वाली औषधियाँ, जिनमें कैल्सियम क्लोराइड, काड लीवर आयल, ट्यूबाजिड (आइसो निआजिड) PASA (पासा) प्रयोग में लाई जाती है या रोगी की दशा के अनुसार स्ट्रेप्टोमाइसीन के अन्तर्पेशीय इन्जेक्शन लगाये जाते हैं। भोजन ऐसा दिया जाता है, जिसमें कार्बोहाइड्रेट्स सीमित मात्रा में हो तथा पोलीविटामीन अधिक हों। आँखों में स्ट्रेप्टोमाइसीन (25000 इकाई वाला 1.0 मि० लि०) कार्टिजोन और विटामीन के घोल का आँख में बिन्दुपात किया जाता है। तीव्र शोथ के शांत हो जाने के बाद भी काफी समय तक 0.25 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल में 0.1 प्रतिशत एड्रेनेलीन मिलाकर बिन्दुपात किया जाता है। परितारिका के संकुचित हो जाने और परितारिका शोथ की अभिव्यक्ति होने पर दिन में दो या तीन बार नेत्र में 0.5-1.0 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिन्दुपात किया जाता है। यदि लिम्बस में गहरा व्रण हो या किरीट में छिद्र

हों तो एट्रोपीन नहीं डालनी चाहिये। ऐसी दशाओं में 0.25 प्रतिशत फिजोस्टिग्माइन घोल या 1 प्रतिशत पीलोकार्पिन घोल प्रयोग में लाया जाता है। पलकों के दीर्घस्थायी आकर्ष के कारण नेत्रच्छद के विवरों पर होने वाले विदर तथा त्वचा के अश्रुओं से आक्लेदन होने पर कशाय वर्ग, 10 प्रतिशत सिलवर नाइट्रेट घोल को लगाकर उपचार किया जाता है। यह उपचार चिकित्सक को ही करना चाहिये। शोथ शांत प्रक्रम के होने के बाद काफी समय तक पलकों के पीछे 1 प्रतिशत पीले मरक्यूरिक आक्साइड मलहम को दिन में दो बार लगाया जाता है, जिससे अपारदर्शिता का पुनः शोषण हो जाय। ऐसे रोगियों को नेत्र विज्ञानी की देख-रेख में रखा जाता है।

स्वच्छ पटल शोथ विषाणु संक्रमण का अनुगम है, शीत अभिघात, या कुछ रोगों (इन्फ्लूएन्जा) के प्रभाव से गुप्त संक्रमण सक्रिय हो जाता है और यह स्वच्छ पटल शोथ का रूप ले लेता है।

विभिन्न प्रकार के उपरस्थि और आसित पटल के अग्र भागों के रोगी होने से स्वच्छ पटल शोथ का रोग हो सकता है।



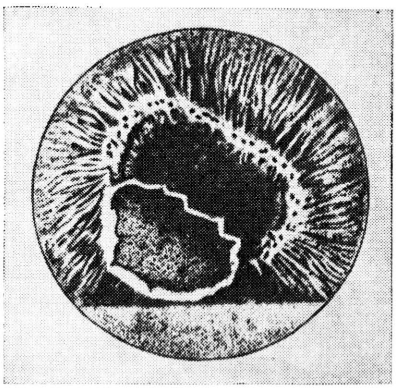
चित्र 171. साखी स्वच्छ पटल शोथ।

किरीट पर परिसर्पीय पुटिकाओं का होना, अश्रु स्रवण होना तथा प्रकाश असह्यता होना रोग के प्रारम्भ होने के लक्षण हैं। फिर पुटिकाओं में विकार होने से उनकी जगह उपकला के दोष हो जाते हैं, जो संश्लेषित होकर पार्श्व तन्तुओं का रूप ले लेते हैं (चित्र 171)। इस विक्षति की जाँच क्लोरीसीन बिन्दुओं का बिन्दुपात करके की जाती है। इस में किरीट संवेदन या तो बहुत घट जाता है या लुप्त हो जाता है। बहुधा परितारिका शोथ के चिन्ह मिलते हैं और तारा संकुचित होता है। अनुषंगीय जीवाणु संक्रमण से किरीट व्रण हो सकता है, जो सर्पीय व्रण के समान होता है। इस में किरीट की आन्तरिक परतों पर भी असर हो सकता है।

उपचार. उपचार में प्रति विषाणुज संयोग (0.1 प्रतिशत), केरेसिड घोल, संलक्षण आयोडाइड, आक्सीयूरिसाइड संरक्षण, 0.25 प्रतिशत आम्प्सीलीन घोल का बिन्दुपात किया जाता है या उसी सान्द्रता का मलहम लगाया जाता है और 0.2 प्रतिशत डेजाक्सी राइबोन्यूक्लीज के 0.2% घोल का बिन्दुपात किया जाता है। इसके

अतिरिक्त शोथ में सुधार (ऊतकीय चिकित्सा , इत्यादि) करने के लिये मेड्रियाटिक्स, विटामिन ड्राप तथा सामान्य उपाय किये जाते हैं।

सर्पीय किरीट व्रण में इसके फर्श पर सपूय अन्त: संचरण का किरीट दोष होता है जिसकी प्रवृत्ति किरीट के फर्श या उस के अन्दर तक फैलने को होती है। इसके किनारों पर अर्धचन्द्राकार रेखाएं बन जाती हैं (चित्र 172)। व्रण के चारों ओर वाला किरीट का भाग धुँधला और सूजा होता है। अग्रकक्ष के फर्श पर पूय एकत्र हो जाता है। परितारिका का रंग एकदम बदल जाता है और तारे तथा लेन्स के अग्र संपुट में आसंजन होने से तारा का आकार विषम हो जाता है इन सब बातों के फलस्वरूप नेत्र गोलक में तरल का प्रवाह गड़बड़ हो जाता है और नेत्र से इनके आस्राव में विकार आ जाता है तथा अंतर्नेत्रीय दाब बढ़ जाता है, अर्थात अनुषंगीय मवलवाय का रोग हो जाता है। अधिकतर रोगियों की पलकें सूज जाती हैं, अश्रु-स्राव होता है, प्रकाश असह्यता हो जाती है तथा दृष्टि तीक्ष्णता काफी घट जाती है। पूर्वावस्था में और सही उपचार से किरीट दोष ठीक हो जाता है तथा व्रण की जगह पर विभिन्न तीव्रता वाली पारदर्शता तो जाती है। व्रण के सतह पर फैल जाने से या गहराई तक पहुँचने से श्वेत फुल्ली हो सकती है या इस प्रक्रम के आन्तरिक पर्तों तक फैल जाने से नेत्र नष्ट तो जाता है।



चित्र 172. सर्पीव्रण।

बड़ी उम्र वाले लोगों में अनाज के दानों, घास-फूस, पेड़ों की टहनियाँ, धातु, या अन्य आगन्तुक शल्यों से किरीट में होने वाली उपास्थि में चोट लगने के बाद सर्पीय व्रण हो जाता है। नेत्र श्लेष्मा शोथ और सपूय अश्रुकोष शोथ से यह दोष संदूषित हो जाता है जिससे कि किरीट पर व्रण हो सकता है। इस में उन्य सूक्ष्म जीवियों की अपेक्षा अधिकतर न्यूमोकोकस और स्टाफिरोकोकस होते हैं। घटी हुई किरीट संवेदनशीलता और रोगी की सार्वदैहिक अवस्था के कमजोर होने से व्रण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सर्पीय व्रण के विकास को रोकने के लिये सभी छोटे आगन्तुक शल्यों को जल्दी से जल्दी सावधानीपूर्वक किरीट और नेत्र श्लेष्मा पर से हटा देना चाहिये और फिर उपचार करना चाहिये। चिकित्सा परामर्श के लिये आने वाले सभी रोगियों के अश्रुपथ और नेत्र श्लेष्मा की दशा पर ध्यान देना चाहिये

ग्रौर उनका परीक्षण उनकी व्यावसायिक उपयुक्तता (मेकैनिक, खराद मशीन चालक, मिलींग मशीन चालक, कम्बाइन चालक ग्रौर ग्रन्य) के ग्रनुसार होना चाहिये।

उपचार. सर्पीय व्रण होने का लेश मात्र संदेह होने पर रोगी को तत्काल नेत्र विज्ञानी के पास (ग्राँख पर पट्टी बांधे बिना) तत्काल ले जाना चाहिये। इस रोग का उपचार करने के लिये प्रतिजीवी घोल का बिन्दुपात किया जाता है या पलकों के पीछे प्रतिजीवी मलहम (5 प्रतिशत क्लोरोंफिन्काल, सिन्थोमाइसीन, 1 प्रतिशत टेरामाइसीन, 1 प्रतिशत मोनोमाइसीन) दिन में चार या पांच बार लगाया जाता है। यदि ग्रंतर्नेत्रीय दाब न बढ़ा हो तो 1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिन्दुपात किया जाता है। व्रण के तीव्र रूप में सल्फानिलामाइड ग्रौर मुँह से या ग्रन्तर्पेशीय रूप से प्रतिजीवी ग्रौषधियाँ तथा पोलीविटामिन दिया जाता है। संसर्गीय रोगों के ग्राधार पर सामान्य चिकित्सा की जाती है। यदि ग्रौषधि-चिकित्सा से व्रण ठीक न हो ग्रौर ग्रंतर्नेत्रीय दाब बढ़ जाय तो शस्त्र कर्म करना चाहिये।

गम्भीर स्वच्छ पटल शोथ में व्रण स्राव-रहित किरीट की गहरी पर्तों में स्थानिक या विसरित ग्रन्तः संचरण होता है। इसलिये जल्दी ही उपचार करके किरीट की पूर्ण पारदर्शता की रक्षा की जा सकती है, ग्रन्यथा खुरदरी फुल्ली बन जायेगी। जन्मजात सिफिलिस, यक्ष्मा, ब्रूसेला रुग्णता, विषाणुज ग्रौर ग्रन्य स्रोत से सक्रामण, ग्रादि से गम्भीर स्वच्छ पटल शोथ होता है। नेत्र में उपरिस्थ या कुन्द ग्रभिघात से इन्फ्लूएन्जा, ग्रल्प या ग्रविटामिनता, स्त्रियों के गर्भवती होने पर तथा दूध ग्राने पर, इत्यादि से गम्भीर स्वच्छ पटल शोथ हो सकता है।

जन्मजात सिफिलिस होने पर स्वच्छ पटल शोथ ग्रधिकतर बच्चों के स्कूल जाने की ग्रवस्था में होता है। स्वच्छ पटल शोथ पहले एक ग्राँख में होता है फिर समय बीतने के साथ-साथ दूसरी ग्राँख में भी हो जाता है। स्वच्छ पटल शोथ किरीट ग्रौर लिम्बस की परिसीमा की गहरी पर्तों से शरू होता है। विसरित संचरण होने के बाद यह धीरे-धीरे केन्द्र तक फैल जाता है। किरीट एक धुँधले शीशे के समान हो जाता है तथा नेत्र श्लेष्मा में ग्रतिरक्तता हो जाती है ग्रौर तारा संकुचित हो जाता है। रोमश्रु के रूप में पुटिकाएं किरीट पर ग्राक्रमण करती हैं। इस प्रक्रम का धीरे-धीरे ग्रपकर्ष होता है ग्रौर किरीट पुनः पारभासी होने लगता है। यह प्रक्रम उस क्षेत्र से प्रारम्भ होता है जहाँ की पहले ग्रपारदर्शिता प्रारंभ हुई हो। स्वच्छ पटल शोथ एक दीर्घस्थायी रोग है ग्रो महीनों तक रहता है। जन्मजात सिफिलिस के ग्रन्य चिन्हों से निदान की पुष्टि तोती है: कम सुनायी देना, सैबरसीन होना, नासा परिमाण होना, दाँतों के बीच में जगह होना तथा वासरमान ग्रभिक्रिया का स्वीकारात्मक होना इस निदान की पुष्टि करता है।

उपचार नेत्र विज्ञानी द्वारा किया जाता है, पर रतिज रोग विज्ञानी से परामर्श करना ग्रनिवार्य है। वह रोगी को निगरानी में रखता है तथा सार्वदैहिक विशिष्ट चिकित्सा का निर्देश देता है। स्थानिक उपचार में सेंकाई करना तथा 1 प्रतिशत

एट्रोपीन घोल का विन्दुपात करना, कार्टिजोन इमल्सन (जिसका नेत्र श्लेष्मा कला के नीचे इंजेक्शन लगाया जाता है) और रोग के घटने के समय एथाइलो मार्फिन हाइड्रोक्लोराइड घोल को बढ़ी हुई सांद्रता में दिया जाता है। ऊतक योग वाले अन्तर्वेशीय इन्जक्शन के रोग की प्रारम्भिक अवस्था में लाभकारी प्रभाव होता है। नेत्र विज्ञानी और रतिज रोग-विज्ञानी द्वारा रोगी के परिवार के सभी सदस्यों का परीक्षण किया जाता है।

यक्ष्मज स्वच्छ पटल शोथ अधिकतर युवकों में होता है तथा यह एकाक्षिक होता है। यह प्रक्रिया बहुधा प्रकोपित होती है और दैहिक रोगों में विशेष कर इन्फ्लुएन्जा में बार-बार होती है। यह रोग अधिकतर चोट लगने के बाद और महिलाओं के गर्भवती होने तथा स्तन पान कराते समय ठंड लगने तथा कुपोषण से होता है। इस रोग के शुरू होने का लक्षण है आँख में तेज विक्षोभ होना, पलकों में आकर्ष होना, अश्रु तोना, स्पर्श असह्यता होना और किरीट में स्थानिक अपारदर्शिता होना, अन्तः संचरण तोना और संश्लेषण होना। उपरिस्थ और गहन वाहिकाएं किरीट पर आक्रमण करती हैं। इसमें तीव्र परितारिका रोमक पिंड शोथ हो जाता है (नीचे देखिये)। यक्ष्मज प्रक्रम के लक्षण हैं—उपज्वर होना, विशेष कर दिन के समय तथा मन्टोक्स और पिटकेट जांच का स्वीकारात्मक होना तथा एक्स-रे चित्रण में रोग के दोष (श्वसनी शोथ) का होना।

उपचार क्षय रोग विज्ञानी और नेत्र विज्ञानी द्वारा किया जाता है। गण्डमाला रोग जैसा सामान्य उपचार किया जाता है। ट्यूबरकुलीन चिकित्सा की जाती है और रोग के तीव्र होने की दशा में अन्तरंग चिकित्सा की जाती है। सामान्य शक्तिवर्धक उपाय, अल्प सुग्राहीकरण चिकित्सा और खनिज जलीय झरने वाले स्थान पर जलवायु चिकित्सा की जाती है। स्थानिक उपचार गण्डमाला रोग के उपचार के समान है, परन्तु कार्टिजोन सदैव ही नहीं दिये जाते हैं।

सभी प्रकार के **स्वच्छ पटल शोथ का परिणाम** अन्त में विभिन्न तीव्रता वाले किरीट की स्थायी अपारदर्शिता है। किरीट धुँधला, धब्बेवाला या फुल्लीयुक्त हो सकता है। फुल्ली सम्पूर्ण या आंशिक (केन्द्रीय या परिसरीय) हो सकती है। किरीट में व्रण होने या परितारिका अंग भ्रंस होने से फुल्ली और परितारिका के बीच आकर्ष हो सकता है। ऐसी फुल्ली से आँख से तरल के सामान्य आस्राव में विघ्न पड़ता है, जिसके फलस्वरूप द्वितीयक सबलवाय हो जाती है। फुल्ली का अध्यमान (अजका) या पूरे नेत्र गोलक का अध्यमान (वृषभक्षि) हो सकती है। यदि फुल्ली के साथ-साथ अन्तरक्षि दाब भी बढ़ जाये तो दृष्टि आंशिक या पूर्ण रूप से लुप्त हो सकती है।

उपचार. किरीट की टाजी अपारदर्शिता का उपचार शामक, क्रायोथिरेपी या पराश्रव्य, पीले मरक्यूरिक आक्साइड मलहम, एलोय (घेंकुआर) के अर्क या 5 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड घोल के साथ एलेक्ट्रो-फोनो-फोरेसिस किया जाता है। स्थायी अपारदर्शिता का उपचार शस्त्रकर्म है: दृष्टि परितारिका उच्छेदन (परितारिका

के क्षेत्र का उच्छेदन) या किरीट के प्रतिरोपण से, जिस में बी० पी० फिलातोव और उसके शिष्यों ने भारी योगदान किया।

शस्त्र-कर्म का सार-तत्व निम्नलिखित है: किरीट व्रण चिन्ह से अपारदर्शक भाग का उच्छेदन एक विशेष कोर्नियल ट्रेफाइन से किया जाता है और इस के स्थान पर शव-नेत्र के किरीट का प्रत्यारोपण किया जाता है। अधिकतर यह निरोप सफल होता है और किरीट पारदर्शक बना रहता है। बी० पी० फिलातोव ने ऊतक चिकित्सा-विधि से उपचार का सुझाव दिया है। एलोय और अपरा इत्यादि के सत्व के इन्जेक्शन लगाये जाते हैं। इनका प्रभाव उद्दीपक और शामक होता है। यह उपचार बहुत से शारीरिक रोगों और नेत्र के रोगों में किया जाता है।

श्वेत पटल के रोग. श्वेत पटल की उपरिस्थ पर्तों का शोथ (अति श्वेत पटल शोथ) या इसकी गहरी पर्तों के शोथ (श्वेत पटल शोथ) की अभिव्यक्ति इसके प्रारम्भ में नेत्र में पीड़ा, अश्रु स्राव, प्रकाश असह्यता, अतिरक्तता और श्वेत पटल के स्थानिक क्षेत्र में सूजन से होती है। बहुधा पहले किरीट और फिर परितारिका पर इसका प्रभाव होता है अथवा इनका रोग प्राथमिक होता है और श्वेत पटल का—द्वितीयक। स्वच्छ पटल शोथ का कारण विषाणु संक्रमण, ब्रूसेल रुग्णता और सिफिलिस भी हो सकती है। यह रोग दीर्घ स्थायी होता है और इसका पुनरावर्तन बारम्बार होता रहता है। इसके फलस्वरूप श्वेत पटल पतला हो जाता है और खिंच जाता है, तथा इस में कोरायड के गहरे रंग के भाग दिखायी देते हैं।

असित-पटल ,लेंस ,दृष्टि-पटल और दृष्टि-तंत्रिका के रोग

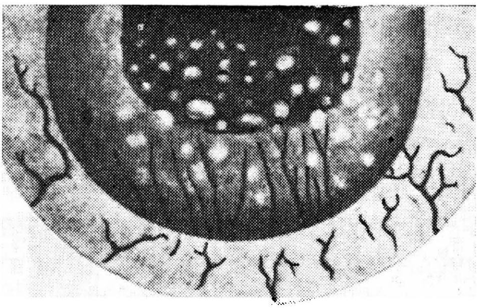
असित-पटल के रोग

असित-पटल का शोथ बहुधा निम्नलिखित सामान्य संक्रामक रोगों की पृष्ठभूमि में होता है: विषाणुज संक्रमण, आमवात और रूमेट्वायड संधि-शोथ, यक्ष्मा, ब्रूसेल रुग्णता, सिफिलिस, आविष दृष्यता, गलतुण्डिका शोथ, मधुमेह, रक्त के रोग तथा अन्य रोग। इसके अतिरिक्त यह रोग किरीट और श्वेत पटल के रोगों, नेत्र अभिघात और अन्तरक्षि शस्त्र कर्म, जटिल बना देते हैं।

असित पटल के अग्रभाग, परितारिका और रोमक पिंडों (परितारिका शोथ और परितारिका रोमक पीण्ड शोथ), पश्च भाग के शोथ, कोरायड शोथ और पूर्ण असित पटल के शोथ को अलग-अलग पहचाना जाता है।

परितारिका शोथ की शुरूआत आँख में तेज पीड़ा, अश्रु स्राव, प्रकाश असह्यता, पलकों के आकर्ष और दृष्टि तीक्ष्णता की कमी से होती है। लिम्बस के चारों ओर नेत्र गोलक की नेत्र श्लेष्मल कला संतुलित हो जाती है और इसका स्याव वर्ण हो जाता है, परितारिका का रंग बदल जाता है और तारा संकुचित हो जाता है।

लेन्स के अग्र कैप्सूल सहित परितारिका में आसंजन होने के कारण इसका आकार बिगड़ जाता है। इन परिवर्तनों का पता विशेष रूप से तब चलता है जब रोगी आँख की तुलना स्वस्थ आँख से की जाती है। बहुधा निःस्राव अग्रकक्ष की फर्श पर जमा हो जाता है जो कि कभी-कभी सपूय होता है या रक्त से मिश्रित होता है। पार्श्व प्रदीपन द्वारा रोगी की जाँच करने से किरीट की पश्च सतह पर निःस्राव के पिण्डक दिखाई देते हैं (चित्र 173)। काचाभ पिण्ड में अपारदर्शिता प्रतीत होती है, आँख को छूने पर रोमक पिण्ड के क्षेत्र में पलकों पर तेज पीड़ा होती है, अंतरक्षि दाब बन जाता है तथा दृष्टि-तीक्ष्णता की घटना इसका विशेष लक्षण है। रोग के तीव्र होने पर तारिका के ऊपर विस्रावी कला बन जाती है जो नेत्र से तरल के विसर्जन में विघ्न पैदा करती है। द्वितीयक सबलवाय का रोग हो जाता है। परितारिका शोथ से लेन्स अपारदर्शक (जटिल) हो सकता है, काचाभ पिण्ड में वलयन हो सकता है तथा दृष्टि पटल का वियोजन भी हो सकता है। नेत्र गोलक का शोथ और अन्धता भी हो सकती है। यदि समय से सही उपचार किया जाय तो प्रवर्ध शांत हो सकता है और यह क्रिया पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से हो सकती है। शीतल अति उष्णन, तीव्र संक्रामक रोगों और अधिभार इत्यादि के साथ या बाद में मुख्य रोग की गम्भीर स्थिति के साथ परितारिका शोथ का पुनरावर्तन होता है।



चित्र 173. किरीट की पश्च भित्ति पर अवक्षेप।

परितारिका शोथ और नेत्र श्लेष्मला शोथ के अन्तर को पहचानना आवश्यक है। यदि परितारिका के प्रतिरूप और रंग तथा तारे के आकार और रूप में होने वाले परिवर्तनों की ओर ध्यान दिया जाय तो विभेदीय निदान में कोई कठिनाई नहीं होती। ये परिवर्तन नेत्र श्लेष्मला शोथ में नहीं होते; नेत्र श्लेष्मला शोथ में आस्राव होता है, पलकों और नेत्र श्लेष्मल तोरणिका में अतिरक्तता होती है तथा नेत्र श्लेष्मा में शोफ होता है जबकि ये लक्षण परितारिका तोरणिका शोथ के नहीं होते।

परितारिका शोथ का उपचार. सामान्य उपचार रोग के कारण पर निर्भर करता है। इसके स्पष्ट होने से पूर्व अल्प सुग्राहीकरण चिकित्सा (कैल्सियम क्लोराइड के इंजेक्शन, विटामिनों के मिश्रण को खिलाया) और स्थानिक उपचार करना बेहतर है। यह उपचार ऐसे अन्तरंग चिकित्सालय में किया जाना चाहिए जहाँ पुतली के विस्फारक और कर्टिजोन निलम्बन के उपश्लेष्मा इंजेक्शन, अति उच्च तरंग चिकित्सा

या एक्स-रें किरण चिकित्सा की सुविधाएं उपलब्ध हों। नेत्र की पीड़ा को कम करने के लिए कनपटी पर जोंक लगाने तथा पाद स्नान कारगर उपाय हैं। रोगी के अन्तर्रक्ष दाब की ध्यान-पूर्वक निगरानी रखनी आवश्यक है, क्योंकि इसका बढ़ना द्वितीयक सबलवाय का लक्षण होता है, जिसमें शस्त्र कर्म की आवश्यकता पड़ सकती है। रोगी को नेत्र विज्ञानी के पास भेजने से पहले आँख पर पट्टी बाँध देनी चाहिए।

रजित पटल शोथ इसमें रोगी की दृष्टि-तीक्ष्णता घट जाती है और कभी-कभी आँख के सामने छोटी सी चीज भी बहुत धुंधली तरह से दिखाई देती है। नेत्र बुध्न पर वर्णक विकार-स्थान अथवा भूरा या पीलापन दिखने पर, तथा अन्य लक्षणों से रजित पटल शोथ का निदान हो जाता है उपरोक्त नेत्रबुध्न के ऊपर से दृष्टिपटल वाहिकाएँ गुजरती हैं।

अंतर्नेत्र शोथ नेत्र की आन्तरिक पर्तों का सपूय शोथ है जो सामान्य पति रोगों के उपद्रव के रूप में होता है। यह सपूय किरीट व्रणों, संक्रमित घावों और शस्त्रकर्म के ऊपद्रव के रूप में होता है। रोगी सिर-दर्द और नेत्र में तेज पीड़ा तथा दृष्टि लाप की शिकायत करता है। पलकों का सूजा होना, नेत्र श्लेष्मल कला का शोफ (श्लेष्मला शोफ) होना इसके विशिष्ट लक्षण है। किरीट फीका हो जाता है, पुतली के क्षेत्र में और अग्र कक्ष में पूय या निःस्राव दिखाई देता है। जब यह सपूय प्रक्रम नेत्र की सभी पर्तों तथा नेत्र तक फैल जाता है तो इसे **सर्वनेत्र शोथ** कहते हैं। सर्वनेत्र शोथ में ऊपर बताई गई सभी क्रियाएँ अति तीव्र हो जाती हैं। नेत्र असामान्य रूप से बाहर की जोर आ जाता है (नेत्रोत्सेध), गतिशीलता की हानि होती है। किरीट पर पूय का पारगमन होता है, जिससे नेत्र के अन्य भाग दिखाई नहीं देते। इन रोगों में अन्तरक्षि दाब बहुधा तेजी से बढ़ जाता है।

उपचार. प्रतिजीवी औषधि का अंतर्जीवी इंजेक्शन देने के बाद रोगी को फौरन ही नेत्र चिकित्सालय में भेजा जाता है, जहाँ उसका प्रतिजीवी औषधि और सल्फानीलामाइड से उपचार प्रारम्भ किया जाता है। इस उपचार के असफल होने पर नेत्र का समूल निष्कासन किया जाता है। कुछ रोगियों में नेत्र की दशा के अनुसार चिकित्सालय में लाते ही तत्काल शस्त्रकर्म भी किया जा सकता है।

असित पटल में नवीन अपवृद्धियाँ. ये मुख्य रूप से दुर्दम वर्णक अर्बुद होती हैं। यदि अर्बुद परितारिका में स्थित हो तो यह बढ़ता हुआ काला धब्बा सा दिखाई देता है। अर्बुद नेत्र गोलक और नेत्र गर्त की परिसीमा से भी बढ़ सकता है। इससे आन्तरिक अंगों में, और विशेषकर यकृत में विक्षेप होने लगता है। रोमक पिंड और रजित पटल में स्थित अर्बुद को बहुधा परीक्षण की विशेष विधि द्वारा ही देखा जा सकता है। ऐसी अपवृद्धि के होने पर रोगी आंशिक या पूर्ण दृष्टि लोप की शिकायत करता है।

उपचार. रोग के पूर्व-काल में नेत्र गोलक को निकाल दिया जाता है। यदि यथासमय ध्यान न दिया जाय तो नेत्र गर्त का द्रव्य भी निकाल देना पड़ता है जिसे आशय

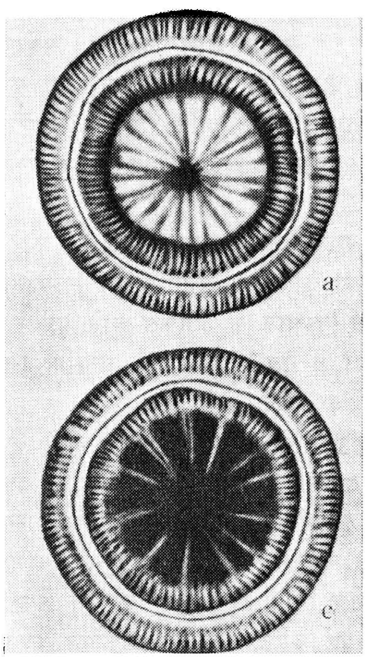
निष्कामन कहते हैं। कभी-कभी परानासा विवर भी खोलने पड़ते हैं। शस्त्र कर्म के बाद विकिरण चिकित्सा की जाती है।

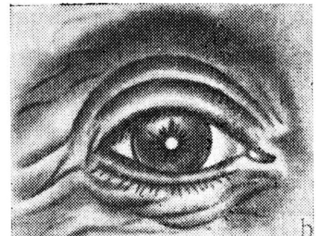
लेन्स के रोग

लेन्स पर प्रभाव डालने का कारण चाहे कुछ भी हो, इसकी पारदर्शिता घट जाती है। लेन्स की अपारदर्शकता को **मोतियाबिन्द** कहते हैं।

मोतियाबिन्द. लेन्स की अपारदर्शिता के अनुसार मोतियाबिन्द आंशिक या सम्पूर्ण हो सकता है। इससे पता चलता है कि दृष्टि-तीक्ष्णता किस हद तक कमजोर हो गयी है। यदि लेन्स पूर्णरूप से अपारदर्शक हो गया हो, तो रोगी को प्रकाश का केवल बोध होता है। मूल रूप से मोतियाबिंद का **वर्गीकरण** है: उपार्जित मोतियाबिंद (जरा-जन्य, अभिघातज, नेत्र रोग के जटिल हो जाने पर होने वाला विकिरण और अन्य), तथा **प्रगामी** मोतियाबिंद जिसमें लेन्स धीरे-धीरे अपारदर्शी होता जाता है। जन्मजात मोतियाबिंद बढ़ता नहीं है।

उपार्जित मोतियाबिन्द का मुख्य **लक्षण** है दृष्टि-तीक्ष्णता का धीरे-धीरे घटना और पुतली का रंग काले से भूरे में बदलते जाना (चित्र 174)। उपरोक्त तथा दृष्टि पटल दर्शन द्वारा जाने गये मोतियाबिन्द के अन्य लक्षणों के आधार पर मोतियाबिन्द का निम्नलिखित चरणों में विभेद किया जाता है: प्राथमिक, अपरिपक्व, परिपक्व और अतिपरिपक्व। सबलवाय से पीड़ित वृद्ध लोग भी धीरे-धीरे दृष्टि अवनति का अनुभव करते हैं और पुतली काले से भूरे रंग में बदल जाती है, पर इसमें पीड़ा नहीं होती। ऐसी दशाओं में विशेषज्ञ द्वारा तत्काल उपचार की





चित्र 174. जराजन्य मोतियाबिन्द।
A. प्राथमिक, B. पक्व, C. अपारदर्शी लैन्स में परितारिका।

अवाश्यकता होती है, अन्यथा रोगी अन्धा हो सकता है। उपार्जित मोतियाबिन्द के प्रथम चरण का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता है। यदि यह उपचार असफल हो और दृष्टि को तेज अवनति के साथ मोतियाबिंद बढ़ता जाय तो शस्त्र कर्म की सलाह दी जाती है: अपरिपक्व या परिपक्व अवस्था में अपारदर्शी लेन्स का निष्कर्षण।

जन्मजात मोतियाबिंद – आंशिक (केन्द्र की, पटलित) हो सकता है। यदि शिशु में लेश मात्र भी ज्योति हो तो स्कूल जाने से पूर्व की अवस्था में शस्त्रकर्म किया जा सकता है। पूर्ण मोतियाबिन्द होने पर, जब बच्चे को केवल प्रकाश का बोध होता हो और वह वास्तव में अन्धा हो, तो एक या दो वर्ष की अवस्था में शस्त्रकर्म करना चाहिए।

उपरोक्त बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैसे ही रोगी में मोतियाबिन्द का पता लगे उसे फौरन नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए।

लेन्स को निकाल देने के बाद आँख की अवस्था को लेन्सहीनता कहते हैं। ऐसे रोगियों को लेन्स के स्थान पर (+ 10.0 या अधिक के) उत्तल शीशे का चश्मा सदैव पहनना चाहिए और नजदिक से देखने के लिए (+ 13.0 या अधिक के) उत्तल शीशे वाला चश्मा पहनना चाहिए।

दृष्टि-पटल के रोग

इन रोगों की अभिव्यक्ति दृष्टि-तीक्ष्णता की एकाएक या क्रमिक अवनति से होती है। यदि दृष्टि पटल का मध्य भाग रोगग्रस्त हो (पीत बिन्दु और उसके आस-पास का क्षेत्र) तो रोगी इस बात की शिकायत करता है कि वस्तु का आकार-प्रकार वि विरूपित है, कि आँखों के सामने काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं, कि दूर की नजर बहुत खराब हो गयी है और यह कि पढ़ना असंभव हो गया है। वर्ण बोध में भी विकार आ जाते हैं।

अतिरक्तदाबी रोग, गुर्दे और रक्तोत्पादक अंगों के रोग, यक्ष्मा, सिफिलिस, टाक्सोप्लाज्मिता, ब्रुसेल रुग्णता, मधुमेह, गर्भकाल की विषालुता और बहुत से अन्य रोगजनक प्रक्रमों में दृष्टिपटल के रोग होते हैं। रोग के निदान की पुष्टि नेत्र विज्ञानी द्वारा दृष्टि पटल दर्शन, दृष्टि परिमिति और अन्य नैदानिक विधियों द्वारा की जाती है।

दृष्टि पटल वाहिकाओं में परिसंचरण विकार दृष्टि-पटल वाहिकाओं में तीव्र अवरोध के कारण उत्पन्न होता है। तरुणों में यह हृद्कपाट से परिभ्रमी अन्तःशल्य केन्द्रीय दृष्टिपटल धमनी या इसकी शाखा को अवरूद्ध कर दे तो यह दृष्टिपटल वाहिकाओं का अवरूद्ध होना तंत्रिका तंत्र के क्रियात्मक रोग, क्रियात्मक हृद रोग, अन्तर्दिशोथ के रोगों की अभिव्यक्ति होता है। प्रौढ़ लोगों में वाहिकाओं का आकर्ष अथवा धमनी या शिरा की घनास्रता, धमनी काठिन्य या अतिरक्तदाबी रोगों की पृष्ठभूमि में होती है। इन सभी रोगों में रोगी ज्योति के तेजी से या एकाएक घटने की शिकायत करता

है। पहले यह शिकायत बहुधा एक आँख में होती है। दृष्टिपटल दर्शन से दृष्टि पटल वाहिकाओं के संकीर्णन और इसकी अपारदर्शिता का पता लगता है, और वाहिकाओं की घनास्रता होने पर इनमें रक्तस्राव का पता लगता है।

उपचार. ऐसे रोगियों को तत्काल ही नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए, जो नेत्रबुध्न की हालत को देखकर मुख्य रोग का निदान करता है। नेत्र विज्ञानी के इस निदान के उपरान्त ही यह निश्चय किया जाता है कि इस रोगी का उपचार नेत्री विज्ञानी के साथ मिलकर काय चिकित्सक या तंत्रिका विज्ञानी करे।

अतिरक्तदाबी रोगों में होने वाले दृष्टिपटल परिवर्तन में पहले नेत्र ज्योति नहीं घटती और इसीलिए इसका पता तभी लगता है, जब काय चिकित्सक रोगी की जाँच हेतु नेत्रविज्ञानी के पास परीक्षण के लिए भेजता है। नेत्रज्योति की अवनति या इसका पूर्णतया लुप्त होना दुर्दम अतिरक्तदाब के आखिरी चरणों में ही होता हैं। अतिरक्त-दाबी रोगों में निम्नलिखित नेत्र संबन्धी लक्षण होते हैं: दृष्टिपटल धमनियों का संकीर्णन और कुटिल होना, धमनियों और शिराओं का अनियमित अन्तर्व्यास होना, वाहिकाओं का काठिन्य होना, रक्तस्राव होना, दृष्टिपटल का अपारदर्शी होना, दृष्टि तंत्रिकाशोथ होना। ये लक्षण रोग के चरण पर निर्भर होते हैं और इनकी अभिव्यक्ति विभिन्न संयोजनों और तीव्रता से होती है। इसलिए निदान हेतु, रोग की गति का और इसके पुर्वानुमान के लिए नेत्र बुध्न का, परीक्षण बहुत महत्त्वपुर्ण है। ऐसे रोगियों का उपचार काय चिकित्सक के द्वारा किया जाना चाहिए।

इसी तरह के परिवर्तन गर्भवती स्त्रियों में विषालुता के साथ-साथ धमनीदाब बढ़ने के फलस्वरूप होते हैं। इसे गर्भवती **स्त्रियों की दृष्टिपटल विकृति** के नाम से जाना जाता है। दृष्टिपटल रोगों के ये विशिष्ट लक्षण रक्त के रोगों, मधुमेह और अन्य रोगों में देखे जाते हैं। ऐसे रोगियों की नेत्र ज्योति सम्बन्धी शिकायत पर ध्यान देना आवश्यक होता है और बहतर हो कि ऐसे रोगियों को रोगनिरोधी जाँच के लिए नेत्रविज्ञानी के पास भेजा जाय।

दृष्टिपटल का वर्णक अपविकास अस्पष्ट हेतुकी वाला दृष्टिपटल का तीव्र रोग है। यह रोगी के परिवार में सामान्य तौर पर पाया जाने वाला और वंशानुगत हो सकता है या मादकता और संक्रमण के बाद उपार्जित हो सकता है। पहले रोगी गोधूलि के समय कम ज्योति और रात्रि में दृष्टि क्षेत्र के संकुचित होने के कारण कम दिखाई देने की शिकायत करते हैं और इसके बाद उन्हें दिन के रोशनी में भी अवकाश के अभिविन्यास में कठिनाई होती है, और दृष्टितीक्ष्णता की प्रक्रमी अवनति होती जाती हैं। दृष्टिपटल दर्शन द्वारा पहले दृष्टिपटल के परिसर और इसके केंद्र में असंख्य वर्णक विकार स्थान दिखाई देते हैं, जिनका आकार अस्थि पिंड के समान होता है, फिर को-रायड वाहिकाओं का काठिन्य हो जाता है। धीरे-धीरे दृष्टि तंत्रिका शोष विकसित होता है, जिसके कारण दृष्टि तीक्ष्णता का लोप हो जाता है और अंततः अन्धता हो जाती है।

उपचार : उपचार से नेत्र ज्योति को बनाये रखने या कुछ सुधार करने में सहायता मिलती है। रोगी को खाने के लिए पोली विटामिन (ए, ई, राइबोफ्लेविन, निकोटीनिक एसिड) तथा ऊतक संयोग और वाहिका विस्फारक के अन्तर्पेशीय इंजेक्शन लगवाने का निर्देश दिया जाता है। आजकल पराश्रव्य का उपचार के लिए प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया है। अल्प या अविटामिनता के कारण दिवान्धता एकाएक हो सकती है, परन्तु दृष्टि क्षेत्र, दृष्टितीक्ष्णता और नेत्रबुध्न में कोई परिवर्तन नहीं होता। कोडलीवर आयल, विटामिन ए और ई और इन विटामिनों से युक्त भोजन को लेकर रोगी तेजी से स्वास्थ्य लाभ करता है।

दृष्टिपटल वियोजन. दृष्टिपटल वियोजन की अभिव्यक्ति दृष्टितीक्ष्णता के एकाएक घट जाने या रोगी के नेत्र के दृष्टि-क्षेत्र के कुछ भाग में आच्छादन (आवरण) दिखाई देने से होती है। वृद्ध लोगों या अत्यन्त जटिल निकट दृष्टिता वाले व्यक्तियों में अभिघात के बाद दृष्टिपटल वियोजन होता है। अधिकतर वियोजन के प्रचलित कारण होते हैं : इसमें विदार होना या इसका संलग्नक के स्थान से पृथक होना और दृष्टिपटल तथा कोरायड के बीच में स्थित काचाभ पिंड के तरल भाग का निकल जाना।

उपचार इसका उपचार शस्त्रकर्म है। शस्त्रकर्म इस प्रक्रम के प्रारम्भिक चरणों में अधिक प्रभावशाली होता है, इसलिए ऊपर बताई गयी शिकायत होने पर रोगियों को नेत्र-रोग चिकित्सालय में भेजना चाहिए। अतिनिकट दृष्टिता से पीड़ित लोगों को भारी शारीरिक श्रम से छूट दे देनी चाहिए, ताकि दृष्टिपटल वियोजन पर निरोध हो सके; या इस स्थिति को सुधारने के लिए शस्त्रकर्म के बाद भी रोगी को भारी शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिए।

रिटिनोब्लस्टोमा एक प्राथमिक दुर्दम नवीन अपवृद्धि है, जो कि बहुधा जन्मजात होती है जो एक पार्श्वीय या द्विपार्श्वीय हो सकती है। यह रोग बहुधा 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में होता है। अभिभावकों को यह पता लगता है कि बच्चे की पुतली का विस्फारण होने लगा है और इसका रंग पीला होता जा रहा है, और अन्धता होने लगी है। अर्बुद तेजी से नेत्र गर्त और मस्तिष्क में बढ़ने लगता है और जल्दी ही विक्षेप होने लगते हैं जिससे कि मृत्यु हो सकती है। बच्चे को बचाने का एकमात्र तरीका है कि नेत्रगोलक को उसके पदार्थ सहित निकाल दिया जाय और फिर नेत्रगुहा के क्षेत्र में विकिरण चिकित्सा की जाय।

दृष्टि-तंत्रिका के रोग

दृष्टितंत्रिका के रोगों की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से शोथ (तंत्रिकाशोथ), रक्ताधिक्य (अक्षिबिम्बशोफ) और विघटक प्रक्रम (शोफ) से होती है। दृष्टि तंत्रिका के रोगी होने का सबसे प्रचलित कारण है, केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र के रोग (अर्बुद, तानिकाशोथ, बहुश्रित काठिन्य, जलतानिका शोथ) इत्यादि, इस रोग के कम प्रचलित कारण हैं अतिरक्तदाबी रोग, मधुमेह, संक्रामक रोग (इन्फ्लुएन्जा, आमवात

रोग, सिफिलिस, यक्ष्मा, टाइफस, इत्यादि), परानासाविवर के **शोथ**, लेड (शीसा), मिथाइल एलकोहल इत्यादि से होने वाली विषाक्तता, इत्यादि और नेत्र रोग। रोगी मुख्य रूप से नेत्र ज्योति के एकाएक लुप्त होने या धीरे-धीरे कमजोर होने की शिकायत करता है।

दृष्टि तंत्रिका के **शोथ** (प्लेट XIII) की अभिव्यक्ति दृष्टितीक्ष्णता के एकाएक घटने, दृष्टिक्षेत्र का संकीर्णन या इसमें विकार होने (तमोबिन्द), वर्णबोध के विकार, नेत्रगोलक की पीड़ायुक्त गति से होती है। दृष्टिपटल दर्शन से दृष्टि अंकुरक की अतिरक्तता, दृष्टितंत्रिका की धुंधली परिसीमाओं और दृष्टिपटल शिराओं के विस्फारण का पता लगता है।

उपचार. प्रतिजीवी औषधियों के अंतर्पेशीय इंजेक्शन अंतःशिरा द्वारा हेक्सामेथीलीन-टेट्रामीन (यूरोट्रोपीन) सहित ग्लुकोज और विटामीन बी$_1$ का आधान किया जाता है। रोग के कारण के आधार पर रक्ताधान किया जाता है व ऊतक चिकित्सा की जाती है और कनपटी पर जोंक लगाई जाती है।

अक्षिबिंब शोफ (प्लेट XIV) ऐसे मामलों में अंतःकपाल दाब के बढ़ने का अत्यंत महत्वपूर्ण लक्षण होता है, जब साथ ही अर्बुद हो या केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के **शोथीय** रोग और दूसरे रोग हों। इसलिये वमन के साथ होने वाले सरदर्द की शिकायत होने पर रोगी को निश्चित रूप से नेत्रबुहन के परीक्षण के लिये नेत्रविज्ञानी के पास भेजना चाहिये। रोग के प्राथमिक चरण में बहुधा दृष्टि क्रियाओं में उपद्रव नहीं होता है। इसके बाद दृष्टि तीक्ष्णता की अवनति बढ़ती जाती है। दृष्टि क्षेत्र संकीर्ण होता जाता है और अंत में रोगी अंधा हो जाता है। दृष्टिपटल दर्शन से दृष्टि अंकुरक में छत्रक के समान वहिसरण और इसका आकार बढ़ जाने का पता लगता है। अंकुरक पर विस्फारित और कुटिल शिराएँ चढ़ती हुई दिखाई देती हैं तथा अंकुरक के चारों ओर रक्तस्राव का पता लगता है।

इसका **उपचार** तंत्रिकातंत्र विज्ञानी और तंत्रिकातंत्र शल्यकार द्वारा किया जाता है। आपातकालीन निर्जलीकरण चिकित्सा का भी निर्देश दिया जाता है।

तंत्रिका शोथ और अक्षिबिम्ब शोफ के अंतिम चरण में **दृष्टि-तंत्रिका का शोफ** विकसित होता है। शोफ के रूप प्रारम्भ में टेविजडार्सेलिस, मस्तिष्क की सिफिलिस, दृष्टिपटल के वर्णक विघटन, प्रमस्तिष्क वाहिकाओं के काठिन्य इत्यादि में होता है। दृष्टि तीक्ष्णता की कमजोरी तेजी से बढ़ती जाती है और दृष्टिक्षेत्र संकीर्ण होता जाता है, भले ही रोग का कारण कुछ भी हो। दृष्टि पटल दर्शन से दृष्टिपटल वाहिकाओं की संकीर्णता और दृष्टि अंकुरक के पीलेपन का पता लगता है।

उपचार. इस प्रक्रम की हेतुकी पर निर्भर होता है। ऊतक चिकित्सा नियमित रूप से दी जाती है, खाने को पोलीविटामिन और विशेषकर बी काम्प्लैक्स दिया जाता है। ग्लूकोज घोल का अन्तःशिरा आधान किया जाता है तथा वाहिका विस्फारक औषधियाँ दी जाती हैं।

सबलवाय

सबलवाय एक अत्यन्त तीव्र रोग है जो मुख्य रूप से वृद्धावस्था में होता है। सबलवाय बहुधा नेत्र रोगों से पीड़ित रोगियों में से लगभग चार से आठ प्रतिशत लोगों में होता है। परन्तु यह सम्पूर्ण जगत में ठीक न हो सकने वाली अन्धता का मुख्य कारण है।

सबलवाय की अन्य अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त **अन्तरिक्ष दाब का बढ़ जाना** सबलवाय का मुख्य लक्षण है। सबलवाय दृष्टि क्रियाओं की क्रमिक अवनति का मुख्य कारण है जिसके फलस्वरूप अन्धता होती है। इसका मुख्य कारण है दृष्टितंत्रिका का बढ़ता हुआ अनुत्क्रमणीय शोफ। सामान्य अन्तरक्षि दाब 18 से 25 मि० मी० मरकरी (पारद) के बीच होता है। यह दाब बहुधा प्रातःकाल अधिक होता है और सांयकाल में 3–5 मि० मी० मरकरी कम होता है। बढ़ा हुआ अंतरक्षि दाब सबलवाय का लक्षण है। विशेषकर प्रातः और सायंकाल स्तर में अन्तर अधिक होता है। यह रोग अच्छी भली स्वस्थ आँख में बिना किसी स्पष्ट कारण के एकाएक प्रारम्भ हो जाता है, जिसे प्राथमिक सबलवाय कहते हैं। द्वितीयक सबलवाय एक ऐसा रोग है जो त्रिसर्जन में उपद्रव के कारण आँख में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों के फलस्वरूप विकसित होता है (किरीट फुल्ली जो परितारिका से संयुक्त हो, परितारिका रोमक पिण्डशोथ में परितारिका का बन्द होना, लेन्स का विस्थापित होना, इत्यादि)।

सबलवाय के प्रवर्ध की तीव्रता के आधार पर इसे पांच चरणों में विभाजित किया जाता है: प्रारम्भिक, विकसित, अतिविकसित, लगभग पूर्ण और पूर्ण सबलवाय। प्रतिकार के अनुसार अन्तरक्षि दाब के स्तर पर और दैनिक परिवर्तन पर आधारित करते हुए इस प्रक्रम को चार अंशों में विभाजित किया जाता है: प्रतिकारी, उपप्रतिकारी, प्रतिकाररहित और अप्रतिकारी (तीव्र आक्रमण)।

प्राथमिक सबलवाय रक्ताधिक्य (बन्दकोण सबलवाय) और इसके साधारण रूप में रोगी समय-समय में (खुले कोण की सबलवाय) के रूप में हो सकती है। बन्द कोण वाली सबलवाय में रोगी समय-समय पर सिरदर्द की और नेत्र में पीड़ा, धुंधली नजर, प्रकाश के स्रोत में इन्द्रधनुष के वृत्तों का दिखाई देने, एकाएक अश्रु स्राव होना, पढ़ते समय आँखों में थकान होने और चश्मे के शीशों को बार-बार बदलने की आवश्यकता की शिकायत करता है। रोगी की शिकायतें स्थाई हो सकती हैं। क्योंकि नेत्र ज्योति सबलवाय के प्राथमिक अवस्था में ठीक बनी रहती है, इसलिए रोगी चिकित्सा समाप्त के लिए बहुत ही कम जाता है। परीक्षण करने पर किरीट में हल्की-सी अपारदर्शिता का पता लगता है और ऐसा लगता है कि किरीट में छिद्रण हुआ हो तथा किरीट के चारों ओर का शिरा तंत्र विस्फारित हो गया हो, तथा अग्र कक्ष की गहराई घट गई हो, जिस पर प्रकाश की प्रक्रिया बहुत हल्की होती हो, पुतली विस्फारित हो गई हो, जिस पर प्रकाश की प्रक्रिया बहुत हल्की होती हो। यदि ये लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई न

भी दें, तो भी अन्तरक्षि दाब का माप कर सही और समय से निदान किया जा सकता है। इसे प्रारंभिक अवस्था कहते हैं। जैसे-जैसे प्रक्रम बढ़ता जाता है दृष्टितीक्ष्णता की अवनति होती जाती है और दृष्टिक्षेत्र अधिक संकीर्ण होता जाता है। ऊपर बताये गये परिवर्तन नेत्र के अग्रभाग में अधिक स्पष्ट हो जाते हैं : यह विकसित चरण का प्रारम्भ है। रोग के और अधिक बढ़ने पर दृष्टि अंकुरक में अवसाद और शोष होता है जिसका पता दृष्टि तीक्ष्णता और संचरण में कमी से लगता है। यह बहुत आगे बढ़ा हुआ सबलवाय है। नेत्र ज्योति अंततः लुप्त होती जाती है और अन्त में केवल प्रकाश का बोध ही होता है। यह लगभग पूर्ण सबलवाय है। यदि नेत्र ज्योति पूर्ण रूप से समाप्त हो जाय तो इसे पूर्ण सबलवाय कहते हैं।

साधारण सबलवाय में रोगी नेत्र ज्योति की निरन्तर अवनति और अवकाश में वस्तु के विन्यास में कठिनाई की शिकायत करता है। इस प्रक्रम के अधिक बढ़ जाने में दष्टितंत्रिका का शोष हो जाता है और रोगी अन्धा हो जाता है, अर्थात् प्रवर्धं की वैसे ही अवस्था विकसित हो जाती है, जैसे कि रक्ताधिक्य रूप में। अन्तरक्षि दाब और दृष्टि क्षेत्र की सीमाओं को जान लेने के बाद ही साधारण सबलवाय का निदान जल्दी हो सकता है। यह परीक्षण रोग-निरोधी उपाय के रूप में 40 वर्ष से अधिक आयु वाले सभी व्यक्तियों का करना चाहिए और विशेष कर ऐसे लोगों में जो कि अपने नेत्र ज्योकि को खराब होने की शिकायत करते हैं।

कभी-कभी अन्तरक्षि दाब को बिना मापे हुए ही यह मान लिया जाता है कि रोगी को मोतियाबिन्द है और उसे इसके पकने का इन्तजार करने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार से होने वाली अन्धता सबलवाय में असाध्य है। सबलवाय की अभिव्यक्ति या शुरूआत एकाएक तीव्र आक्रमण के रूप में बहुत कम होती है। ऐसा केवल तंत्रिका तंत्र के आघात के फलस्वरूप, शरीर के टन्डे होने के बाद, शारीरिक अतिश्रम के बाद या रोग इत्यादि के बाद हो सकता है। रोगी को आँख में पीड़ा और ऐसा सिर दर्द महसूस होता है जो कि दांत तक महसूस हो, उल्टी और मतली महसूस होती है तथा शरीर का तापमान बढ़ जाता है। दृष्टि-तीक्ष्णता की अत्यधिक अवनति होती है और केवल प्रकाश का ही बोध होता है। रोगी की पलकें शोफीय हो जाती हैं तथा नेत्र श्लेष्मल वाहिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं, किरीट शोफीय, चमक-रहित और असंवेदनशील हो जाता है तथा अग्रभाग अनुपस्थित होता है और पुतली बहुत विस्फारित हो जाती है, जिस पर प्रकाश की प्रक्रिया नहीं होती। नेत्र बहुत ही कठोर (इसका दाब 70 मि० मी० पारद होता है) हो जाता है और नेत्र में पीड़ा होती है। नैदानिक त्रुटियाँ सम्भव हैं, क्योंकि उल्टी और मितली होने के कारण प्रमस्तिष्क रोग, अतिरक्तदाबी समस्या, खाद्य विषालुता, संक्रामक रोग और तीव्र अपैन्डिसाइटिस समझी जा सकती है। कभी-कभी ऐसी गलती तब होती है जब आँख की लाली और पीड़ा का, परितारिका-रोमकपिण्डशोथ का निदान किया

जाता है और रोगी की आँख में एट्रोपीन का बिन्दुपात किया जाता है। इस गलती से बहुधा न सुधरने वाली हानि हो जाती है।

ऐसी त्रुटियों से बचने के लिए विभेदक निदान का निम्नलिखित तालिका को देखना उपयुक्त होगा।

सबलवाय का तीव्र आक्रमण	तीव्र परितारिक शोथ
1. अन्तरक्षि दाब बढ़ जाता है।	1. नियम के रूप में अन्तरक्षि दाब सामान्य या कम रहता है। कभी-कभी यह बढ़ भी सकता है, पर ऐसा बहुत कम होता है।
2. किरीट विशेष रूप से अपारदर्शी होता है, यहाँ तक कि बहुत ही धुंधला नजर आता है। इसकी सतह में छिद्रण होता है।	2. किरीट में कोई परिवर्तन नहीं होता।
3. किरीट के चारों ओर की अन्तरक्षि शिराएँ विस्फारित और कुटिल होती हैं।	3. किरीट के चारों ओर की धमनी वाहिकाओं में रक्ताधिक्य हो जाता है।
4. पुतली विस्फा रित होती है और स्वस्थ आँख की अपेक्षा अधिक बड़ी होती है।	4. स्वस्थ आँख की अपेक्षा पुतली अधिक संकीर्ण होती है (जब तक एट्रोपिन का बिन्दु पात नहीं किया जाता)।
5. किरीट की संवेदनशीलता कम होती है।	5. किरीट की संवेदनशीलता सामान्य होती है।
6. नेत्र का अग्र कक्ष छोटा होता है।	6. अग्र कक्ष सामान्य गहराई का होता है।
7. इन्द्र धनुष के वृत्त और कोहरा दिखाई देने की, नेत्र में पीड़ा की, माथे, जबड़ और सिर के पीछे वाले भाग में पीड़ा की शिकायत होती है।	7. इन्द्र धनुष के वृत नहीं दिखाई देते। नेत्र ज्योति का घटना संभव है। नेत्र के क्षेत्र में पीड़ा होती है।

सबलवाय के तीव्र आक्रमण का उपचार प्रक्रम के चरण पर निर्भर करता है और इस बात पर भी निर्भर करता है कि रोगी का समय से और ठीक ढंग से उपचार किया गया है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में सभी लक्षण समाप्त हो सकते हैं और नेत्र ज्योति का पुनः वापस आना संभव होता है, लेकिन कभी-कभी प्राथमिक आक्रमण के फलस्वरूप पूर्ण अनुत्क्रमणीय अन्धता हो सकती है।

उपचार सबलवाय का उपचार करने की मुख्य समस्या है अन्तरक्षि दाब को घटाना और नियंत्रित करना। यदि दाब को सामान्य स्तर पर लाने में सफलता मिल जाती है, तो इस अवस्था को प्रवर्ध का प्रतिकार कहते हैं। अन्य रोगों में यह प्रक्रम उपप्रतिकारित या प्रतिकाररहित होता है, जो अन्तरक्षि दाब के स्तर और दृष्टि की क्रियाओं की अवस्था पर निर्भर करता है। तीव्र आक्रमण को अप्रतिकारित सबलवाय

कहते हैं। ऐसे रोग में पुतली को संकुचित करने वाली दवाओं और अन्तरक्षि दाब को घटाने वाली दवाओं का निर्देश दिया जाता है: एक प्रतिशत पोलीकारपीन घोल 0.25% फिजोस्टीग्माइन (एसेरिन) घोल, 0.02% फासफकोल घोल और अन्य औषधियों का निर्देश दिया जाता है। पिलोकारपिन का बहुधा दिन में 3 से 6 बार बिन्दुपात किया जाता है, यदि यह पर्याप्त न हो तो अन्य तारा संकोचक औषधियाँ दी जाती हैं। तीव्र आक्रमण होने पर रोगी को तत्काल ही ऐसे चिकित्सालय में भेजना चाहिए जहाँ हर 15 या 20 मिनट बाद नेत्र संकोचक औषधि का बिन्दुपात किया जा सके। तीव्रता समाप्त होने के बाद यह बिन्दुपात प्रत्येक एक या दो घंटे के बाद और तत्पश्चात और भी अधिक अन्तराल से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी बरते जाते हैं: उष्णपाद-स्नान, लवण विरेचक, निद्रादायक गोलियाँ, तंत्रिका तंत्र के लिए शामक, कनपटी पर जोंक लगाना इत्यादि उपाय। यदि अन्तरक्षि दाब 24 घंटे के अन्दर न घटे तो शस्त्र कर्म आवश्यक हो जाता है। सबलवाय के अन्य रूपों में, जबकि नियंत्रित करने के शस्त्रकर्म रहित उपचार सफल नहीं हों, शस्त्रकर्म करने की सलाह दी जाती है।

इसके अतिरिक्त सबलवाय के रोगियों का हृदवाहिकाओं, तंत्रिका तंत्र, अन्तः-स्रावी तंत्र और जठर आन्त्र पथ के रोगों का उपचार भी करना चाहिए। सबलवाय के रोगियों के उपचार में कार्य और खाली समय की नियमित सारिणी का सजीव महत्व है। सबलवाय के रोगियों को उत्तेजना, तंत्रिका तंत्र के प्रतिबल, अधिक गर्मी या सर्दी, अधिक थकान और कब्ज से बचना चाहिए और उन्हें सिर नीचा करके काम नहीं करना चाहिए। दुग्ध पदार्थों और शाक-शब्जी का भोजन उनके लिए उत्तम है, परन्तु तरल पदार्थ के लेने की एक सीमा निर्धारित की गई है (एक दिन में चार या पाँच गिलास से अधिक नहीं)। मद्यपान और धूम्रपान वजित है। कैफिन और बेलाडोना के संयोग और विशेषकर एट्रोपीन प्रतिदिष्ट है। दूर तक टहलना और हल्का शारीरिक व्याम करने की सलाह दी जाती है।

सबलवाय के उत्तरोत्तर विकास को रोकने के लिए और अन्धता से बचने के लिए रोगियों का जल्दी पता लगाना आवश्यक है। उनके अन्तरक्षि दाब और दृष्टि क्रियाओं की अवस्था पर नियमित निगरानी रखना आवश्यक होता है। सबलवाय का पता, चालीस वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों का नेत्र विज्ञानी और अन्य विशेषज्ञों के पास चिकित्सा सहायता के लिए आने पर, प्रशिक्षित चिकित्सा कर्मियों द्वारा तनाव-मिति विधि से किया जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्यमों में कार्य करने वाले स्वस्थ व्यक्तियों की जाँच सबलवाय लक्षणों के लिए इसी प्रकार की जाती है, जैसे उस क्षेत्र की अन्य सभी शहरी या देहाती आबादी में होती हैं।

यदि अन्तरक्षि दाब 25 मि० मी० पारद से अधिक है या रोगी में सबलवाय की कुछ लक्षण शिकायत है तो रोगी की नेत्र विज्ञानी द्वारा भली भांति जाँच करना आवश्यक है।

सभी सबलवाय रोगियों का नेत्रविज्ञानी कार्यालय में विशेष वृत्त रखा जाता है और उनके अन्तरक्षि दाब, दृष्टि तीक्ष्णता, दृष्टिक्षेत्र और अन्य क्रियाओं की जाँच और परीक्षण महीने में कम से कम एक बार किये जाते हैं। इन आंकड़ों को विशेष कार्डों में दर्ज किया जाता है।

सबलवाय निरोध के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सक्रिय उपायों के प्रसार में यह आवश्यक है कि वार्ता, व्याख्यान, प्रेस, रेडियो और अन्य साधनों द्वारा उस क्षेत्र की आबादी और चिकित्साकर्मियों को इस रोग के बारे में जानकारी दी जाय।

ऐसे उपायों के उपरान्त ही बहुत से सबलवाय रोगियों का पता लगा है और अधिकतर लोग नेत्र विज्ञानी के पास तभी जाँच के लिए आने लगे हैं, जब वह इस रोग के प्राथमिक चरण में ही होते हैं। यही कारण है कि नियमित उपचार के बाद प्रक्रम के स्थायी प्रतिकार के रोगियों की प्रतिशत दर बढ़ गयी है, और इसके परिणाम अच्छे रहे हैं।

शिशुओं में भी सबलवाय (जन्मजात सबलवाय, जलनेत्र) और किशोरों में (जुवेनाइल सबलवाय) का रोग पाया जाता है।

जन्मजात सबलवाय. जन्मजात सबलवाय के सभी रोगों में से 60% जन्म के समय जलनेत्री होते हैं। इस प्रक्रम के विकास चरणों में नेत्र के अग्र और पश्च भागों में आकृतिक परिवर्तन होते हैं। प्रारम्भिक चरण में दाब बढ़ जाता है। किरीट सामान्य या थोड़ा बढ़ा हुआ (पर बारह मि० मी० से अधिक नहीं) होता है। पुतली कुछ विस्फारित होती है। यदि अन्तरक्षि दाब प्रतिकार की स्थिति पर है तो किरीट की पारदर्शिता नहीं घटती है। लिम्बस के क्षेत्र, श्वेत पटल और नेत्रबुघ्न में कोई दीखने योग्य परिवर्तन नहीं होता है। विकसित सबलवाय में किरीट का व्यास 12 से 14 मि० मी० तक होता है। लिम्बस बढ़ जाता है। अग्रभाग स्वस्थ आँख की अपेक्षा कुछ अधिक गहरा होता है। पुतली देखने में विस्फारित होती है। दृष्टितीक्ष्णता कम हो जाती है। सबलवाय की अति विकसित अवस्था में किरीट और अधिक बड़ा हो जाता है (इसका व्यास 14 मि० मी० से भी अधिक होता है)। लिम्बस का क्षेत्र काफी हद तक बढ़ जाता है। नेत्र गोलक की अग्र, पश्च माप बढ़ जाती है। अग्र पक्ष गहरा हो जाता है। परितारिका शोफीय हो जाती है। पोषण के विकारों के फलस्वरूप लेन्स अपारदर्शी हो जाता है। अक्षिबिम्ब की रोगजनक चषक और इसका शोष बुघ्न पर दिखाई पड़ता है। पूर्ण सबलवाय में परिवर्तन केवल अग्र भाग में ही नहीं, बल्कि पश्च भाग में भी होते हैं। श्वेतपटल बहुत पतला हो जाता है और इसमें विस्फार हो जाता है, किरीट धुंधला हो जाता है, डेसीमेट नेत्रश्लेष्मला में विदार हो जाते हैं, काचाभपिण्ड और लेन्स में काफी अपारदर्शिता हो जाती है, दृष्टिपटल और कोरायड का वियोजन हो सकता है और इन दशाओं में कक्ष फिर उथला हो जाता है, जबकि अन्तरक्षि दाब गिर जाता है। दृष्टितीक्ष्णता शून्य के बराबर होती है। लगभग पूर्ण सबलवाय में प्रकाश का बोध मात्र होता है।

जन्मजात सबलवाय का **उपचार** बहुधा शस्त्रकर्म है। निदान की पुष्टि हो जाने के बाद पहले कुछ दिनों तक औषधि चिकित्सा की जाती है जैसे—तारासंकोचक (पिलोकार्पिन, फासफिकोल, अरमीन तथा अन्य)। औषधि चिकित्सा तथा अन्य उपायों का केवल अस्थाई और अस्थिर परिणाम होता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यथासम्भव शीघ्र शस्त्रकर्म करना आवश्यक होता है। (बच्चे के जन्म होने के पश्चात के पहले कुछ दिनों या सप्ताहों के अन्दर ही)।

जोवेनाइल सबलवाय की अभिव्यक्ति युवकों में 25 वर्ष की आयु तक होती है। अधिकतर यह साधारण सबलवाय के रोग का पथ अपनाता है। बहुत से रोगियों में जन्मजात परितारिका या जलनेत्र के अल्प विकास के लक्षणों का पता लगना सम्भव है: सबलवाय के साथ बहुधा निकट-दृष्टिता होती है। प्राथमिक सबलवाय का उपचार वृद्ध रोगों के उपचार के समान ही होता है।

सबलवाय का लेशमात्र सन्देह होने पर रोगी को तत्काल ही नेत्रविज्ञानी के पास भेजना चाहिए। जिन रोगियों में सबलवाय का पता लगे उन्हें चिकित्सक के निर्देशों का पालन करना चाहिए और नियमित रूप से नेत्रविज्ञानी के पास जाँच के लिए भेजना चाहिए। नेत्र विज्ञानी की सिफारिश के अनुसार कुछ रोगियों को अन्य कामों पर स्थानान्तरित कर देना चाहिए।

नेत्र अभिघात

नेत्र रोग से पीड़ित सभी रोगियों में से 5 से 10 प्रतिशत रोगी नेत्र अभिघात (चोट) के होते हैं। चोट के बहुत से मामले, यहाँ तक गम्भीर हो सकते हैं कि आंशिक या पूर्ण रूप से दृष्टि लुप्त हो जाय। नेत्र अभिघात के सफल उपचार के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि रोगी को प्राथमिक सहायता यथासंभव शीघ्र और उपयुक्त दी जाय और उसके बाद नियमित उपचार किया जाय। चोट के कारण के अनुकूल अभिघात को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है, जैसे—यांत्रिक, उष्णीय, और रासायनिक अभिघात, जबकि स्थानिक अभिघात में उपांग उपकरण (नेत्र गर्त सहित) और नेत्र गोलक में भी अभिघात हो सकता है।

यान्त्रिक चोट से पलकों, नेत्र-गर्त और आँख में जख्म हो सकता है।

पलकों की चोट. पलकों के अभिघात से त्वचा पर, विशेषकर पलकों की परिसीमा पर, चोट लगती है। इसमें दबे हुई ऊतक को निकालने के साथ शस्त्रकर्मी क्षतशोधन करना आवश्यक होता है और अन्तरसीमा स्थान में सीवन करनी चाहिए। उपचारिका को चाहिए कि टिटनेस एंटीटाक्सिन और प्रतिजीवी का अन्तर्पेशी इंजेक्शन लगाये। आँख में बिन्दुपात करके उसे विसंक्रामित करें। पलकों की त्वचा को ब्रिलिएंट ग्रीन के एक प्रतिशत एल्कोहल घोल से धोना चाहिए और फिर आँख पर विसंक्रामित पट्टी करके रोगी को नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए।

नेत्रगुहा में चोट. नेत्रगुहा मे चोट [illegible] के विस्थापित होने से तथा नेत्रगुहा के [illegible] है। उसी के अनुसार नेत्र का आकुंचन श्रोर [illegible] विदार, नेत्र में तीव्र नील पड़ने या दबने [illegible] नेत्रगुहा के अभिघात भयानक होते हैं, क्योंकि संक्रमण [illegible] नेत्रगुहा में अभिघात के निम्नलिखित लक्षण हैं: पलकों श्रोर [illegible] में रक्त स्राव होना, स्थिय भित्तियों के क्षेत्र में परिस्पर्शन से पीड़ा [illegible] गोलक विस्थापित हो जाता है और गतिशीलता घट जाती है, [illegible] होती है, नाक से रक्त स्राव होता है और रोगी की शारीरिक दशा [illegible] जाती है।

इसका **उपचार** वही है जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। रोगी [illegible] पर लिटाकर नेत्र विज्ञानी के पास ले जाना चाहिए।

नेत्र गोलक की चोट कुन्द (नील पड़ने वाली), उपरस्थि और अन्दर तक हो सकती है।

अकर्तक **अभिघात या नील** तभी पड़ता है, जब आँख पर किसी छड़ी, मुष्ठि, मशीन के भाग, चौपाये के सींग इत्यादि से प्रहार होता है। इसके साथ विभिन्न प्रकार के अन्य लक्षण भी हो सकते हैं। बहुधा निम्नलिखित मिले-जले लक्षण होते हैं: पलकों की मोटाई से रक्तस्राव (या घाव होना) नेत्र श्लेष्मा, अग्रभाग, काचाभ पिण्ड और नेत्र गर्त में रक्तस्राव होना तथा परितारिका का विदार या वियोजन, लेन्स का अपारदर्शक होना या विस्थापित होना, तथा नेत्रबुध्न में परिवर्तन। सबसे गम्भीर अभिघात वह होता है जब नेत्रगोलक का आन्तरिक पर्तों के भ्रंश के साथ पिच्चन हो जाता है। ऐसा अन्दरूनी चोट के फलस्वरूप होता है। अभिघात की तीव्रता के अनुसार ही रोगी की नेत्रज्योति पर प्रभाव पड़ता है।

उपरस्थि अभिघात बहुधा छोटे आगन्तुक शल्य के कारण होता है: एस्रो, कोयला, धातुओं की क्षीलन, अन्न की बालियाँ तथा अन्य छोटी चोजें। ये आगन्तुक शल्य नेत्रश्लेष्मा, ऊपरी पलक की उपस्थि में खांचों में रह जाते हैं या किरीट की ऊपरी पर्त में आ जाते हैं। इनकी वजह से रोगी पलकों में आकर्ष, अश्रुस्राव, और स्पर्श असह्यता की शिकायत करता है। ऐसे में पलकों को सावधानी से पलटकर नेत्र श्लेष्म की जांच करना आवश्यक होता है। यह जांच पार्श्व प्रदीपन की सहायता से हो सकती है। धूल के कणों को नेत्र-श्लेष्मा पर से गीली रूई के फाहे से निकाला जाता है, जो आगन्तुक शल्य किरीट पर से इस प्रकार निकाले नहीं जा सकते हैं; उन्हें विशेष प्रकार की छोटी छेनी, स्पीअर या इंजेक्शन वाली सुई से खुरच कर साफ कर दिया जाता है और फिर एल्कोहल या उबले पानी से विसंक्रमित कर देते हैं। आँख में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का दिन में तीन बार बिन्दुपात किय जाता है। आगन्तुक शल्य को निकालते समय पलकों को बायें हाथ के अंगूठे और तर्जनी के

द्वारा बाहर को खींचकर अलग कर दिया जाता है और फिर उसमें छोटी छेनी का प्रयोग करते हैं। नेत्र श्लेष्मला कोष में कोलायड सिल्वर या सिन्थोमाइसिन घोल का आधान किया जाता है या 5% सिन्थोमाइसिन या लेवोमाइसिटीन (क्लोरमफेनिकाल) मलहल का लगाना बेहतर होता है और इसके बाद आंख पर पट्टी बांध देनी चाहिए। यदि आगन्तुक शल्य किरीट की गहरी पर्तों पर स्थित है या ऊपर बतायी गयी विधियों से इसको निकालना असम्भव है और धूल के कणों को निकालने के बाद उपद्रव (परितारिका शोथ, व्रण) होने पर रोगी को फौरन ही नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए।

आगन्तुक शल्य के घुसे बिना होने वाली उपरस्थि चोटों में किरीट में अपरदन और अन्तःसंचरण हो सकता है, जिसका पता दो प्रतिशत सोडियम फ्लोरोसिन घोल का नेत्र में आधान करने के बाद हरा रंग होने से चलता है।

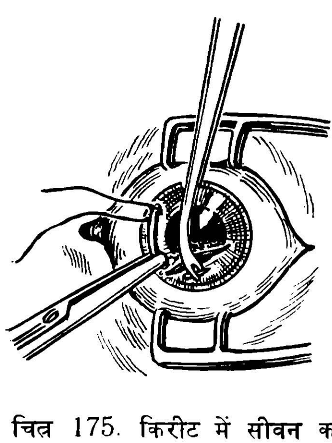
उपचार. आँख में प्रतिजीवी औषधि का मलहम या घोल डालकर अपूति पट्टी बांधी जाती है। यदि आंख में खरखराहट होती हो और पुतली संकीर्ण हो गई हो तो आंख में (यदि अन्तरक्षि दाब सामान्य हो) इसको कोलामिन या एट्रोपिन का बिन्दुपात करके पुतली को फैलाया जाता है। चालीस वर्ष से अधिक आयु वाले लोगो पर तारा विस्फारक औषधियों का प्रयोग करने में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि इस आयु के लोगों में अन्तरिक्ष दाब बढ़ने की अधिक सम्भावना होती है।

पैने और नुकीले पदार्थों, अग्नेय शस्त्रों इत्यादि से **बेधक जखम** या घाव हो जाते हैं। ये घाव किरीट श्वेत पटल या लिम्बस के भाग में हो सकते हैं। यदि ऐसे घाव होने का तनिक भी संदेह हो तो पलकों पर से रक्त-आतंच को सावधानीपूर्वक निकालना आवश्यक है। 0.25% टेट्राडिकेन घोल का आधान करके और सावधानी से पलक को खोलकर नेत्र की जाँच करनी चाहिए। बच्चों में इस क्रिया के लिए कभी-कभी पलकों के उठाने वाले औजार का प्रयोग आवश्यक होता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पलकों को खोलने या दबाने में तनिक भी असावधानी होने से घाव फिर खुल सकता है, जिससे कि काचाभपिण्ड और आंख की आंतरिक परतें भ्रंश हो सकती हैं। परीक्षण करने से निम्नलिखित परिवर्तनों का पता लगता है: पलकों में घाव; नेत्र की श्लेष्मला परतों में विदार, किरीट और उसके किनारों पर घाव या ऐसे घाव जिनमें परितारिका भ्रंश हो गई हो, श्वेत पटल में विदार और कोरायड में भ्रंश हो; अग्रकक्ष का छिछला या गहरा होना, रक्त का मौजूद होना; परितारिका का विस्फारित या संकुचित होना, भ्रंश परतों की ओर इसका विस्थापित हो जाना; परितारिका का रंग बदल जाना लैन्स के चोटग्रस्त होने पर इसका रंग भूरा होता है या काचाभ पिण्ड में रक्त में मौजूद होने से इसका रंग हरा होता है)। यह संभव है कि आगन्तुक शल्य आँख में बिंध गया हो। कभी-कभी यह अग्रभाग में या आँख के गहरे भागों में दृष्टिपटल दर्शन करने से दिखाई देता है। आगन्तुक शल्य

के पता लगाने की सुनिश्चित विधि 'एक्सरे' चित्रण है। इसमें दृष्टितीक्ष्णता बहुत घट जाती है।

वेधीय घाव का मुख्य लक्षण है, अन्तरक्षि दाब का घट जाना (अल्प तनाव होना)। नेत्रगोलक में अल्प तनाव की पुष्टि बन्द आंख के सावधानी-पूर्वक स्पर्शन से होती है। ये अभिघात दीर्घकालिक परितारिका रोमक पिण्ड शोथ और संक्रमण से जटिल हो सकते हैं। इनके लक्षण हैं, नेत्र की श्लेष्मल कला और पलकों में शोफ होना, नेत्र श्लेष्मला कोश में से आस्राव होना, घाव के किनारों से अन्तःसंचरण से जलन होना, काचाभ पिण्ड और अग्र भागों में अन्तनेत्रशोथ होना।

चोट लगने के दस से पन्द्रह दिन के बीच और कभी-कभी कुछ महीनों से लेकर कुछ वर्षों बाद तक स्वस्थ नेत्र पर विकसित होने वाला परितारिका रोमपिण्ड शोथ एक ऐसा अनुकम्पी शोथ है जो एक अत्यन्त भयानक उपद्रव हो सकता है। अगर ज्योतिहीन या लगभग ज्योतिहीन घाव वाली आँख परितारिका पिण्ड शोथ के कारण काफी समय तक शान्त नहीं होती है तो यह विशेषकर भयानक रूप ले सकता है। नेत्र आकार में सिकुड़ जाता है और छूने से इसमें पीड़ा होती है। स्वस्थ आँख को अनुकम्पी शोथ से बचाने के लिए ऐसी आँख को यथाशीघ्र निकाल लेना चाहिए। ऐसी आँख के निम्नलिखित लक्षण होते हैं: घटी हुई दृष्टितीक्ष्णता, नेत्रश्लेष्मा पर गहन या पेरिकोर्नियल अतिरक्तता, परितारिका की अतिरक्तता, पुतली की संकीर्णता और अंकुरक द्वार का बन्द होना (अछिद्रता), किरीट की पश्च सतह पर



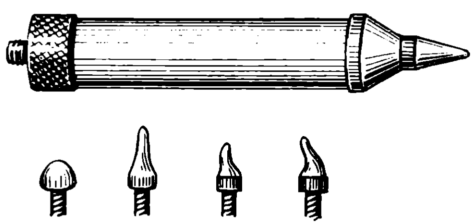
चित्र 175. किरीट में सीवन करना।



चित्र 176. बड़े आकार वाले विद्युतीय चुम्बक की सहायता से आँख में से आगंतुक शल्य को निकालना।

अवक्षेप होना। अन्य दशाओं में पहले अग्रभाग सामान्य रहता है और दृष्टि तंत्रिका शोथ के कारण ज्योति में अवनति होती है।

उपचार. तीव्र अकर्तक और वेधीय अभिघात वाले रोगियों को नेत्र चिकित्सालय में रखना आवश्यक होता है। नेत्र में विसंक्रामित औषधि का बिन्दुपात करने के बाद नेत्र पर अपुतित पट्टी बांधी जाती है और टिटनेस प्रतिजीवीष का इंजेक्शन लगाया जाता है। उपचारिका या चिकित्सक के सहायक को चाहिए कि वह ऐसे रोगों को एम्बुलैन्स में लिटाकर या दूरस्थ भाग से हवाई जहाज में लाकर नेत्र विज्ञानी के पास भेजे। नेत्र में आगन्तुक शल्य की मौजूदगी का पता लगाने के लिए चिकित्सालय में रोगी के नेत्र गुहा और कपाल का 'एक्स-रे' चित्रण किया जाता है। इससे नेत्रगुहा की भित्तियों की दशा का भी पता लगता है। वेधीय घाव होने पर घाव का क्षति-शोधन शस्त्र कर्म किया जाता है: भ्रंश परतों उच्छेदन करके घाव को सिर दिया जाता है (चित्र 175)। आँख में से आगन्तुक शल्य को निकालने के लिए बड़े एलेक्ट्रोमैगनेट (चित्र 176) या स्थाई मैंगनैर (चित्र 177) का प्रयोग किया जाता है। इसके सामान्य उपचार में प्रतिजीवी औषधि का अंतर्पेशीय इंजेक्शन या खाने की प्रतिजीवी औषधियाँ दी जाती हैं। ऊतक चिकित्सा और रक्त आधान किया जाता है। नेत्र में विसंक्रामक घोल का बिन्दुपात किया जाता है। नेत्र के तान के अनुसार तारा संकोचक या तारा-विस्फारक औषधियों का बिन्दुपात किया जाता है। वेधीय घावों के उपचार की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि रोग की सही चिकित्सा और यथा समय से की गई है या नहीं। इसलिए चिकित्सा कर्मियों का यह कर्तव्य होता है कि वह रोगी को किसी प्रकार की देरी किये बिना नेत्र चिकित्सालय में भेजे।



चित्र 177. स्थायी चुम्बक।

नेत्र का दग्ध होना. नेत्र और उसके आसपास के भाग अग्नि, पिघली हुई धातु और उबलते हुए पानी से उष्णदग्ध होते हैं। नेत्र में रासायनिक दग्ध अम्ल, क्षार और अनीलीन क्रेअन के प्रभाव से होता है। क्षार (विशेष रूप से चूने से) अति गम्भीर दग्ध होता है, क्योंकि यह पदार्थ तेजी से नेत्र ऊतकों में प्रवेश कर जाता है।

चोट की तीव्रता काफी हद तक हानिकारक पदार्थ की मात्रा और सान्द्रता पर निर्भर करती है। उसके उपचार में प्राथमिक सहायता कितनी जल्दी पहुँचाई गई है और इसका कैसा उपचार किया गया है, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आँख में हुए परिवर्तन के आधार पर दग्ध का हल्का, कुछ तीव्र, तीव्र और अतितीव्र में वर्गीकरण

किया जाता है। इस बात पर जोर देना चाहिए कि कितने अंशों का दग्ध हुआ है। इसका पता फौरन नहीं चल सकता क्योंकि ये परिवर्तन बाद में होते हैं। हल्के दग्ध में नेत्रश्लेष्मला और त्वचा पर सूजन और लाली दिखाई देती है। अतितीव्र होने पर ऊतक क्षय होने लगता है और किरीट चोट विभिन्न अंशों की हो जाती है (**शोफ**, अपारदर्शिता जो हल्के से तीव्र होती जाती है)।

प्राथमिक सहायता और चिकित्सा. यह आवश्यक है कि नेत्र की पलक यथासंभव पलट दी जाय जिससे कम से कम नेत्रश्लेषमा तोरणिका दिखाई पड़े। फिर धातु, चूना या अनिनील के कणों को भीगे हुए रूई के फाहे से निकाल दिया जाता है। अनीलीन या वायलेट इंक की दग्धता में नेत्रश्लेष्मा कोश को दो या तीन प्रतिशत टैनिल या तेज चाय के घोल से धोया जाता है और फिर हर दो घंटे के बाद दैनिक बूंदों का बिन्दुपात किया जाता है। अन्य दशाओं में आँख को पानी से अच्छी तरह (पाँच या छ: गिलास पानी से) से धोया जाता है और पलक के अन्दर 5% सिन्थोमाइसिन या क्लोरोंफेनिकाल मलहम दिन में पांच या छ: बार लगाया जाता है और विटामिन बूँदें या 40% ग्लूकोज घोल का बिन्दुपात किया जाता है।

यदि पुतली संकीर्ण है और अन्तरक्षि दाब सामान्य है तो ताराविस्फारक औषधियों का बिन्दुपात किया जाता है।

अन्तरक्षि दाब की निगरानी बहुत जरूरी होती है। यदि दाब बढ़ता है तो 1% पिलोकार्पिन घोल का बिन्दुपात करना चाहिए। नेत्रश्लेष्मा में ऊतक क्षय होने पर मलहम लगाना चाहिए और साथ ही कांच की छड़ से नेत्रश्लेष्मला के आसंजन को पृथक रखना चाहिए। तीव्र दग्ध होने पर 40% ग्लूकोज घोल का अन्त:शिरा आधान किया जाता है और खाने को पोली विटामिन दिया जाता है। विशेष उपचार और शस्त्र कर्म की आवश्यकता होने पर रोगी को प्राथमिक सहायता देने के बाद फौरन नेत्र चिकित्सालय में भेजना चाहिए। तीव्र दग्ध के परिणामस्वरूप किरीट में खुर्दरी फुल्ली बन जाती है और पलकों की श्लेष्मल कला में आसंजन होता है तथा इससे ज्योति में तीव्र अवनति होती है।

विद्युत नेत्राभिष्यन्द (एलेक्ट्रोपथ्लैमिया). यदि आँखें पराबैंगनी किरणों से भली-भांति सुरक्षित नहीं की गई हैं तो यह रोग बिजली की वेल्डिंग करने वालों और उनके सहायकों तथा फिल्म शूटिंग में उपस्थित लोगों में अति तीव्र प्रदीपन के कारण यह रोग हो सकता है। एलेक्ट्रोपथ्लैमिया की अभिव्यक्ति 5 या 6 घंटे में तीव्र पकाश असह्यता, अश्रुस्राव, नेत्रों में पीड़ा और पलकों में सूजन से होती है। समय-समय पर किरीट में अन्त:संचरण और पुट्टिकाएँ दीखती हैं। हिमनेत्राभिष्यन्द भी ऐसे ही होता है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

उपचार. ठंडे पानी से आँख को धोना। टेट्राकेन एड्रानेलिन का बिन्दुपात। उपचार के बाद ये लक्षण कुछ घंटों में खत्म हो जाते हैं।

नेत्र अभिघातों को सदैव गम्भीर समझना चाहिए, क्योंकि विभिन्न उपद्रवों के कारण

नेत्र ज्योति तत्काल या धीरे-धीरे पूर्ण या आंशिक रूप से लुप्त हो सकती है। स्वस्थ नेत्र के भी अनुकम्पी शोथ का भय रहता है। इसलिए नेत्र अभिघात के रोग-निरोधी उपाय जल्दी करने चाहिए। उद्यम और कृषि में निम्नलिखित उपायों का बरतना आवश्यक है: (1) काम करने की जगह से धूल की सफाई करना, क्योंकि अधिक धूल से नेत्रश्लेष्मा में क्षोभ होता है जिससे कि चिरकारी नेत्र श्लेष्मा शोथ विकसित हो सकता है और किरीट की उपरिस्थ चोट व्रण का रूप ले सकती है, (2) काम करने की जगह और उत्पादन कक्ष में अच्छी रोशनी होनी चाहिए। इससे सब चीजें साफ दिखाई देती हैं। आँखों में थकान कम होती है और काम करते समय आँख में चोट लगने का खतरा कर रहता है, (3) इस बारे में आश्वस्त होना चाहिए कि काम करने वालों को सुरक्षा नियमों का ज्ञान है और वे इन नियमों का पालन करते हैं, (4) किसी भी व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य को करते समय नेत्र अभिघात को रोकने के लिए कर्मियों को स्वास्थ्य शिक्षा की जानकारी देने का काम करना चाहिये, (5) यह देखना चाहिए कि काम करने वाले सुरक्षा चश्मे पहनें और मशीन उपकरणों पर अन्य सुरक्षात्मक साधनों को प्रयोग में लाया जाय, (6) कारीगरों का काम के लिए व्यावसायिक चयन करते समय उनकी नेत्रज्योति की क्षमता के अनुसार काम देना चाहिए, (7) सामूहिक और राज्य फार्मों तथा कारखानों की चिकित्सा-चौकियों पर काम करने वाली उपकारिकाओं को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सुरक्षा नियमों का पालन हो रहा है और जिन लोगों को आवश्यकता है उन्हें प्राथमिक सहायता दी जा रही है।

बच्चों के नेत्र अभिघात पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जो तीखे, काटने वाली चीजों के साथ खेलते हुए, गुलेल या घर में बनी बंदूकों से निशाना साधते हुए अपनी आँखों में चोट खा जाते हैं।

इस रोग का तकाजा है कि इस विषय पर स्कूलों में शिक्षात्मक कार्य किया जाय, स्कूलों की छुट्टियों के दौरान बच्चों के मनोरंजन गृह चलाये जायें, घर में माता-पिता बच्चों के आचार व्यवहार पर नियंत्रण रखें।

नेत्र गुहा और नेत्र प्रेरक उपकरण के रोग

अनुषंगिक तिर्यक दृष्टि एक ऐसी दशा है जिसमें आँख की दृष्टि रेखाएँ उस वस्तु पर नहीं मिलतीं, जिसे देखा जा रहा है। दूसरे शब्दों में यह एक नेत्र से एक वस्तु को देखना है जबकि दूसरा नेत्र दूसरी ओर हो। नेत्रों की गति में गड़बड़ नहीं होती, पर एक नेत्र में स्थाई रूप से तिर्यक दृष्टि या एक के बाद एक, दोनों में ही, यह स्थिति हो सकती है। यदि नजर आँखों की ओर होती है तो इसे अभिसारी तिर्यक दृष्टि कहते हैं और यदि नजर का झुकाव कनपटी की ओर हो तो इसे अपसारी तिर्यक दृष्टि कहते हैं। यदि अच्छी आँखों को हथेली से ढक लिया जाय तो तिर्यक

दृष्टि वाले नेत्र में समंजन गति होकर वह सही स्थिति में आ जायगा। तथापि टेढ़ी हुई आँख तिर्यक दृष्टि की किस्म के अनुसार अन्दर की ओर या बाहर की ओर झुकेगी क्योंकि नेत्र की गतिशीलता पूरी तरह बनी रहती है।

अपवर्तन के दोष होने के कारण तिर्यक दृष्टि वाले नेत्र की दृष्टि तीक्ष्णता बहुधा घट जाती है और रोगियों को चश्मा लगाने की सलाह दी जाती है। एक या दो वर्ष की आयु वाले बच्चों को भी ऐनक लगाई जा सकती है। बच्चों में तिर्यक दृष्टि का उपचार जितना जल्दी प्रारम्भ किया जाय उतना ही अच्छा है और उतना ही उनकी दृष्टि तीक्ष्णता में सुधार हो सकता है। इसलिए जैसे ही अभिभावकों को पता लगे कि उनके बच्चों की नजर कमजोर है, और विशेष रूप से जब यह पता चले कि उनमें तिर्यक दृष्टि है, तो उन्हें नेत्र विज्ञानी के पास चश्मे का नम्बर लेने के लिए तथा आवश्यक नेत्र व्यायाम करने के लिए बच्चे को भेजना चाहिए। यदि संरक्षी उपचार सफल न हों तो तिर्यकदृष्टि वाले नेत्र की पेशियों का शस्त्र कर्म करके फिर उपचार जारी रखा जाता है। तिर्यक दृष्टि की अन्य किस्में भी हैं जिनमें चश्मा लगाने से कोई लाभ नहीं होता। इन दशाओं में नेत्रज्योति को सुधारने के लिए व्यायाम किये जाते हैं और शस्त्रकर्म किया जाता है।

नेत्रगोलक की एक या अधिक गतिशील पेशियों का अंगघात होने से **अंगघाती तिर्यक-दृष्टि** हो जाती है। इसमें और अनुषंगिक तिर्यक-दृष्टि में अन्तर यह है कि अंगघाती पेशी की क्रिया सीमित होने के कारण या क्रिया न होने के कारण उसमें और गति नहीं होती है यानि समायोजन गति का अभाव होता है। रोगी इस बात की शिकायत करता है कि उसे एक ही वस्तु दो दिखाई देती है। अंगघाती तिर्यक दृष्टि का सबसे आम कारण है प्रमस्तिष्क के रोग।

इसका **उपचार** तंत्रिकातंत्र विज्ञानी करता है। यदि अंगघात स्थायी रूप का हो तो पेशियों का शस्त्रकर्म करना चाहिए।

नेत्रगुहा रोगों का मुख्य लक्षण है नेत्रगोलक बहिःसरण (नेत्रोत्सेध) या उसकी गतिशीलता का उपद्रव या विस्थापन। ऐसा नेत्रगुहा के द्रव्य अर्बुद, रक्तस्राव, निःस्राव और कोशिकीय ऊतकों के शोफ तथा नेत्रगुहा शिराओं की धनास्रता, नेत्रगुहा के अभिघात से अस्थिओं के अन्दर की ओर विस्थापित होने और नेत्रगुहा का आकार घट जाने से होता है। नेत्रोत्सेध अवटु-विषाक्तता का एक लक्षण हैं।

उपचार. उपरोक्त लक्षणों के पाये जाने पर नर्स को चाहिए कि वह रोगी को नेत्र-विज्ञानी, 'एक्स-रे' चित्रण विज्ञानी, नासारोगविज्ञानी और अन्य विशेषज्ञों के पास भेजे जो कि रोग के कारण को पहचान कर ठीक उपचार का निर्देश दे।

नेत्रगुहा का फ्लेग्मोन. नेत्रगुहा की कोशिकीय ऊतकों के फ्लेग्मोनी शोथ की अभिव्यक्ति पलकों पर तीव्र अतिरक्तता, पीड़ा, शरीर के बढ़े हुए ताप, नेत्रोत्सेध, नेत्रगोलक में गतीशीलता के लोप होने, नेत्रश्लेषमला के शोफ और बहुधा नेत्र ज्योति में तीव्र अवनति या अन्धता से होती है। फ्लेग्मोन का कारण परानासाविवर का तीव्र

शोथ, आनन त्वचा के रोग (विसर्प, कुटिकाएँ, और अंजनी), विसंक्रमित अभिघात और संक्रामक रोग हैं। कपालगुहा तक रोग के फैलने की सम्भावनाओं (तानिका शोथ, मस्तिष्क में व्रण, विवरों की घनास्रता) के कारण यह रोग रोगी के जीवन के लिए एक भारी खतरा बन जाता है। दृष्टि तंत्रिका के शोफ और नेत्र की आंतरिक परतों में सक्रिय संक्रमण के कारण अन्धता हो सकती है। इससे बचने के लिए उपयुक्त उपचार जल्दी से जल्दी शुरू करना चाहिए ताकि स्वास्थ्य लाभ हो सके और नेत्र ज्योति बनाई रखी जा सके। यह उपचार चिकित्सालय में होना चाहिए, इसलिए उपचारिका को चाहिए कि वह नेत्र पर अपूतित पट्टी बाँधकर तथा रोगी को स्ट्रेचर पर लिटाकर फौरन अस्पताल भेजे (अधिक दूर रहने पर वायुयान से भेजना अच्छा है। और, अगर आवश्यक हो तो शस्त्र कर्म करना चाहिए।

नेत्रगुहां के अर्बुद सुदम्य (कुटिल वाहिका-अर्बुदीय, अस्थि अर्बुद इत्यादि) या दुर्दम (सार्कोमा, कैंसर) हो सकते हैं। इनसे नेत्रगोलक का प्रवृद्धि बहिःसरण और कभी-कभी पार्श्व विस्थापन होता है, जिससे गतिशीलता सीमित हो जाती है और नेत्र ज्योति की अवनति होती है। अर्बुद में जो नेत्रगुहा के फ्लेग्मोन से भिन्न है, शोथ या पीड़ा के कोई चिन्ह नहीं होते और यह प्रक्रम धीरे-धीरे बढ़ता है।

उपचार. नेत्र चिकित्सालाय में शस्त्रकर्म।

पाठकों से

'मीर' प्रकाशन इस पुस्तक के अनुसाद और डिजाइन संबंधी आपके विचारों के लिये आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये :

'मीर' प्रकाशन
पेर्वी रीज़्स्की पेरेऊलक, 2
मास्को, सोवियत संघ।